Chapter एक

ईश अनुभूति का प्रथम सोपान

ईश-स्तवन

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

ॐ—हे भगवन्; नमः—मेरा सादर नमस्कार; भगवते—भगवान् को; वासुदेवाय—वसुदेव के पुत्र भगवान् कृष्ण को।

हे सर्वव्यापी भगवन्, मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : वासुदेवाय का अर्थ है 'वसुदेव के पुत्र कृष्ण को'। चूँकि वासुदेव कृष्ण के नाम-कीर्तन से मनुष्य दान तथा तप के सारे शुभ फल प्राप्त कर सकता है, अतएव *ॐ नमो भगवते वासुदेवाय* नामक इस मंत्र के कीर्तन से *श्रीमद्भागवत* का रचयिता, वक्ता या कोई पाठक आनन्द स्वरूप परमेश्वर कृष्ण को सादर नमस्कार करता है। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध में सृष्टि के नियमों का वर्णन है, अतएव प्रथम स्कंध को 'सृष्टि' कहा जा सकता है।

इसी प्रकार द्वितीय स्कंध में 'सृष्टि का परवर्ती दृश्य जगत' वर्णित है। इस स्कंध में विभिन्न लोकों का वर्णन, भगवान् के विराट शरीर के विभिन्न भागों के रूप में किया गया है। इस कारण से, इस द्वितीय स्कंध को 'दृश्य जगत' कहा जा सकता है। द्वितीय स्कंध में दस अध्याय हैं और इन दस अध्यायों में *श्रीमद्भागवत* का ध्येय एवं ध्येय के विभिन्न लक्षणों का वृत्तान्त है। पहले अध्याय में कीर्तन की महिमा का वर्णन है और यह ऐसी विधि का संकेत करता है, जिससे नवदीक्षित भक्त भगवान् के विश्वरूप का ध्यान कर सकता है। इसके प्रथम श्लोक में शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित के उन प्रश्नों का उत्तर देते हैं जिनमें उन्होंने एक मरणासन्न मनुष्य के कर्तव्य के बारे में पूछा था। महाराज परीक्षित को शुकदेव गोस्वामी का स्वागत करते हुए हर्ष हो रहा था और उन्हें गर्व था कि वे कृष्ण के अन्तरंग सखा 'अर्जुन' के वंशज हैं। वे व्यक्तिगत रूप से अत्यन्त विनीत एवं सौम्य थे, लेकिन उन्होंने प्रसन्नता व्यक्त की कि कृष्ण उसके पितामहों, पाण्डु के पुत्रों पर, एवं विशेष रूप से उनके पितामह अर्जुन पर अत्यधिक प्रसन्न थे। चूँकि भगवान् कृष्ण महाराज परीक्षित के परिवार से

सदैव प्रसन्न रहते थे, अतएव महाराज परीक्षित के मरणासन्न होने पर, आत्म-साक्षात्कार की विधि में सहायता पहुँचाने के लिए, शुकदेव गोस्वामी को भेजा गया था। महाराज परीक्षित अपने बाल्यकाल से भगवान् कृष्ण के भक्त थे, अतएव उनका कृष्ण के प्रति सहज स्नेह था। शुकदेव गोस्वामी इस निष्ठा को जानते थे, अतएव उन्होंने राजा के कर्तव्य के विषय में प्रश्नों का स्वागत किया। चूँकि राजा ने यह संकेत किया था कि प्रत्येक जीव का चरम कर्तव्य भगवान् कृष्ण की सेवा करना है, अतएव शुकदेव गोस्वामी ने इस सुझाव का स्वागत करते हुए कहा "चूँकि आपने कृष्ण विषयक प्रश्न पूछे हैं, अतएव आपका प्रश्न अत्यन्त महिमामय है।" प्रथम श्लोक का अनुवाद इस प्रकार है।

श्री-शुक उवाच

वरीयानेष ते प्रश्नः कृतो लोक-हितं नृप ।
आत्मवित्सम्मतः पुंसां श्रोतव्यादिषु यः परः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; वरीयान्—महिमायुक्त; एषः—यह; ते—तुम्हारा; प्रश्नः—प्रश्न, सवाल; कृतः—तुम्हारे द्वारा किया गया; लोक-हितम्—सभी मनुष्यों के लिए लाभप्रद; नृप—हे राजा; आत्मवित्—अध्यात्मवादी, योगी; सम्मतः—स्वीकृत; पुंसाम्—सभी पुरुषों का; श्रोतव्य-आदिषु—सभी प्रकार के श्रवण में; यः—जो है; परः—परम, सर्वश्रेष्ठ।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, आपका प्रश्न महिमामय है, क्योंकि यह समस्त प्रकार के लोगों के लिए बहुत लाभप्रद है। इस प्रश्न का उत्तर श्रवण करने का प्रमुख विषय है और समस्त अध्यात्मवादियों ने इसको स्वीकार किया है।

तात्पर्य : यह प्रश्न स्वयंही इतना उत्तम है कि यह श्रवण करने (सुनने) का सर्वश्रेष्ठ विषय है। ऐसा प्रश्न करने तथा श्रवण करने मात्र से मनुष्य को सर्वोच्च जीवन-सिद्धि प्राप्त हो सकती है। चूँकि भगवान् कृष्ण आदि परम पुरुष हैं, अतएव उनके विषय में कोई भी प्रश्न मौलिक तथा पूर्ण है। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि जीवन की चरम सिद्धि कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति प्राप्त करना है। चूँकि कृष्ण विषयक प्रश्नोत्तर मनुष्य को दिव्य पद प्रदान करनेवाले हैं, अतएव कृष्णदर्शन के विषय में महाराज परीक्षित के प्रश्न अत्यन्त महिमामय हैं। महाराज परीक्षित अपने मन को पूर्ण रूप से कृष्ण में लीन करना चाहते थे और यह कृष्ण के असामान्य कार्यकलापों के श्रवणमात्र से ही सम्भव है। उदाहरणार्थ, *भगवद्गीता* में कहा गया है कि कृष्ण के आविर्भाव, तिरोधान तथा उनकी लीलाओं की

दिव्य प्रकृति को समझ लेने मात्र से ही मनुष्य तुरन्त भगवद्धाम को वापस जा सकता है और इस दुखमय भौतिक जगत में फिर कभी नहीं लौटता। अतएव सदा ही कृष्ण के विषय में श्रवण करना बहुत शुभ होता है। महाराज परीक्षित ने इसीलिए शुकेदव गोस्वामी से प्रार्थना की कि वे कृष्ण के कार्यकलापों का वर्णन करें जिससे वे अपना मन कृष्ण में प्रवृत्त कर सकें। कृष्ण के कार्यकलाप साक्षात् कृष्ण से अभिन्न हैं। जब तक मनुष्य कृष्ण के ऐसे दिव्य कार्यकलापों को सुनने में मग्न रहता है तब तक वह इस जगत के बद्ध जीवन से विलग रहता है। कृष्ण की कथाएँ इतनी मंगलमय हैं कि वे वक्ता, श्रोता तथा जिज्ञासु को परि-शुद्ध बना देती हैं। उनकी तुलना उस गंगाजल से की जाती है, जो भगवान् कृष्ण के अँगूठे से निकलता है। गंगा का जल जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ की भूमि तथा उसमें स्नान करनेवाले व्यक्ति शुद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार कृष्ण कथाएँ इतनी शुद्ध हैं कि जहाँ भी इनका कथन होता है, वह स्थान, उनके श्रोता, जिज्ञासु, वक्ता तथा अन्य सारे सम्बद्ध लोग परि-शुद्ध हो जाते हैं।

श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रशः ।
अपश्यतामात्म-तत्त्वं गृहेषु गृह-मेधिनाम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्रोतव्य-आदीनि—श्रवण योग्य विषयों में; राजेन्द्र—हे सम्राट; नृणाम्—मानव समाज का; सन्ति—हैं; सहस्रशः—सैकड़ों तथा हजारों; अपश्यताम्—अंधे का; आत्म-तत्त्वम्—आत्म-ज्ञान, परम सत्य; गृहेषु—घर में; गृह-मेधिनाम्—भौतिकता में फँसे व्यक्तियों का।

हे सम्राट, भौतिकता में उलझे उन व्यक्तियों के पास जो परम सत्य विषयक ज्ञान के प्रति अंधे हैं, मानव समाज में सुनने के लिए अनेक विषय होते हैं।

तात्पर्य : शास्त्रों में पारिवारिक जीवन के लिए दो नाम हैं—एक *गृहस्थ* और दूसरा *गृहमेधी*। गृहस्थ वे हैं, जो अपनी पत्नी तथा बच्चों के साथ-साथ रहते हैं, लेकिन परम सत्य की अनुभूति के लिए आध्यात्मिक जीवन बिताते हैं। किन्तु *गृहमेधी* वे हैं, जो केवल पारिवारिक सदस्यों के लाभ के लिए जीवित रहते हैं, चाहे संयुक्त परिवार में रहें या छोटे परिवार में रहें और वे अन्यों से ईर्ष्या करते हैं। *मेधी* शब्द अन्यों से ईर्ष्या का सूचक है। *गृहमेधी* केवल पारिवारिक मामलों में रुचि रखने के कारण, निश्चित रूप से, अन्यों के प्रति ईर्ष्यालु रहते हैं। अतएव एक *गृहमेधी* का दूसरे *गृहमेधी* से अच्छा सम्बन्ध नहीं रहता और व्यापक रूप में एक जाति, समाज या राष्ट्र स्वार्थी रुचि के कारण अन्य

जाति, समाज या राष्ट्र से अच्छे सम्बन्ध नहीं रखते। इस कलियुग में सारे गृहस्थ एक दूसरे से ईर्ष्या करते हैं, क्योंकि वे परम सत्य के ज्ञान के प्रति अन्धे हैं। उनके पास सुनने के लिए अनेक प्रकार के विषय हैं यथा राजनीतिक, वैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक आदि लेकिन अल्पज्ञान के कारण वे जीवन के घोर कष्टों—जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के दुखों की परवाह नहीं करते। वास्तव में मनुष्य जीवन तो जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि का अन्तिम हल खोज निकालने के लिए है, लेकिन भौतिक प्रकृति के द्वारा मोहग्रस्त होने के कारण *गृहमेधी* आत्म-साक्षात्कार के विषय में सब कुछ भूल जाते हैं। जीवन की समस्याओं का अन्तिम हल तो भगवद्धाम को वापस जाना है और जैसाकि *भगवद्गीता* (८.१६) में कहा गया है, वहाँ जगत के सारे क्लेश यथा जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि दूर हो जाते हैं।

भगवद्धाम वापस जाने की विधि है भगवान् तथा उनके नाम, रूप, गुण, लीलाओं, साज-सामान तथा विविधता के विषय में श्रवण करना। मूर्ख लोग इसे नहीं जानते। वे तो प्रत्येक नाशवान वस्तु के नाम, रूप आदि के विषय में कुछ न कुछ सुनना चाहते हैं और वे यह नहीं जानते कि सुनने की इस प्रवृत्ति का सदुपयोग परम कल्याण के लिए किस तरह किया जाय। वे भ्रांत तो रहते ही हैं, अतएव वे परम सत्य के नाम, रूप, गुणों आदि के विषयों में कुछ मिथ्या-साहित्य भी तैयार कर लेते हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह केवल अन्यों से ईर्ष्या करने के लिए *गृहमेधी* न बने; उसे शास्त्रों के आदेशानुसार असली गृहस्थ बनना चाहिए।

निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन च वा वय: ।
दिवा चार्थेहया राजन् कुटुम्ब-भरणेन वा ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

निद्रया—सो करके; **ह्रियते**—नष्ट करते हैं; **नक्तम्**—रात्रि; **व्यवायेन**—मैथुन में; **च**—भी; **वा**—या तो; **वय:**—जीवन-अवधि, आयु; **दिवा**—दिन; **च**—भी; **अर्थ**—आर्थिक; **ईहया**—विकास; **राजन्**—हे राजा; **कुटुम्ब**—पारिवारिक सदस्यों के; **भरणेन**—पालन करने में; **वा**—अथवा।

ऐसे ईर्ष्यालु गृहस्थ (गृहमेधी) का जीवन रात्रि में या तो सोने या मैथुन में रत रहने तथा दिन में धन कमाने या परिवार के सदस्यों के भरण-पोषण में बीतता है।

तात्पर्य : वर्तमान मानव सभ्यता, मुख्यत: रात्रि में सोने तथा मैथुन करने और दिन में धन कमाने और उसे परिवार के भरण-पोषण हेतु खर्च करने के सिद्धान्तों पर आधारित है। इस तरह की मानव

सभ्यता *भागवत* विचारधारा द्वारा निन्दित है।

चूँकि मानव जीवन भौतिक पदार्थ तथा आत्मा का संमेल है, अतएव वैदिक ज्ञान की पूरी प्रकिया आत्मा को पदार्थ के संदूषण से मुक्त करने की दिशा में प्रेरित रहती है। इससे सम्बन्धित ज्ञान *आत्म-तत्त्व* कहलाता है। जो लोग अत्यधिक भौतिकतावादी हैं, वे इस ज्ञान से अनजान रहते हैं और भौतिक भोग के लिए आर्थिक विकास के प्रति अधिक उन्मुख होते हैं। ऐसे भौतिकतावादी लोग *कर्मी* कहलाते हैं और उन्हें नियमित आर्थिक विकास या यौनाचार के लिए स्त्री-संगति की छूट रहती है। जो लोग *कर्मियों* से ऊपर हैं—यथा *ज्ञानी, योगी* तथा *भक्त,* उन्हें यौनाचार सर्वथा वर्जित है। *कर्मी* लोग *आत्म-तत्त्व* से बहुत कुछ विहीन होते हैं और इस तरह उनका जीवन बिना किसी आध्यात्मिक लाभ के बीत जाता है। यह मनुष्य-जीवन, न तो आर्थिक विकास के लिए कठिन श्रम करने के निमित्त है, न शूकरों-कूकरों की भाँति मैथुन में रत रहने के लिए है। यह तो भौतिक जीवन की समस्याओं तथा उनके फलस्वरूप उत्पन्न कष्टों का हल ढूँढ़ने के लिए है। इस तरह *कर्मीजन* रात्रि को सोकर तथा मैथुन में रत रहकर और दिन को सम्पत्ति-संग्रह करने के लिए कठिन श्रम करके बिता देते हैं। ऐसा करके वे भौतिकतावादी जीवन के स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयास करते हैं। यहाँ पर भौतिकतावादी जीवन का सारांश-रुप में वर्णन हुआ है और अगले श्लोक में बताया गया है कि किस तरह लोग मनुष्य-जीवन के वरदान को मूर्खतापूर्वक नष्ट करते हैं।

देहापत्य-कलत्रादिष्वात्म-सैन्येष्वसत्स्वपि ।
तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति ॥ ४॥

शब्दार्थ

देह—शरीर; अपत्य—बच्चे; कलत्र—पत्नी; आदिषु—तथा अन्य सारे सम्बन्धों में; आत्म—निजी; सैन्येषु—सिपाहियों में; असत्सु—पतनशील; अपि—के बावजूद; तेषाम्—उन सबों का; प्रमत्तः—अत्यधिक आसक्त; निधनम्—विनाश; पश्यन्—अनुभव करके; अपि—यद्यपि; न—नहीं; पश्यति—देखते हैं।

आत्मतत्त्व से विहीन व्यक्ति जीवन की समस्याओं के विषय में जिज्ञासा नहीं करते, क्योंकि वे शरीर, बच्चे तथा पत्नी रूपी विनाशोन्मुख सैनिकों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं। पर्याप्त अनुभवी होने के बावजूद भी वे अपने अवश्यंभावी मृत्यु को नहीं देख पाते।

तात्पर्य : यह भौतिक जगत मर्त्यलोक कहलाता है। जिनकी आयु लाखों वर्ष होती है, उस ब्रह्म से

लेकर कुछ ही पलों तक जीवित रहने वाले जीवाणुओं तक, ये सब जीवन–संघर्ष कर रहे हैं। इस तरह यह जीवन एक प्रकार से भौतिक प्रकृति के साथ युद्ध की तरह है, जिसमें सबकी मृत्यु होनी है। मानव योनि में, जीव इस विकट संघर्ष को समझने में सक्षम होता है, लेकिन परिजनों, समाज, देश इत्यादि के प्रति अत्यधिक आसक्त रहने से वह अपनी शारीरिक शक्ति, बच्चे, पत्नी, सम्बन्धीजनों इत्यादि की सहायता से दुर्जेय भौतिक प्रकृति पर विजय पाना चाहता है। यद्यपि वह अपने विगत अनुभवों तथा पूर्ववर्ती दिवंगत वंशजों के उदाहरणों से अत्यधिक अनुभवी बन जाता है, तो भी वह यह नहीं देख पाता कि तथाकथित लड़ने वाले सैनिक, अर्थात् बच्चे, परिजन, समाज के सदस्य तथा देशवासी इस महान् संघर्ष में सभी विनाशशील हैं। मनुष्य को इस तथ्य की छान–बीन कर लेनी चाहिए कि उसका पिता या पिता का पिता पहले ही दिवंगत हो चुका है। अतएव उसकी भी मृत्यु अवश्यंभावी है। इसी प्रकार उसके बच्चे भी, जो अपने बच्चों के पिता होंगे, यथासमय मर जायेंगे। भौतिक प्रकृति के साथ इस संघर्ष में कोई भी नहीं बचेगा। मानव समाज का इतिहास इसे पूर्णतः सिद्ध करता है; फिर भी मूर्ख लोग सुझाव रखते हैं कि वे भौतिक विज्ञान की सहायता से भविष्य में अनन्त काल तक जीवित रह सकेंगे। मानव समाज द्वारा प्रदर्शित ऐसा अल्पज्ञान निश्चय ही भ्रामक है और यह सब आत्मा के स्वरूप की अवहेलना करने के कारण है। इस भौतिक जगत का अस्तित्व स्वप्नतुल्य है, जो इसके प्रति हमारी आसक्ति के कारण है। अन्यथा जीवात्मा तो सदा ही भौतिक प्रकृति से भिन्न है। प्रकृति का महासागर समय की तरंगों से आन्दोलित हो रहा है और तथाकथित जीवित अवस्थाएँ फेन के बुदबुदों के सदृश हैं, जो हमारे समक्ष स्वशरीर, पत्नी, बच्चे, समाज, देश इत्यादि के रूप में प्रकट होती हैं। आत्मा के ज्ञान (*आत्मतत्त्व*) के अभाव में हम अज्ञान की शक्ति के शिकार बनते है और इस तरह जीवन की स्थायी परिस्थितियों की व्यर्थ खोज के पीछे मूल्यवान मानवी शक्ति बर्बाद करते हैं, जो इस जगत में असम्भव है।

हमारे मित्र, कुटुम्बी और तथाकथित पत्नी एवं बच्चे न केवल विनाशशील हैं, अपितु जगत की बाह्य चकाचौंध से मोहग्रस्त भी हैं। अतएव वे हमें बचा नहीं सकते। फिर भी हम सोचते हैं कि हम परिवार, समाज या देश के घेरे में सुरक्षित हैं।

मानव सभ्यता का सम्पूर्ण भौतिकतावादी विकास शव की सजावट जैसा है। प्रत्येक व्यक्ति शव तुल्य है, जो कुछ दिनों तक अपने पंख फड़फड़ाता है; फिर भी मनुष्य की सारी शक्ति इस शव को अलंकृत करने में व्यर्थ जाती है। शुकदेव गोस्वामी मोहग्रस्त मानवीय कार्यकलापों की वास्तविक स्थिति का दर्शन कराकर, मनुष्य के कर्तव्य की ओर संकेत कर रहे हैं। जो लोग *आत्मतत्त्व* के ज्ञान से विहीन हैं, वे दिग्भ्रमित हैं, लेकिन जो भगवद्भक्त हैं और जिन्हें दिव्य ज्ञान की पूर्ण अनुभूति है, वे मोहग्रस्त नहीं होते।

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; भारत—हे भरतवंशी; सर्वात्मा—परमात्मा; भगवान्—भगवान्; ईश्वरः—नियामक; हरिः—भगवान्, जो सारे कष्टों को हरनेवाले हैं; श्रोतव्यः—श्रवणीय है; कीर्तितव्यः—महिमागायन के योग्य; च—भी; स्मर्तव्यः—स्मरणीय; च—तथा; इच्छता—इच्छा करनेवाले की; अभयम्—स्वतन्त्रता।

हे भरतवंशी, जो समस्त कष्टों से मुक्त होने का इच्छुक है उसे उन भगवान् का श्रवण, महिमा-गायन तथा स्मरण करना चाहिए जो परमात्मा, नियंता तथा समस्त कष्टों से रक्षा करने वाले हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में श्री शुकदेव गोस्वामी ने यह बताया कि किस प्रकार मूर्ख एवं भौतिकतावादी व्यक्ति सोकर, विषयी जीवन में लिप्त रहकर, आर्थिक दशा सुधारने तथा उन कुटुम्बियों के भरण-पोषण में, जो विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जाने वाले हैं, अपने मूल्यवान समय का अपव्यय करते हैं। इन भौतिकतावादी कार्यकलापों में संलग्न रहने के कारण जीवात्मा सकाम कर्म के चक्र में अपने को उलझा देता है। यह चक्र चौरासी लाख योनियों में—जलचर, वनस्पतियाँ, सरीसृप, पक्षी, पशु, असभ्य मानव तथा उसके बाद फिर से मनुष्य रूप में—जन्म-मृत्यु का चक्र है और यही सकाम कर्म के चक्र से छूटने का सुअवसर है। अतः यदि कोई इस विषाक्त चक्र से मुक्ति चाहता है, तो उसे *कर्मी* नहीं बनना चाहिए, अर्थात् अपने ही अच्छे या बुरे कर्म के फल का भोक्ता नहीं बनना चाहिए। उसे अपने लिये अच्छा या बुरा कोई कर्म नहीं करना चाहिए, अपितु हर वस्तु को सर्वोच्च स्वामी परमेश्वर के निमित्त करना चाहिए। कर्म करने की यह विधि *भगवद्गीता* (९.२७) में भी संस्तुत

है, जिसमें भगवान् के निमित्त कर्म करने के लिए आदेश है। अतएव सर्वप्रथम मनुष्य को भगवान् के विषय में श्रवण करना चाहिए। पूरी तरह छानबीन करके श्रवण कर लेने के बाद, उसे भगवान् के कार्यकलापों का महिमा-गायन करना चाहिए। इस तरह वह निरन्तर भगवान् के दिव्य स्वभाव का स्मरण कर सकेगा। भगवान् का श्रवण तथा महिमा-गायन भगवान् के दिव्य स्वभाव से अभिन्न है और इस तरह करने पर मनुष्य सदैव भगवान् के सान्निध्य में रहेगा। इससे सभी प्रकार के भय से मुक्ति मिल जाती है। भगवान् परमात्मा हैं, जो प्रत्येक जीव के हृदय में विद्यमान हैं। इस प्रकार उपर्युक्त श्रवण तथा महिमा-गायन की विधि से भगवान् समग्र सृष्टि को अपनी संगति करने का आमन्त्रण देते हैं। भगवान् के श्रवण तथा महिमा-गायन की यह विधि सब पर लागू होती है, चाहे वह जो भी हो और इससे उसे प्रत्येक कार्य में परम सफलता प्राप्त होगी। मनुष्यों की कई श्रेणियाँ हैं—*कर्मी, ज्ञानी, योगी* तथा अनन्य भक्त। इन सब पर इच्छित सफलता प्राप्त करने के लिए यही विधि लागू होती है। प्रत्येक व्यक्ति सभी प्रकार के भय से मुक्त होना चाहता है और सर्वाधिक सुख भोगना चाहता है। इसे प्राप्त करने की सम्यक् विधि की संस्तुति यहाँ *श्रीमद्भागवत* में की गई है, जो श्री शुकदेव गोस्वामी-जैसे महान् अधिकारी द्वारा कथित है। भगवान् के श्रवण तथा महिमा-गायन से मनुष्य के सारे कार्यकलाप आध्यात्मिक बन जाते हैं और इस तरह से भौतिक दुखों की सारी अव-धारणाएँ पूरी तरह नष्ट हो जाती हैं।

एतावान् साङ्ख्य-योगाभ्यां स्व-धर्म-परिनिष्ठया ।
जन्म-लाभः परः पुंसामन्ते नारायण-स्मृतिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

एतावान्—ये सब; **साङ्ख्य**—पदार्थ तथा आत्मा विषयक पूर्ण ज्ञान; **योगाभ्याम्**—योगशक्ति के ज्ञान से; **स्व-धर्म**—विशिष्ट वृत्तिपरक कर्तव्य; **परिनिष्ठया**—पूर्ण अनुभूति के द्वारा; **जन्म**—जन्म; **लाभः**—लाभ; **परः**—परम; **पुंसाम्**—पुरुष का; **अन्ते**—अन्त में; **नारायण**—भगवान् की; **स्मृतिः**—स्मृति, याद।

पदार्थ तथा आत्मा के पूर्ण ज्ञान से, योगशक्ति से या स्वधर्म का भलीभाँति पालन करने से मानव जीवन की जो सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त की जा सकती है, वह है जीवन के अन्त में भगवान् का स्मरण करना।

तात्पर्य : नारायण इस भौतिक सृष्टि से परे परम पुरुष हैं। प्रत्येक वस्तु जिसका सृजन, पालन तथा

अन्त में संहार होता है, वह महत् तत्त्व की सीमा के अन्तर्गत है और भौतिक जगत के नाम से विख्यात है, किन्तु नारायण या भगवान् का अस्तित्व इस महत् तत्त्व की परिधि के अन्तर्गत नहीं आता, अतएव नारायण के नाम, रूप, गुण आदि भौतिक जगत की सीमा के परे हैं। मनुष्य को सांख्य दर्शन से, जो पदार्थ तथा आत्मा को पृथक्-पृथक् करता है, अथवा योगशक्ति के अनुशीलन से, जिससे मनुष्य इस ब्रह्माण्ड के भीतर या बाहर के किसी लोक तक पहुँचने में समर्थ बनता है या धार्मिक कृत्य करने से, सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त हो सकती है बशर्ते कि मनुष्य *नारायण-स्मृति* अवस्था को अर्थात् भगवान् के निरन्तर स्मरण की अवस्था को प्राप्त कर ले। यह शुद्ध भक्त की संगति से ही सम्भव है, क्योंकि भक्त समस्त ज्ञानियों, योगियों या कर्मियों के दिव्य कार्यकलापों को शास्त्रानुमोदित वृत्तिपरक कार्यों से साज-सँवार सकता है। इतिहास आध्यात्मिक सिद्धि की प्राप्ति के उदाहरणों से भरा पड़ा है यथा सनकादि ऋषि या नौ प्रसिद्ध योगेन्द्र जिन्होंने भगवान् की भक्ति से ही सिद्धि प्राप्त की। भगवान् का कोई भी भक्त ज्ञानियों या योगियों द्वारा अपनाई गई अन्य विधियों को ग्रहण करके भक्ति के मार्ग से कभी विचलित नहीं हुआ। प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य-विशेष में चरम सिद्धि के लिए उत्सुक रहता है और जैसाकि यहाँ पर संकेत किया गया है कि ऐसी सिद्धि नारायण-स्मृति है, जिसके लिए हर एक को उत्तमोत्तम प्रयास करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, जीवन को इस प्रकार ढालना चाहिए कि जीवन के पग-पग पर मनुष्य भगवान् के स्मरण में आगे-आगे ही बढ़ता रहे।

प्रायेण मुनयो राजन्निवृत्ता विधि-षेधतः ।
नैर्गुण्य-स्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः ॥ ७॥

शब्दार्थ

प्रायेण—मुख्यतया; **मुनयः**—सारे मुनि; **राजन्**—हे राजा; **निवृत्ताः**—ऊपर उठे हुए, निवृत्त; **विधि**—विधि-विधान; **षेधतः**—प्रतिबन्धों से; **नैर्गुण्य-स्थाः**—आध्यात्मिक रूप से स्थित; **रमन्ते**—आनन्द लेते हैं; **स्म**—प्रकट रूप से; **गुण-अनुकथने**—महिमा का वर्णन करते हुए; **हरेः**—भगवान् की।

हे राजा परीक्षित, मुख्यतया सर्वोच्च अध्यात्मवादी, जो विधि-विधानों एवं प्रतिबन्धों से ऊपर हैं, भगवान् का गुणगान करने में आनन्द का अनुभव करते हैं।

तात्पर्य : सर्वोच्च अध्यात्मवादी मुक्त जीव होता है, अतएव वह विधि-विधानों की सीमा में नहीं आता। ऐसा नवदीक्षित, जो आध्यात्मिक स्तर तक उठने का इच्छुक है, विधि-विधानों के अन्तर्गत गुरु

द्वारा मार्गदर्शित होता है। उसकी तुलना ऐसे रोगी से की जा सकती है, जिसका उपचार चिकित्सा की परिधि के अन्तर्गत, विविध प्रतिबन्धों के अन्तर्गत किया जाता है। सामान्यतया मुक्तात्माएँ भी दिव्य कार्यकलापों का वर्णन करने में आनन्द लेती हैं। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, चूँकि नारायण, हरि या भगवान् भौतिक सृष्टि के परे हैं, अत: उनके रूप तथा गुण भौतिक नहीं हैं। सर्वोच्च अध्यात्मवादी या मुक्त जीव अपने दिव्य ज्ञान के उन्नत अनुभव द्वारा उनकी अनुभूति करते हैं। अतएव वे भगवान् की लीलाओं के दिव्य गुणों के कथन में रुचि लेते हैं। *भगवद्गीता* (४.९) में भगवान् घोषित करते हैं कि उनका प्राकट्य तथा उनके कार्यकलाप सभी *दिव्यम्* अर्थात् दिव्य हैं। सामान्य व्यक्ति, माया के वशीभूत होने के कारण, यह मान लेता है कि भगवान् भी हमारी ही तरह के हैं, अतएव वह भगवान् के नाम, रूप आदि की दिव्य प्रकृति को मानने से इनकार करता है। सर्वोच्च अध्यात्मवादी किसी भी भौतिक वस्तु में रुचि नहीं रखता, अतएव भगवान् के कार्यकलापों के प्रति रुचि रखना इसका निश्चित प्रमाण है कि भगवान् इस भौतिक जगत में हम जैसे नहीं हैं। वैदिक ग्रन्थों में भी इसकी पुष्टि हुई है कि परमेश्वर एक हैं, किन्तु वे अपने अनन्य भक्तों के साथ अपनी दिव्य लीलाओं में लगे रहते हैं और उसी के साथ-साथ, बलदेव के अंश रूप में, परमात्मा की तरह, सभी जीवों के हृदय में विद्यमान रहते हैं। अतएव दिव्य अनुभूति की चरम सिद्धि भगवान् के दिव्य गुणों के श्रवण तथा अनुकथन में है, न कि निर्विशेषवादी द्वारा काम्य, भगवान् के निराकार ब्रह्म रूप में तदाकार होने में। वास्तविक दिव्य आनन्द तो दिव्य भगवान् के महिमा-गायन में है, उनके निर्विशेष स्वरूप में स्थित होने की अनुभूति में नहीं। किन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो सर्वोच्च अध्यात्मवादी न होकर उनसे घटकर हैं और जो भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के वर्णन में रुचि नहीं दिखाते प्रत्युत वे भगवान् के ऐसे कार्यकलापों की व्याख्या भगवान् में तदाकार होने के उद्देश्य से करते हैं।

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्म-सम्मितम् ।
अधीतवान् द्वापरादौ पितुर्द्वैपायनादहम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; भागवतम्—श्रीमद्भागवत; नाम—नाम वाला; पुराणम्—वैदिक अनुपूरक, पुराण; ब्रह्म-सम्मितम्—वेदों के सार स्वरूप स्वीकृत; अधीतवान्—अध्ययन किया; द्वापर-आदौ—द्वापर युग के अन्त में; पितु:—अपने पिता से; द्वैपायनात्—द्वैपायन व्यासदेव से; अहम्—मैंने स्वयं।

द्वापर युग के अन्त में अपने पिता श्रील द्वैपायन व्यासदेव से मैंने श्रीमद्‌भागवत नाम के इस महान् वैदिक साहित्य के अनुपूरक ग्रंथ का अध्ययन किया, जो समस्त वेदों के तुल्य है।

तात्पर्य : श्रील शुकदेव गोस्वामी के इस कथन की उनके ही निजी उदाहरण से पुष्टि होती है कि सर्वोच्च अध्यात्मवादी ही, जो विधि-विधानों की परिधि से परे होता है, भगवान् के श्रवण तथा महिमा-गायन का आश्रय लेता है। सर्वमान्य मुक्तात्मा तथा सर्वोच्च अध्यात्मवादी होने के कारण, शुकदेव गोस्वामी को महाराज परीक्षित के अन्तिम सात दिनों में उस सभा में उपस्थित समस्त सर्वोच्च मुनियों द्वारा मान्यता दी गई। वे अपने जीवन से उदाहरण देते हैं कि वे स्वयं भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के प्रति आकृष्ट हुए और उन्होंने अपने महान् पिता, श्रीद्वैपायन व्यासदेव, से *श्रीमद्‌भागवत* का अध्ययन किया। *श्रीमद्‌भागवत* या किसी अन्य वैज्ञानिक साहित्य को अपनी बुद्धि के बल पर घर पर नहीं पढ़ा जा सकता। यद्यपि शरीर रचना या शरीर क्रिया सम्बन्धी चिकित्सा-ग्रन्थ बाजार में उपलब्ध रहते हैं, किन्तु इन पुस्तकों को घर में पढ़कर कोई योग्य चिकित्सक नहीं बन सकता। उसे चिकित्सा विद्यालय में प्रवेश ले करके, विद्वान प्राचार्यों के पथ-प्रदर्शन में पुस्तकों का अध्ययन करना होता है। इसी प्रकार *श्रीमद्‌भागवत,* जो भगवद्विज्ञान का स्नातकोत्तर अध्ययन है, उसे श्रील व्यासदेव जैसे सिद्ध पुरुष के चरणों में बैठकर ही सीखा जा सकता है। यद्यपि शुकदेव गोस्वामी जन्मजात मुक्तात्मा थे, किन्तु उन्हें भी अपने महान् पिता व्यासदेव से *श्रीमद्‌भागवत* का अध्ययन करना पड़ा, जिन्होंने इसका संकलन एक अन्य महात्मा, श्रीनारद मुनि, के आदेश पर किया था। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने एक विद्वान ब्राह्मण को व्यक्ति *भागवत* से *श्रीमद्‌भागवत* का अध्ययन करने के लिए आदेश दिया। *श्रीमद्‌भागवत* परम पुरुष के दिव्य नाम, रूप, गुणों, लीलाओं, पार्षद तथा विविधताओं पर आधारित है और भगवान् के अवतार, श्रील व्यासदेव, द्वारा इसका प्रवचन हुआ। चूँकि भगवान् की लीलाएँ उनके शुद्ध भक्तों के संग में सम्पन्न होती हैं फलतः इस महान् ग्रन्थ में उन ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख हुआ है क्योंकि इनका सम्बन्ध कृष्ण से है। यह *ब्रह्म-सम्मितम्* कहलाता है, क्योंकि यह भगवान् कृष्ण का वाणीरुप प्रतिनिधि है, जिस तरह कि *भगवद्‌गीता* भगवान् का वाणी-अवतार है क्योंकि इसका प्रवचन भगवान् से ही हुआ और *श्रीमद्‌भागवत* भगवान् का वाणी अवतार है क्योंकि

इसका प्रवचन भगवान् के ही अवतार द्वारा भगवान् के कार्यकलापों के विषय में हुआ। जैसाकि इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में कहा गया है यह वैदिक कल्पवृक्ष का सार है और ब्रह्म विषय पर सर्वोच्च शोध ग्रन्थ, *ब्रह्म-सूत्र,* का सहज भाष्य है। व्यासदेव द्वापर युग के अन्त में सत्यवती के पुत्र रूप में अवतीर्ण हुए थे। अतएव इस प्रसंग में *द्वापर-आदौ* का अर्थ होगा कलियुग के शुभारम्भ से ठीक पहले। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, इस कथन का तर्क वृक्ष के ऊपरी भाग को उसका शुभारम्भ कहने की भाँति है। यद्यपि वृक्ष का आदि (शुभारम्भ) उसका मूल है, लेकिन सामान्य जन को वृक्ष का ऊपरी हिस्सा ही पहले दिखता है। इस तरह वृक्ष का अन्तिम भाग उसका आदि भाग मान लिया जाता है।

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तम-श्लोक-लीलया ।
गृहीत-चेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

परिनिष्ठितः—पूर्णतया अनुभूत; **अपि**—भी; **नैर्गुण्ये**—अध्यात्म में; **उत्तम**—प्रबुद्ध; **श्लोक**—श्लोक; **लीलया**—लीलाओं के द्वारा; **गृहीत**—आकृष्ट; **चेताः**—ध्यान; **राजर्षे**—हे राजर्षि; **आख्यानम्**—वर्णन, चित्रण; **यत्**—जो; **अधीतवान्**—मैंने अध्ययन किया है।

हे राजर्षि, मैं दृढ़तापूर्वक अध्यात्म में पूर्ण रूप से स्थित था तथापि मैं उन भगवान् की लीलाओं के वर्णन के प्रति आकृष्ट हुआ, जिनका वर्णन उत्तम श्लोकों द्वारा किया जाता है।

तात्पर्य : सर्वप्रथम परम सत्य की अनुभूति दार्शनिक चिन्तन द्वारा निर्विशेष ब्रह्म के रूप में की जाती है और दिव्य ज्ञान की प्रगति के साथ-साथ बाद में परमात्मा रूप में की जाती है। किन्तु, यदि भगवत्कृपा से, कोई निर्विशेषवादी *श्रीमद्भागवत* के श्रेष्ठ कथनों से प्रबुद्ध होता है, तो वह भगवान् का दिव्य भक्त बन जाता है। अल्प ज्ञान के सहारे हम परम सत्य के व्यक्तित्व को नहीं समझ सकते एवं भगवान् के साकार कार्यकलापों के प्रति अल्पज्ञ निर्विशेषवादी खेद व्यक्त करते हैं। किन्तु तर्कों के साथ-साथ परम सत्य तक पहुँचने की दिव्य विधि कट्टर से कट्टर निर्विशेषवादी को भी भगवान् के साकार कार्यकलापों के प्रति आकृष्ट होने में सहायक बन सकती है। शुकदेव गोस्वामी जैसा व्यक्ति किसी सांसारिक कार्य के प्रति आकृष्ट नहीं होता, किन्तु जब ऐसे भक्त को श्रेष्ठ विधि द्वारा आश्वस्त कर लिया जाता है, तो वह अवश्य ही भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के प्रति आकृष्ट होता है। भगवान् दिव्य हैं और उसी तरह उनके कार्यकलाप भी दिव्य हैं। वे न तो निष्क्रिय हैं, न निर्विशेष।

तदहं तेऽभिधास्यामि महा-पौरुषिको भवान् ।
यस्य श्रद्दधतामाशु स्यान्मुकुन्दे मतिः सती ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; अहम्—मैं; ते—तुमको; अभिधास्यामि—सुनाऊँगा; महा-पौरुषिकः—भगवान् कृष्ण का अत्यन्त निष्ठावान भक्त; भवान्—आप; यस्य—जिसका; श्रद्दधताम्—पूरी तरह सम्मान तथा ध्यान देनेवाले का; आशु—अत्यन्त शीघ्र; स्यात्—ऐसा हो; मुकुन्दे—भगवान् में, जो मोक्ष-दाता हैं; मतिः—श्रद्धा; सती—निश्चल।

मैं उसी श्रीमद्भागवत को आपको सुनाने जा रहा हूँ, क्योंकि आप भगवान् कृष्ण के अत्यन्त निष्ठावान भक्त हैं। जो व्यक्ति श्रीमद्भागवत को पूरे मनोयोग से तथा सम्मानपूर्वक सुनता है, उसे मोक्षदायक परमेश्वर की अविचल श्रद्धा प्राप्त होती है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* मान्य वैदिक वाङ्मय है और वैदिक ज्ञान को प्राप्त करने की प्रणाली *अवरोहपन्था,* अर्थात् प्रामाणिक शिष्य-परम्परा द्वारा दिव्य ज्ञान प्राप्त करने की विधि कहलाती है। भौतिक ज्ञान की उन्नति के लिए वैयक्तिक सामर्थ्य तथा शोध प्रवृत्ति की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु आध्यात्मिक ज्ञान में सारी प्रगति बहुत कुछ गुरु की कृपा पर निर्भर करती है। गुरु को शिष्य से सन्तुष्ट होना चाहिए, तभी आध्यात्मिक विज्ञान के विद्यार्थी के समक्ष वह ज्ञान स्वत: प्रकट होगा। किन्तु इस विधि को किसी तरह की जादूगरी मानने की भूल नहीं करनी चाहिए जिसमें गुरु जादूगर की तरह शिष्य के भीतर आध्यात्मिक ज्ञान पहुँचा देगा मानो वह उसे विद्युतधारा से आवेशित कर रहा हो। प्रामाणिक गुरु अपने शिष्य को प्रत्येक बात वैदिक वाङ्मय के प्रमाणों के आधार पर बताता है। शिष्य ऐसी शिक्षा को, मात्र बौद्धिक न मानकर, विनीत भाव से जिज्ञासा करके तथा सेवा भाव से ग्रहण कर सकता है। भाव यह है कि शिष्य तथा गुरु दोनों को प्रामाणिक होना चाहिए। यहाँ पर गुरु शुकदेव गोस्वामी ने अपने महान् पिता से जो कुछ सीखा है, उसे वे उसी रूप में सुनाने के लिए उद्यत हैं और शिष्य, महाराज परीक्षित, भगवान् कृष्ण के परम भक्त हैं। भगवान् कृष्ण का भक्त वह होता है, जो निष्ठावान होकर यह विश्वास करता है कि भगवद्भक्त होकर, मनुष्य प्रत्येक आध्यात्मिक वस्तु से पूरी तरह सज-सँवर जाता है। यह शिक्षा साक्षात् भगवान् द्वारा *भगवद्गीता* के पृष्ठों में दी गई है, जिसमें यह स्पष्ट वर्णन है कि भगवान् कृष्ण ही सब कुछ हैं और पूर्णरूप से उनकी शरण ग्रहण करने से मनुष्य पूर्ण रूप से पवित्र व्यक्ति बन जाता है। भगवान् कृष्ण के प्रति ऐसी अविचल श्रद्धा से मनुष्य

श्रीमद्भागवत का विद्यार्थी बन जाता है और वह अन्त में उसी तरह मोक्ष प्राप्त करता है, जिस तरह महाराज परीक्षित ने प्राप्त किया था। *श्रीमद्भागवत* के व्यावसायिक वाचक तथा छद्म भक्त, जिनकी श्रद्धा एक सप्ताह के सुनने पर निर्भर होती है, वे शुकदेव गोस्वामी तथा महाराज परीक्षित से भिन्न होते हैं। श्रीव्यासेदव ने शुकदेव गोस्वामी को *जन्माद्यस्य* श्लोक से प्रारम्भ करके सम्पूर्ण *श्रीमद्भागवत* सुनाई। अतएव शुकदेव गोस्वामी ने भी राजा को पूरी *भागवत* सुनाया। भगवान् कृष्ण को *श्रीमद्भागवत* (ग्यारहवें स्कंध) में महापुरुष के रूप में बताया गया है, जो कि स्वयं ही भक्तिमय स्वरूप में भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु अपनी भक्तिमयी प्रवृत्ति में साक्षात् भगवान् कृष्ण हैं, जो कलियुग की पतितात्माओं पर विशेष कृपा करनेके लिए पृथ्वी पर अवतरित हुए थे। भगवान् कृष्ण के इस महापुरुष स्वरूप की स्तुति करने के उपयुक्त, दो श्लोक हैं :

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं
तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्॥
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥
त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं
धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्॥
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥

(*भागवत* ११.५.३३-३४)

दूसरे शब्दों में, पुरुष का अर्थ है भोक्ता और महापुरुष का अर्थ है परमभोक्ता या भगवान् श्रीकृष्ण। जो व्यक्ति परमेश्वर श्रीकृष्ण के पास तक पहुँचने के योग्य है, वह महापौरुषिक कहलाता है। जो कोई *श्रीमद्भागवत* को प्रामाणिक वाचक से ध्यानपूर्वक सुनता है, वह निश्चित रूप से मोक्ष के प्रदाता भगवान् का निष्ठावान भक्त बन जाता है। *श्रीमद्भागवत* को सुनने के मामले में महाराज परीक्षित जैसा सावधान कोई नहीं था और *श्रीमद्भागवत* को सुनाने के लिए शुकदेव गोस्वामी जैसा कोई सुयोग्य

व्यक्ति नहीं था। इसलिए जो भी आदर्श वाचक या आदर्श श्रोता रूप शुकदेव गोस्वामी तथा महाराज परीक्षित के पदचिह्नों का अनुसरण करता है, निस्सन्देहवह उन्हीं की तरह मोक्ष प्राप्त करेगा। महाराज परीक्षित को केवल श्रवण द्वारा मोक्ष मिला और शुकदेव गोस्वामी ने केवल प्रवचन करके मोक्ष प्राप्त किया। प्रवचन (पाठ) तथा श्रवण, नौ भक्तिमय कार्यों में से दो कार्य हैं और इन सिद्धान्तों के आंशिक या समग्र रूप में पालन करने से मनुष्य को परम पद प्राप्त हो सकता है। अतएव *श्रीमद्भागवत* का सम्पूर्ण पाठ, *जन्माद्यस्य* श्लोक से प्रारम्भ करके बारहवें स्कंध के अन्तिम श्लोक तक, महाराज परीक्षित की मोक्ष-प्राप्ति के निमित्त शुकदेव गोस्वामी द्वारा सुनाया गया। *पद्मपुराण* में इसका उल्लेख है कि गौतम मुनि ने महाराज अम्बरीष को सलाह दी कि वे शुकदेव गोस्वामी द्वारा *श्रीमद्भागवत* के पारायण को नियमित रूप से सुनें। यहाँ इसकी पुष्टि है कि महाराज अम्बरीष ने *श्रीमद्भागवत* को आदि से अन्त तक उसी रूप में सुना जिस रूप में शुकदेव गोस्वामी ने उसका प्रवचन किया। अतएव जिसकी रुचि *भागवत* में है, उसे चाहिए कि वह कुछ अंश यहाँ से और कुछ अंश वहाँ से पढ़कर उसके साथ खिलवाड़ न करें, अपितु वह महाराज अम्बरीष अथवा महाराज परीक्षित जैसे महान् राजाओं के पदचिह्नों का अनुसरण करे और उसे शुकदेव गोस्वामी के किसी प्रामाणिक प्रतिनिधि से ही सुने।

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतो-भयम् ।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह है; निर्विद्यमानानाम्—जो समस्त भौतिक इच्छाओं से पूरी तरह मुक्त हैं, उनका; इच्छताम्—जो समस्त प्रकार के भौतिक भोग के इच्छुक हैं, उनका; अकुतः-भयम्—समस्त सन्देहों तथा भय से मुक्त; योगिनाम्—आत्मतुष्टों का; नृप—हे राजा; निर्णीतम्—निश्चित सत्य; हरेः—भगवान् श्रीकृष्ण का; नाम—पवित्र नाम; अनु—किसी के पीछे, सदैव; कीर्तनम्—कीर्तन।.

हे राजन्, महापुरुषों का अनुगमन करके भगवान् के पवित्र नाम का निरन्तर कीर्तन उन समस्त लोगों के लिए सफलता का निःसंशय तथा निर्भीक मार्ग है, जो समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त हैं, अथवा जो समस्त भौतिक भोगों के इच्छुक हैं और उन लोगों के लिए भी, जो दिव्य ज्ञान के कारण आत्मतुष्ट हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में मुकुन्द के प्रति आसक्ति की नितान्त आवश्यकता का प्रतिपादन हुआ

है। ऐसे विभिन्न प्रकार के लोग हैं, जो नाना प्रकार के कार्यों में सफलता प्राप्त करने के इच्छुक होते हैं। सामान्यतया ये लोग भौतिकतावादी हैं, जो भौतिक तृप्ति का सर्वाधिक भोग करना चाहते हैं। उनके बाद अध्यात्मवादियों का नम्बर आता है जिन्होंने भौतिक भोग की प्रकृति के विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है और इस तरह वे जीवन की भ्रामक शैली से दूर रहते हैं। न्यूनाधिक वे आत्म–साक्षात्कार द्वारा अपने आप में सन्तुष्ट रहते हैं। इनसे भी ऊपर भगवद्भक्त हैं, जो न तो भौतिक जगत को भोगने की कामना करते हैं और न इससे छुटकारा पाने की इच्छा करते हैं। वे भगवान् श्रीकृष्ण को तुष्ट करने में लगे रहते हैं। दूसरे शब्दों में, भगवद्भक्त अपने लिए कोई कामना नहीं करते। यदि भगवान् की इच्छा हो, तो भक्त समस्त भौतिक सुविधाओं को स्वीकार करते हैं और यदि भगवान् इसे नहीं चाहते, तो भक्तगण समस्त प्रकार की सुविधाएँ, यहाँ तक कि मोक्ष को भी, ताक पर रख सकते हैं। न ही वे आत्मतुष्ट (आत्माराम) होते हैं क्योंकि वे केवल भगवान् की ही तुष्टि चाहते हैं। इस श्लोक में श्रीशुकदेव गोस्वामी भगवान् के दिव्य कीर्तन की संस्तुति करते हैं। भगवान् के पवित्र नाम के निरपराध भाव से कीर्तन तथा श्रवण से मनुष्य पहले भगवान् के दिव्य रूप से परिचित होता है, फिर भगवान् के गुणों से और तब उनकी लीलाओं इत्यादि की दिव्य प्रकृति से परिचित होता है। यहाँ पर इसका उल्लेख हुआ है कि भगवन्नाम को अधिकारियों से सुनकर उसका निरन्तर कीर्तन करना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि अधिकारियों से श्रवण करना पहली शर्त है। पवित्र नाम का श्रवण करते रहने से, क्रमशः मनुष्य भगवान् के रूप, गुण, लीलाओं आदि के विषय में श्रवण करने की अवस्था को प्राप्त होता है और इस तरह उत्तरोत्तर उनकी महिमा के कीर्तन की आवश्यकता उत्पन्न होती है। यह विधि न केवल भक्ति की सफल सम्पन्नता के लिए संस्तुत की गई है, अपितु उन लोगों के लिए भी है, जो भौतिक रूप से आसक्त हैं। श्रीशुकदेव गोस्वामी के अनुसार, सफलता प्राप्त करने की यह सुस्थापित विधि है, जो न केवल उनके द्वारा अपितु समस्त अन्य पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा स्थापित की गई है। अतएव और आगे प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं रह जाती। यह विधि, न केवल आदर्शवादी सफलता के विभिन्न विभाग के जिज्ञासुओं के लिए संस्तुत है, अपितु उन लोगों के लिए भी है जिन्होंने कर्मी, दार्शनिक या भगवद्भक्त के रूप में पहले ही सफलता प्राप्त कर ली है।

श्रील जीव गोस्वामी का उपदेश है कि भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन उच्चस्वर से और साथ ही *पद्मपुराण* की संस्तुति के अनुसार निरपराध भाव से सम्पन्न किया जाना चाहिए। मनुष्य भगवान् की शरण में जाकर, समस्त पापकर्मों के प्रभावों से अपने को उबार सकता है। मनुष्य भगवान् के नाम की शरण लेकर, अपने को भगवान् के चरणकमलों के प्रति अपराधों से छुड़ा सकता है। किन्तु यदि कोई भगवन्नाम के चरणों पर अपराध करता है, तो वह अपने को बचा नहीं सकता। *पद्मपुराण* में ऐसे अपराधों का उल्लेख है जिनकी संख्या दस बताई गई है। पहला अपराध उन महान् भक्तों को कलंकित करना है, जिन्होंने भगवान् की महिमा का उपदेश किया है। दूसरा अपराध है भगवान् के पवित्र नामों को संसारी ख्याति के रूप में देखना। भगवान् समस्त ब्रह्माण्डों के स्वामी हैं। अतएव वे विभिन्न स्थानों में विभिन्न नामों से जाने जा सकते हैं, किन्तु इससे भगवान् की किसी तरह पूर्णता सिद्ध नहीं होती। भगवान् के लिए प्रयुक्त कोई भी नाम-शब्दावली, अन्य किसी भी नाम जैसी पवित्र है, क्योंकि वे सभी भगवान् के निमित्त हैं। ऐसे पवित्र नाम भगवान् के ही समान शक्तिशाली होते हैं और सृष्टि के किसी भी भाग में, भगवान् के किसी एक स्थानीय तौर पर परिचित नाम का कीर्तन करने तथा भगवान् की महिमा के गायन करने में, कोई रोकटोक नहीं है। सारे नाम कल्याणप्रद हैं और मनुष्य को चाहिए कि ऐसे नामों में भौतिक व्यापारिक वस्तु की तरह भेद-भाव नहीं समझे। तीसरा अपराध है प्रधिकृत आचार्य या गुरु के आदेशों की उपेक्षा करना। चौथा अपराध शास्त्रों को या वैदिक ज्ञान को कलंकित करना है। पाँचवाँ अपराध भगवान् के पवित्र नाम को अपनी संसारी गणना के अनुसार परिभाषित करना है। भगवान् का पवित्र नाम भगवान् से अभिन्न है और मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के पवित्र नाम को उनसे अभिन्न समझे। छठा अपराध है पवित्र नाम की मनमानी व्याख्या। न तो भगवान् काल्पनिक हैं, न ही उनका पवित्र नाम काल्पनिक हैं। किन्तु कुछ ऐसे अल्पज्ञ हैं, जो भगवान् को पूजक की कल्पना मानते हैं और इस तरह उनके पवित्र नाम को काल्पनिक समझते हैं। ऐसे भगवन्नामजापक को पवित्रनाम के कीर्तन में वांछित सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। सातवाँ अपराध है पवित्र नाम के बल पर जानबूझ कर पाप करना। शास्त्रों में कहा गया है कि केवल भगवन्नाम के कीर्तन से समस्त पापकर्मों के प्रभावों से छूटा जा सकता हैं। जो व्यक्ति इस दिव्य विधि का लाभ उठाता है और इस उम्मीद से

पाप करता जाता है कि भगवान् के पवित्र नाम के जप से पापों के प्रभाव निरस्त होते रहेंगे, तो वह पवित्र नाम के चरणों पर सबसे बड़ा अपराधी है। ऐसे अपराधी, शुद्धि की किसी भी संस्तुत विधि से, अपने को शुद्ध नहीं कर सकते। दूसरे शब्दों में, भले ही भगवान् के पवित्र नाम के जप के पूर्व कोई पापी हो, लेकिन भगवान् के पवित्र नाम की शरण ग्रहण कर लेने पर और प्रतिरक्षित बन जाने पर, मनुष्य को चाहिए कि वह इस आशा से पाप करने से विलग रहे कि यह पवित्र नाम-जप उसकी रक्षा करेगा। आठवाँ अपराध है भगवान् के पवित्र नाम तथा उसकी जप-विधि को किसी भौतिक शुभकर्म के तुल्य समझना। भौतिक लाभ के लिए अनेक प्रकार के शुभकर्म हैं, लेकिन पवित्र नाम तथा इसका जप केवल पवित्र शुभ सेवा नहीं हैं। निस्सन्देह पवित्र नाम पवित्र सेवा है, लेकिन इसका उपयोग ऐसे कार्यों के लिए नहीं किया जाना चाहिए। चूँकि पवित्र नाम तथा भगवान् एक ही सत्ता हैं, अतएव पवित्र नाम को मानवता की सेवा में नहीं घसीटना चाहिए। भाव यह है कि परमेश्वर परम भोक्ता है। वह न तो किसी का सेवक है, न ही आदेश पालन है। इसी प्रकार चूँकि भगवान् का पवित्र नाम भगवान् से अभिन्न है, अतएव पवित्र नाम का उपयोग निजी सेवा के लिए नहीं किया जाना चाहिए।

नवाँ अपराध है ऐसे लोगों को पवित्र नाम की दिव्य प्रकृति के विषय में उपदेश देना, जो भगवान् के पवित्र नाम का जप नहीं करना चाहते। यदि ऐसा उपदेश अनिच्छुक श्रोतागण को दिया जाता है, तो इस कार्य को पवित्र नाम के चरणों पर अपराध माना जाता है। दसवाँ अपराध है पवित्र नाम की दिव्य प्रकृति के विषय में सुनने के बाद भी भगवान् के पवित्र नाम के प्रति अरुचि प्रदर्शित करना। भगवान् के पवित्र नाम के जप से जो प्रभाव अनुभव किया जाता है, वह है झूठे अहंकार की धारणा से जापक की मुक्ति। झूठा अहंकार, अपने को विश्व का भोक्ता समझने तथा यह सोचने के कारण प्रकट होता है कि विश्व की सारी वस्तुएँ उसी के उपयोग के लिए हैं। सारा भौतिकतावादी जगत 'मैं' तथा 'मेरा' के झूठे अहंकार के वशीभूत है, किन्तु ऐसी भ्रान्त धारणा से मुक्त होना ही पवित्र नाम के जप का असली प्रभाव होता है।

किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरिह ।
वरं मुहूर्तं विदितं घटते श्रेयसे यतः ॥ १२॥

शब्दार्थ

किम्—क्या है; प्रमत्तस्य—मोहग्रस्त का; बहुभिः—बहुतों के द्वारा; परोक्षैः—अनुभव-विहीन; हायनैः—वर्षों तक; इह—इस संसार में; वरम्—श्रेष्ठ; मुहूर्तम्—एक क्षण; विदितम्—चेतन; घटते—प्रयास कर सकता है; श्रेयसे—परमार्थ के मामले में; यतः—जिससे।

ऐसे दीर्घ जीवन से क्या लाभ, जिसे इस संसार में वर्षों तक अनुभवहीन बने रहकर गँवा दिया जाये? इससे तो अच्छा है पूर्ण चेतना का एक क्षण, क्योंकि इससे उसके परम कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है।

तात्पर्य : श्रील शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को प्रत्येक प्रगतिशील व्यक्ति द्वारा भगवान् के पवित्र नाम का जप करने की महत्ता का उपदेश दिया। राजा को प्रोत्साहित करने के लिए श्रील शुकदेव गोस्वामी ने जोर देकर कहा कि जीवन की समस्याओं को जाने बिना सैकड़ों वर्षों तक जीवित रहने से कोई लाभ नहीं—इससे तो परमार्थ की चेतना से युक्त एक क्षण का भी जीवन श्रेयस्कर है। जीवन का परमार्थ सत्, चित् तथा आनन्द से पूर्ण है। जो लोग भौतिक जगत के बाह्य लक्षणों से मोहग्रस्त रहते हैं और 'खाओ, पीओ, मौज करो' जैसी पाशविक वृत्ति में लगे रहते हैं, वे मूल्यवान समय को व्यर्थ ही गुजारते हुए अपने जीवन को गँवा रहे हैं। हमें पूर्ण चेतना में रहकर यह समझ लेना चाहिए कि बद्धजीव को यह मनुष्य-जीवन आध्यात्मिक सफलता प्राप्त करने के लिए प्राप्त हुआ है और इस लक्ष्य को प्राप्त करने की सरलतम विधि है भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन। पिछले श्लोक में हमने इस विषय की कुछ सीमा तक व्याख्या की है और अब आगे हम पवित्र नाम के चरणों पर किये जानेवाले विभिन्न अपराधों पर प्रकाश डालेंगे। श्रील जीव गोस्वामी प्रभु ने प्रामाणिक शास्त्रों से अनेक उद्धरण दिये हैं और पवित्र नाम के चरणों पर किये जानेवाले अपराधों के विषय में व्यक्त विचारों की योग्यतापूर्वक पुष्टि की है। *विष्णुयामल तन्त्र* से, श्रील जीव गोस्वामी ने सिद्ध किया है कि भगवन्नाम के कीर्तन मात्र से मनुष्य सारे पापों के प्रभावों से मुक्त हो सकता है। *मार्कण्डेय पुराण* से उद्धरण देते हुए श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि मनुष्य को चाहिए कि वह न तो भगवद्भक्त की निन्दा करे और न उन लोगों की बातें सुने, जो भगवद्भक्त को छोटा बताने का प्रयास करते रहते हैं। भक्त को चाहिए कि निन्दक की जीभ काटकर, उसे निन्दा करने से रोके और यदि ऐसा न कर सके तो उसे चाहिए कि भगवद्भक्त की निन्दा सुनने की अपेक्षा आत्मघात कर ले। निष्कर्ष यह है कि मनुष्य को न

तो भगवद्भक्त की निन्दा सुननी चाहिए, न किसी को ऐसा करने देना चाहिए। जहाँ तक देवताओं के नामों से भगवान् के पवित्र नाम में अन्तर करने की बात है, शास्त्र (*भगवद्गीता* १०.४१) यह बताते हैं कि सारे असामान्य शक्तिशाली जीव परम शक्तिमान भगवान् कृष्ण के ही अंश हैं। स्वयं भगवान् के अतिरिक्त सभी उनके अधीन हैं, कोई भी भगवान् से स्वतन्त्र नहीं है। चूँकि कोई भी न तो भगवान् से अधिक शक्तिमान है या उनकी शक्ति के तुल्य है, अत: किसी का नाम भगवान् के नाम के समान शक्तिशाली नहीं हो सकता है। भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन मात्र से मनुष्य समस्त स्रोतों से एक ही समय घटित होनेवाली नियत शक्ति प्राप्त कर सकता है। अतएव भगवान् के परम पवित्र नाम की समता अन्य नाम से नहीं करनी चाहिए। ब्रह्मा, शिव या अन्य शक्तिशाली देवता कभी परम भगवान् विष्णु के समान नहीं हो सकते। भगवान् का शक्तिशाली पवित्र नाम निश्चित रूप से मनुष्य को पाप के प्रभावों से उबार सकता है, किन्तु जो व्यक्ति भगवान् के पवित्र नाम की दिव्य शक्ति का उपयोग अपने कुत्सित कार्यों के लिए करना चाहते हैं, वे संसार में सबसे पतित व्यक्ति होते हैं। ऐसे व्यक्तियों को भगवान् या उनके गण कभी भी क्षमा नहीं करते। अतएव मनुष्य को चाहिए कि सभी प्रकार से, बिना किसी अपराध के, अपने जीवन का उपयोग भगवान् के यशोगान में करे। जीवन के ऐसे कार्य की, भले ही वह एक क्षण का हो, तुलना अज्ञानमय दीर्घ जीवन से नहीं की जा सकती, जैसे वृक्ष या अन्य जीवों का दीर्घ जीवन जो किसी प्रकार की आध्यात्मिक प्रगति किये बिना हजारों वर्षों तक जीवित रह सकते हैं।

खट्वाङ्गो नाम राजर्षिर्ज्ञात्वेयत्तामिहायुषः ।
मुहूर्तात्सर्वमुत्सृज्य गतवानभयं हरिम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

खट्वाङ्गः—राजा खट्वांग; नाम—नामक; राज-ऋषिः—ऋषितुल्य राजा; ज्ञात्वा—जानकर; इयत्ताम्—अवधि; इह—इस संसार में; आयुषः—अपने जीवन की; मुहूर्तात्—एक ही क्षण में; सर्वम्—सब कुछ; उत्सृज्य—छोड़कर; गतवान्—स्वीकार किया; अभयम्—पूरी तरह सुरक्षित; हरिम्—भगवान् को।

राजर्षि खट्वांग को जब यह सूचना दी गई कि उनकी आयु का केवल एक क्षण (मुहूर्त) शेष है, तो उन्होंने तुरन्त अपने आपको समस्त भौतिक कार्यकलापों से मुक्त करके परम रक्षक भगवान् की शरण ले ली।

तात्पर्य : पुरी तरह से जिम्मेदार व्यक्ति को अपने वर्तमान मनुष्य-जीवन के मूल कर्तव्य का भान होना चाहिए। भौतिक जीवन की आसन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया गया कर्म ही सब कुछ नहीं है। मनुष्य को अगले जीवन में श्रेष्ठतम पद प्राप्त करने के लिए अपने कर्तव्य के प्रति चौकन्ना रहना चाहिए। मनुष्य-जीवन हमें इसी मुख्य कर्तव्य की तैयारी करने के लिए मिला है। यहाँ पर महाराज खट्वांग का उल्लेख राजर्षि के रूप में हुआ है, क्योंकि वे अपने ऊपर राज्य-प्रबन्ध का उत्तरदायित्व होते हुए भी अपने जीवन के मुख्य कर्तव्य को भूले नहीं थे। यही हाल महाराज युधिष्ठिर तथा महाराज परीक्षित जैसे अन्य राजर्षियों का था। वे अपने मुख्य कर्तव्य को निभाने के प्रति जागरूक रहने के कारण आदर्श व्यक्ति थे। महाराज खट्वांग को देवताओं ने असुरों से युद्ध करने के लिए स्वर्ग में बुलाया था और राजा के रूप में उन्होंने देवताओं को पूरी तरह सन्तुष्ट करते हुए युद्ध किया। इस पर देवताओं ने प्रसन्न होकर उन्हें भौतिक भोग का कोई वर देना चाहा, लेकिन चूँकि महाराज खट्वांग अपने प्रमुख कर्तव्य के प्रति अत्यन्त जागरूक थे, अतएव उन्होंने देवताओं से अपने शेष जीवन के विषय में पूछा। इसका अर्थ यह है कि वे भौतिक वर प्राप्त करने के फेर में न थे, क्योंकि उन्हें अगले जीवन की तैयारी करनी थी। किन्तु देवताओं ने उन्हें बताया कि उनके जीवन का केवल एक क्षण शेष है, तो राजा ने तुरन्त उस स्वर्गधाम को छोड़ दिया, जो उच्चस्तरीय भौतिक भोग से पूरित है और पृथ्वी पर आकर उन्होंने परम रक्षक भगवान् की शरण ली। वे अपने महत्प्रयास में सफल रहे और उन्हें मुक्ति प्राप्त हुई। राजर्षि द्वारा यह प्रयास, यद्यपि एक क्षण के लिए था, किन्तु सफल रहा क्योंकि वे अपने मुख्य कर्तव्य के प्रति सदैव जागरूक रहे। इस तरह से महाराज परीक्षित महान् शुकदेव गोस्वामी द्वारा प्रोत्साहित हुए, यद्यपि उनके जीवन के सात ही दिन शेष थे, जिसमें उन्हें *श्रीमद्भागवत* के रूप में भगवान् की महिमा-श्रवण करने का मुख्य कर्तव्य सम्पन्न करना था। भगवान् की इच्छा से महाराज परीक्षित को तुरन्त शुकदेव गोस्वामी मिल गये और आध्यात्मिक सफलता का जो महान् कोष वे अपने पीछे छोड़ गये हैं, उसका उल्लेख *श्रीमद्भागवत* में सुन्दर ढंग से हुआ है।

तवाप्येतर्हि कौरव्य सप्ताहं जीवितावधिः ।
उपकल्पय तत्सर्वं तावद्यत्साम्परायिकम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

तव—तुम्हारा; अपि—भी; एतर्हि—अतएव; कौरव्य—हे कुरुवंशी; सप्ताहम्—सात दिन, हफ्ता; जीवित—आयु; अवधिः—सीमा; उपकल्पय—सम्पन्न करो; तत्—वे; सर्वम्—समस्त; तावत्—तब तक; यत्—जो है; साम्परायिकम्—अगले जीवन के लिए अनुष्ठान।

हे महाराज परीक्षित, अब आपकी आयु के और सात दिन शेष हैं। अतएव इस अवधि में आप उन समस्त अनुष्ठानों को सम्पन्न कर सकते हैं, जो आपके अगले जीवन के परम कल्याण के लिए आवश्यक हैं।

तात्पर्य : महाराज खट्वांग जिन्होंने अत्यल्प समय में अपने अगले जीवन के लिए अपने आपको तैयार कर लिया था उनका उदाहरण प्रस्तुत करने के बाद शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को यह कहकर प्रोत्साहित किया कि चूँकि उनके पास अब भी सात दिन शेष हैं, अतएव उन्हें अगले जीवन की तैयारी के लिए इस समय का सदुपयोग कर लेना चाहिए। एक तरह से गोस्वामीजी ने महाराज परीक्षित को बताया कि वे भगवान् के शब्द-रूप की शरण ग्रहण कर लें, क्योंकि उनके जीवन के अब भी सात दिन शेष हैं। इस प्रकार से वे मुक्त हो लें। दूसरे शब्दों में, शुकदेव गोस्वामी ने जिस तरह महाराज परीक्षित को *श्रीमद्भागवत* सुनाई थी, उसी रूप में उसका श्रवण करके प्रत्येक व्यक्ति अगले जीवन की अच्छी तरह तैयारी कर सकता है। ये अनुष्ठान औपचारिक नहीं हैं, अपितु कुछ अनुकूल बातें हैं जिनका पालन करना होता है और जिनका आदेश आगे दिया गया है।

अन्त-काले तु पुरुष आगते गत-साध्वसः ।
छिन्द्यादसङ्ग-शस्त्रेण स्पृहां देहेऽनु ये च तम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अन्त-काले—जीवन की अन्तिम अवस्था में; तु—लेकिन; पुरुषः—व्यक्ति; आगते—आ करके; गत-साध्वसः—मृत्यु के भय के बिना; छिन्द्यात्—काट दे; असङ्ग—अनासक्ति; शस्त्रेण—हथियार से; स्पृहाम्—सारी इच्छाओं को; देहे—भौतिक शरीर से; अनु—से सम्बन्धित; ये—वे सब; च—तथा; तम्—उसको।

मनुष्य को चाहिए कि जीवन के अन्तकाल में मृत्यु से तनिक भी भयभीत न हो, अपितु वह भौतिक शरीर से तथा उससे सम्बन्धित सारी वस्तुओं एवं उसकी समस्त इच्छाओं से अपनी आसक्ति तोड़ ले।

तात्पर्य : स्थूल भौतिकतावाद की मूर्खता यह है कि लोग इस संसार में स्थायी रूप से रहना चाहते हैं, जबकि यह निश्चित तथ्य है कि मनुष्य को बहुमूल्य मानवीय शक्ति से सृजित प्रत्येक वस्तु को यहीं

छोड़ना पड़ता है। बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ, विज्ञानी, दार्शनिक आदि आत्मा की कोई जानकारी न होने के कारण मूर्ख हैं और वे सोचते हैं कि कुछ वर्षों का यह जीवन ही सब कुछ है, मृत्यु के बाद कुछ भी नहीं है। संसार के विद्वन्मण्डल में भी, इस तरह का अल्पज्ञान मानवीय शक्ति के प्राणत्व का हनन कर रहा है और इसके भयावह परिणाम देखने को मिल रहे हैं। इतने पर भी मूर्ख भौतिकतावादी लोग इसकी परवाह नहीं करते कि अगले जीवन में क्या होने जा रहा है। *भगवद्गीता* का प्राथमिक उपदेश है कि मनुष्य यह जाने कि इस शरीर का अन्त होने पर जीव की पहचान समाप्त नहीं होती है, क्योंकि शरीर तो मात्र बाहरी वस्त्र है। जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्र बदलता है, उसी तरह जीव शरीर बदलता है और शरीर का यह बदलाव (परिवर्तन) ही मृत्यु कहलाता है। अतएव वर्तमान जीवन-अवधि (आयु) के अन्त में शरीर की मृत्यु परिवर्तन की प्रक्रिया है। बुद्धिमान मनुष्य को इसके लिए तैयार रहना चाहिए और अगले जीवन में सर्वोत्तम प्रकार का शरीर पाने के लिए प्रयास करना चाहिए। सर्वोत्तम प्रकार का शरीर आध्यात्मिक शरीर है। यह उन लोगों को मिलता है, जो भगवद्धाम जाते हैं या ब्रह्म के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। इस स्कंध के द्वितीय अध्याय में इस विषय की विशद व्याख्या की जायेगी, लेकिन जहाँ तक शरीर-परिवर्तन की बात है, मनुष्य को चाहिए कि अभी से अगले जीवन की तैयारी करे। मूर्खलोग वर्तमान नश्वर जीवन को अधिक महत्त्व देते हैं और मूर्ख नेता शरीर तथा शारीरिक सम्बन्धों पर बल देते हैं। ये शारीरिक सम्बन्ध इस शरीर तक ही नहीं सीमित होते, अपितु परिजनों, पत्नी, बच्चों, समाज, देश तथा अन्य अनेक बातों तक विस्तारित होते हैं, जिनका अन्त मृत्यु के साथ हो जाता है। मृत्यु के पश्चात् मनुष्य वर्तमान शारीरिक सम्बन्धों को भूल जाता है। हमें इस प्रकार का थोड़ा अनुभव रात को सोते समय होता है। सोते समय हम इस शरीर को तथा सारे शारीरिक सम्बन्धों को भूल जाते हैं, यद्यपि यह विस्मृति कुछ घण्टों की क्षणिक अवस्था ही होती है। मृत्यु कुछ मासों के लिए निद्रा के अतिरिक्त कुछ नहीं, जिसमें दूसरा शारीरिक बन्धन विकसित होता है, जो हमें प्रकृति के नियम द्वारा हमारी आकांक्षा के अनुसार दिया जाता है। अतएव मनुष्य को इस वर्तमान शरीर की अवधि में आकांक्षा को परिवर्तित करना होता है। अतएव इस मनुष्य-जीवन में इसके लिए प्रशिक्षण की आवश्यकता है। यह प्रशिक्षण जीवन की किसी भी अवस्था में, यहाँ तक कि मृत्यु के

कुछ क्षण पूर्व भी, चालू किया जा सकता है, किन्तु इसकी सामान्य विधि यह है कि यह प्रशिक्षण प्रारम्भ से, ब्रह्मचर्य अवस्था से शुरू किया जाय और धीरे-धीरे गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों की दिशा में इसमें प्रगति की जाये। इस प्रशिक्षण को देने वाली संस्था वर्णाश्रम धर्म या सनातन धर्म पद्धति कहलाती है, जो मनुष्य जीवन को पूर्ण बनाने की सर्वोत्तम विधि है। अतएव यह आवश्यक है कि जब मनुष्य अधिक से अधिक पचास वर्ष की आयु प्राप्त कर ले, तो वह पारिवारिक, सामाजिक या राजनैतिक जीवन से अपना नाता तोड़ ले और उसे वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम का प्रशिक्षण अगले जीवन की तैयारी के लिए दिया जाए। लेकिन जनता के नेता के रूप में मूर्ख भौतिकतावादी लोग पारिवारिक मामलों से सम्बन्ध-विच्छेद न करके उन्हीं के प्रति आसक्त रहते हैं। इस प्रकार वे प्रकृति के नियम के शिकार बनते हैं और अपने कर्म के अनुसार पुनः स्थूल शरीर प्राप्त करते हैं। ऐसे मूर्ख नेताओं को, जीवन के अन्तिम समय, लोगों से कुछ सम्मान प्राप्त हो सकता है, लेकिन इसका अर्थ यह तो नहीं होता कि वे इस प्राकृतिक नियम से अछूते रहें, जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के हाथ-पाँव जकड़े हुए रहते हैं। इसीलिए सबसे अच्छा यही है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वेच्छा से पारिवारिक सम्बन्धों को त्याग दे और इस तरह वह परिवार, समाज, देश आदि की आसक्ति को भगवद्भक्ति में स्थानान्तरित कर दे। यहाँ पर यह बताया गया है कि उसे पारिवारिक-आसक्ति की सारी इच्छाएँ त्याग देनी चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि श्रेष्ठतर इच्छाओं को अवसर दे अन्यथा ऐसी कुत्सित इच्छाओं के परित्याग का अवसर नहीं आयेगा। इच्छा तो जीव के साथ जुड़ी है। चूँकि जीव शाश्वत है, अतएव जीव की इच्छाएँ भी जो उसके लिए स्वाभाविक हैं, शाश्वत हैं। अतएव मनुष्य इच्छा करना छोड़ नहीं सकता, किन्तु इच्छाओं की विषयवस्तु तो बदली ही जा सकती है। इस तरह मनुष्य को भगवद्धाम जाने की इच्छा विकसित करनी चाहिए। इससे भक्ति के विकास के अनुपात के अनुसार भौतिक लाभ, भौतिक सम्मान तथा भौतिक लोकप्रियता की इच्छाएँ स्वतः कम होंगी। जीव तो सेवा-कार्यों के निमित्त है और उसकी इच्छाएँ इसी सेवा-मनोवृत्ति के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं। राज्य के सर्वोच्च प्रशासक से लेकर सड़क के नगण्य भिखारी तक सभी लोग दूसरों की कोई न कोई सेवा कर रहे हैं। ऐसी सेवा-मनोवृत्ति को पूर्णता तभी प्राप्त होती है जब सेवा की इच्छा को पदार्थ से आत्मा में, या शैतान से ईश्वर में

स्थानान्तरित कर दिया जाय।

गृहात् प्रव्रजितो धीरः पुण्य-तीर्थ-जलाप्लुतः ।
शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत्कल्पितासने ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

गृहात्—अपने घर से; प्रव्रजितः—बाहर जाकर; धीरः—आत्मसंयमी; पुण्य—पवित्र; तीर्थ—तीर्थ-स्थान; जल-आप्लुतः—पूरी तरह धोया हुआ; शुचौ—स्वच्छ किया; विविक्ते—एकान्त; आसीनः—बैठा हुआ; विधिवत्—नियमानुसार; कल्पित—सम्पन्न करके; आसने—आसन पर।

मनुष्य को घर छोड़ करके आत्मसंयम का अभ्यास करना चाहिए। उसे तीर्थस्थानों में नियमित रूप से स्नान करना चाहिए और ठीक से शुद्ध होकर एकान्त स्थान में आसन जमाना चाहिए।

तात्पर्य : श्रेष्ठतर अगले जीवन की तैयारी के लिए मनुष्य को तथाकथित घर छोड़ देना चाहिए। वर्णाश्रम धर्म या सनातन धर्म की पद्धति कहती है कि पचास वर्ष की आयु पार कर लेने के बाद, जितनी जल्दी हो सके, पारिवारिक भार से वैराग्य ले लेना चाहिए। आधुनिक सभ्यता पारिवारिक सुविधाओं पर आधारित है, जिसे सुख-सुविधाओं का सर्वोच्च मानदण्ड माना जाता है। अतएव हर व्यक्ति, सेवा-निवृत्ति के बाद, ऐसे घर में रहना चाहता है, जो सुन्दर स्त्रियों तथा बच्चों से अलंकृत हो। वह ऐसे सुविधापूर्ण घर से बाहर जाने की रंचमात्र इच्छा नहीं करता। उच्च सरकारी अफसर तथा मन्त्री, मृत्यु के समय तक, अपने उपहार-रुपी पदों पर चिपके रहते हैं और वे इन घेरलू सुविधाओं से बाहर निकलने का स्वप्न में भी विचार नहीं करते। ऐसे व्यामोह से बँधकर, भौतिकतावादी व्यक्ति इससे भी अधिक सुखी जीवन की विविध योजनाएँ तैयार करते हैं। किन्तु क्रूर मृत्यु सहसा बड़े से बड़े योजना-कारों को, उसकी इच्छा के विरुद्ध, उठा लेती है और इस शरीर को त्याग कर दूसरा शरीर धारण करने के लिए बाध्य कर देती है। इस तरह ऐसे योजनाकार को अपने किये गये पूर्व कर्मों के अनुसार ८४,००,००० जीव योनियों में से कोई एक शरीर ग्रहण करने के लिए बाध्य किया जाता है। जो लोग पारिवारिक सुविधाओं के प्रति अधिक आसक्त होते हैं, उन्हें अगले जीवन में इस पापमय लम्बी आयु में किये गये पाप-कर्मों के कारण निम्न योनि प्रदान की जाती है। इस तरह मानव-जीवन की सारी शक्ति नष्ट हो जाती है। मनुष्य-जीवन को इस तरह बर्बाद होने और काल्पनिक वस्तुओं में लिप्त रहने

से बचाने के लिए मनुष्य को यदि पहले नहीं तो कम से कम पचास वर्ष की आयु में सावधान हो जाना चाहिए। सिद्धान्त यह है कि मनुष्य इसे मान ले कि मृत्यु की खतरे की घंटी पचास वर्ष की आयु पूरी करने के पहले ही बज जाती है, अतएव हर हालत में उसे श्रेष्ठतर भावी जीवन के लिए तैयारी करनी चाहिए। सनातन धर्म संस्था की पद्धति ऐसी बनाई गई है कि इसका पालन करने वाला अगले जीवन के विनष्ट होने की किसी प्रकार की सम्भावना के बिना श्रेष्ठतर अगले जीवन के लिए प्रशिक्षित हो जाए। संसार भर में पवित्र स्थल (तीर्थस्थल) उन सेवानिवृत्त व्यक्तियों के आवास के लिए हैं, जो श्रेष्ठतर अगले जीवन की तैयारी करने में लगे रहते हैं। इसीलिए बुद्धिमान मनुष्यों को जीवन के अन्त में, पचास वर्ष की आयु के पश्चात्, जीवन में बन्धनस्वरूप पारिवारिक आसक्ति से मुक्त होने के लिए आध्यात्मिक कायाकल्प का जीवन बिताने के उद्देश्य से तीर्थों में जाना चाहिए। मनुष्य को भौतिक आसक्ति से छुटकारा पाने के लिए गृह-त्याग करने की संस्तुति की जाती है, क्योंकि जो व्यक्ति मृत्यु तक पारिवारिक जीवन से चिपका रहता है, वह भौतिक आसक्ति को त्याग नहीं सकता और जब तक वह भौतिक आसक्ति को नहीं छोड़ता, तब तक वह आध्यात्मिक स्वतन्त्रता को नहीं समझ पाता। लेकिन उसे गृहत्याग करके या तीर्थ स्थान में वैध या अवैध रूप से दूसरा घर बनाकर आत्म-सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। ऐसे अनेक लोग हैं, जो घर छोड़कर ऐसे तीर्थस्थानों में जाते हैं, किन्तु विपरीत-लिंगी कुसंगति में पड़कर पुनः गृहस्थ बन जाते हैं। माया की मोहिनी शक्ति इतनी प्रबल है कि जीवन की प्रत्येक अवस्था में, यहाँ तक कि अपने सुखी घर का त्याग करने के बाद भी, मनुष्य ऐसे मोह में पड़ सकता है। अतएव यह अनिवार्य है कि मनुष्य ब्रह्मचर्य द्वारा यौन-लिप्सा से रहित होकर आत्मसंयम का अभ्यास करे। जो व्यक्ति जीवन सुधारना चाहता है, उसके लिए यौन-लिप्सा आत्मघात या उससे भी बढ़कर है। अतएव पारिवारिक जीवन से पृथक् रहने का अर्थ है समस्त इन्द्रिय इच्छाओं पर और विशेष रूप से यौन-इच्छा पर, संयम रखना। इसकी विधि यह है कि मनुष्य को कुश, मृगचर्म तथा दरी का पवित्र आसन तैयार करना चाहिए और उस पर बैठकर उपर्युक्त विधि से निरपराध भाव से भगवान् के पवित्र नाम का जप करना चाहिए। यह समूची विधि मन को भौतिक कार्यों से खींचकर भगवान् के चरणकमलों में स्थिर करने के निमित्त है। यह सरल विधि ही सर्वोच्च अध्यात्मिक सफलता

दिलाने में सहायक होगी।

अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परम् ।
मनो यच्छेज्जित-श्वासो ब्रह्म-बीजमविस्मरन् ॥ १७॥

शब्दार्थ

अभ्यसेत्—अभ्यास करना चाहिए; मनसा—मन से; शुद्धम्—पवित्र; त्रि-वृत्—तीन (अक्षरों) से निर्मित; ब्रह्म-अक्षरम्—दिव्य अक्षर; परम्—परम; मनः—मन; यच्छेत्—वश में करे; जित-श्वासः—श्वास को नियमित करके; ब्रह्म—परम; बीजम्—बीज को; अविस्मरन्—बिना भुलाये।

मनुष्य उपर्युक्त विधि से आसन जमा कर, मन को तीन दिव्य अक्षरों (अ, उ, म्) का स्मरण कराये और श्वास-विधि को नियमित करके मन को वश में करे, जिससे वह दिव्य बीज को नहीं भूले।

तात्पर्य : ॐकार अथवा प्रणव दिव्य अनुभूति का बीज है और यह तीन दिव्य अक्षरों अ, उ, म् से बना है। समाधि प्राप्त करने की दिव्य किन्तु यान्त्रिक विधि के द्वारा, जिसे महान् योगियों के अनुभव से खोजा गया है, श्वास-विधि (प्राणायाम) के साथ-साथ मन से जप करने से भौतिकता में लीन मन को वश में किया जा सकता है। मन की आदत को बदलने की यही विधि है। मन को मारना नहीं होती है। मन या इच्छा को रोका नहीं जा सकता, लेकिन आध्यात्मिक अनुभूति की दिशा में काम करने के लिए मन की व्यस्तता के गुण को बदला जा सकता है। मन सक्रिय इन्द्रियों की धुरी है। अतएव यदि सोचने, अनुभव करने तथा चाहने की प्रकृति परिवर्तित कर दी जाय तो स्वाभाविक है कि कर्मेन्द्रियों के कार्यों की प्रकृति भी बदल जायेगी। ॐकार समस्त दिव्य ध्वनि का बीज है और एकमात्र दिव्य ध्वनि ही मन तथा इन्द्रियों में वांछित परिवर्तन ला सकती है। यहाँ तक कि मानसिक रूप से असन्तुलित व्यक्ति भी दिव्य ध्वनि के उपचार से निरोग बनाया जा सकता है। *भगवद्गीता* में *प्रणव* (ॐकार) को परम सत्य की प्रत्यक्ष शाब्दिक अभिव्यक्ति कहा गया है। जो व्यक्ति उपर्युक्त विधि से भगवान् के पवित्र नाम का प्रत्यक्ष उच्चारण नहीं कर पाता, वह प्रणव (ॐकार) का जप आसानी से कर सकता है। यह ॐकार एक सम्बोधन है—यथा हे भगवान्! जिस प्रकार कि *ॐ हरि ओम्* का अर्थ है, हे मेरे स्वामी, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्। जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, भगवान् का पवित्र नाम भगवान् से अभिन्न होता है। उसी तरह ॐकार भी है। किन्तु जो व्यक्ति अपनी अपूर्ण इन्द्रियों के कारण (यथा नवदीक्षित)

भगवान् के दिव्य साकार रूप या नाम की अनुभूति कर पाने में अक्षम होते हैं, उन्हें प्राणायाम का अभ्यास करने के साथ-साथ मन में प्रणव (ॐकार) का बारम्बार उच्चारण करके आत्म-साक्षात्कार का अभ्यास करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। जैसाकि हम कई बार कह चुके हैं, भगवान् के दिव्य नाम, रूप, गुणों, लीलाओं इत्यादि को वर्तमान इन्द्रियों द्वारा समझ पाना असम्भव है, अतएव यह आवश्यक है कि समस्त विषयों के केन्द्र-बिन्दु मन के माध्यम से ऐसी दिव्य अनुभूति को गति प्रदान की जाय। भक्तगण अपने मन को सीधे ही परम सत्य-रूपी पुरुष पर स्थिर कर लेते हैं, किन्तु जो लोग ब्रह्म के ऐसे साकार स्वरूप को धारण नहीं कर सकते, उन्हें निर्विशेषता के प्रति मन को प्रशिक्षित करके प्रगति करने के लिए अनुशासित किया जाता है।

नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान्मनसा बुद्धि-सारथिः ।
मनः कर्मभिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद्धिया ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

नियच्छेत्—खींच ले; **विषयेभ्यः**—विषयों से; **अक्षान्**—इन्द्रियों को; **मनसा**—मन से; **बुद्धि**—बुद्धि; **सारथिः**—हाँकनेवाला; **मनः**—मन; **कर्मभिः**—सकाम कर्म से; **आक्षिप्तम्**—लीन रहकर; **शुभ-अर्थे**—भगवान् के निमित्त; **धारयेत्**—धारण करे; **धिया**—पूर्ण चेतना में।

धीरे-धीरे जब मन उत्तरोत्तर आध्यात्मिक हो जाय, तो उसे इन्द्रिय-कार्यों से खींच लिया जाय (विलग कर लिया जाय)। इससे इन्द्रियाँ बुद्धि द्वारा वशीभूत हो जायेंगी। इससे भौतिक कार्य-कलापों में लीन मन भी भगवान् की सेवा में प्रवृत्त किया जा सकता है और पूर्ण दिव्य भाव में स्थिर हो सकता है।

तात्पर्य : प्रणव (ॐकार) के यान्त्रिक उच्चारण के द्वारा तथा श्वास के अवरोध (प्राणायाम) से मन के अध्यात्मीकरण की प्रथम प्रक्रिया (विधि) प्राणायाम् की यौगिक विधि या श्वास को पूर्ण रूप से नियन्त्रित करने की विधि कहलाती है। इस प्राणायाम-पद्धति की चरम अवस्था समाधि है। किन्तु अनुभव से सिद्ध हो चुका है कि समाधि-अवस्था भी भौतिकता में लीन मन को वश में करने में असफल रहती है। उदाहरणार्थ, विश्वामित्र समाधि-अवस्था प्राप्त करके भी इन्द्रियों के शिकार हो गये और उन्होंने मेनका के साथ सम्भोग किया। इतिहास इसका साक्षी है। यद्यपि मन सम्प्रति विषय-वासनाओं को सोचना बन्द कर देता है, किन्तु अवचेतन-मन से वह विगत विषय-वासनाओं का स्मरण

करता है और इस तरह मनुष्य को शत प्रतिशत आत्म-साक्षात्कार में लगने से रोक देता है। अतएव शुकदेव गोस्वामी विश्वस्त नीति अपनाने के लिए कहते हैं और यह है मन को भगवान् की सेवा में स्थिर करना। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रत्यक्ष विधि की संस्तुति *भगवद्गीता* (६.४७) में भी करते हैं। इस तरह आध्यात्मिक रूप से मन के स्वच्छ होने पर, मनुष्य को तुरन्त श्रवण, कीर्तन आदि भक्ति-कार्यों द्वारा भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लग जाना चाहिए। यदि सही मार्गदर्शन के अन्तर्गत ऐसा किया जाता है, तो विचलित मन भी निश्चित रूप से प्रगति कर सकता है।

तत्रैकावयवं ध्यायेदव्युच्छिन्नेन चेतसा ।
मनो निर्विषयं युक्त्वा ततः किञ्चन न स्मरेत् ।
पदं तत्परमं विष्णोर्मनो यत्र प्रसीदति ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तत्र—तत्पश्चात्; एक—एक-एक करके; अवयवम्—शरीर के अंगों को; ध्यायेत्—ध्यान करे; अव्युच्छिन्नेन—पूर्णस्वरूप से विचलित हुए बिना; चेतसा—मन से; मनः—मन; निर्विषयम्—विषयों से दूषित हुए बिना; युक्त्वा—जुड़ कर के; ततः—तत्पश्चात्; किञ्चन—कुछ भी; न—नहीं; स्मरेत्—सोचे; पदम्—व्यक्तित्व को; तत्—वह; परमम्—परम; विष्णोः—विष्णु का; मनः—मन; यत्र—जहाँ; प्रसीदति—प्रसन्न होता है, रमता है।

तत्पश्चात्, श्रीविष्णु के पूर्ण शरीर की अव-धारणा को हटाये बिना, एक-एक करके विष्णु के अंगों का ध्यान करना चाहिए। इस तरह मन समस्त इन्द्रिय-विषयों से मुक्त हो जाता है। तब चिन्तन के लिए कोई अन्य वस्तु नहीं रह जानी चाहिए। चूँकि भगवान् विष्णु परम सत्य हैं, अतएव केवल उन्हीं में मन पूर्ण रूप से रम जाता है।

तात्पर्य : विष्णु की बहिरंगा शक्ति से मोहित होकर मूर्ख लोग यह नहीं जान पाते कि सुख की लगातार खोज का चरम लक्ष्य भगवान् विष्णु का सान्निध्य प्राप्त करना है। विष्णुतत्त्व भगवान् के विभिन्न दिव्य स्वरूपों का असीम विस्तार है और विष्णुतत्त्व का परम या आदि स्वरूप, गोविन्द अथवा कृष्ण हैं, जो समस्त कारणों के कारण हैं। अतएव विष्णु का चिन्तन या विष्णु के दिव्य रूप का, विशेष रूप से कृष्ण का, ध्यान करना ध्यान की चरम सीमा है। यह ध्यान भगवान् के चरणकमल से शुरू किया जा सकता है। लेकिन मनुष्य को भगवान् के पूर्ण स्वरूप को नहीं भूलना चाहिए। इस तरह उसे एक-एक करके, उनके दिव्य शरीर के सभी अंगों के चिन्तन का अभ्यास करना चाहिए। इस श्लोक में यह निश्चित रूप से आश्वस्त किया गया है कि परब्रह्म निर्विशेष नहीं हैं। वे व्यक्ति तो हैं, किन्तु उनका

शरीर हम-जैसे बद्धजीवों से भिन्न है। अन्यथा पूर्ण आध्यात्मिक सिद्धि की प्राप्ति के लिए शुकदेव गोस्वामी ने प्रणव (ॐकार) से लेकर विष्णु के साकार शरीर के अंग-प्रत्यंग के ध्यान की संस्तुति न की होती। भारत के भव्य मन्दिरों में श्रीविष्णु-विग्रहों की पूजा मूर्तिपूजा नहीं है जैसाकि कुछ अल्पज्ञ लोग गलत अर्थ निकालते हैं, बल्कि ये मन्दिर श्रीविष्णु के दिव्य अंगों पर ध्यान लगाने के आध्यात्मिक केन्द्र हैं। श्रीविष्णु के मन्दिरों में भगवान् की अचिन्त्य शक्ति के कारण भगवान् का पूजनीय विग्रह भगवान् से अभिन्न है। जैसा श्रीशुकदेव गोस्वामी ने, जो एक महान् अधिकारी हैं, अनुशंसा की है, कि जो व्यक्ति एक स्थान पर बैठकर प्रणव (ॐकार) का या विष्णु के अंगों का ध्यान नहीं कर सकते, उनके लिए मन्दिर में विष्णु के दिव्य अंगों का शास्त्र-रीति के अनुसार ध्यान करना, ध्यान का एक सुलभ अवसर है। जन-सामान्य को *अ-उ-म्* इन तीनों अक्षरों के दिव्य मेल से बने ॐकार की अपेक्षा मन्दिर में विष्णु के रूप का ध्यान करने से अधिक लाभ प्राप्त हो सकता है। यद्यपि ॐकार तथा विष्णु के रूपों में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु जो लोग परम सत्य के विज्ञान से अवगत नहीं होते, वे विष्णु के रूपों तथा ॐकार में अन्तर बताकर मतभेद उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं। यहाँ यह संकेत दिया गया है कि विष्णु-रूप ही ध्यान का चरम लक्ष्य है। अतएव निर्विशेष ॐकार की अपेक्षा विष्णु के रूपों पर चित्त को एकाग्र करना श्रेयस्कर है। इनमें से पहली विधि दूसरे की अपेक्षा अधिक कठिन भी है।

रजस्तमोभ्यामाक्षिप्तं विमूढं मन आत्मनः ।
यच्छेद्धारणया धीरो हन्ति या तत्कृतं मलम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

रजः—रजोगुण; तमोभ्याम्—तथा तमोगुण के द्वारा; आक्षिप्तम्—उद्वेलित; विमूढम्—मोहग्रस्त; मनः—मन; आत्मनः—अपना; यच्छेत्—सुधार ले; धारणया—(विष्णु की) धारणा से; धीरः—शान्त; हन्ति—नष्ट करता है; या—वे सब; तत्-कृतम्—उनके द्वारा की गई; मलम्—गंदी वस्तुओं को।

मनुष्य का मन सदैव रजोगुण द्वारा विचलित और तमोगुण द्वारा मोहग्रस्त होता रहता है। किन्तु मनुष्य ऐसी धारणाओं को भगवान् विष्णु के सम्बन्ध द्वारा ठीक कर सकता है और इस तरह उनसे उत्पन्न गंदी वस्तुओं को स्वच्छ करके शान्त बन सकता है।

तात्पर्य : जो लोग सामान्यतया रजो तथा तमोगुणों द्वारा संचालित होते है, वे ईश्वरीय अनुभूति की दिव्य अवस्था प्राप्त करने के प्रामाणिक पात्र नहीं होते। सतोगुण द्वारा संचालित व्यक्ति ही परम सत्य के

ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं। रजो तथा तमोगुण के प्रभाव कांचन तथा कामिनी के प्रति अत्यधिक लालसा के कारण प्रकट होते हैं। और जो लोग कांचन एवं कामिनी के पीछे पड़े रहते है वे अपनी मनोवृत्तियों को भगवान् विष्णु के शक्तिशाली निराकार स्वरूप का निरन्तर स्मरण करके सुधार सकते हैं। सामान्यतया निर्विशेषवादी या अद्वैतवादी ही रजो तथा तमोगुण से प्रभावित होते हैं। ऐसे निर्विशेषवादी अपने को मुक्तात्मा समझते हैं, किन्तु वे परम सत्य के दिव्य साकार-स्वरूप के विषय में कुछ भी नहीं जानते। वस्तुत: ब्रह्म के साकार-स्वरूप विषयक ज्ञान से रहित होने के कारण उनका अन्त:करण अशुद्ध रहता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि सैकड़ों जन्मों के बाद, निर्विशेष चिन्तक भगवान् की शरण ग्रहण करता है। भगवान् के साकार-स्वरूप का साक्षात्कार करने की योग्यता प्राप्त करने के लिए, नवदीक्षित निर्विशेषवादी को ब्रह्मवाद के दर्शन द्वारा प्रत्येक वस्तु के साथ भगवान् के सम्बन्ध की अनुभूति करने का अवसर प्रदान किया जाता है।

अपनी उच्चतर अवस्था में ब्रह्मवाद किसी भी साधक को परम सत्य की निर्विशेष धारणा बनाने की अनुमति नहीं देता, अपितु यह परम सत्य की धारणा को तथाकथित भौतिक शक्ति के क्षेत्र तक विस्तारित करता है। भौतिक शक्ति द्वारा सृजित सारी वस्तुओं को सेवाभाव द्वारा ब्रह्म के साथ जोड़ा जा सकता है, जो जीवन शक्ति का अनिवार्य अंग है। भगवान् का शुद्ध भक्त, अपने इस सेवाभाव से प्रत्येक वस्तु को आध्यात्मिक सत्ता में बदलने की कला से अवगत होता है और इसी भक्तिमय विधि से ब्रह्मवाद के सिद्धान्त को पूर्णता प्रदान की जा सकती है।

यस्यां सन्धार्यमाणायां योगिनो भक्ति-लक्षणः ।
आशु सम्पद्यते योग आश्रयं भद्रमीक्षतः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यस्याम्—ऐसे सुनियोजित स्मरण से; सन्धार्यमाणायाम्—और इस तरह के अभ्यास में स्थिर होकर; योगिनः—योगीजन; भक्ति-लक्षणः—भक्तियोग का अभ्यास करके; आशु—शीघ्र; सम्पद्यते—सफलता प्राप्त करता है; योगः—भक्तिमयी सेवा से सम्बन्ध; आश्रयम्—शरण के अन्तर्गत; भद्रम्—कल्याण; ईक्षतः—देखते हुए।

हे राजन्, स्मरण की इस पद्धति से तथा भगवान् के कल्याणप्रद साकार-स्वरूप का दर्शन करने के अभ्यास में स्थिर होने से, मनुष्य भगवान् के प्रत्यक्ष आश्रय के अन्तर्गत उनकी भक्ति को शीघ्र ही प्राप्त कर सकता है।

तात्पर्य : योग की सिद्धियाँ भक्तिमयी प्रवृत्ति के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती हैं। ब्रह्मवाद, जो कि सर्वशक्तिमान की सर्वत्र उपस्थिति को अनुभव करने की पद्धति है, एक प्रकार का मन का प्रशिक्षण है, जिससे भक्तिमयी धारणा के प्रति अभ्यस्त हुआ जाता है और योगी को इसी भक्तिमयी प्रवृत्ति से ऐसे यौगिक प्रयासों की सफल परिणति संभव होती है। किन्तु भक्ति के रंचमात्र मिश्रण बिना, मनुष्य को ऐसा सफल पद प्राप्त नहीं होता। ब्रह्मवाद की दृष्टि से जो भक्तिमय वातावरण उत्पन्न होता है, वह आगे चलकर भक्ति में विकसित हो जाता है और निर्विशेषवादी के लिए यही एकमात्र लाभ है। *भगवद्गीता* (१२.५) में पुष्टि हुई है कि आत्म-साक्षात्कार का निर्विशेष मार्ग अधिक कष्टप्रद है, क्योंकि यह घूमकर लक्ष्य तक पहुँचता है, यद्यपि निर्विशेषवादी भी काफी समय बाद भगवान् के साकार रूप के प्रति आकृष्ट होता है।

राजोवाच

यथा सन्धार्यते ब्रह्मन् धारणा यत्र सम्मता ।
यादृशी वा हरेदाशु पुरुषस्य मनो-मलम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—सौभाग्यशाली राजा ने कहा; यथा—जिस तरह; सन्धार्यते—धारणा बनाई जाती है; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; धारणा—धारणा; यत्र—जहाँ तथा जैसे; सम्मता—संक्षेप में; यादृशी—जैसी; वा—अथवा; हरेत्—समूल नष्ट करता है; आशु—विलम्ब किये बिना; पुरुषस्य—व्यक्ति के; मनः—मन के; मलम्—मल को।

सौभाग्यशाली राजा परीक्षित ने आगे पूछा : हे ब्राह्मण, कृपा करके विस्तार से यह बतायें कि मन को कहाँ और कैसे लगाया जाये? और धारणा को किस तरह स्थिर किया जाय कि मनुष्य के मन का सारा मैल हटाया जा सके?

तात्पर्य : बद्धजीव के हृदय की सारी मलिनता ही उसके सारे कष्टों की जड़ है। बद्धजीव संसार के अनेक कष्टों से घिरा है, किन्तु अपने निपट अज्ञान के कारण वह इस भौतिक जगत में अपने दीर्घ बन्दी जीवन की अवधि में हृदय में संचित गंदगी (मल) को दूर करने में असमर्थ रहता है। वास्तव में वह परमेश्वर की इच्छानुसार सेवा करने के निमित्त आया होता है, किन्तु हृदय की गंदगी के कारण वह अपनी मनोकल्पित इच्छाओं की पूर्ति करना चाहता है। ये इच्छाएँ उसे मन:शान्ति प्रदान करने के बजाय नई-नई समस्याएँ उत्पन्न करती रहती हैं और इस तरह उसे जन्म-मृत्यु के चक्र से बाँध देती हैं। सकाम

कर्म तथा ज्ञान का यह मल परमेश्वर की संगति करके ही दूर किया जा सकता है। सर्वशक्तिमान होने के कारण भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्तियों के द्वारा अपना सान्निध्य प्रदान कर सकते हैं। अतएव जो लोग ब्रह्म के साकार स्वरूप में श्रद्धा दृढ़ नहीं कर पाते, उन्हें भगवान् के विराट रूप का सान्निध्य प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया जाता है। भगवान् का विराट निर्विशेष स्वरूप उनकी असीम शक्तियों का स्वरूप है। चूँकि शक्तिमान तथा शक्ति अभिन्न हैं, अतएव उनके विराट स्वरूप की निर्विशेष धारणा भी बद्धजीव को अप्रत्यक्ष रूप से भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करने में सहायक होती है और इस तरह क्रमशः साकार सम्पर्क की अवस्था प्राप्त की जा सकती है।

महाराज परीक्षित पहले से भगवान् श्रीकृष्ण के साकार स्वरूप से प्रत्यक्ष रूप से जुड़े थे। अतएव उन्हें शुकदेव गोस्वामी से यह पूछने की आवश्यकता नहीं थी कि मन को कहाँ और कैसे ब्रह्म के निर्विशेष विराट रूप में लगाया जाय। किन्तु उन्होंने उन सबके लाभ के लिए इस विषय में विशद जिज्ञासा की, जो भगवान् के सच्चिदानन्द स्वरूप के दिव्य साकार स्वरूप की कल्पना करने में असमर्थ हैं। अभक्त लोग भगवान् के साकार स्वरूप के विषय में सोच भी नहीं सकते। उनके अल्पज्ञान के कारण, राम या कृष्ण के साकार स्वरूप उनके लिए नितान्त क्रान्तिकारी हैं। उन्हें भगवान् की शक्ति का बहुत ही कम अनुमान होता है। *भगवद्गीता* (९.११) में स्वयं भगवान् ने यह बताया है कि अल्पज्ञ पुरुष, भगवान् को सामान्य व्यक्ति मानकर, उपहास करते हैं। ऐसे व्यक्ति भगवान् की अचिन्त्य शक्ति से अनजान रहते हैं। भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्ति से, मानव-समाज में या जीवों के अन्य समाज में विचरण करते हुए भी अपने दिव्य पद से रंचमात्र हटे बिना वही सर्वशक्तिमान भगवान् बने रहते हैं। अतएव ऐसे व्यक्तियों के लाभ के लिए, जो भगवान् के साकार दिव्य स्वरूप को स्वीकार करने में असमर्थ हैं, महाराज परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा कि प्रारम्भ में मन को भगवान् पर किस तरह स्थिर किया जाय और गोस्वामीजी ने निम्नवत् उसका विस्तार से उत्तर दिया।

श्री-शुक उवाच

जितासनो जित-श्वासो जित-सङ्गो जितेन्द्रियः ।
स्थूले भगवतो रूपे मनः सन्धारयेद्धिया ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; जित-आसनः—संयमित आसन; जित-श्वासः—संयमित श्वास-क्रिया; जित-सङ्गः—संयमित संगति; जित-इन्द्रियः—संयमित इन्द्रियाँ; स्थूले—स्थूल पदार्थ में; भगवतः—भगवान् के; रूपे—स्वरूप में; मनः—मन को; सन्धारयेत्—लगाए; धिया—बुद्धि से।

शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया : मनुष्य को चाहिए कि आसन को नियन्त्रित करे, यौगिक प्राणायाम द्वारा श्वास-क्रिया को नियमित करे और इस तरह मन तथा इन्द्रियों को वश में करे। फिर बुद्धिपूर्वक मन को भगवान् की स्थूल शक्तियों (विराट रूप) में लगाये।

तात्पर्य : भौतिकता में निमग्न बद्धजीव का मन उसे देहात्मबुद्धि से ऊपर उठने नहीं देता, अतएव निपट भौतिकतावादी के चरित्र को ढालने के लिए ध्यान के योग-पद्धति (आसन और श्वास प्रक्रिया को नियंत्रित करने तथा मन को परमेश्वर में स्थिर करने) की संस्तुति की गई है। जब तक ऐसे भौतिकतावादी लोग भौतिकता में निमग्न मन को स्वच्छ नहीं बना लेते, तब तक उनके लिए आध्यात्मिक विचारों में मन को एकाग्र कर पाना असम्भव है। ऐसा करने के लिए अपने मन को भगवान् के स्थूल भौतिक या बाह्य स्वरूप में एकाग्र करना चाहिए। अगले श्लोक में भगवान् के विराट रूप के विभिन्न भागों का वर्णन किया गया है। भौतिकतावादी व्यक्ति ऐसी नियमन-विधि के फलस्वरूप कुछ योग शक्तियाँ प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहते हैं, लेकिन यौगिक अनुष्ठानों का असली प्रयोजन संचित मल को—यथा वासना, क्रोध, ईर्ष्या तथा अन्य भौतिक कल्मषों को—दूर करना है। यदि योगी चमत्कारिक आसनों के प्रदर्शन में पड़ जाता है, तो उसकी यौगिक सफलता का लक्ष्य विफल हो जाता है, क्योंकि उसका परम ध्येय तो ईश-साक्षात्कार है। अतएव उसे भिन्न धारणा के द्वारा, अपने स्थूल भौतिकतावादी मन को स्थिर करने और इस तरह भगवान् की शक्ति की अनुभूति करने की संस्तुति की जाती है। ज्योंही ये शक्तियाँ अध्यात्म (योग) की नैमित्तिक अभिव्यक्तियाँ प्रतीत होने लगती हैं, तो वह स्वतः आगे बढ़ जाता है और क्रमशः उसके लिए पूर्ण अनुभूति की अवस्था प्राप्त कर पाना सम्भव हो जाता है।

विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम् ।
यत्रेदं व्यज्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च सत् ॥ २४॥

शब्दार्थ

विशेषः—साकार; तस्य—उसका; देहः—शरीर; अयम्—यह; स्थविष्ठः—स्थूल रूप से भौतिक; च—तथा; स्थवीयसाम्—समस्त पदार्थ का; यत्र—जहाँ; इदम्—ये सारे नियम; व्यज्यते—अनुभव किया जाता है; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; भूतम्—विगत; भव्यम्—भविष्य; भवत्—वर्तमान; च—तथा; सत्—फलीभूत, परिणामी।

सम्पूर्ण व्यवहार-जगत की यह विराट अभिव्यक्ति परम सत्य का साक्षात् शरीर है, जिसमें ब्रह्माण्ड के भूत, वर्तमान एवं भविष्य का अनुभव किया जाता है।

तात्पर्य : कोई भी वस्तु, चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक, भगवान् की शक्ति का विस्तार मात्र है और जैसाकि *भगवद्गीता* (१३.१३) में कहा गया है, सर्वशक्तिमान भगवान् की अपनी दिव्य आँखें, सिर तथा अन्य शारीरिक अंग होते हैं, जो सर्वत्र व्याप्त हैं। वे कहीं भी और सर्वत्र देख, सुन, छू या अपने को प्रकट कर सकते हैं, क्योंकि वे समस्त सूक्ष्मजीवों में परमात्मा के रूप में सर्वत्र विद्यमान हैं, यद्यपि उनका विशेष धाम परम जगत में है। यह सापेक्ष जगत भी उनका व्यावहारिक प्रस्तुतीकरण है, क्योंकि यह उनकी दिव्य शक्ति के विस्तार के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यद्यपि वे अपने धाम में रहते हैं, किन्तु उनकी शक्ति सर्वत्र उसी तरह वितरित रहती है, जिस प्रकार सूर्य, स्थिर रहकर भी, सर्वत्र प्रसारित रहता है, क्योंकि सूर्य की किरणें सूर्य से अभिन्न होने के कारण सूर्य-गोलक का विस्तार ही मानी जाती है। *विष्णु पुराण* (१.२२.५२) में यह कहा गया है कि जिस प्रकार अग्नि एक स्थान में रहकर, अपनी किरणें तथा उष्मा फैलाती है, उसी प्रकार परमात्मा या भगवान्, अपनी बहुविधि शक्ति से, सर्वत्र अपना विस्तार करते हैं। विराट ब्रह्माण्ड की यह अभिव्यक्ति उनके विराट शरीर का अंश मात्र है। अल्पज्ञ लोग भगवान् के सर्व-आध्यात्मिक दिव्य स्वरूप की कल्पना भी नहीं कर सकते, लेकिन वे उनकी विभिन्न शक्तियों द्वारा उसी तरह आश्चर्यचकित रहते हैं, जिस तरह आदिम प्रजाति के लोग आकाश की बिजली, विशाल पर्वत या विस्तृत बरगद के पेड़ को देखकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं। वे लोग व्याघ्र तथा हाथी के बल की प्रशंसा उनकी श्रेष्ठ शक्ति तथा शौर्य के लिए करते हैं। यद्यपि शास्त्रों में भगवान् का विशद् विवरण दिया हुआ है, यद्यपि भगवान् अवतरित होते हैं और अपनी असामान्य शक्ति तथा शौर्य का प्रदर्शन करते हैं और यद्यपि वे विद्वान पण्डितों तथा भूतकाल के व्यासदेव, नारद, असित एवं देवल जैसे सन्तों तथा *भगवद्गीता* में अर्जुन द्वारा एवं आधुनिक युग में भी शंकर, रामानुज, मध्व तथा भगवान् श्री चैतन्य जैसे आचार्यों के द्वारा, भगवान् के रूप में स्वीकार किये जाते हैं, लेकिन असुरगण भगवान् के अस्तित्व को नहीं मानते। असुरगण शास्त्रों के किसी भी साक्ष्य को स्वीकार नहीं

करते, न ही वे आचार्यों के प्रमाण को मान्यता देते हैं। वे तुरन्त अपनी आँखों से उन्हें देखना चाहते हैं, अतएव वे भगवान् के शरीर को विराट रूप में देख सकते हैं और वही रूप उनकी चुनौती का उत्तर दे सकता है और चूँकि वे व्याघ्र, हाथी या वज्र जैसी श्रेष्ठ भौतिक वस्तुओं के समक्ष श्रद्धावनत होने के आदी हैं, अतएव वे विराट रूप को सम्मान प्रदान करते हैं। अर्जुन द्वारा प्रार्थना किये जाने पर भगवान् कृष्ण ने असुरों के लिए विराट रूप प्रदर्शित किया। भगवान् का शुद्ध भक्त भगवान् के ऐसे संसारी विराट शरीर को देखने का आदी नहीं होता, अतएव इसे देखने के लिए उसे विशेष दृष्टि की आवश्यकता होती है। इसीलिए भगवान् ने अर्जुन को विशेष दृष्टि प्रदान करने की अनुकम्पा की, जिससे वह उनके विराट रूप का दर्शन कर सके, जिसका वर्णन *भगवद्गीता* के ग्यारहवें अध्याय में किया गया है। भगवान् का यह विराट रूप अर्जुन के लाभ के लिए नहीं, अपितु उन अल्पज्ञ व्यक्तियों के लिए है, जो हर किसी को भगवान् का अवतार मान लेते हैं और इस तरह जनसामान्य को गुमराह करते रहते हैं। उनके लिए यह संकेत है कि मनुष्य ऐसे सस्ते अवतार से कहे कि तुम अपना विराट रूप दिखलाओ और अपने को अवतार सिद्ध करो। भगवान् के विराट रूप का प्राकट्य एकसाथ, नास्तिकों के लिए चुनौती तथा असुरों के लिए कृपा है, जो भगवान् को विराट समझ सकें और इस तरह धीरे-धीरे अपने हृदय के मल को स्वच्छ कर सकें, जिससे वे निकट भविष्य में भगवान् के दिव्य रूप को सचमुच देखने के योग्य हो सकें। यह समस्त नास्तिकों तथा निपट भौतिकतावादियों के लिए सर्वदयालु भगवान् का वरदान है।

अण्ड-कोशे शरीरेऽस्मिन् सप्तावरण-संयुते ।
वैराजः पुरुषो योऽसौ भगवान् धारणाश्रयः ॥ २५॥

शब्दार्थ

अण्ड-कोशे—ब्रह्माण्ड-रूपी खोल के भीतर; शरीरे—शरीर में; अस्मिन्—इस; सप्त—सात; आवरण—आवरण, खोले; संयुते—ऐसा करके; वैराजः—विराट स्वरूप; पुरुषः—भगवान् के स्वरूप; यः—जो; असौ—वह; भगवान्—भगवान्; धारणा—धारणा का; आश्रयः—वस्तु, विषय।

भौतिक तत्त्वों के द्वारा सात प्रकार से प्रच्छन्न ब्रह्माण्डीय खोल (आवरण) रूपी शरीर के भीतर भगवान् का विराट ब्रह्माण्डीय स्वरूप विराट धारणा का विषय है।

तात्पर्य : एक ही समय में भगवान् के अन्य अनेक रूप होते हैं और वे सभी भगवान् श्रीकृष्ण के

मूल स्रोत रूप से अभिन्न हैं। *भगवद्गीता* में यह सिद्ध किया जा चुका है कि भगवान् का आदि दिव्य तथा शाश्वत रूप श्रीकृष्ण हैं और वे अपनी अचिन्त्य अन्तरंगा शक्ति से अर्थात् आत्ममाया से, अपने आपको विविध रूपों तथा अवतारों में एकसाथ विस्तारित कर सकते हैं, लोभी उनकी पूर्णशक्ति में कोई कमी नहीं आती। वे पूर्ण हैं और यद्यपि उनसे असंख्य पूर्ण रूप उद्भूत होते हैं, तो भी वे पूर्ण हैं और उनमें किसी प्रकार की घटत नहीं आती। यह उनकी आध्यात्मिक या अन्तरंगा शक्ति है। *भगवद्गीता* के ग्यारहवें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने उन अल्पज्ञों को आश्वस्त करने के लिए अपना विराट रूप प्रकट किया, जो यह नहीं सोच पाते कि वे मनुष्य की भाँति प्रकट हो सकते हैं तथा उनमें वास्तव में वह शक्ति है, जिसके बल पर वे बिना किसी प्रतिद्वन्द्वी के परम पुरुष होने का दम भर सकते हैं। यद्यपि भौतिकतावादी लोग अत्यन्त भोंड़े ढंग से विशाल ब्रह्माण्डीय आकाश के विषय में सोच सकते हैं जिसमें सूर्य के समान विशाल असंख्य लोक होते हैं, वे अपने ऊपर के वृत्ताकार आकाश को ही देख सकते हैं और उन्हें इस ब्रह्माण्ड की तथा इसी के साथ-साथ लाखों ब्रह्माण्डों की भी कोई जानकारी नहीं होती जो जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहंकार, प्रकृति तत्त्व तथा प्रकृति के सात आवरणों से ढके हैं जिस प्रकार एक बहुत बड़ा फुटबाल, जिसमें हवा भरी हो और ढका हो, कारणार्णव के जल पर तैर रहा हो, जहाँ *महाविष्णु* के रूप में भगवान् शयन करते हैं। सारे ब्रह्माण्ड बीज-रूप में *महाविष्णु* के श्वास से उद्भूत हो रहे हैं, जो भगवान् के अंश हैं। जब *महाविष्णु* अपना लम्बा श्वास भीतर खींचते हैं, तो ब्रह्मा द्वारा अधिष्ठित सारे ब्रह्माण्ड विनष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार भगवान् की परम इच्छा द्वारा भौतिक जगत उत्पन्न तथा विनष्ट होते रहते हैं। बेचारा, मूर्ख भौतिकतावादी इतनी ही कल्पना कर सकता है कि वह कितनी मूर्खतापूर्वक एक मरणधर्मा नगण्य जीव को दावे के साथ भगवान् के प्रतिद्वन्द्वी अवतार के रूप में प्रस्तुत करता है। यह विराट रूप, विशेष रूप से भगवान् द्वारा अल्पज्ञों को पाठ पढ़ाने के लिए, प्रकट किया गया था जिससे कोई मनुष्य अन्य किसी मनुष्य को तभी भगवान् का अवतार स्वीकार करे जब वह ऐसे विराट रूप को उसी तरह प्रदर्शित कर सके जिस तरह भगवान् कृष्ण ने किया था। भौतिकतावादी व्यक्ति अपने निजी लाभ के लिए, जैसा शुकदेव गोस्वामी ने संस्तुति की है, भगवान् के विराट रूप पर अपने मन को केन्द्रित कर सकता है, किन्तु उसे सावधान रहना चाहिए कि वह उन

वंचकों से पथभ्रष्ट न हो जो अपने को भगवान् कृष्ण से अभिन्न पुरुष होने का दावा करते हैं, किन्तु वे उनकी तरह कर्म नहीं कर पाते या विराट रूप नहीं प्रदर्शित कर पाते।

पातालमेतस्य हि पाद-मूलं
पठन्ति पार्ष्णि-प्रपदे रसातलम् ।
महातलं विश्व-सृजोऽथ गुल्फौ
तलातलं वै पुरुषस्य जङ्घे ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

पातालम्—ब्रह्माण्ड के अधोलोक; एतस्य—उनका; हि—निश्चय ही; पाद-मूलम्—पाँवों के तलवे; पठन्ति—वे अध्ययन करते हैं; पार्ष्णि—एड़ियाँ; प्रपदे—पंजे; रसातलम्—रसातल नाम का लोक; महातलम्—महातल नामक लोक; विश्व-सृजः—ब्रह्माण्ड के स्त्रष्टा का; अथ—इस प्रकार; गुल्फौ—टखने; तलातलम्—तलातल नामक लोक; वै—वे जैसे हैं; पुरुषस्य—विराट पुरुष की; जङ्घे—पिंडलियाँ।

जिन पुरुषों ने इसकी अनुभूति की है, उन्होंने यह अध्ययन किया है कि पाताल लोक विराट पुरुष के पाँवों के तलवे हैं तथा उनकी एड़ियाँ और पंजे रसातल लोक हैं। टखने महातल लोक हैं तथा उनकी पिंडलियाँ तलातल लोक हैं।

तात्पर्य : भगवान् के शरीर के अतिरिक्त इस दृश्य जगत के अस्तित्व में कोई सचाई नहीं है। व्यक्त जगत की प्रत्येक वस्तु उन्हीं पर आधारित है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.४) में की गई है, किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं होता है कि भौतिकतावादी की दृष्टि से जो भी दिखता है, वही परम पुरुष है। भगवान् के विराट रूप की धारणा भौतिकतावादी को परमेश्वर के विषय में सोचने का अवसर प्रदान करती है, किन्तु भौतिकतावादी को यह निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि प्रभुता दिखाने की भावना रखते हुए जगत की कल्पना करना कभी भी ईश-साक्षात्कार नहीं हो सकता। भौतिक संसाधनों के शोषण का भौतिकतावादी दृष्टिकोण भगवान् की बहिरंगा शक्ति के भ्रम के कारण होता है, अतएव यदि कोई भगवान् के विराट रूप की धारणा से परम सत्य की अनुभूति करना चाहता है, तो उसे सेवा-भाव उत्पन्न करना होगा। सेवा-भाव उत्पन्न किये बिना, दर्शक पर विराट साक्षात्कार की धारणा का नगण्य प्रभाव पड़ेगा। दिव्य भगवान् के स्वरूप की कोई धारणा भौतिक सृष्टि का अंग नहीं होती। वे सम्पूर्ण परिस्थितियों में अपनी सत्ता को परमात्मा रूप में बनाये रखते हैं और तीनों भौतिक गुणों से कभी भी प्रभावित नहीं होते, क्योंकि प्रत्येक भौतिक वस्तु कल्मषग्रस्त है। भगवान् सदैव अपनी

अन्तरंगा शक्ति के बल पर विद्यमान रहते हैं।

यह ब्रह्माण्ड चौदह लोकों में विभक्त है। इनमें से सात लोक, जिनके नाम*। भूर्, भुवर्, स्वर्, महर्, जनस्, तपस्* तथा *सत्य* हैं, ऊर्ध्वलोक कहलाते हैं और वे एक दूसरे के ऊपर स्थित हैं। इसी तरह सात अधोलोक हैं, जो *अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल तथा पाताल* कहलाते हैं और क्रमश: एक दूसरे के नीचे हैं। इस श्लोक में नीचे से वर्णन प्रारम्भ होता है, क्योंकि भक्ति के अनुसार, भगवान् का शारीरिक वर्णन उनके पाँवों से प्रारम्भ करना चाहिए। शुकदेव गोस्वामी भगवान् के मान्य भक्त हैं और उनका यह वर्णन एकदम सही है।

द्वे जानुनी सुतलं विश्व-मूर्ते-
रूरु-द्वयं वितलं चातलं च ।
महीतलं तज्जघनं महीपते
नभस्तलं नाभि-सरो गृणन्ति ॥ २७॥

शब्दार्थ

द्वे—दो; जानुनी—घुटने; सुतलम्—सुतल नामक लोक; विश्व-मूर्तेः—विराट रूप के; ऊरु-द्वयम्—दोनों जाँघें; वितलम्—वितल लोक; च—भी; अतलम्—अतल लोक; च—तथा; महीतलम्—महातल लोक; तत्—उसका; जघनम्—कटि-प्रदेश; महीपते—हे राजा; नभस्तलम्—बाह्य अन्तरिक्ष; नाभि-सरः—नाभि का गड्ढा; गृणन्ति—कहते हैं।

विश्व-रूप के घुटने सुतल नामक लोक हैं तथा दोनों जाँघें वितल तथा अतल लोक हैं। कटि-प्रदेश महीतल है और उसकी नाभि का गड्ढा बाह्य अन्तरिक्ष है।

उरः-स्थलं ज्योतिरनीकमस्य
ग्रीवा महर्वदनं वै जनोऽस्य ।
तपो वराटीं विदुरादि-पुंसः
सत्यं तु शीर्षाणि सहस्र-शीर्ष्णः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

उरः—उच्च; स्थलम्—स्थान (छाती); ज्योतिः-अनीकम्—ज्योतिष्क; अस्य—उसकी; ग्रीवा—गर्दन; महः—ज्योतिष्कों के ऊपर का लोक; वदनम्—मुख; वै—ठीक उसी तरह; जनः—इस लोक के ऊपर का लोक; अस्य—उनका; तपः—जनः लोक के ऊपर का लोक; वराटीम्—मस्तक; विदुः—जाना जाता है; आदि—मूल; पुंसः—पुरुष; सत्यम्—सर्वोच्च लोक; तु—लेकिन; शीर्षाणि—शिर; सहस्र—एक हजार; शीर्ष्णः—शिरों से युक्त।

विराट रूप वाले आदि पुरुष की छाती ज्योतिष्क (स्वर्ग) लोक है, उसकी गर्दन महर्लोक है, उसका मुख जनःलोक है और उसका मस्तक तपःलोक है। सर्वोच्च लोक, जिसे सत्यलोक

कहते हैं, एक हजार सिरों (मस्तिष्कों) वाले उनआदि पुरुष का सिर है।

तात्पर्य : सूर्य तथा चन्द्रमा जैसे तेजवान ज्योतिर्लोक ब्रह्माण्ड के मध्य में स्थित हैं, अतएव वे भगवान् के आदि विराट रूप के वक्ष:स्थल कहलाते हैं। इस ज्योतिर्लोक के ऊपर जिसे देवताओं का राज्य या स्वर्गलोक भी कहते हैं, मह:, जन: तथा तप: लोक हैं और सबके ऊपर सत्य लोक है, जहाँ प्रकृति के समस्त गुणों के मुख्य निर्देशक अर्थात् विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव निवास करते हैं। ये विष्णु *क्षीरोदकशायी विष्णु* कहलाते हैं और ये सभी जीवों में परमात्मा की भाँति कार्य करते हैं। कारणार्णव में असंख्य ब्रह्माण्ड तैरते रहते हैं और इनसब में भगवान् के विराट रूप का प्रतिनिधित्व, असंख्य सूर्यों, चन्द्रमाओं, देवताओं, ब्रह्माओं, विष्णुओं तथा शिवों के रूप में होता है और ये सभी भगवान् कृष्ण की अचिन्त्य शक्ति के एक अंश में स्थित हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.४२) में कहा गया है।

इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः
कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः ।
नासत्य-दस्रौ परमस्य नासे
घ्राणोऽस्य गन्धो मुखमग्निरिद्धः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

इन्द्र-आदयः—स्वर्ग के राजा इन्द्र इत्यादि देवता; बाहवः—बाँहें; आहुः—कहलाते हैं; उस्राः—देवता; कर्णौ—कान; दिशः—चारों दिशाएँ; श्रोत्रम्—सुनने की इन्द्रियाँ; अमुष्य—भगवान् की; शब्दः—ध्वनि; नासत्य-दस्रौ—अश्विनी कुमार नामक देवता; परमस्य—परम के; नासे—नथुने; घ्राणः—सुंगधि की इन्द्रिय; अस्य—उसका; गन्धः—सुगन्धि; मुखम्—मुँह; अग्निः—अग्नि; इद्धः—प्रज्वलित।

इन्द्र इत्यादि देवता उस विराट पुरुष की बाँहें हैं, दसों दिशाएँ उसके कान हैं और भौतिक ध्वनि उसकी श्रवणेन्द्रिय है। दोनों अश्विनीकुमार उसके नथने हैं तथा भौतिक सुगंध उसकी घ्राणेन्द्रिय है। उसका मुख प्रज्वलित अग्नि है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के ग्यारहवें अध्याय में दिये गये भगवान् के विराट रूप का वर्णन यहाँ पर श्रीमद्भागवत् में विस्तार से दिया गया है। *भगवद्गीता* (११.३०) में इस प्रकार वर्णन है, ''हे विष्णु! मैं देख रहा हूँ कि आप अपने प्रज्वलित मुख में सब को निगले जा रहे हैं और समूचे ब्रह्माण्ड को अपनी असह्य किरणों की लपेट में ले रहे हैं। आप समस्त जगत को झुलसाते हुए अपने को व्यक्त कर रहे हैं।'' इस तरह *श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता* के जिज्ञासु के लिए, स्नातकोत्तर अध्ययन का विषय है।

दोनों ही परम सत्य कृष्ण के विज्ञान हैं, अतएव ये अन्योन्याश्रित हैं।

परमेश्वर के विराट पुरुष की अवधारणा में समस्त अधिपति देवता तथा अधिशासित जीव सम्मिलित हैं। जीव का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश भी भगवान् के शक्त्यावेशित दूत द्वारा नियन्त्रित रहता है। चूँकि भगवान् के विराट रूप में देवता भी सन्निहित रहते हैं, अतएव भगवान् की पूजा, चाहे उनके विराट भौतिक रूप में की जाय या भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में उनके शाश्वत दिव्य रूप में की जाय, वह देवताओं तथा अन्य अंशों को भी प्रसन्न करनेवाली होती है, जिस प्रकार कि वृक्ष की जड़ में पानी डालने से वृक्ष के अन्य सभी भागों को शक्ति मिलती है। फलस्वरूप यदि भौतिकतावादी व्यक्ति भगवान् के विश्व विराट रूप की पूजा करता है, तो वह सन्मार्ग पर अग्रसर होता है। मनुष्य को चाहिए कि अपनी विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति के लिए अनेक देवताओं के पास जाकर दिग्भ्रमित न हो। वास्तविक सत्ता तो साक्षात् भगवान् हैं, अन्य सभी काल्पनिक हैं क्योंकि सारी वस्तुएँ केवल भगवान् में सन्निविष्ट हैं।

द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत्पतङ्गः
पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च ।
तद्भ्रू-विजृम्भः परमेष्ठि-धिष्ण्य-
मापोऽस्य तालू रस एव जिह्वा ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

द्यौः—अन्तरिक्ष; अक्षिणी—नेत्र-गोलक; चक्षुः—आँखों के; अभूत्—ऐसा हुआ; पतङ्गः—सूर्य; पक्ष्माणि—पलकें; विष्णोः—भगवान् श्री विष्णु की; अहनी—दिन तथा रात; उभे—दोनों; च—तथा; तत्—उसका; भ्रू—भौहें; विजृम्भः—गतियाँ; परमेष्ठि—सर्वोपरि जीव (ब्रह्मा); धिष्ण्यम्—पद; आपः—वरुण, जल का स्वामी; अस्य—उसका; तालू—तालू; रसः—रस; एव—निश्चय ही; जिह्वा—जीभ।

बाह्य अन्तरिक्ष उसकी आँखों के गड्ढे हैं तथा देखने की शक्ति के लिए सूर्य नेत्र-गोलक हैं। दिन तथा रात पलकें हैं और उसकी भृकुटि की गतियों में ब्रह्मा तथा अन्य महापुरुषों का निवास होता है। जल का अधीश्वर वरुण उसका तालु तथा सभी वस्तुओं का रस या सार उसकी जीभ है।

तात्पर्य : सामान्य ज्ञान के अनुसार इस श्लोक का वर्णन विरोधाभाषी प्रतीत होता है, क्योंकि सूर्य को कभी नेत्र-गोलक कहा गया है, तो कभी बाह्य अन्तरिक्ष। लेकिन शास्त्रों के आदेश में सामान्य ज्ञान

का स्थान नहीं होता। हमें इन आदेशों को स्वीकार करना चाहिए और सामान्य ज्ञान पर केन्द्रित न रहकर विराट रूप में एकाग्र चित्त होना चाहिए। सामान्य ज्ञान सदैव अधूरा होता है, जबकि शास्त्रों का वर्णन सदा पूर्ण होता है। यदि कोई दोष होता है, तो वह हमारी अपूर्णता के कारण होता है, शास्त्रों के कारण नहीं। वैदिक ज्ञान प्राप्त करने की यही विधि है।

छन्दांस्यनन्तस्य शिरो गृणन्ति
दंष्ट्रा यमः स्नेह-कला द्विजानि ।
हासो जनोन्माद-करी च माया
दुरन्त-सर्गो यदपाङ्ग-मोक्षः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

छन्दांसि—वैदिक स्तोत्र; अनन्तस्य—परमेश्वर के; शिरः—मस्तक; गृणन्ति—उनका कहना है; दंष्ट्राः—दाढ़ें; यमः—यमराज, जो पापियों का निदेशक है; स्नेह-कलाः—स्नेह करने की कला; द्विजानि—दाँत; हासः—मुस्कान; जन-उन्माद-करी—अत्यन्त मोहक; च—भी; माया—भ्रामिका शक्ति; दुरन्त—अजेय; सर्गः—भौतिक सृष्टि; यत्-अपाङ्ग—जिसकी चितवन; मोक्षः—विक्षेप।

वे कहते हैं कि वैदिक स्तोत्र भगवान् के मस्तक हैं और मृत्यु का देवता तथा पापियों को दण्ड देनेवाला यम उनकी दाढ़ें हैं। स्नेह की कला ही उनके दाँत हैं और सर्वाधिक मोहिनी माया ही उनकी मुस्कान है। यह भौतिक सृष्टि रूपी महान् सागर उनकी चितवन स्वरूप है।

तात्पर्य : वेदों के अनुसार यह भौतिक सृष्टि भौतिक शक्ति पर भगवान् के दृष्टिपात का प्रतिफल है, जिसे यहाँ पर अत्यन्त मोहिनी माया के रूप में बताया गया है। ऐसे बद्धजीव, जो ऐसी भौतिकता के द्वारा आकृष्ट होते हैं, उन्हें जान लेना चाहिए कि भौतिक नश्वर सृष्टि वास्तविकता का अनुकरणमात्र है और जो लोग भगवान् की ऐसी आकर्षक चितवन से मोहित हैं, वे पापियों के नियन्त्रक यमराज के नियन्त्रण में रख दिये जाते हैं। भगवान् जब स्नेह से हँसते हैं, तो उनके दाँत दिखते हैं। जो बुद्धिमान व्यक्ति भगवान् के विषय में इस सचाई को ग्रहण करता है, वह उनका शरणागत हो जाता है।

व्रीडोत्तरौष्ठोऽधर एव लोभो
धर्मः स्तनोऽधर्म-पथोऽस्य पृष्ठम् ।
कस्तस्य मेढ्रं वृषणौ च मित्रौ
कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थि-सङ्घाः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

व्रीड—लज्जा; उत्तर—ऊपरी; ओष्ठः—होंठ; अधरः—ठुड्डी; एव—निश्चय ही; लोभः—लालसा; धर्मः—धर्म; स्तनः—वक्षस्थल; अधर्म—अधर्म; पथः—मार्ग; अस्य—उसका; पृष्ठम्—पीठ; कः—ब्रह्मा; तस्य—उसकी; मेढ्रम्—जननेन्द्रिय; वृषणौ—अण्डकोश; च—भी; मित्रौ—मित्रावरुण; कुक्षिः—कमर, कोख; समुद्राः—समुद्र; गिरयः—पर्वत; अस्थि—हड्डियाँ; सङ्घाः—समूह।

लज्जा भगवान् का ऊपरी होठ है, लालसा उनकी ठुड्डी है, धर्म उनका वक्षःस्थल तथा अधर्म उनकी पीठ है। भौतिक जगत में समस्त जीवों के जनक ब्रह्मा जी उनकी जननेन्द्रिय (लिंग) हैं और मित्रा-वरुण उनके दोनों अण्डकोश हैं। सागर उनकी कमर है और पर्वत उनकी अस्थियों के समूह हैं।

तात्पर्य : परमेश्वर निर्विशेष नहीं हैं, जैसाकि अल्पज्ञ विचारक सोचा करते हैं। प्रत्युत वे परम पुरुष हैं, जिसकी पुष्टि समस्त प्रामाणिक वैदिक ग्रन्थों द्वारा होती है। लेकिन उनका व्यक्तित्व वैसा नहीं है जैसा हम अनुमान लगा सकते हैं। यहाँ पर यह कहा गया है कि ब्रह्माजी उनकी जननेन्द्रियों का कार्य करते हैं तथा मित्रावरुण उनके दो अण्डकोश हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि पुरुष के रूप में वे समस्त शारीरिक अवयवों से पूर्ण हैं, लेकिन वे भिन्न प्रकार के तथा विभिन्न शक्तियों वाले हैं। अतएव जब भगवान् को निर्विशेष रूप में वर्णित किया जाता है, तो यह समझना चाहिए कि उनका स्वरूप हमारी अपूर्ण कल्पना के ही समरूप नहीं है। किन्तु मनुष्य चाहे तो पर्वतों या समुद्रों तथा आकाश को विराट पुरुष का अंश मानकर उनकी पूजा कर सकता है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को जो विराट रूप प्रदर्शित किया, वह आस्थाहीनों के लिए एक चुनौती है।

नद्योऽस्य नाड्योऽथ तनू-रुहाणि
महीरुहा विश्व-तनोर्नृपेन्द्र ।
अनन्त-वीर्यः श्वसितं मातरिश्वा
गतिर्वयः कर्म गुण-प्रवाहः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

नद्यः—नदियाँ; अस्य—उसकी; नाड्यः—नाडियाँ, नसें; अथ—तत्पश्चात्; तनू-रुहाणि—शरीर के बाल; मही-रुहाः—पेड़-पौधे; विश्व-तनोः—विश्व-रूप का; नृप-इन्द्र—हे राजा; अनन्त-वीर्यः—सर्व-शक्तिमान; श्वसितम्—श्वास-क्रिया; मातरिश्वा—वायु; गतिः—गति; वयः—व्यतीत होती आयु; कर्म—कर्म; गुण-प्रवाहः—प्रकृति के गुणों की प्रतिक्रियाएँ।

हे राजन्, नदियाँ उस विराट शरीर की नसें हैं, वृक्ष रोम हैं और सर्वशक्तिमान वायु उनकी श्वास है। व्यतीत होते हुए युग उनकी गति तथा प्रकृति के तीनों गुणों की प्रतिक्रियाएँ ही उनके

कार्यकलाप हैं।

तात्पर्य : भगवान् न तो जड़ पत्थर हैं, न ही निष्क्रिय हैं, जैसाकि कुछ विचारधारा वाले हैं। वे समय के साथ गतिशील हैं, अतएव वे अपने वर्तमान कार्यकलापों के साथ-साथ भूत तथा भविष्य के विषय में भी सब कुछ जानते हैं। उनसे कुछ भी अनजान नहीं रहता है। बद्धजीव प्रकृति के गुणों की प्रतिक्रियाओं द्वारा इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं और ये ही भगवान् के कार्यकलाप हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१२) में कहा गया है, प्रकृति के गुण उन्हीं की निर्देशन में कार्य करते हैं, अतएव कोई भी प्राकृतिक कार्य न तो निरुद्देश्य होता है, न ही स्वचालित। सारे कार्यकलापों के पीछे भगवान् की अध्यक्षता की शक्ति कार्य करती है। इस तरह भगवान् कभी निष्क्रिय नहीं होते, जैसाकि भ्रमवश सोचा जाता है। वेदों का कथन है कि परमेश्वर को स्वयं कुछ नहीं करना पड़ता, जैसाकि श्रेष्ठजनों के साथ होता है, लेकिन सृष्टि के सारे कार्य उन्हीं की अध्यक्षता में सम्पन्न होते हैं। जैसा कहा जाता है कि उनकी स्वीकृति के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। *ब्रह्म-संहिता* (५.४८) में कहा गया है कि सारे ब्रह्माण्ड तथा इनके अधीश्वर (ब्रह्मा), उनके श्वास लेने की अवधि तक ही बने रहते हैं। यहाँ पर इसी की पुष्टि की गई है। ब्रह्माण्डों के भीतर जिस वायु में सारे ब्रह्माण्ड तथा लोक स्थित हैं, वह अतर्क्य विराट पुरुष की श्वास का अंश मात्र है। अतएव मनुष्य नदियों, वृक्षों, वायु तथा बीतने वाले युगों के अध्ययन द्वारा भी भगवान् की निर्विशेष धारणा से दिग्भ्रमित न होकर भगवान् की सही धारणा बना सकता है। *भगवद्गीता* (१२.५) में कहा गया है कि जो परम सत्य के निर्विशेष रूप के प्रति आकृष्ट हैं, वे भगवान् के सगुण स्वरूप के उपासकों की अपेक्षा अधिक कष्ट उठाते हैं।

ईशस्य केशान् विदुरम्बुवाहान्
वासस्तु सन्ध्यां कुरु-वर्य भूम्नः ।
अव्यक्तमाहुर्हृदयं मनश्च
स चन्द्रमाः सर्व-विकार-कोशः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

ईशस्य—परम नियन्ता के; **केशान्**—सिर के बाल; **विदुः**—तुम मुझसे जान लो; **अम्बु-वाहान्**—जल ले जाने वाले बादल; **वासः तु**—वस्त्र; **सन्ध्याम्**—दिन तथा रात्रि का सन्धि-काल; **कुरु-वर्य**—हे कुरुओं में श्रेष्ठ; **भूम्नः**—सर्वशक्तिमान का; **अव्यक्तम्**—भौतिक सृष्टि का आदि कारण; **आहुः**—कहा जाता है; **हृदयम्**—बुद्धि; **मनः च**—तथा मन; **सः**—वह; **चन्द्रमाः**—चन्द्रमा; **सर्व-विकार-कोशः**—समस्त परिवर्तनों का आगार।

हे कुरुश्रेष्ठ, जल ले जानेवाले बादल उनके सिर के बाल हैं, दिन या रात्रि की सन्धियाँ ही उनके वस्त्र हैं तथा भौतिक सृष्टि का परम कल्याण ही उनकी बुद्धि है। चन्द्रमा ही उनका मन है, जो समस्त परिवर्तनों का आगार है।

विज्ञान-शक्तिं महिमामनन्ति
सर्वात्मनोऽन्तः-करणं गिरित्रम् ।
अश्वाश्वतर्युष्ट्र-गजा नखानि
सर्वे मृगाः पशवः श्रोणि-देशे ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

विज्ञान-शक्तिम्—चेतना; महिम्—पदार्थ का सिद्धान्त; आमनन्ति—वे ऐसा कहते है; सर्व-आत्मनः—सर्व-व्यापी का; अन्तः-करणम्—अहंकार; गिरित्रम्—रुद्र (शिव); अश्व—घोड़ा; अश्वतरि—खच्चर; उष्ट्र—ऊँट; गजाः—हाथी; नखानि—नाखून; सर्वे—अन्य सब; मृगाः—हिरन; पशवः—चौपाये; श्रोणि-देशे—कटि-प्रदेश में।

पदार्थ का सिद्धान्त (महत्-तत्त्व) सर्वव्यापी भगवान् की चेतना है, जैसा कि विद्वानों ने बल देकर कहा है तथा रुद्रदेव उनका अहंकार है। घोड़ा, खच्चर, ऊँट तथा हाथी उनके नाखून हैं तथा जंगली जानवर और सारे चौपाये भगवान् के कटि-प्रदेश में स्थित हैं।

वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रं
मनुर्मनीषा मनुजो निवासः ।
गन्धर्व-विद्याधर-चारणाप्सरः
स्वर-स्मृतीरसुरानीक-वीर्यः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

वयांसि—विभिन्न प्रकार के पक्षी; तत्-व्याकरणम्—शब्दावली; विचित्रम्—कलात्मक; मनुः—मनुष्यों के पिता; मनीषा—विचार; मनुजः—मानव जाति (मनु-पुत्र); निवासः—निवास; गन्धर्व—गन्धर्व नामक मनुष्य; विद्याधर—विद्याधर; चारण—चारण; अप्सरः—देवदूत; स्वर—संगीतात्मक स्वर-लहरी; स्मृतीः—स्मृति; असुर-अनीक—आसुरी सैनिक; वीर्यः—शक्ति।

विभिन्न प्रकार के पक्षी उनकी दक्ष कलात्मक रुचि के सूचक हैं। मानवजाति के पिता, मनु, उनकी आदर्श बुद्धि के प्रतीक हैं और मानवता उनका निवास है। गन्धर्व, विद्याधर, चारण तथा देवदूत जैसी दैवी योनियाँ उनके संगीत की स्वर-लहरी को व्यक्त करती हैं और आसुरी सैनिक उनकी अद्भुत शक्ति के प्रतिरूप हैं।

तात्पर्य : भगवान् का सौन्दर्य-बोध मोर, तोता तथा कोयल जैसे विविध पक्षियों की कलात्मक रंगबिरंगी सृष्टि से प्रकट होता है। गन्धर्व तथा विद्याधर जैसी दैवी मानवी योनियाँ आश्चर्यजनक गायन

करती हैं और स्वर्ग के देवताओं के मन को भी मोहित कर लेती हैं, जो उनकी संगीत लहरी भगवान् का संगीत-बोध व्यक्त करती है। तो वे निर्विशेष कैसे हो सकते हैं? उनकी संगीत रुचि, कलात्मक बोध तथा आदर्श एवं विफल न होनेवाली बुद्धि उनके परम व्यक्तित्व के विभिन्न लक्षण हैं। *मनु संहिता* मानवता के लिए आदर्श विधि ग्रन्थ है और प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक ज्ञान के इस महान् ग्रन्थ का पालन करना होता है। मानव समाज भगवान् का आवास है। इसका अर्थ यह होता है कि मनुष्य ईश-साक्षात्कार एवं ईश्वर की संगति के लिए है। यह जीवन, बद्धजीव के लिए अपनी नित्य ईश-चेतना को पुनः प्राप्त करने के लिए, एक सुअवसर होता है, जिससे वह जीवन के उद्देश्य को पूरा कर सके। महाराज प्रह्लाद असुरों के कुल में भगवान् के सही प्रतिनिधि हैं। कोई भी जीव भगवान् के विराट शरीर से दूर नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का परम शरीर के प्रति विशेष कर्तव्य होता है। प्रत्येक व्यक्ति को दिए गए इस विशेष कर्तव्य को पूरा कर पाने में व्यवधान पड़ने से जीवों के बीच वैमनस्य आता है, किन्तु जब परमेश्वर के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, तो समस्त जीवों में, यहाँ तक कि जंगली पशुओं में तथा मानव समाज में, पूर्ण एकता हो जाती है। भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने इस सजीव एकता का प्रदर्शन मध्यप्रदेश के जंगल में किया, जहाँ व्याघ्र, हाथी तथा अन्य हिंसक पशुओं ने परमेश्वर के यशोगान में पूर्ण सहयोग दिखलाया। सारे विश्व में शान्ति तथा एकता का यही मार्ग है।

ब्रह्माननं क्षत्र-भुजो महात्मा
विड्रूरुरङ्घ्रि-श्रित-कृष्ण-वर्णः ।
नानाभिधाभीज्य-गणोपपन्नो
द्रव्यात्मकः कर्म वितान-योगः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

ब्रह्म—ब्राह्मण; आननम्—मुख; क्षत्र—क्षत्रिय; भुजः—बाँहें; महात्मा—विराट पुरुष; विट्—वैश्य; ऊरुः—जाँघ; अङ्घ्रि-श्रित—उनके चरणों की छाया में; कृष्ण-वर्णः—शूद्र; नाना—विविध; अभिधा—नामों से; अभीज्य-गण—देवता; उपपन्नः—निहित; द्रव्य-आत्मकः—उपलब्ध वस्तुओं से; कर्म—कर्म; वितान-योगः—यज्ञ का सम्पन्न होना।

विराट पुरुष का मुख ब्राह्मण है, उनकी भुजाएँ क्षत्रिय हैं, उनकी जाँघें वैश्य हैं तथा शूद्र उनके चरणों के संरक्षण में हैं। सारे पूज्य देवता उनमें सन्निहित हैं और यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि भगवान् को प्रसन्न करने के लिए यथासम्भव वस्तुओं से यज्ञसम्पन्न करे।

तात्पर्य : यहाँ पर एक प्रकार से एकेश्वरवाद का सुझाव रखा गया है। यद्यपि वैदिक ग्रन्थों में

विभिन्न नामों से अनेक देवताओं को आहुति प्रदान करने का उल्लेख है, किन्तु इस श्लोक में यह सुझाव है कि वे सभी देवता भगवान् के रूप में निहित हैं। वे आदि पूर्ण के अंशमात्र हैं। इसी प्रकार से मानव समाज के विभिन्न वर्ण—यथा ब्राह्मण (प्रबुद्ध जाति), क्षत्रिय (प्रशासक), वैश्य (व्यापारिक जाति) तथा शूद्र (श्रमिक जाति)—परमेश्वर के शरीर में सन्निविष्ट हैं। अतएव इन सबों को उपलब्ध वस्तुओं से भगवान् को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ करने की संस्तुति की गई है। सामान्यतया घी तथा अन्न की आहुति दी जाती है, किन्तु समय की प्रगति के साथ मानव समाज ने ईश्वर की भौतिक प्रकृति द्वारा प्रदत्त वस्तुओं को, तरह-तरह के सामानों में बदल करके, अनेक वस्तुएँ उत्पन्न कर दी हैं। अतएव *मानव समाज को, न केवल घी से आहुति देनी सीखना चाहिए, अपितु भगवान् के यश के प्रसार हेतु, अन्य तैयार सामानों से भी आहुति देनी चाहिए*। इससे मानव समाज में पूर्णता आयेगी। ऐसे यज्ञों के लिए बुद्धिमान जाति के लोग अर्थात् ब्राह्मण, पूर्ववर्ती आचार्यों से सलाह करके, निर्देश दे सकते हैं। प्रशासक वर्ग ऐसे यज्ञों के सम्पन्न किये जाने की सारी सुविधाएँ प्रदान कर सकता है, वैश्य वर्ग या व्यापारिक जाति, जो ऐसे सामान उत्पन्न करती है, जिसे यज्ञ में अर्पित कर सकते हैं और शूद्र वर्ग ऐसे यज्ञ को सफलता से सम्पन्न करने के लिए शारीरिक श्रम प्रदान कर सकता है। इस प्रकार मनुष्य जाति के सारे वर्गों के सहयोग से, इस युग में जिस यज्ञ की संस्तुति की जाती है, वह अर्थात् भगवान् के पवित्र नाम का संकीर्तन है, जिसको मानव जाति के कल्याण हेतु विश्व भर में सम्पन्न किया जा सकता है।

इयानसावीश्वर-विग्रहस्य
यः सन्निवेशः कथितो मया ते ।
सन्धार्यतेऽस्मिन् वपुषि स्थविष्ठे
मनः स्व-बुद्ध्या न यतोऽस्ति किञ्चित् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

इयान्—ये सब; असौ—वह; ईश्वर—परमेश्वर के; विग्रहस्य—स्वरूप का; यः—जो कुछ; सन्निवेशः—जिस तरह वे स्थित हैं; कथितः—कहा गया; मया—मेरे द्वारा; ते—तुमको; सन्धार्यते—एकाग्र कर सकता है; अस्मिन्—इसमें; वपुषि—विराट स्वरूप में; स्थविष्ठे—स्थूल में; मनः—मन; स्व-बुद्ध्या—अपनी बुद्धि से; न—नहीं; यतः—उनसे परे; अस्ति—है; किञ्चित्—कुछ भी।

इस प्रकार मैंने आपको भगवान् के स्थूल भौतिक विराट स्वरूप की अवधारणा का वर्णन

किया। जो व्यक्ति सचमुच मुक्ति की इच्छा करता है, वह भगवान् के इस स्वरूप पर अपने मन को एकाग्र करता है, क्योंकि भौतिक जगत में इससे अधिक कुछ भी नहीं है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.१०) में भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि प्रकृति तो उनकी आदेशवाहिका है। वह भगवान् की विभिन्न शक्तियों में से एक है और केवल उन्हीं के आदेशानुसार कार्य करती है। वे परम दिव्य भगवान् के रूप में भौतिक तत्त्व पर केवल दृष्टिपात करते हैं; इस तरह पदार्थ का विक्षोभ प्रारम्भ होता है और परिणाम-स्वरूप जो कार्य होते हैं, वे क्रमश: छह प्रकार के भेदों के रूप में प्रकट होते हैं। सारी भौतिक सृष्टि इसी प्रकार से गतिशील है और कालक्रम में यह प्रकट और लुप्त होती रहती है।

जो अल्पज्ञ हैं, वे भगवान् श्रीकृष्ण की उस अचिन्त्य शक्ति की भावना को आत्मसात् नहीं कर पाते, जिसके द्वारा वे मनुष्य के रूप में प्रकट होते हैं (*भगवद्गीता ९.११*)। इस संसार में हमारे ही जैसे रूप में उनका अवतरित होना भी पतित आत्माओं पर उनकी अहैतुकी कृपा का फल है। वे समस्त भौतिक धारणाओं से ऊपर हैं, किन्तु अपने शुद्ध भक्तों पर असीम कृपा के कारण वे अवतरित होते हैं और साक्षात् भगवान् के रूप में प्रकट होते हैं। भौतिकतावादी चिन्तक तथा वैज्ञानिक परमाणु शक्ति तथा विश्व-रूप की विराटता में ही अत्यधिक उलझे रहते हैं और इस जगत के आध्यात्मिक तात्विक सिद्धान्त की अपेक्षा बाह्य व्यवहार-पक्ष को अधिक मान्यता देते हैं। भगवान् का दिव्य रूप ऐसे भौतिकतावादी कार्यकलापों की सीमा के बाहर है और यह सोच पाना अत्यन्त कठिन है कि भगवान् एक ही साथ अन्तर्यामी तथा सर्वव्यापी हैं, क्योंकि भौतिकतावादी चिन्तक तथा वैज्ञानिक हर बात को अपने निजी अनुभव के आधार पर सोचते हैं। चूँकि वे भगवान् के साकार रूप को नहीं समझ पाते, अतएव भगवान् सदय होकर उन्हें अपना विराट रूप प्रदर्शित करते हैं और श्रील शुकदेव गोस्वामी ने यहाँ भगवान् के इस स्वरूप का विशद् वर्णन किया है। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भगवान् के इस विराट रूप के परे कुछ भी नहीं है। कोई भी भौतिकतावादी विचारवान व्यक्ति इस विराट रूप की धारणा से आगे नहीं जा सकता। भौतिकतावादी व्यक्तियों के मन चलायमान हैं और वे निरंतर एक पहलू से दूसरे की ओर बदलते रहते हैं। अतएव मनुष्य को यह सलाह दी जाती है कि वह उनके

विराट शरीर के किसी एक अंग का चिन्तन करे और केवल अपनी बुद्धि से ही भौतिक जगत की किसी भी अभिव्यक्ति का चिन्तन कर सकता है—यथा जंगल, पहाड़, समुद्र, मनुष्य, पशु, देवता, पक्षी, पशु या अन्य कुछ। भौतिक अभिव्यक्ति की प्रत्येक वस्तु विराट रूप का कोई न कोई अंग होती है, अतएव चंचल मन भगवान् पर ही स्थिर हो सकता है, अन्य किसी वस्तु पर नहीं। भगवान् के शरीर के विभिन्न अंगों पर ध्यान केन्द्रित करने की इस विधि से आसुरी ईश्वर-विहीनता (निरीश्वरवादी धारणा) की चुनौती क्रमशः क्षीण होती जाएगी और भगवान् की भक्ति में क्रमिक विकास लाया जा सकता है। चूँकि प्रत्येक वस्तु पूर्ण ब्रह्म का अंश है, अतएव नवदीक्षित जिज्ञासु को धीरे-धीरे *ईशोपनिषद्* के उन मन्त्रों की अनुभूति होगी, जो यह बताते हैं कि ईश्वर सर्वत्र है और इस तरह वह भगवान् के शरीर के प्रति अपराध न करने की कला सीख सकेगा। इस भगवद्भाव से ईश्वर के अस्तित्व को चुनौती देने वाले मनुष्य के गर्व में ह्रास होगा। इस तरह मनुष्य सबके प्रति सम्मान प्रदर्शित कर सकेगा क्योंकि सारी वस्तुएँ उस परम शरीर के अंश हैं।

स सर्व-धी-वृत्त्यनुभूत-सर्व
आत्मा यथा स्वप्न-जनेक्षितैकः ।
तं सत्यमानन्द-निधिं भजेत
नान्यत्र सज्जेद् यत आत्म-पातः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (परम पुरुष); सर्व-धी-वृत्ति—सभी प्रकार की बुद्धि द्वारा अनुभूति होने की विधि; अनुभूत—सावधान; सर्वे—हर एक; आत्मा—परमात्मा; यथा—जिस तरह; स्वप्न-जन—सपना देखनेवाला; ईक्षित—देखा हुआ; एकः—एक और वही; तम्—उसको; सत्यम्—परम सत्य; आनन्द-निधिम्—आनन्द का सागर; भजेत—पूजा करे; न—कभी नहीं; अन्यत्र—अन्यत्र; सज्जेत्—अनुरक्त हो; यतः—जिससे; आत्म-पातः—अपना पतन।

मनुष्य को अपना मन भगवान् में एकाग्र करना चाहिए, क्योंकि वे ही अपने को इतने सारे रूपों में उसी तरह वितरित करते हैं, जिस तरह कि सामान्य मनुष्य स्वप्न में हजारों रूपों की सृष्टि करता है। मनुष्य को अपना मन एकमात्र सर्व आनन्दमय परम सत्य पर एकाग्र करना चाहिए अन्यथा वह पथभ्रष्ट हो जायेगा और अपने हाथों ही अपना पतन कर लेगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में महान् गोस्वामी श्रील शुकदेव ने भक्तियोग की ओर संकेत किया है। वे हमें बताना चाहते हैं कि हम आत्म-साक्षात्कार की अनेक शाखाओं की ओर अपना ध्यान न बाँटकर,

भगवान् को ही अनुभूति, पूजा तथा भक्ति का परम लक्ष्य मानकर, उन्हीं में चित्त को एकाग्र करें। ऐसा लगता है, मानो आत्म-साक्षात्कार जीवन-संघर्ष के विरुद्ध नित्य जीवन के लिए युद्ध हो। अतएव बहिरंगा शक्ति की भ्रामक दया से योगी या भक्त को अनेक प्रलोभनों का सामना करना पड़ता है, जो बड़े से बड़े योद्धा को भवबन्धन में पुनः बाँध दें। योगी को भौतिक उपलब्धियों में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हो सकती है—यथा *अणिमा* या *लघिमा* की उपलब्धि जिससे वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और हल्का से हल्का बन सकता है, या सामान्य अर्थों में, मनुष्य सम्पत्ति तथा स्त्रियों के रूप में भौतिक वर प्राप्त कर सकता है। लेकिन ऐसे आकर्षणों के प्रति आगाह किया जाता है, क्योंकि इस प्रकार के मोहमय आनन्द में पुनः फँसने का अर्थ है आत्म-पतन तथा भौतिक जगत में अधिकाधिक बँधना। इस चेतावनी से मनुष्य को अपनी जागरूक बुद्धि का ही अनुसरण करना चाहिए।

परमेश्वर एक है, किन्तु उनके अंश अनेक हैं, अतएव वे सबके परमात्मा हैं। जब मनुष्य कोई वस्तु देखता है, तो उसे यह ज्ञात होना चाहिए कि उसने इसे बाद में देखा है और भगवान् उसे पहले से देख रह हैं। कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु को पहले भगवान् द्वारा देखे बिना देख नहीं सकता। यही वेदों तथा उपनिषदों का उपदेश है। अतएव हम जो भी देखते या करते हैं, उस देखने या करने के समस्त कृत्यों के कर्ता परमात्मा भगवान् ही हैं। आत्मा तथा परमात्मा के एकसाथ एकत्व तथा भिन्न-भिन्न होने के इस सिद्धान्त को श्री चैतन्य महाप्रभु ने *अचिन्त्य भेदाभेद तत्त्व* दर्शन रूप में प्रतिपादित किया है। भगवान् के विराट रूप में प्रत्येक भौतिक वस्तु प्रकट होती है, अतएव भगवान् का यह विराट रूप समस्त चेतन तथा अचेतन का परमात्मा है। किन्तु यही विराट रूप नारायण या विष्णु की भी अभिव्यक्ति है और हम जितना ही आगे बढ़ेंगे, तो अन्ततोगत्वा हम देखेंगे कि भगवान् कृष्ण ही सभी वस्तुओं के अनन्तिम परम आत्मा हैं। निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य को या तो भगवान् कृष्ण का या उनके पूर्ण अंश नारायण का बिना किसी संकोच के पूजक बनना चाहिए, अन्य किसी का भी नहीं। वैदिक मन्त्रों में स्पष्ट कहा गया है कि सर्वप्रथम नारायण ने पदार्थ के ऊपर दृष्टिपात किया और इस तरह सृष्टि बनी। सृष्टि के पूर्व न तो ब्रह्मा थे, न शिव थे अन्यों की तो बात ही नहीं उठती। श्रीपाद शंकराचार्य ने इसे निस्सन्देह स्वीकार किया है कि नारायण भौतिक सृष्टि से परे हैं और अन्य सभी इसी सृष्टि के अन्तर्गत

हैं। अतएव सारी सृष्टि एक ही साथ, नारायण से युक्त तथा पृथक् है और इससे भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के *अचिन्त्य भेदाभेद तत्त्व* दर्शन की पुष्टि होती है। नारायण की चितवन शक्ति से उद्भूत होने के कारण सारी भौतिक सृष्टि उनसे अभिन्न है। किन्तु चूँकि यह उनकी *बहिरंगा शक्ति* (माया) का प्रभाव है और यह अन्तरंगा शक्ति (*आत्म-माया*) से पृथक् है, अतएव सारी भौतिक सृष्टि उनसे पृथक् भी है। इस श्लोक में स्वप्न देखने वाले व्यक्ति का उदाहरण अतीव सुन्दर है। स्वप्न देखनेवाला व्यक्ति अपने स्वप्न में अनेक वस्तुओं की सृष्टि करता रहता है। इस तरह वह स्वप्न का बद्ध दर्शक बन जाता है और उसके परिणामों से भी प्रभावित होता है। यह भौतिक सृष्टि भी भगवान् के स्वप्न जैसी सृष्टि है, किन्तु वे दिव्य परमात्मा होने के कारण, न तो स्वप्नवत् सृष्टि की प्रतिक्रियाओं (बन्धनों) से बँधते हैं, न ही प्रभावित होते हैं। वे सदैव अपने दिव्य पद पर बने रहते हैं, लेकिन वे अनिवार्यतः सब कुछ होते हैं और उनसे विलग कुछ भी नहीं होता। अतएव उनके अंश होने के कारण, मनुष्य को बिना किसी विपथन के उन्हीं पर मन केन्द्रित करना चाहिए अन्यथा मनुष्य धीरे-धीरे भौतिक सृष्टि की शक्तियों का शिकार होता जायेगा। *भगवद्गीता* (९.७) में इस प्रकार से पुष्टि की गई है—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥

"हे कुन्तीपुत्र! कल्पान्त में प्रत्येक भौतिक वस्तु मेरी प्रकृति में प्रवेश करती है और दूसरे कल्प के प्रारम्भ में मैं अपनी शक्ति से पुनः सृष्टि रचता हूँ।"

किन्तु मानव जीवन तो इस सृष्टि तथा प्रलय के चक्र से बाहर निकलने का एक अवसर है। यह ऐसा साधन है, जिससे मनुष्य भगवान् की बहिरंगा शक्ति से अपना पिंड छुड़ाकर उनकी अन्तरंगा शक्ति में प्रवेश करता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध के अन्तर्गत "ईश अनुभूति का प्रथम सोपान शुभारम्भ" नामक प्रथम अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दो

हृदय में भगवान्

श्री-शुक उवाच

एवं पुरा धारणयात्म-योनि-
र्नष्टां स्मृतिं प्रत्यवरुध्य तुष्टात् ।
तथा ससर्जेदममोघ-दृष्टि-
र्यथाप्ययात् प्राग् व्यवसाय-बुद्धिः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; पुरा—विश्व के प्राकट्य के पूर्व; धारणया—ऐसी धारणा द्वारा; आत्म-योनिः—ब्रह्माजी की; नष्टाम्—विनष्ट; स्मृतिम्—स्मृति, याददाश्त; प्रत्यवरुध्य—पुनः चेतना प्राप्त करके; तुष्टात्—भगवान् को प्रसन्न करने के कारण; तथा—तत्पश्चात्; ससर्ज—सृजन किया; इदम्—यह भौतिक जगत; अमोघ-दृष्टिः—जिसे स्पष्ट दृष्टि प्राप्त है; यथा—जिस प्रकार; अप्ययात्—निर्मित किया; प्राक्—पहले की तरह; व्यवसाय—सुनिश्चित; बुद्धिः—बुद्धि।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस ब्रह्माण्ड के प्राकट्य के पूर्व, ब्रह्माजी ने विराट रूप के ध्यान द्वारा भगवान् को प्रसन्न करके विलुप्त हो चुकी अपनी चेतना प्राप्त की। इस तरह वे सृष्टि का पूर्ववत् पुनर्निर्माण कर सके।

तात्पर्य : यहाँ पर ब्रह्माजी की विस्मृति का उदाहरण दिया गया है। ब्रह्माजी भगवान् के भौतिक गुणों में से एक गुण के अवतार हैं। वे प्रकृति के रजोगुण के अवतार होने के कारण भगवान् द्वारा सुन्दर भौतिक सृष्टि की रचना करने के लिए शक्तिप्रदत्त हैं। तो भी असंख्य जीवों में से एक होने के नाते, वे अपनी सृजनात्मक शक्ति की कला को भूल जाते हैं। जीव की यह विस्मृति, जो ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक पाई जाती है, ऐसी प्रवृत्ति है, जिसका शमन भगवान् के विराट-रूप के ध्यान द्वारा किया जा सकता है। यह अवसर मनुष्य योनि में प्राप्त होता है और यदि मनुष्य *श्रीमद्भागवत* के आदेश का पालन करके, विराट-रूप का ध्यान करना प्रारम्भ कर देता है, तो उसकी शुद्ध चेतना का पुनःउदय हो सकता है तथा साथ ही भगवान् के साथ अपने नित्य सम्बन्ध की विस्मृति का निराकरण हो जाता है। ज्योंही यह विस्मृति दूर हो जाती है त्योंही *व्यवसायबुद्धि* आ जाती है, जिसका यहाँ पर और *भगवद्गीता* (२.४१) में भी उल्लेख हुआ है। जीव के इस सुनिश्चित ज्ञान से भगवान् की प्रेमाभक्ति उत्पन्न होती है, जिसकी जीव को आवश्यकता होती है। ईश्वर का साम्राज्य असीम है, अतएव भगवान्

के सहायक हाथों की संख्या भी अनन्त है। *भगवद्गीता* (१३.१४) बल देकर कहती है कि भगवान् की सृष्टि के कोने-कोने में उनके हाथ, पाँव, मुँह तथा आँखे हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जीव कहलाने वाले भगवान् के अंश ही उनके सहायक हाथ हैं और ये सब विशेष प्रकार की भगवत्सेवा के निमित्त हैं। बद्धजीव, चाहे वह ब्रह्मा के पद पर ही क्यों न हो, मिथ्या अहंकार से उत्पन्न बहिरंगा शक्ति के प्रभाव से इसे भूल जाता है। ऐसे मिथ्या अंहकार का निराकरण मनुष्य ईश-चेतना प्राप्त करके कर सकता है। मुक्ति का अर्थ है विस्मृति की निद्रा से निकल कर बाहर आना और भगवान् की असली प्रेमा-भक्ति को प्राप्त होना, जैसाकि ब्रह्मा के उदाहरण से स्पष्ट है। ब्रह्मा द्वारा की गई सेवा मुक्तावस्था में की जानेवाली सेवा का नमूना है और यह तथाकथित परोपकार से भिन्न है, जो त्रुटियों तथा विस्मृतियों से पूर्ण होता है। मुक्ति कभी भी निष्क्रियता नहीं है, अपितु यह मानवीय त्रुटियों से विहीन सेवा है।

शाब्दस्य हि ब्रह्मण एष पन्था
यन्नामभिर्ध्यायति धीरपार्थैः ।
परिभ्रमंस्तत्र न विन्दतेऽर्थान्
मायामये वासनया शयानः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

शाब्दस्य—वैदिक ध्वनि का; हि—निश्चय ही; ब्रह्मणः—वेदों का; एषः—ये; पन्थाः—मार्ग; यत्—जो है; नामभिः—विभिन्न नामों से; ध्यायति—ध्यान करता है; धीः—बुद्धि; अपार्थैः—व्यर्थ के विचारों से; परिभ्रमन्—घूमते हुए; तत्र—वहाँ; न—कभी नहीं; विन्दते—भोग करता है; अर्थान्—वास्तविकताओं को; माया-मये—मोहमयी वस्तुओं में; वासनया—विभिन्न इच्छाओं से; शयानः—मानो निद्रा में स्वप्न देख रहा हो।

वैदिक ध्वनियों (वेदवाणी) को प्रस्तुत करने की विधि इतनी मोहनेवाली है कि यह व्यक्तियों की बुद्धि को स्वर्ग जैसी व्यर्थ की वस्तुओं की ओर ले जाती है। बद्धजीव ऐसी स्वर्गिक मायामयी वासनाओं के स्वप्नों में मँडराते रहते हैं, लेकिन उन्हें ऐसे स्थानों में सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं हो पाती।

तात्पर्य : बद्धजीव संसार के भीतर ब्रह्माण्ड की सीमा तक भी, सुख के लिए तरह-तरह की योजनाएँ बनाने में सदैव व्यस्त रहता है। यहाँ तक कि इस धरा पर, जहाँ वह अपनी सामर्थ्य भर प्रकृति के संसाधनों का दोहन करता है, उपलब्ध समस्त सुविधाओं से तुष्ट नहीं होता। वह चन्द्रमा या

शुक्रलोक में भी संसाधनों के दोहन के लिए जाना चाहता है, लेकिन भगवान् ने *भगवद्गीता* (८.१६) में इस ब्रह्माण्ड के असंख्य लोकों तथा अन्य लोकों की व्यर्थता के विषय में हमें आगाह किया है। ब्रह्माण्डों की संख्या असंख्य है और इनमें से प्रत्येक में असंख्य लोक हैं। लेकिन इनमें से कोई भी लोक भौतिक जीवन के मुख्य दुखों से, यथा जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के दुखों से, विहीन नहीं है। भगवान् का कहना है कि सर्वोच्चलोक, ब्रह्मलोक अथवा सत्यलोक भी (स्वर्गलोक जैसे लोकों का तो कहना ही क्या) रहने के लिए उपयुक्त नहीं है, क्योंकि यहाँ भी उपर्युक्त दुख पाये जाते हैं। बद्धजीव सकाम कर्म के नियमों से जकड़े हुए हैं। अतएव वे कभी ब्रह्मलोक जाते हैं, तो पुनः पाताल लोक को लौट आते हैं मानो झूले पर चढ़े हुए अज्ञानी बालक हों। असली सुख तो भगवद्धाम में है जहाँ जीव को ये सांसारिक कष्ट नहीं सहन करने होते। अतएव जीवों के लिए सकाम कर्म की वैदिक विधियाँ भ्रामक हैं। मनुष्य इस देश में या अन्यत्र, इस लोक में या दूसरे लोक में, श्रेष्ठतर जीवन की कल्पना करता है, किन्तु संसार में कहीं भी उसकी असली इच्छा की पूर्ति—सच्चिदानन्द रूप जीवन की पूर्ति—नहीं हो पाती। श्रील शुकदेव गोस्वामी अप्रत्यक्ष रूप से, महाराज परीक्षित को यह बताना चाहते हैं कि जीवन की अन्तिम अवस्था में उन्हें अपने मन में स्वर्गलोक जाने की इच्छा नहीं लानी चाहिए, अपितु उन्हें भगवद्धाम जाने की तैयारी करनी चाहिए। न तो कोई भौतिक लोक शाश्वत है, न वहाँ पर उपलब्ध जीवन की सुविधाएँ ही शाश्वत हैं। अतएव उनसे प्राप्त होने वाले क्षणिक सुख को भोगने के लिए वास्तविक विरक्ति ही दिखलानी चाहिए।

अतः कविर्नामसु यावदर्थः
स्यादप्रमत्तो व्यवसाय-बुद्धिः ।
सिद्धेऽन्यथार्थे न यतेत तत्र
परिश्रमं तत्र समीक्षमाणः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अतः—इस कारण; कविः—प्रबुद्ध व्यक्ति; नामसु—केवल नाम के लिए; यावत्—न्यूनतम; अर्थः—आवश्यकता; स्यात्—होए; अप्रमत्तः—उनके पीछे पागल हुए बिना; व्यवसाय-बुद्धिः—बुद्धिपूर्वक स्थित; सिद्धे—सफलता के लिए; अन्यथा—अन्यथा; अर्थे—के हित में; न—कभी नहीं; यतेत—प्रयास करे; तत्र—वहाँ; परिश्रमम्—कठोर श्रम; तत्र—वहाँ; समीक्षमाणः—व्यावहारिक दृष्टि से देखनेवाला।

अतएव प्रबुद्ध व्यक्ति को उपाधियों वाले इस जगत में रहते हुए जीवन की न्यूनतम

आवश्यकताओं के लिए प्रयत्न करना चाहिए। उसे बुद्धिमत्तापूर्वक स्थिर रहना चाहिए और अवांछित वस्तुओं के लिए कभी कोई प्रयत्न नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह इससे व्यावहारिक रूप में यह अनुभव करने में सक्षम होता है कि ऐसे सारे प्रयास कठोर श्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं होते।

तात्पर्य : *भागवत* धर्म या *श्रीमद्भागवत* की विचारधारा सकाम कर्म के मार्ग से सर्वथा पृथक् है, क्योंकि भक्त ऐसे सकाम कर्मों के मार्ग को समय का अपव्यय मात्र मानते हैं। सारा ब्रह्माण्ड, या यों कहें कि सारा भौतिक जगत, गतिशील है ताकि योजना बनाने के लिए मनुष्य की स्थिति अत्यन्त आरामदेह या सुरक्षित बनी रहे, यद्यपि सभी लोग देखते हैं कि यह संसार न तो आरामदेह है, न सुरक्षित है और विकास की किसी अवस्था में ऐसा हो भी नहीं सकता। जो लोग भौतिक सभ्यता की भ्रामक प्रगति से मोहित हैं, वे निश्चय ही पागल (प्रमत्त) हैं। यह सारी भौतिक सृष्टि केवल नामों की जादूगरी है। वास्तव में यह पृथ्वी, जल, अग्नि जैसे पदार्थों से बनी मोहनेवाली सृष्टि के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इमारतें, साज-सामान, कारें, बँगले, मिलें, फैक्टरियाँ, उद्योग, शान्ति, युद्ध या परमाणु शक्ति तथा इलेक्ट्रानिक जैसी भौतिक विज्ञान की सर्वोच्च सिद्धियाँ, भौतिक तत्त्वों तथा तीनों गुणों की मिली-जुली प्रतिक्रिया के मोहक नाम के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। चूँकि भगवान् का भक्त इन्हें पूरी तरह जानता रहता है, अतएव वह उन अवास्तविक वस्तुओं को सृजित करने में रुचि नहीं लेता जो समुद्री तरंगों के बुदबुदों के समान नगण्य हैं। बड़े-बड़े राजा, नेता तथा सैनिक एक दूसरे से इसलिए लड़ते हैं जिससे इतिहास में उनके नाम अक्षुण्ण बने रहें, किन्तु वे कालक्रम में भुला दिये जाते हैं और वे इतिहास में एक दूसरे युग को स्थान दे देते हैं। लेकिन भक्त समझता है कि इतिहास तथा ऐतिहासिक व्यक्ति किस तरह क्षणभंगुर समय की उपज हैं। सकाम कर्मी को सम्पत्ति, स्त्री तथा भौतिक मान-सम्मान की चाह होती है, किन्तु जिन्हें वास्तविकता का ज्ञान है वे ऐसी मिथ्या वस्तुओं में तनिक भी रुचि नहीं रखते। उनके लिए यह समय का अपव्यय है। चूँकि मनुष्य-जीवन का प्रत्येक क्षण महत्त्वपूर्ण है, अतएव प्रबुद्ध व्यक्ति को समय का उपयोग करने में काफी सतर्क रहना चाहिए। इस जगत में सुख की योजना बनाने की शोध में विनष्ट मानव-जीवन का एक पल भी कभी वापस नहीं मिल सकता,

भले ही कोई उसके लिए लाखों स्वर्ण मुद्राएँ क्यों न खर्च करे। अतएव ऐसा अध्यात्मवादी जो माया के चंगुल से छूटना चाहता है, उसे सचेत किया जाता है कि वह सकाम कर्मियों के बाह्य स्वरूप से मोहित न हो। मनुष्य जीवन कभी भी इन्द्रियतप्ति के लिए नहीं बना है, वह तो आत्म-साक्षात्कार के लिए मिला है। *श्रीमद्भागवत* में आदि से अन्त तक इसी विषय का उपदेश मिलता है। मानव-जीवन मात्र आत्म-साक्षात्कार के लिए है। जो सभ्यता इस सर्वाधिक पूर्णता को लक्ष्य बनाती है, वह अवांछित वस्तुओं में लिप्त नहीं होती और ऐसी पूर्ण सभ्यता मनुष्यों को जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएँ स्वीकार करने के लिए या बुरे सौदे का सर्वोत्तम उपयोग करने के सिद्धान्त का पालन करने के लिए तैयार करती है। उस दृष्टि से हमारे भौतिक शरीर तथा हमारे जीवन बुरे सौदे हैं, क्योंकि जीव वास्तव में आत्मा है और जीव की आध्यात्मिक प्रगति अत्यावश्यक है। मानव-जीवन इसी महत्त्वपूर्ण उद्देश्य की प्राप्ति के लिए है, अतएव मनुष्य को जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं को स्वीकार करके भगवान् के उपहार पर आश्रित रहते हुए मानवीय शक्ति को अन्य किसी कार्य में यथा भौतिक भोग के पीछे दीवाना होने में न लगाकर तदनुसार कर्म करना चाहिए। सभ्यता का भौतिकतावादी विकास असुरों की सभ्यता कहलाता है, जिसका अन्त युद्ध तथा अभाव में होता है। यहाँ पर अध्यात्मवादी को मन से स्थिर होने के लिए कहा गया है, जिससे यदि 'सादा जीवन उच्च विचार' में कठिनाई का अनुभव भी हो तो वह अपने दृढ़ संकल्प से रंचमात्र भी नहीं डिगे। विश्व के इन्द्रियतृप्तिकर्ताओं के घनिष्ठ सम्पर्क में आना अध्यात्मवादी के लिए आत्मघात है, क्योंकि इस नीति से जीवन का चरम लक्ष्य ही विफल हो जायेगा। शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित से तब मिले जब महाराज को ऐसी भेंट की आवश्यकता थी। अध्यात्मवादी का कर्तव्य है कि असली मुक्तिकामी व्यक्तियों की सहायता करे और मुक्ति के उद्देश्य को सहयोग दे। ध्यान रहे कि शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित से तब कभी नहीं मिले जब वे महान् राजा के रूप में शासन कर रहे थे। अध्यात्मवादी के लिए कार्य-प्रणाली की विवेचना अगले श्लोक में की गई है।

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासै-
र्बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम् ।
सत्यञ्जलौ किं पुरुधान्न-पात्र्या
दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः ॥ ४॥

शब्दार्थ

सत्याम्—अधिकार में करके; क्षितौ—पृथ्वी का खंड; किम्—क्या आवश्यकता है; कशिपोः—खाट तथा गद्दों की; प्रयासैः—प्रयास करने से; बाहौ—बाँह के; स्व-सिद्धे—आत्म-निर्भर होने के लिए; हि—निश्चय ही; उपबर्हणैः—गद्दा तथा तकिया से; किम्—क्या लाभ है; सति—उपस्थित होकर; अञ्जलौ—हथेली में; किम्—क्या लाभ है; पुरुधा—व्यंजन, किस्में; अन्न—खाद्य पदार्थों के; पात्र्या—बर्तनों से; दिक्—खुला स्थान; वल्कल-आदौ—वृक्षों की छाल; सति—होने से; किम्—क्या लाभ है; दुकूलैः—वस्त्रों से।

जब लेटने के लिए विपुल भूखंड पड़े हैं, तो चारपाइयों तथा गद्दों की क्या आवश्यकता है? जब मनुष्य अपनी बाँह का उपयोग कर सकता है, तो फिर तकिये की क्या आवश्यकता है? जब मनुष्य अपनी हथेलियों का उपयोग कर सकता है, तो तरह-तरह के बर्तनों की क्या आवश्यकता है? जब पर्याप्त ओढ़न अथवा वृक्ष की छाल उपलब्ध हो, तो फिर वस्त्र की क्या आवश्यकता है?

तात्पर्य : शरीर की रक्षा तथा सुविधा के लिए व्यर्थ ही जीवन की आवश्यकताएँ नहीं बढ़ा लेनी चाहिए। ऐसे ही भ्रामक सुख की खोज में मानवशक्ति व्यर्थ नष्ट होती है। यदि मनुष्य फर्श पर लेट सकता है, तो फिर वह लेटने के लिए मुलायम गद्दा पाने के लिए क्यों प्रयत्नशील रहता है? यदि वह बिना तकिये के ही प्रकृति द्वारा प्रदत्त अपनी मुलायम बाहों का उपयोग कर सकता है, तो फिर तकिये की खोज करना व्यर्थ है। यदि हम पशुओं के सामान्य जीवन का अध्ययन करें तो देखेंगे कि उनमें बड़े-बड़े घर, फर्नीचर तथा घर के अन्य साज-सामान बनाने की बुद्धि नहीं है, फिर भी वे खुली भूमि में लेटकर स्वस्थ जीवन बिताते हैं। वे भोजन पकाना नहीं जानते, फिर भी वे मनुष्य की अपेक्षा अधिक सरलता से स्वस्थ जीवन बिताते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं है कि मानव सभ्यता पलट कर पशु-जीवन बिताने लगे या कि मनष्य नंगा होकर जंगलों में विचरण करने लगे और संस्कृति, शिक्षा तथा नैतिकता की विचारधारा से विहीन हो जाय। बुद्धिमान मनुष्य कभी पशु-जीवन नहीं बिता सकता, अपितु मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी बुद्धि का उपयोग कला तथा विज्ञान, कविता तथा दर्शन में करे। इस प्रकार वह मानवीय सभ्यता को आगे बढ़ा सकता है। किन्तु यहाँ पर श्रील शुकदेव गोस्वामी ने जो विचार प्रदान किया है, वह यह है कि मानव-जीवन की आरक्षित शक्ति, जो पशुओं से अधिक

श्रेष्ठ है, उसका उपयोग मात्र आत्म-साक्षात्कार के लिए ही किया जाना चाहिए। मानव सभ्यता की प्रगति ईश्वर के प्रति खोये सम्बन्धों की पुन:स्थापना की ओर लक्षित होनी चाहिए, जो मनुष्य जीवन के अतिरिक्त अन्य किसी योनि में सम्भव नहीं है। मनुष्य को भौतिक परिवर्तनशीलता की निरर्थकता का बोध होना चाहिए, इसे मृगमरीचिका सा मानना चाहिए और जीवन के कष्टों का समाधान खोज निकालने का प्रयत्न करना चाहिए। सुधरी पशु-सभ्यता से युक्त आत्म-तृप्ति, जिसका लक्ष्य इन्द्रियतृप्ति हो, भ्रम है और ऐसी *सभ्यता* सभ्यता कहलाने योग्य नहीं है। ऐसे मिथ्या कर्म करने वाला जीव माया-मोहित है। प्राचीनकाल के सन्त तथा महात्मा कभी अच्छे फर्नीचर से सज्जित एवं तथाकथित जीवन की सुविधाओं से युक्त राजप्रसादों में नहीं रहते थे। वे कुटियों तथा कुंजों में रहा करते थे, भूमि पर बैठते थे; फिर भी वे अपने पीछे उच्च ज्ञान की महान् निधि छोड़ गये हैं। श्रील रूप गोस्वामी तथा श्रील सनातन गोस्वामी राज्य के उच्च-पदासीन मन्त्री थे, लेकिन वे अपने पीछे दिव्य ज्ञान-विषयक प्रभूत ग्रंथ छोड़ गये हैं जबकि वे किसी भी वृक्ष के नीचे केवल एक रात टिकते थे। वे किसी एक वृक्ष के नीचे कभी दो रात भी नहीं रहे, आधुनिक सुविधाओं से सुसज्जित कमरों की बात तो कोसों दूर रही! तो भी उन्होंने हमें अत्यन्त उपादेय आत्म-साक्षात्कार का साहित्य दिया है। प्रगतिशील सभ्यता के लिए तथाकथित जीवन की सुविधाएँ सहायक नहीं बनतीं, अपितु वे ऐसे प्रगतिशील जीवन में बाधक हैं। चार वर्णों तथा चार आश्रमों वाली *सनातन-धर्म* पद्धति में प्रगतिशील जीवन के सुखमय अन्त के लिए पर्याप्त आदेश हैं और उसमें निष्ठावान अनुयायियों को जीवन का वांछित लक्ष्य प्राप्त करने के लिए स्वेच्छा से संन्यास आश्रम स्वीकार करना होता है। यदि कोई प्रारम्भ से ऐसे संन्यासी तथा आत्मोत्सर्ग जीवन का पालन करने का अभ्यस्त नहीं होता, तो उसे बाद के जीवन में इसका अभ्यास करना चाहिए जैसाकि श्रील शुकदेव गोस्वामी ने संस्तुति की है। इससे वांछित सफलता प्राप्त करने में सहायता मिलेगी।

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां
नैवाङ्घ्रिपाः पर-भृतः सरितोऽप्यशुष्यन् ।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्
कस्माद् भजन्ति कवयो धन-दुर्मदान्धान् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

चीराणि—फटे-पुराने कपड़े; किम्—क्या; पथि—मार्ग में; न—नहीं; सन्ति—हैं; दिशन्ति—दान देते हैं; भिक्षाम्—भिक्षा; न—नहीं; एव—भी; अङ्घ्रिपाः—वृक्ष; पर-भृतः—अन्यों का पालन करने वाली; सरितः—नदियाँ; अपि—भी; अशुष्यन्—सूख गई हैं; रुद्धाः—बन्द; गुहाः—गुफाएँ; किम्—क्या; अजितः—भगवान्; अवति—सुरक्षा प्रदान करता है; न—नहीं; उपसन्नान्—शरणागतों को; कस्मात्—तब, किसलिए; भजन्ति—चापलूसी करते हैं; कवयः—विद्वान; धन—सम्पत्ति; दुर्मद-अन्धान्—अत्यन्त मतवालों को।

क्या सड़कों पर चिथड़े नहीं पड़े हैं? क्या दूसरों का पालन करनेवाले वृक्ष अब दान में भिक्षा नहीं देते? क्या सूख जाने पर नदियाँ अब प्यासे को जल प्रदान नहीं करतीं? क्या अब पर्वतों की गुफाएँ बन्द हो चुकी हैं? या सर्व-शक्तिमान भगवान् पूर्ण शरणागत आत्माओं की रक्षा नहीं करते? तो फिर विद्वान मुनिजन उनकी चापलूसी क्यों करते हैं, जो अपनी गाढ़ी कमाई की सम्पत्ति के कारण प्रमत्त हो गये हैं?

तात्पर्य : संन्यास कभी भिक्षा माँगने या परजीवी बनकर दूसरों पर निर्भर रह कर जीवित रहने के लिए नहीं है। शब्दकोश के अनुसार परजीवी वह है, जो समाज को किसी प्रकार का योगदान किये बिना, समाज के खर्च पर ही जीवित रहता है। संन्यास आश्रम समाज को महत्त्वपूर्ण योगदान करने के लिए है न कि गृहस्थों की कमाई पर आश्रित रहने के लिए। इसके विपरीत, प्रामाणिक संन्यासियों द्वारा गृहस्थों से भिक्षा लेना दाता के लाभ हेतु सन्तों द्वारा प्रदत्त सुअवसर होता है। *सनातन-धर्म* प्रथा में संन्यासी को भिक्षा देना गृहस्थ का कर्तव्य होता है और शास्त्रों का आदेश है कि वे संन्यासियों को अपने परिवार के बालक जैसा मानें और बिना माँगे भोजन, वस्त्र आदि प्रदान करें। इसलिए छद्म संन्यासियों को श्रद्धालु गृहस्थों की दानवृत्ति का अनुचित लाभ नहीं लेना चाहिए। संन्यास आश्रम के प्रत्येक व्यक्ति का यह प्रथम कर्तव्य है कि वह मनुष्यों के लाभ के लिए कोई साहित्यिक कृति प्रदान करे जिससे उन्हें आत्म-साक्षात्कार की अनुभूति की दिशा प्राप्त हो सके। श्रील सनातन, श्रील रूप तथा वृन्दावन के अन्य गोस्वामियों के संन्यास-काल में अन्य कर्तव्यों में सर्वप्रधान कर्तव्य था वृन्दावन के सेवाकुंज में पारस्परिक विद्वत्तापूर्ण वाद-विवाद (गोष्ठी)। (इस स्थान पर श्री राधा दामोदर मन्दिर की स्थापना श्रील जीव गोस्वामी ने की तथा श्रील रूप गोस्वामी एवं श्रील जीव गोस्वामी की समाधियाँ भी

यहीं स्थित हैं।) वे मानव–समाज के लाभ हेतु दिव्य महत्ता वाला प्रचुर साहित्य अपने पीछे छोड़ गये। इसी प्रकार समस्त आचार्यों ने, जिन्होंने स्वेच्छा से संन्यास आश्रम ग्रहण किया, मानव–समाज को लाभ पहुँचाना ही अपना लक्ष्य बनाया, न कि सुखपूर्ण गैरजिम्मेदार जीवन व्यतीत करके अन्यों के ऊपर भारस्वरूप बनकर रहना। किन्तु जो संन्यासी कोई योगदान नहीं कर पाते, उन्हें चाहिए कि भोजन के लिए गृहस्थों के यहाँ न जाँय, क्योंकि ऐसे साधुओं द्वारा गृहस्थों से भोजन की भीख माँगना इस सर्वोच्च आश्रम का अपमान करना है। शुकदेव गोस्वामी ने यह चेतावनी विशेष रूप से उन साधुओं को दी है, जो अपनी आर्थिक समस्या हल करने के लिए इस वृत्ति को अपनाते हैं। कलियुग में ऐसे संन्यासियों की बहुलता है। जब कोई मनुष्य स्वेच्छा से या परिस्थितिवश संन्यासी बन जाता है, तो उसमें यह दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि परमेश्वर संसार में सर्वत्र समस्त जीवों के पालनकर्ता हैं। तो भला वह क्योंकर अपने उस शरणागत की उपेक्षा करेगा जो शत प्रतिशत उसकी सेवा में लगा रहता है? एक सामान्य मालिक अपने नौकर की आवश्यकताओं का ध्यान रखता है, तो फिर सर्वशक्तिमान सर्व–ऐश्वर्यवान परमेश्वर अपने पूर्ण शरणागत जीव के जीवन की आवश्यकताओं की न जाने कितनी परवाह करता होगा? सामान्य नियम है कि संन्यासी भक्त किसी से माँगे बिना एक छोटा सा साधारण कौपीन धारण करे। वह इसे सड़क में पड़े चिथड़ों से प्राप्त कर लेता है। जब वह भूखा हो तो वह किसी उदार वृक्ष के पास जाये जो उसे फल देगा और जब उसे प्यास लगे तो वह बहती नदी से जल पी ले। उसे आरामदेह घर में रहने की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि उसे चाहिए कि पर्वत की गुफा खोज ले और जंगली पशुओं से भयभीत न हो। उसे ईश्वर में विश्वास होना चाहिए, क्योंकि वे सबों के हृदय में वास करनेवाले हैं। भगवान् व्याघ्रों तथा अन्य जंगली जानवरों को आदेश दे सकते हैं कि वे उनके भक्त को विचलित न करें। भगवान् श्री चैतन्य के परम भक्त हरिदास ठाकुर एक ऐसी ही गुफा में रहा करते थे और संयोगवश एक विषधर सर्प भी उसी गुफा में रहता था। ठाकुर हरिदास का कोई प्रशंसक, जो नित्य ही उनको देखने जाता था, सर्प से भयभीत था और उसने यह सलाह दी कि ठाकुर उस स्थान को छोड़ दें। चूँकि उनके भक्त सर्प से भयभीत थे और वे नियमित रूप से उस गुफा में आते थे, अतएव ठाकुर हरिदास ने उनका प्रस्ताव मान लिया। किन्तु ज्योंही ऐसा हुआ तो साँप उस गुफा के बिल से

बाहर निकल आया और सबों की उपस्थिति में उसने उस स्थान को सदा के लिए छोड़ दिया। अपने हृदय में वास करनेवाले भगवान् के आदेश से साँप ने हरिदास को वरीयता प्रदान करते हुए उस स्थान को छोड़ने का और उन्हें विचलित न करने का निश्चय किया। अतएव यह ऐसा ज्वलन्त उदाहरण है, जिससे पता चलता है कि भगवान् किस प्रकार ठाकुर हरिदास जैसे प्रामाणिक भक्त को सुरक्षा प्रदान करते हैं। *सनातन-धर्म* के विधानों के अनुसार, मनुष्य को प्रारम्भ से सभी परस्थितियों में भगवान् की सुरक्षा पर पूरी तरह निर्भर रहना सिखाया जाता है। संन्यास का मार्ग उन्हीं के लिए ग्रहणीय बताया गया, जो पूर्ण रूप से सिद्ध तथा पवित्र हों। *भगवद्गीता* (१६.५) में भी इस अवस्था का वर्णन दैवी-सम्पत् के रूप में हुआ है। मनुष्य को *दैवी सम्पत्* अर्थात् आध्यात्मिक सम्पत्ति संग्रह करने की आवश्यकता है, अन्यथा इसकी वैकल्पिक सम्पत्ति *आसुरी-सम्पत्*, उसे बुरी तरह पराजित कर देगी और उसे बाध्य होकर संसार के विभिन्न कष्टों के बन्धन में पड़ना होगा। संन्यासी को सदा अकेला रहना चाहिए और निर्भीक होना चाहिए। मनुष्य को कभी अकेले रहने से नहीं डरना चाहिए, यद्यपि वह कभी अकेला होता नहीं। भगवान् सबों के हृदय में वास करते हैं और जब तक मनुष्य मान्य विधि द्वारा शुद्ध नहीं हो लेता, तब तक उसे अकेलेपन का अनुभव होता रहेगा। किन्तु संन्यास आश्रम वाले मनुष्य को विधिपूर्वक शुद्ध होना चाहिए, इस तरह उसे सर्वत्र भगवान् की उपस्थिति का अनुभव होगा और उसे किसी का भय नहीं रह जायेगा (भले ही उसके साथ कोई न रहे)। प्रत्येक व्यक्ति निर्भय तथा ईमानदार बन सकता है यदि वह प्रत्येक आश्रम के नियत कर्तव्य का पालन करे। मनुष्य वैदिक आदेशों का श्रद्धापूर्वक श्रवण करके तथा भगवान् की भक्ति द्वारा वैदिक ज्ञान के सार को आत्मसात् करके अपने नियत कर्तव्यों में स्थिर हो सकता है।

एवं स्व-चित्ते स्वत एव सिद्ध
आत्मा प्रियोऽर्थो भगवाननन्तः ।
तं निर्वृतो नियतार्थो भजेत
संसार-हेतूपरमश्च यत्र ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; **स्व-चित्ते**—अपने हृदय में; **स्वतः**—उनकी सर्वशक्तिमत्ता से; **एव**—निश्चय ही; **सिद्धः**—पूरी तरह प्रस्तुत; **आत्मा**—परमात्मा; **प्रियः**—अत्यन्त प्रिय; **अर्थः**—वस्तु; **भगवान्**—भगवान्; **अनन्तः**—नित्य असीम, अनन्त; **तम्**—उसको;

निर्वृतः—संसार से विरक्त होकर; नियत—स्थायी; अर्थः—परम लाभ; भजेत—पूजा करे; संसार-हेतु—संसार की बद्ध अवस्था का कारण; उपरमः—समाप्ति; च—निश्चय ही; यत्र—जिसमें।.

मनुष्य को इस प्रकार स्थिर होकर, उनकी (भगवान की) सर्वशक्तिमत्ता के कारण अपने हृदय में स्थित परमात्मा की सेवा करनी चाहिए। चूँकि वे सर्वशक्तिमान, भगवान् नित्य एवं असीम हैं, अतएव वे जीवन के चरम लक्ष्य हैं और उनकी पूजा करके मनुष्य बद्ध जीवन के कारण को दूर कर सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६१) में पुष्टि की गई है, भगवान् श्रीकृष्ण सर्वव्यापी परमात्मा हैं। अतएव जो योगी है, वह केवल उन्हीं की पूजा कर सकता है, क्योंकि वे कोई भ्रम नहीं, अपितु एक तथ्य हैं। प्रत्येक जीव किसी न किसी की सेवा में लगा हुआ है। जीव की स्वाभाविक स्थिति सेवा करने की है, किन्तु माया के वातावरण में या अस्तित्व की बद्धावस्था में बद्धजीव भ्रम की ही सेवा करने की सोचता है। बद्धजीव अपने नश्वर शरीर, अपने शारीरिक सम्बन्धियों जैसे पत्नी तथा बच्चों एवं शरीर तथा शरीर के सम्बन्धों यथा घर, भूमि, सम्पत्ति, समाज तथा देश के पालन हेतु, आवश्यक वस्तुओं की सेवा करने में, अपने को लगाता है, लेकिन उसे इसका पता नहीं रहता कि यह सारी सेवा नितान्त भ्रामक है। इसके पूर्व हम कई बार बता चुके हैं कि यह भौतिक जगत स्वयं ही भ्रम है—मरुस्थल की मृगमरीचिका के समान है। मरुस्थल में जल का भ्रम होता है और मूर्ख पशु ऐसे भ्रम का शिकार होकर मरुस्थल में पानी के लिए दौड़ लगाते हैं, यद्यपि वहाँ पानी का नाममात्र भी नहीं होता। लेकिन चूँकि मरुस्थल में जल नहीं रहता, अतएव कोई यह निष्कर्ष नहीं निकालता कि वहाँ पर कहीं भी जल नहीं है। बुद्धिमान मनुष्य जानता है कि जल तो है, लेकिन महासागरों में है, किन्तु ऐसे विशाल जलागार मरुस्थल से बहुत दूर होते हैं। अतएव मनुष्य को जल की खोज समुद्र के निकट करनी चाहिए न कि रेगिस्तान में। हममें से प्रत्येक व्यक्ति जीवन के असली सुख अर्थात् नित्य जीवन, नित्य या असीम ज्ञान तथा अमर आनन्दमय जीवन की खोज में लगा हुआ है। किन्तु जिस मूर्ख व्यक्ति को असलियत का ज्ञान नहीं है, वह जीवन के सत्य को भ्रम में ढूँढता है। यह भौतिक शरीर कभी शाश्वत नहीं होता और इस क्षणिक शरीर से सम्बद्ध सारी वस्तुएँ—यथा पत्नी, बच्चे, समाज तथा देश भी, शरीर के बदलने के साथ-साथ बदलते रहते हैं। यही संसार अर्थात् जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि का

पुनरावर्तन कहलाता है। हम जीवन की इन सारी समस्याओं का हल ढूँढ़ना तो चाहते हैं, लेकिन हमें वह रास्ता ज्ञात नहीं है। यहाँ पर यह सुझाव है कि जो भी जीवन के इन क्लेशों—यथा जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के पुनरावर्तन से छुटकारा पाना चाहता है उसे भगवान् की ही पूजा करनी चाहिए, अन्य किसी की नहीं जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६५) में भी सुझाव दिया गया है। यदि हम सचमुच अपने बद्धजीवन का अन्त चाहते हैं, तो हमें भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा करनी चाहिए जो अपने अंश-रूप समस्त जीवों पर सहज स्नेह के कारण प्रत्येक जीव के हृदय में विद्यमान हैं (*भगवद्गीता* १८.६१)। स्वाभाविक है कि माता की गोद का बालक अपनी माता से आसक्त रहे और माता भी बालक से आसक्त रहती है। किन्तु जब बालक बड़ा हो जाता है और परिस्थितियों से घिर जाता है, तो वह क्रमशः माता से विलग होता जाता है, यद्यपि माता चाहती रहती है कि बालक कुछ न कुछ सेवा करे। स्वयं भी वह उस बालक के प्रति समान रूप से वत्सल रहती है, किन्तु बालक का भूलने का स्वभाव होता है। इसी प्रकार चूँकि हम भगवान् के अंश हैं, भगवान् हम पर सदैव वत्सल रहते हैं और चाहते रहते हैं कि हम उनके धाम वापस जाँय। किन्तु हम ऐसे बद्धजीव हैं कि उनकी परवाह नहीं करते और भ्रामक शारीरिक बन्धनों के पीछे दौड़ते रहते हैं। अतएव हमें चाहिए कि संसार के सारे भ्रामक बन्धनों को तोड़ दें और भगवान् की सेवा करके, उनसे पुनः मिलने का प्रयत्न करें, क्योंकि वे ही परम सत्य हैं। वास्तव में हम उनके लिए वैसे ही लालायित रहते हैं जिस तरह बालक माता को ढूँढता रहता है। भगवान् को ढूँढने के लिए हमें कही दूर नहीं जाना है, क्योंकि वे तो हमारे हृदयों में विद्यमान हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम पूजास्थलों पर यथा मन्दिरों, गिरजाघरों तथा मस्जिदों में न जाँय। पूजा के ये पवित्र स्थल भी भगवान् से युक्त होते हैं, क्योंकि भगवान् तो सर्वव्यापी हैं। सामान्य व्यक्ति के लिये ये पवित्र स्थान ईश-विज्ञान सिखने के केन्द्र हैं। जब मन्दिर कर्मशून्य हो जाते हैं, तो लोगों की रुचि ऐसे स्थानों में नहीं रह जाती जिससे सामान्य जनता धीरे-धीरे ईश्वरविहीन हो जाती है और ईश्वरविहीन सभ्यता का उदय होता है। ऐसी नारकीय सभ्यता से जीवन की समस्याओं में कृत्रिम तौर पर बढ़ोत्तरी होती है और लोगों का जीवन दूभर हो जाता है। ऐसी ईश्वरविहीन सभ्यता के मूर्ख कर्णधार भौतिकतावाद के पैटेण्ट ट्रेडमार्क के अन्तर्गत ईश्वरविहीन जगत में शान्ति तथा समृद्धि लाने की

विविध योजनाएँ बनाते हैं। चूँकि ऐसे प्रयास भ्रामक ही होते हैं, अतएव लोग एक-एक करके अयोग्य अंधे नेताओं को चुनते हैं, जो किसी भी तरह का समाधान प्रस्तुत करने में अक्षम रहते हैं। यदि हम ईश्वरविहीन सभ्यता की इस असंगति को दूर करना चाहते हैं, तो हमें *श्रीमद्भागवत* जैसे शास्त्रों के नियमों का पालन करना चाहिए और श्री शुकदेव गोस्वामी जैसे व्यक्ति के आदेश का पालन करना चाहिए जिन्हें भौतिक लाभ का कोई आकर्षण नहीं था।

कस्तां त्वनादृत्य परानुचिन्ता-
मृते पशूनसतीं नाम कुर्यात् ।
पश्यञ्जनं पतितं वैतरण्यां
स्व-कर्मजान् परितापाञ्जुषाणम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

कः—और कौन; ताम्—उसको; तु—लेकिन; अनादृत्य—उपेक्षा करके; पर-अनुचिन्ताम्—दिव्य विचार; ऋते—बिना; पशून्—भौतिकतावादी; असतीम्—क्षण-भंगुर; नाम—नाम को; कुर्यात्—स्वीकार करेगा; पश्यन्—निश्चित रूप से देखते हुए; जनम्—जनता, सामान्यजन; पतितम्—पतित; वैतरण्याम्—दुखों की नदी वैतरणी में; स्व-कर्म-जान्—अपने कर्मों से उत्पन्न; परितापान्—दुखों को; जुषाणम्—आक्रान्त।

निपट भौतिकतावादी के अतिरिक्त कौन ऐसा होगा जो यह देखकर कि जन-सामान्य अपने कर्मों से मिलने वाले फलों के कारण क्लेशों की नदी में गिरे हुए हैं, ऐसे विचार की उपेक्षा करे और केवल क्षणभंगुर नामों को ग्रहण करे?

तात्पर्य : वेदों में कहा गया है कि जो लोग भगवान् को छोड़कर अन्य देवताओं के प्रति आसक्त रहते हैं, वे उन पशुओं के तुल्य हैं, जो ऐसे व्यक्ति का अनुसरण करते रहते हैं, जो उन्हें कसाई घर की ओर ले जा रहा हो। पशुओं की तरह ये भौतिकतावादी भी यह नहीं जानते कि वे परम पुरुष के दिव्य विचार की उपेक्षा के कारण कुमार्ग पर जा रहे हैं। कोई विचारशून्य नहीं रह सकता। कहा गया है कि खाली दिमाग शैतान का घर होता है, क्योंकि जो व्यक्ति सही दिशा में नहीं सोच सकता, वह ऐसे विषय में सोचेगा जिससे विपत्ति आ खड़ी हो। भौतिकतावादी लोग नित्य ही किन्हीं छोटे-मोटे देवताओं की पूजा करते रहते हैं, यद्यपि *भगवद्गीता* (७.२०) में इसकी भर्त्सना की गई है। जब तक मनुष्य भौतिक लाभ के द्वारा मोहग्रस्त होता रहता है, तब तक वह उन-उन देवताओं से किसी न किसी विशेष लाभ की याचना करता रहता है, जो अन्ततोगत्वा भ्रामक तथा क्षणभंगुर होते हैं। किन्तु प्रबुद्ध

अध्यात्मवादी कभी ऐसी भ्रामक वस्तुओं से मोहित नहीं होता। अतएव वह परमेश्वर के साक्षात्कार की विभिन्न अवस्थाओं में—यथा ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के विचार में—लीन रहता है। पिछले श्लोक में यह सुझाया गया है कि मनुष्य को परमात्मा के विषय में चिन्तन करना चाहिए जो ब्रह्म के निराकार विचार से एक पग आगे है, जिस प्रकार कि भगवान् के विराट-रूप के विषय में सुझाया गया था।

बुद्धिमान व्यक्ति उन जीवों की सामान्य दशाओं को ठीक से देख सकते हैं, जो चौरासी लाख योनियों में तथा मनुष्यों की विभिन्न प्रजातियों में भटकते रहते हैं। कहा जाता है कि यमराज के लोक के द्वार पर वैतरणी नामक निरन्तर प्रवाहित रहनेवाली नदी है। यमराज पापियों को विभिन्न प्रकार से दण्ड देते हैं। ऐसी यातना देने के बाद पाप करनेवाले को उसके पूर्व-कर्मों के अनुसार कोई जीव योनि प्रदान की जाती है। यमराज द्वारा दण्डित ऐसे जीव बद्धजीवन की विभिन्न योनियों में देखे जाते हैं। इनमें से कुछ स्वर्ग में रहते हैं, तो कुछ नरक में रहते हैं। इनमें से कुछ ब्राह्मण होते हैं, तो कुछ कंजूस। किन्तु इनमें से कोई भी इस संसार में सुखी नहीं रहता। वे सभी प्रथम, द्वितीय या तृतीय श्रेणी के कैदी बनकर अपने-अपने कर्मों के कारण कष्ट भोगते हैं। भगवान् जीवों के कष्टों की समस्त परिस्थितियों के प्रति निरपेक्ष बने रहते हैं, किन्तु जो उनके चरणकमलों की शरण ग्रहण करते हैं, उन्हें वे समुचित सुरक्षा प्रदान करते हैं और ऐसे जीवों को अपने धाम वापस ले जाते हैं।

केचित् स्व-देहान्तर्हृदयावकाशे
प्रादेश-मात्रं पुरुषं वसन्तम् ।
चतुर्भुजं कञ्ज-रथाङ्ग-शङ्ख--
गदा-धरं धारणया स्मरन्ति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

केचित्—अन्य लोग; स्व-देह-अन्तः—अपने शरीर के भीतर; हृदय-अवकाशे—हृदय-प्रदेश में; प्रादेश-मात्रम्—एक बित्ता (लगभग आठ इंच); पुरुषम्—भगवान् को; वसन्तम्—वास करते हुए; चतुः-भुजम्—चार हाथों वाले; कञ्ज—कमल; रथ-अङ्ग—रथ का चक्र (पहिया); शङ्ख—शंख; गदा-धरम्—तथा हाथ में गदा लिए; धारणया—इस प्रकार की धारणा से; स्मरन्ति—उनका स्मरण करते हैं।

अन्य लोग शरीर के हृदय प्रदेश में वास करनेवाले एवं केवल एक बित्ता परिमाण के, चार हाथोंवाले तथा उनमें से प्रत्येक में क्रमशः कमल, रथ का चक्र, शंख तथा गदा धारण किये हुए भगवान् का ध्यान करते हैं।

तात्पर्य : सर्वव्यापी भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में परमात्मा रूप में वास करते हैं। अन्तर्यामी परमात्मा का परिमाण बीच की अंगुली से अंगूठे तक, अर्थात् एक बित्ता या आठ इंच माना जाता है। इस श्लोक में वर्णित भगवान् का रूप विभिन्न प्रतीकों से युक्त—दाहिने हाथ के निचले भाग से बाएँ हाथ के निचले भाग में क्रमश: कमल, चक्र, शंख तथा गदा धारण किये हुए हैं—जनार्दन कहलाता है, जिसका अर्थ है जन-सामान्य को वश में रखनेवाला भगवान् का अंश। इसी प्रकार कमल, शंख आदि प्रतीकों से युक्त भगवान् के अनेक अन्य रूप हैं और वे पुरुषोत्तम, अच्युत, नरसिंह, त्रिविक्रम, हृषीकेश, केशव, माधव, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण, श्रीधर, वासुदेव, दामोदर, जनार्दन, नारायण, हरि, पद्मनाभ, वामन, मधुसूदन, गोविन्द, कृष्ण, विष्णुमूर्ति, अधोक्षज तथा उपेन्द्र नामों से जाने जाते हैं। अन्तर्यामी भगवान् के ये चौबीस रूप विभिन्न लोकों में पूजे जाते हैं और प्रत्येक लोक में भगवान् का एक अवतार होता है, जिसका परव्योम में एक वैकुण्ठ लोक है, जिसमें भगवान् का अवतार होता है। इनके अतिरिक्त भी भगवान् के सैकड़ों हजारों रूप हैं और इनमें से प्रत्येक का परव्योम में विशिष्ट लोक होता है, जिनमें से यह भौतिक आकाश एक खंडमात्र है। भगवान् पुरुष के रूप में विद्यमान रहते हैं, यद्यपि इस भौतिक जगत के पुरुष से उनकी कोई तुलना नहीं की जा सकती, लेकिन ऐसे सारे रूप एक दूसरे से अभिन्न-अद्वैत होते हैं और इनमें से प्रत्येक रूप नित्य तरुण होता है। चतुर्भुजी तरुण भगवान् सुंदर ढंग से अलंकृत रहते हैं, जैसाकि नीचे वर्णन किया गया है।

प्रसन्न-वक्त्रं नलिनायतेक्षणं
कदम्ब-किञ्जल्क-पिशङ्ग-वाससम् ।
लसन्महा-रत्न-हिरण्मयाङ्गदं
स्फुरन्महा-रत्न-किरीट-कुण्डलम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

प्रसन्न—प्रसन्नता सूचित करता; वक्त्रम्—मुख; नलिन-आयत—कमल की पंखड़ियों के समान फैली; ईक्षणम्—आँखें; कदम्ब—कदम्ब पुष्प; किञ्जल्क—केसर; पिशङ्ग—पीला; वाससम्—वस्त्र; लसत्—लटकता हुआ; महा-रत्न—बहुमूल्य रत्न; हिरण्मय—स्वर्ण निर्मित; अङ्गदम्—आभूषण; स्फुरत्—चमकता; महा-रत्न—मूल्यवान रत्न; किरीट—मुकुट; कुण्डलम्—कान के कुण्डल।

उनका मुख उनकी प्रसन्नता को व्यक्त करता है। उनकी आँखें कमल की पंखड़ियों के समान हैं और उनका वस्त्र कदम्ब पुष्प के केसर के समान पीले रंग का तथा बहुमूल्य रत्नों से जटित है।

उनके सारे आभूषण स्वर्ण से निर्मित तथा रत्नों से जटित हैं। वे चमकीला मुकुट तथा कुण्डल धारण किये हुए हैं।

उन्निद्र-हृत्पङ्कज-कर्णिकालये
योगेश्वरास्थापित-पाद-पल्लवम् ।
श्री-लक्षणं कौस्तुभ-रत्न-कन्धर-
मम्लान-लक्ष्म्या वन-मालयाचितम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

उन्निद्र—खिले हुए; हृत्—हृदय; पङ्कज—कमल का फूल; कर्णिका-आलये—पुष्पगुच्छ की सतह पर; योग-ईश्वर—महान् योगी; आस्थापित—रखा हुआ; पाद-पल्लवम्—चरणकमल; श्री—लक्ष्मी या सुन्दर बछड़ा; लक्षणम्—इस प्रकार के चिह्न से युक्त; कौस्तुभ—कौस्तुभि मणि; रत्न—अन्य रत्न; कन्धरम्—कन्धे पर; अम्लान—ताजा; लक्ष्म्या—सौन्दर्य; वन-मालया—पुष्पहार से; आचितम्—फैला हुआ।

उनके चरण-कमल महान् योगियों के कमल-सद‍ृश हृदयों के गुच्छों के ऊपर रखे हैं। उनके वक्षस्थल पर कौस्तुभ मणि है, जिसमें सुन्दर बछड़ा अंकित है और उनके कंधों पर अनेक रत्न हैं। उनका पूर्ण स्कंध-प्रदेश ताजे फूलों की माला से सज्जित है।

तात्पर्य : भगवान् के दिव्य शरीर के आभूषण पुष्प, वस्त्र तथा अन्य सारे अलंकरण भगवान् के शरीर से अभिन्न हैं। इनमें से कुछ भी भौतिक अवयवों से नहीं बना है, अन्यथा वह भगवान् के शरीर को अलंकृत नहीं कर सकता था। इसी तरह परव्योम में आध्यात्मिक किस्मों को भौतिक विविधता से पृथक् किया जाता है।

विभूषितं मेखलयाङ्गुलीयकै-
र्महा-धनैर्नूपुर-कङ्कणादिभिः ।
स्निग्धामलाकुञ्चित-नील-कुन्तलै-
र्विरोचमानानन-हास-पेशलम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

विभूषितम्—सुसज्जित; मेखलया—करधनी से; अङ्गुलीयकैः—अँगूठियों से; महा-धनैः—अत्यन्त मूल्यवान; नूपुर—पायल; कङ्कण-आदिभिः—कंकण आदि से; स्निग्ध—चिकना; अमल—निष्कलंक; आकुञ्चित—घुँघराले; नील—नीले रंग के; कुन्तलैः—बालों से; विरोचमान—अत्यन्त सुहावना; आनन—मुख; हास—मुस्कान; पेशलम्—सुन्दर।

उनकी कमर अलंकृत करधनी से सुशोभित है और उनकी अंगुलियों में बहुमूल्य रत्नों से जटित अँगूठियाँ हैं। उनके नूपुर, उनके कंकण, उनके घुँघराले नीले रंग के चिकने बाल तथा

उनका सुन्दर मुस्कान-युक्त मुख—ये सभी अत्यन्त लुभावने हैं।

तात्पर्य : भगवान् सर्वाधिक सुन्दर पुरुष हैं। श्रील शुकदेव गोस्वामी उनके अंग-प्रत्यंग के दिव्य सौन्दर्य का वर्णन निर्विशेषवादियों को यह पाठ पढ़ाने के लिए करते हैं कि भगवान् पूजा की सुविधा के लिए भक्त की कोरी कल्पना नहीं हैं, अपितु यथार्थ में और स्वरुप से परम पुरुष हैं। परम सत्य का निराकार स्वरूप उनका विकिरण मात्र है, जिस तरह सूर्य की किरणें सूर्य के विकिरण हैं।

अदीन-लीला-हसितेक्षणोल्लसद्-
भ्रू-भङ्ग-संसूचित-भूर्यनुग्रहम् ।
ईक्षेत चिन्तामयमेनमीश्वरं
यावन्मनो धारणयावतिष्ठते ॥ १२॥

शब्दार्थ

अदीन—अत्यन्त उदार, दैन्यरहित; लीला—लीलाएँ; हसित—हास; ईक्षण—चितवन से; उल्लसत्—चमकता; भ्रू-भङ्ग—भौहों का बाँकपन; संसूचित—सूचित; भूरि—विशाल; अनुग्रहम्—वर, कृपा; ईक्षेत—एकाग्र करे; चिन्तामयम्—दिव्य; एनम्—इस विशेष; ईश्वरम्—परमेश्वर को; यावत्—जब तक; मनः—मन; धारणया—ध्यान से; अवतिष्ठते—स्थिर किया जा सकता है।

भगवान् की भव्य लीलाएँ तथा उनके हास्यमय मुख की उल्लासमयी चितवन उनके व्यापक वरदानों के संकेत हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि जब तक ध्यान द्वारा उसका मन भगवान् पर स्थिर रखा जा सके, तब तक मन को उनके इसी दिव्य रूप में एकाग्र करे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१२.५) में कहा गया है कि निर्विशेषवादी अपने निराकार ध्यान के कारण अनेक कठिनाइयों से गुजरता है। लेकिन भगवान् की साकार सेवा के कारण भक्त सरलता से प्रगति करता रहता है। अतएव निराकार ध्यान निर्विशेषवादी के लिए कष्ट का कारण है। यहाँ पर भक्त को निर्विशेषवादी चिन्तक की तुलना में एक लाभ है। निर्विशेषवादी भगवान् के साकार रूप के विषय में संशय-युक्त रहता है, अतएव वह सदैव ऐसी वस्तु का ध्यान करने का प्रयास करता है, जो साकार नहीं है। इसी कारण से *भागवत* में भगवान् के यथार्थ स्वरूप पर ध्यान एकाग्र करने के लिए, प्रामाणिक वक्तव्य दिया गया है।

यहाँ पर ध्यान की जिस विधि का अनुमोदन किया गया है, वह *भक्तियोग* अर्थात् भौतिक अवस्थाओं से मुक्त होने के बाद की भक्ति विधि है। ज्ञानयोग भौतिक अवस्थाओं से मुक्ति की विधि है। संसार की अवस्थाओं से मुक्त हो लेने के बाद अर्थात् निवृत्त होने पर, जैसाकि पहले कहा जा चुका

है या जब कोई समस्त भौतिक आवश्यकताओं से मुक्त हो जाता है, तो वह भक्तियोग विधि को सम्पन्न करने के योग्य बन जाता है। अतएव भक्तियोग में ज्ञानयोग निहित है, अथवा दूसरे शब्दों में शुद्धभक्ति की विधि एकसाथ ज्ञानयोग का भी काम करती है; शुद्ध भक्ति के क्रमिक विकास से भौतिक दशाओं से स्वत: मुक्ति प्राप्त हो जाती है। भक्तियोग के ये प्रभाव *अनर्थ-निवृत्ति* कहलाते हैं। भक्तियोग की प्रगति के साथ-साथ कृत्रिम रूप से अर्जित की गई वस्तुएँ क्रमश: लुप्त होती जाती हैं। भगवान् के चरणकमलों का ध्यान, जो प्रथम सोपान के रूप में है, *अनर्थ-निवृत्ति* के द्वारा अपना प्रभाव दिखायेगा। अनर्थ का सबसे स्थूल प्रकार, जो बद्धजीव को जगत से बाँधता है, वह कामवासना है और यह कामवासना धीरे-धीरे विकसित होकर नर तथा नारी का मेल कराती है। नर-नारी का मिलाप हो जाने पर घर, बच्चे, मित्र, सम्बन्धी तथा सम्पत्ति के जुट जाने से कामवासना और अधिक बढ़ती है। जब इन सबकी प्राप्ति हो जाती है, तो बद्धजीव इन सारे बन्धनों से अभिभूत हो उठता है और मिथ्या अंहकार भाव, या ''मैं'' और ''मेरा'' का भाव प्रधान बन जाता है और कामवासना विविध राजनीतिक, सामाजिक, परोपकारी तथा अन्य अवांछित कार्यकलापों में विस्तारित हो जाती है मानो समुद्री लहरों पर तैरता फेन हो जो कभी तो स्पष्ट दिखता है, किन्तु दूसरे ही क्षण उसी तरह लुप्त हो जाता है, जिस प्रकार आकाश से बादल लुप्त हो जाते हैं। बद्धजीव ऐसी वस्तुओं से तथा कामवासना की वस्तुओं से घिरा रहता है, किन्तु भक्तियोग से कामवासना धीरे-धीरे छूमन्तर हो जाती है, जिसका सारांश लाभ, पूजन तथा ख्याति इन तीन शीर्षकों से दिया गया है। सारे बद्धजीव कामवासना के इन विविध रूपों के पीछे पागल बने रहते हैं और मनुष्य यह स्वयं देख सकता है कि कामवासना पर आधारित ऐसी भौतिक लालसाओं से वह किस हद तक मुक्त हुआ है। जिस प्रकार भोजन के हर कौर खाने से मनुष्य की भूख बुझती जाती है, उसी तरह उसे पता चल सकेगा कि वह कामवासना से किस हद तक मुक्त हुआ है। भक्तियोग की प्रक्रिया से यह कामवासना अपने विविध रूपों सहित घटती जाती है, क्योंकि भक्तियोग से भगवत्कृपा से स्वत: ज्ञान तथा वैराग्य उत्पन्न होता है, भले ही भक्त भौतिक दृष्टि से ठीक से शिक्षित न हो। ज्ञान का अर्थ है वस्तुओं को उनके उसी रूप में जानना और यदि विचार-विमर्श से यह ज्ञात हो जाय कि कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं, जो सर्वथा अनावश्यक हैं, तो यह स्वाभाविक है कि जिसने

ज्ञान अर्जित किया है, वह ऐसी अवांछित वस्तुओं को छोड़ देगा। जब बद्धजीव ज्ञान के अनुशीलन द्वारा यह देखता है कि भौतिक आवश्यकताएँ अवांछित हैं, तो वह उनसे अपना नाता तोड़ लेता है। ज्ञान की यह अवस्था वैराग्य अर्थात् अवांछित वस्तुओं से विरक्ति कहलाती है। हम इससे पूर्व बता चुके हैं कि अध्यात्मवादी को स्वावलम्बी होना चाहिए और उसे अपने जीवन की नैत्यिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धनी अन्धे पुरुषों से भीख नहीं माँगनी चाहिए। शुकदेव गोस्वामी ने जीवन की ऐसी आवश्यकताओं यथा खाने, सोने तथा रहने की समस्याओं के लिए विकल्प सुझाये हैं, लेकिन उन्होंने कामवासना की तुष्टि के लिए कोई विकल्प नहीं सुझाया। जिसके अन्त:करण में कामवासना तब भी आन्दोलित हो रही हो, उसे संन्यास आश्रम नहीं ग्रहण करना चाहिए। जिसने यह अवस्था नहीं प्राप्त की है, उसके लिए संन्यास आश्रम ग्रहण करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार सही गुरु के मार्गदर्शन में क्रमिक भक्तियोग द्वारा तथा *भागवत* के सिद्धान्तों के अनुसरण द्वारा मनुष्य संन्यास आश्रम ग्रहण करने के पूर्व कम से कम स्थूल काम-वासना को तो वश में कर सकेगा।

इस तरह शुद्धि (परिष्कार) का अर्थ है क्रमश: कामवासना से मुक्त होना और इसकी प्राप्ति यहाँ पर वर्णित विधि द्वारा—भगवान् के चरणों से प्रारम्भ करके उनके ध्यान द्वारा—की जा सकती है। मनुष्य को चाहिए कि पहले वह स्वयं यह देख ले कि कामवासना से वह कितना मुक्त हुआ है, तभी ऊपर उठने (भगवान् के ऊपरी अंगों पर ध्यान) का प्रयत्न करे। *श्रीमद्भागवत* का दशम स्कन्ध भगवान् का हास्यमय मुखमंडल है। ऐसे अनेक नवसिखिये हैं, जो तुरन्त ही दशम स्कन्ध से अध्ययन प्रारम्भ करने लगते हैं और उसमें भी विशेष रूप से वे पाँच अध्याय जिनमें भगवान् की रासलीला का वर्णन है। यह निश्चय ही अनुचित है। *भागवत* के ऐसे अनुचित अध्ययन या श्रवण से भौतिक अवसरवादियों ने *भागवत* के नाम पर विषयी जीवन में लिप्त होकर ऊधम मचा रखा है। *भागवत* को इस तरह लांछित करने का कार्य तथाकथित भक्तों के कार्यों से सम्पन्न हुआ है। इसके पूर्व कि कोई भागवत-वाचन का प्रदर्शन करे, उसे समस्त प्रकार की कामवासनाओं से मुक्त होना चाहिए। श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने शुद्धि का अर्थ कामविषयों में निर्लिप्त होना बताया है। वे कहते हैं—*यथा यथा धीश्च शुध्यति विषयलाम्पट्यं त्यजति, तथा तथा धारयेदिति चित्तशुद्धितारतम्येनैव ध्यानतारतम्यमुक्तम्* और ज्योंही कोई

बुद्धि के परिष्कार से कामलिप्सा के नशे से मुक्त हो जाता है तब उसे आगे बढ़कर ध्यान करना चाहिए। अर्थात् दूसरे शब्दों में, भगवान् के दिव्य शरीर के विभिन्न अंगों के ध्यान को हृदय की शुद्धि के अनुपात से बढ़ाना चाहिए। निष्कर्ष यह निकला कि जो लोग अब भी कामवासना में अनुरक्त होकर फँसे हुए हैं, उन्हें कभी भगवान् के चरणों के ऊपर के अंगों पर ध्यान नहीं करना चाहिए, अतएव उन्हें अपने आपको *श्रीमद्भागवत* के प्रथम दो स्कन्धों का ही पाठ करने तक सीमित कर लेना चाहिए। मनुष्य को पहले प्रथम नौ स्कन्धों की विषयवस्तु को आत्मसात् करके शुद्धि की प्रक्रिया पूरी करनी चाहिए। तब उसे *श्रीमद्भागवत* के दशम स्कन्ध में प्रवेश की अनुमति दी जानी चाहिए।

एकैकशोऽङ्गानि धियानुभावयेत्
पादादि यावद्धसितं गदाभृतः ।
जितं जितं स्थानमपोह्य धारयेत्
परं परं शुद्ध्यति धीर्यथा यथा ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

एक-एकशः—एक-एक करके, या एक के पश्चात् दूसरा; अङ्गानि—अंगों को; धिया—ध्यान से; अनुभावयेत्—ध्यान करे; पाद-आदि—पाँव इत्यादि; यावत्—जब तक; हसितम्—मुसकान; गदा-भृतः—भगवान्; जितम् जितम्—धीरे-धीरे मन को नियन्त्रित करते हुए; स्थानम्—स्थान को; अपोह्य—छोड़ कर; धारयेत्—ध्यान करे; परम् परम्—उच्च से उच्चतर; शुद्ध्यति—शुद्ध होती है; धीः—बुद्धि; यथा यथा—जितनी।

ध्यान की प्रक्रिया भगवान् के चरण-कमलों से प्रारंभ करते हुए उसे उनके हँसते मुखमंडल तक ले आये। इस तरह पहले ध्यान को चरण-कमलों पर एकाग्र करे, फिर पिंडलियों पर, तब जाँघों पर और क्रमश : ऊपर की ओर उठता जाये। मन जितना ही एक-एक करके भगवान् के विभिन्न अंगों पर स्थिर होगा, बुद्धि उतनी ही अधिक परिष्कृत होगी।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में ध्यान की जिस विधि की संस्तुति की गई है, वह किसी विशेष वस्तु या शून्य पर मन को स्थिर करने की नहीं है। ध्यान को तो भगवान् पर एकाग्र करना चाहिए, चाहे वह उनका विराट-रूप अर्थात् विराट विश्व-रुप हो या शास्त्रों में वर्णित उनका सच्चिदानन्द विग्रह रूप। विष्णु रूपों के प्रामाणिक विवरण प्राप्त हैं और मन्दिरों में अर्चा-विग्रह के प्रामाणिक प्रतिरूप हैं। इस प्रकार मनुष्य अर्चा-विग्रह का ध्यान करना प्रारम्भ कर सकता है, जिसमें उसे अपने मन को भगवान् के चरणकमलों पर एकाग्र करते हुए क्रमशः ऊपर-ऊपर उठते हुए उनके मुसकाते मुख तक आना चाहिए।

भागवत–विचारधारा के अनुसार भगवान् का रासनृत्य भगवान् का मुसकाता मुखमंडल है। चूँकि इस श्लोक में संस्तुति की गई है कि मनुष्य भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करता हुआ, मुसकाते मुखमंडल तक क्रमश: ऊपर उठे, अतएव हमें चाहिए कि रासनृत्य में भगवान् की लीलाएँ समझने के लिए हम छलाँग न लगायें। श्रेयस्कर यही होगा कि हम भगवान् के चरणकमलों पर पुष्प तथा तुलसी–दल अर्पित करके अपने ध्यान को एकाग्र करने का अभ्यास करें। इस प्रकार धीरे–धीरे हम अर्चना–विधि से शुद्ध हो जाते हैं। हम भगवान् को वस्त्र पहनाते हैं, उन्हें नहलाते हैं, इत्यादि–इत्यादि, जो सारे के सारे दिव्य कार्यकलाप होते हैं। ये हमें जीवन को शुद्ध बनाने में सहायक होते हैं। जब हम शुद्धि के उच्चतर स्तर तक पहुँच जाते हैं और यदि हम भगवान् का मुसकाता मुखमंडल देखते हैं या भगवान् की रासलीला का श्रवण करते हैं, तो हम उनके कार्यकलापों का रसास्वाद कर सकते हैं। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* में रासलीला को दशम स्कन्ध में उद्धृत किया गया है (अध्याय २९–३४)।

मनुष्य भगवान् के दिव्य रूप पर चित्त को जितना ही एकाग्र करता है, चाहे वह चरणकमलों पर हो या पिंडलियों या जंघाओं अथवा वक्ष–स्थल पर, वह उतना ही शुद्ध होता जाता है। इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि, ''बुद्धि उतनी ही अधिक परिष्कृत होगी'' जिसका अर्थ है कि मनुष्य इन्द्रियतृप्ति से जितना ही विरक्त होता जाता है बुद्धि उतनी ही अधिक परिष्कृत होगी। वर्तमान बद्ध अवस्था में हमारी बुद्धि अशुद्ध है, क्योंकि वह इन्द्रियतृप्ति में व्यस्त लगी हुई रहती है। भगवान् के दिव्य रूप का ध्यान करने का फल मनुष्य की इन्द्रियतृप्ति से विरक्ति द्वारा प्रकट होगा, अतएव ध्यान का चरम उद्देश्य अपनी बुद्धि की शुद्धि (परिष्कार) है।

वे लोग, जो इन्द्रियतृप्ति में अत्यधिक लोग रहते हैं, उन्हें अर्चना में सम्मिलित होने या राधा–कृष्ण के दिव्य स्वरूप या विष्णु अर्चा–विग्रहों का स्पर्श करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। उनके लिए यह श्रेयस्कर होगा कि वे भगवान् के विराट–रूप का ध्यान धरें, जैसाकि अगले श्लोक में कहा गया है। अतएव निर्विशेषवादियों तथा शून्यवादियों को सलाह दी जाती है कि वे भगवान् के विराट–रूप का ध्यान धरें, किन्तु भक्तों को मन्दिर में अर्चा–विग्रह का ध्यान करने की संस्तुति की जाती है। चूँकि निर्विशेषवादी तथा शून्यवादी अपने आध्यात्मिक कार्य–कलापों में पर्याप्त शुद्ध नहीं होते, अतएव

अर्चना की विधि उनके निमित्त नहीं है।

यावन्न जायेत परावरेऽस्मिन्
विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्ति-योगः ।
तावत् स्थवीयः पुरुषस्य रूपं
क्रियावसाने प्रयतः स्मरेत ॥ १४॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; न—नहीं; जायेत—विकसित होता है; पर—दिव्य; अवरे—संसारी; अस्मिन्—इस रूप में; विश्व-ईश्वरे—समस्त जगतों के स्वामी; द्रष्टरि—देखनेवाले को; भक्ति-योगः—भक्तिमयी सेवा, भक्ति; तावत्—तब तक; स्थवीयः—स्थूल भौतिकतावादी; पुरुषस्य—विराट पुरुष का; रूपम्—विश्वरूप; क्रिया-अवसाने—अपने कर्तव्यों के पूरा होने पर; प्रयतः—सावधानीपूर्वक; स्मरेत—स्मरण करे।

जब तक स्थूल भौतिकतावादी व्यक्ति दिव्य तथा भौतिक दोनों ही जगतों के द्रष्टा परमेश्वर की प्रेमाभक्ति विकसित न कर ले, तब तक उसे अपने कर्तव्यों को पूरा कर लेने के बाद भगवान् के विराट रूप का स्मरण या ध्यान करना चाहिए।

तात्पर्य : परमेश्वर सभी जगतों के द्रष्टा हैं, चाहे भौतिक जगत हो या आध्यात्मिक। दूसरे शब्दों में, परमेश्वर सभी जगतों के परम भोक्ता हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* (५.२९) में पुष्टि हुई है। आध्यात्मिक जगत उनकी अन्तरंगा शक्ति का प्राकट्य है, जबकि भौतिक जगत उनकी बहिरंगा शक्ति का। सारे जीव भी उनकी तटस्था शक्ति हैं और वे अपनी रुचि के अनुसार भौतिक जगत या आध्यात्मिक जगत में रह सकते हैं। यह भौतिक जगत जीवात्माओं के लिए उपयुक्त वासस्थान नहीं है, क्योंकि सारे जीव आध्यात्मिक दृष्टि से भगवान् से अभिन्न हैं, किन्तु भौतिक जगत में सारे जीव भौतिक जगत के नियमों के द्वारा बद्ध हो जाते हैं। चूँकि सारे जीव उनके अंश-रूप हैं, अतः भगवान् चाहते हैं कि वे सभी उनके साथ आध्यात्मिक जगत में रहें। भौतिक जगत में जीवों को प्रबुद्ध करने के लिए सारे वेद तथा शास्त्र उपलब्ध हैं जिनके द्वारा उन्हें विशेष रूप से भगवद्धाम वापस बुलाया जा सकता है। दुर्भाग्यवश, जीव बद्धजीवन के तीन प्रकार के कष्टों को सहता हुआ भी भगवद्धाम जाने के प्रति बहुत गंभीर नहीं रहता। यह उसकी पथभ्रष्ट जीवन-शैली के कारण है, जो पापों तथा पुण्यों के कारण जटिल बन गई है। जीवों में से कुछ जीव, जो पुण्य कर्म करते हैं, भगवान् के साथ अपने भूले हुए सम्बन्ध को पुनःस्थापित करना आरम्भ करते हैं, किन्तु वे भगवान् के साकार रूप को नहीं समझ पाते। जीवन का असली उद्देश्य

भगवान् के साथ सम्पर्क स्थापित करना और उनकी सेवा में लग जाना है। यही जीवों की स्वाभाविक स्थिति है। किन्तु जो निर्विशेषवादी हैं और भगवान् की प्रेमाभक्ति कर पाने में असमर्थ रहते हैं, उन्हें भगवान् के निराकार रूप या विराट–रूप का ध्यान करने की सलाह दी गई है। यदि मनुष्य तनिक भी चाहता है कि जीवन का वास्तविक सुख प्राप्त हो तथा उसे बंधनहीन सहज अवस्था प्राप्त हो, तो उसे चाहिए कि जिस तरह से भी हो सके भगवान् के साथ अपने विस्मृत सम्बन्धों को पुन:स्थापित करने का प्रयत्न करे। कम बुद्धिमान नौसिखियों द्वारा निर्विशेष स्वरूप या विराट स्वरूप का ध्यान क्रमश: उन्हें साकार स्वरूप के सम्पर्क में आने के योग्य बना देगा। यहाँ पर मनुष्य को पिछले अध्यायों में वर्णित विराट–रूप का ध्यान करने की सलाह दी गई है, जिससे वह समझ सके कि किस तरह विभिन्न लोक, समुद्र, पर्वत, नदियाँ, पक्षी, पशु, मनुष्य, देवता तथा अन्य जो कुछ सोचा जा सकता है, भगवान् के विराट रूप के ही अंग–प्रत्यंग हैं। इस प्रकार का चिन्तन भी एक प्रकार से परम सत्य का ध्यान ही है। ज्योंही ऐसा ध्यान प्रारम्भ हो जाता है, मनुष्य में दैवी गुण आ जाते हैं और सारा संसार समस्त लोगों के लिए एक सुखमय तथा शान्तिमय आवास लगने लगता है। ईश्वर के ऐसे निराकार या साकार रूप के ध्यान के बिना मनुष्य के सारे सद्‌गुण उसकी अपनी स्वाभाविक स्थिति के विषय में भ्रान्तियों से ढके रहते हैं और ऐसे उच्च ज्ञान के बिना सारा संसार मनुष्य के लिए नरक बन जाता है।

स्थिरं सुखं चासनमास्थितो यति-
र्यदा जिहासुरिममङ्ग लोकम् ।
काले च देशे च मनो न सज्जयेत्
प्राणान् नियच्छेन्मनसा जितासु: ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

स्थिरम्—स्थिर; सुखम्—आरामदेह; च—भी; आसनम्—बैठने का आसन; आस्थित:—स्थित होकर; यति:—साधु; यदा—जब भी; जिहासु:—त्यागना चाहता है; इमम्—इसे; अङ्ग—हे राजा; लोकम्—शरीर को; काले—समय में; च—तथा; देशे—उचित स्थान में; च—भी; मन:—मन; न—नहीं; सज्जयेत्—उद्विग्न न हो; प्राणान्—प्राणों को; नियच्छेत्—वश में करे; मनसा—मन से; जित-असु:—प्राणवायु को जीतकर।

हे राजन्, जब भी योगी इस मानव लोक को छोड़ने की इच्छा करे तो वह उचित काल या स्थान की तनिक भी इच्छा न करते हुए, सुविधापूर्वक अविचल भाव से आसन लगा ले और प्राणवायु को नियमित करके मन द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में करे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (८.१४) में स्पष्ट कहा गया है कि जो व्यक्ति भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में पूर्णत: निरत रहता है और जो पग-पग पर उन्हीं का निरन्तर स्मरण करता है, वह भगवान् का साक्षात् सान्निध्य प्राप्त करके, आसानी से उन की दया प्राप्त करता है। ऐसे भक्तों को वर्तमान शरीर-त्याग के लिए उपयुक्त समय ढूँढने की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु जो मिश्रित भक्त हैं और सकाम कर्म या ज्ञान को मिलाए हुए हैं, उन्हें इस शरीर का त्याग करने के लिए *उपयुक्त क्षण की अपेक्षा रहती* है। उनके लिए ऐसे उपयुक्त क्षणों का उल्लेख *भगवद्गीता* (८.२३-२६) में हुआ है। लेकिन ये उपयुक्त क्षण उतने महत्त्वपूर्ण नहीं होते, जितना कि मनुष्य का ऐसा सफल योगी होना जो इच्छानुसार शरीर का त्याग कर सके। ऐसे योगी को मन द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में करने में सक्षम होना चाहिए। मन को सहज भाव से भगवान् के चरणकमलों में लगाकर सरलता से जीता जा सकता है। ऐसी सेवा से क्रमश: सारी इन्द्रियाँ स्वत: भगवान् की सेवा में लग जाती हैं। परम सत्य से तदाकार होने का यही मार्ग है।

मन: स्व-बुद्ध्यामलया नियम्य
क्षेत्र-ज्ञ एतां निनयेत् तमात्मनि ।
आत्मानमात्मन्यवरुध्य धीरो
लब्धोपशान्तिर्विरमेत कृत्यात् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

मन:—मन को; स्व-बुद्ध्या—अपनी बुद्धि से; अमलया—विशुद्ध; नियम्य—नियमित करके; क्षेत्र-ज्ञे—जीव को; एताम्—ये सब; निनयेत्—विलीन करे; तम्—उसको; आत्मनि—आत्मा में; आत्मानम्—आत्मा को; आत्मनि—परम आत्मा में; अवरुध्य—बँधकर; धीर:—पूर्ण रूप से तुष्ट; लब्ध-उपशान्ति:—जिसने पूर्ण आनन्द प्राप्त कर लिया है; विरमेत—विराम लेता है; कृत्यात्—अन्य कृत्यों से।

तत्पश्चात् योगी को चाहिए कि वह अपनी विशुद्ध बुद्धि के द्वारा अपने मन को जीवात्मा में तदाकार करे और फिर जीवात्मा को परम आत्मा में विलीन कर दे। ऐसा करने के बाद, पूर्णतया तुष्ट जीव, तुष्टि की चरमावस्था को प्राप्त होता है, जिससे वह अन्य सारे कार्यकलाप बन्द कर देता है।

तात्पर्य : मन के कार्य हैं—सोचना, अनुभव करना और इच्छा करना। जब मन भौतिकतावादी होता है या भौतिक संसर्ग में लीन रहता है, तो वह ज्ञान की भौतिक उन्नति के लिए कार्य करता है, जिसकी

चरम परिणति नाभिकीय अस्त्रों की खोज में होती है। किन्तु जब मन आध्यात्मिक संवेग के अन्तर्गत कार्य करता है, तो वह जीवन में पूर्ण आनन्द तथा नित्यता के लिए अपने घर अर्थात् भगवद्धाम वापस जाने के लिए आश्चर्यजनक ढंग से काम करता है। अतएव मन को उत्तम तथा विशुद्ध बुद्धि के द्वारा सुनियोजित किया जाना चाहिए। परि–पूर्ण बुद्धि भगवान् की सेवा करने के निमित्त होती है। मनुष्य को इतना तो समझ ही लेना चाहिए कि जीव समस्त परिस्थितियों में परिस्थितियों का दास है। प्रत्येक जीव इच्छा, क्रोध, वासना, भ्रम, पागलपन तथा ईर्ष्या के आदेशों के अनुसार सेवा करता है और ये सब की सब भौतिकता से प्रभावित हैं। किन्तु इन समस्त संवेगों के आदेशों का पालन करने हेतु वह निरन्तर दुखी रहता है। जब वह वास्तव में इसका अनुभव करता है और सही स्रोतों से इसकी खोज करने के लिए अपनी बुद्धि दौड़ाता है, तो उसे भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति का पता लगता है। तब बुद्धि शरीर के उपर्युक्त रसों की भौतिकता की दृष्टि से सेवा न करके, भौतिकतावादी मनोवृत्ति के दुखद भ्रम से मुक्त हो जाती है और इस प्रकार मन विशुद्ध बुद्धि से भगवान् की सेवा में लग जाता है। भगवान् एवं उनकी सेवा, परम धरातल पर होने के कारण अभिन्न हैं। अतएव अमिश्रित बुद्धि तथा मन भगवान् में तदाकार हो जाते हैं और इस तरह जीव मात्र दृष्टा नहीं रह जाता, अपितु भगवान् के दिव्यगुण द्वारा दृश्य हो उठता है; जब जीव भगवान् द्वारा प्रत्यक्षत: देख लिया जाता है, तो वे अपनी इच्छानुसार जीव को आदेशित करते हैं और जब जीव उनके आदेशों का पूर्णत: पालन करने लगता है, तो जीव अपनी भ्रामक तुष्टि के लिए अन्य कार्य करना बन्द कर देता है। जीव अपनी शुद्ध अवस्था में पूर्ण आनन्द की *उपलब्धि*—लब्धोपशान्ति—करता है और समस्त भौतिक लालसाओं से निवृत्त हो जाता है।

न यत्र कालोऽनिमिषां पर: प्रभु:
कुतो नु देवा जगतां य ईशिरे ।
न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च
न वै विकारो न महान् प्रधानम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यत्र—जहाँ; काल:—विनाशकारी काल; अनिमिषाम्—देवताओं का; पर:—श्रेष्ठ; प्रभु:—नियन्ता; कुत:—कहाँ है; नु—निश्चय ही; देवा:—देवता; जगताम्—संसारी प्राणी; ये—जो; ईशिरे—नियम; न—नहीं; यत्र—जहाँ; सत्त्वम्—संसारी अच्छाई, सतोगुण; न—न तो; रज:—संसारी काम; तम:—संसारी अज्ञान, तमोगुण; च—भी; न—न तो; वै—निश्चय ही; विकार:—रूपान्तर; न—न तो; महान्—भौतिक कारणार्णव; प्रधानम्—भौतिक प्रकृति।

उस लब्धोपशान्ति की दिव्य अवस्था में विनाशकारी काल की श्रेष्ठता नहीं रह पाती, जो उन देवी-देवताओं का भी नियामक है, जिन्हें संसारी प्राणियों के ऊपर शासन करने की शक्ति प्राप्त है। (तो फिर स्वयं देवताओं के विषय में क्या कहा जाये?)। इस अवस्था में न तो सतोगुण, रजोगुण या तमोगुण रहते हैं, न ही मिथ्या अहंकार, भौतिक कारणार्णव अथवा न भौतिक प्रकृति ही रह पाती है।

तात्पर्य : विनाशकारी काल, जो भूत, वर्तमान तथा भविष्य के रूप में, स्वर्गस्थ देवताओं को भी नियन्त्रित करता है, आध्यात्मिक धरातल पर अपना प्रभाव नहीं दिखा पाता। काल का प्रभाव जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के रूप में प्रकट होता है और ये चारों नियम भौतिक ब्रह्माण्ड के किसी भी भाग में, ब्रह्मलोक तक जहाँ लोगों की आयु अत्यधिक है, सर्वत्र पाये जाते हैं, । दुर्जेय काल ब्रह्मा तक की मृत्यु का कारण बनता है, तो इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, वायु तथा वरुण जैसे अन्य देवताओं के विषय में क्या कहा जाये? विभिन्न देवताओं द्वारा संसारी प्राणियों पर निक्षिप्त ज्योतिष-प्रभाव भी स्पष्ट रुप से अनुपस्थित रहता है। भौतक जगत में सारे जीव शैतान से भयभीत रहते हैं, किन्तु दिव्य पद पर स्थित भक्त को ऐसा भय नहीं रहता। सारे जीव प्राकृतिक विभिन्न गुणों के प्रभाव से विभिन्न रूपों तथा आकारों से अपने-अपने भौतिक शरीर बदलते रहते हैं, लेकिन दिव्य स्थिति में भक्त गुणातीत अर्थात् सतो, रजो तथा तमो गुणों से परे होता है। इस प्रकार ''मैं जहाँ तक जा सकता हूँ, उसका स्वामी हूँ'' यह मिथ्या अहंकार वहाँ नहीं उठ पाता। भौतिक जगत में प्रकृति के ऊपर प्रभुता दिखाने का मिथ्या अहंकार प्रज्ज्वलित अग्नि में पतंगों के गिरने के समान है। पतंगा अग्नि के दीप्तिमान सौन्दर्य पर मोहित होता है, किन्तु जब वह इसका भोग करने चलता है, तो अग्नि उसे जलाकर राख कर देती है। दिव्य स्थिति में जीव की चेतना शुद्ध रहती है, अतएव प्रकृति पर प्रभुता जताने का उसमें मिथ्या अहंकार नहीं रहता प्रत्युत उसकी शुद्ध चेतना उसे परमेश्वर की शरण में जाने के लिए निर्देशित करती है, जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है—*वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।* इससे संकेत मिलता है कि दिव्य स्थिति में न तो भौतिक सृष्टि रहती है, न ही भौतिक प्रकृति के लिए कारणार्णव रहता है।

उपर्युक्त परिस्थिति दिव्य धरातल पर वास्तविक है। किन्तु यह योगी की शुद्ध चेतना की उच्च

अवस्था में प्रकट होती है। ऐसे योगी दो प्रकार के होते हैं—निर्विशेषवादी तथा भक्त। निर्विशेषवादियों का चरम लक्ष्य रहता है परव्योम की ब्रह्मज्योति, किन्तु भक्तों का लक्ष्य वैकुण्ठ लोक रहता है। भक्तों को उपर्युक्त स्थिति का अनुभव भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति के लिए सक्रिय होने हेतु दिव्य रूप पा कर होता है। लेकिन निर्विशेषवादी भगवान् की संगति की उपेक्षा करने के कारण आध्यात्मिक सक्रियता के लिए आध्यात्मिक शरीर विकसित नहीं कर पाता, अपितु भगवान् की ब्रह्मज्योति में आध्यात्मिक स्फुलिंग के रूप में विलीन हो जाता है। भगवान् पूर्णत: सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं, जबकि निर्विशेष ब्रह्मज्योति केवल सत् तथा चित् है। वैकुण्ठ लोक भी सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं, अतएव भगवान् के वे भक्त भी, जो भगवान् के धाम में प्रवेश पाते हैं, सच्चिदानन्द-स्वरूप प्राप्त करते हैं। इस तरह उनमें परस्पर कोई अन्तर नहीं रहता। भगवान् के धाम, नाम, यश, पार्षद आदि एक ही दिव्य गुण वाले हैं और यह दिव्य गुण भौतिक जगत से किस प्रकार भिन्न होता है, इसकी व्याख्या इस श्लोक में की गई है। *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण ने तीन प्रमुख विषयों—कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग—का वर्णन किया है, किन्तु इनमें से केवल भक्तियोग द्वारा ही मनुष्य वैकुण्ठ लोक पहुँच सकता है। अन्य दो विषय वैकुण्ठ लोक पहुँचाने में अक्षम रहते हैं, भले ही वे ब्रह्मज्योति तक सुगमता से पहुँचा दें जैसाकि ऊपर वर्णन किया गया है।

परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्
यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः ।
विसृज्य दौरात्म्यमनन्य-सौहृदा
हृदोपगुह्यार्ह-पदं पदे पदे ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

परम्—परम; पदम्—पद; वैष्णवम्—भगवान् के साथ; आमनन्ति—वे जानते हैं; तत्—वह; यत्—जो; न इति—यह नहीं; न इति—यह नहीं; इति—इस प्रकार; अतत्—ईश्वर-विहीन; उत्सिसृक्षवः—जो बचना चाहते हैं; विसृज्य—पूर्ण रूप से त्याग कर; दौरात्म्यम्—जटिलताएँ; अनन्य—पूर्णतया; सौहृदाः—उत्तम अभिलाषा से; हृदा उपगुह्य—हृदय में धारण करके; अर्ह—एकमात्र पूज्य; पदम्—चरणकमल; पदे पदे—क्षण-क्षण में।

योगीजन ईश्वर-विहीन प्रत्येक वस्तु से बचना चाहते हैं, क्योंकि उन्हें उस परम स्थिति का पता है, जिसमें प्रत्येक वस्तु भगवान् विष्णु से सम्बन्धित है। अतएव वह शुद्ध भक्त, जो कि भगवान् से पूर्ण ऐक्य रखता है, जटिलताएँ उत्पन्न नहीं करता, अपितु भगवान् के चरण-कमलों

को हृदय में धारण करके उनकी प्रत्येक क्षण पूजा करता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में *मद्धाम* (मेरा धाम) का कई बार उल्लेख आया है और भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार परव्योम असीम है, जिसमें स्थित लोक वैकुण्ठ या भगवान् के धाम कहलाते हैं। उस व्योम में जो भौतिक व्योम से तथा इसके सात आवरणों से बहुत ही दूरी पर है, वहाँ न तो सूर्य या चाँद की आवश्यकता है, न ही प्रकाश के लिए बिजली की, क्योंकि ये लोक स्वयं प्रकाशित हैं और भौतिक सूर्यों से अधिक चमकीले हैं। सारे भगवद्भक्त भगवान् के घनिष्ठ सम्पर्क में रहते हैं अथवा दूसरे शब्दों में, वे भगवान् को अपना एकमात्र विश्वस्त मित्र तथा सुहृद मानते हैं। वे ब्रह्माण्ड के स्वामी ब्रह्मा समेत सारे संसारी प्राणियों की कोई परवाह नहीं करते। केवल उन्हें ही सारे वैकुण्ठ लोक स्पष्ट दिखते हैं। ऐसे शुद्ध भक्त परमेश्वर के निर्देशन में रहकर दिव्य ज्ञान की किसी कृत्रिम चिन्ता में नहीं पड़ते और न ब्रह्म क्या है, माया क्या है, इसकी व्याख्या में समय गँवाते हैं। वे न तो अपने को भगवान् के साथ झूठा तदाकार हुआ मानते हैं, न यह तर्क करते हैं कि ईश्वर का अलग से अस्तिव नहीं है या कि ईश्वर है ही नहीं या जीव ही ईश्वर है या जब ईश्वर अवतार ग्रहण करता है, तो वह भौतिक शरीर धारण करता है। न ही वे किसी अस्पष्ट चिन्तन-सिद्धान्त से चिन्तित रहते हैं, जो वास्तव में दिव्य ज्ञान के मार्ग में कई प्रकार से अवरोधक होते हैं। निर्विशेषवादी या अभक्त-वर्ग के अतिरिक्त ऐसे भी वर्ग हैं, जो अपने को भगवद्भक्त कहते हैं, किन्तु अपने अन्त:करण में मोक्ष की भावना छिपाये रहकर निर्विशेष ब्रह्म से तदाकार होना चाहते हैं। वे खुले विलास द्वारा भक्ति का अपना ग़लत मार्ग निकाल लेते हैं और दूसरे ऐसे लोगों को मार्गच्युत करते हैं, जो निरे मूर्ख या उन्हीं के समान व्यसनी होते हैं। विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार, ये सारे अभक्त तथा व्यसनी महात्माओं के वेश में दुरात्मा होते हैं। ऐसे अभक्त तथा लम्पट इस श्लोक में शुकदेव गोस्वामी द्वारा योगियों की सूची से विलग कर दिये गये हैं।

इस तरह वैकुण्ठ लोक वास्तव में श्रेष्ठतम आवास-स्थान हैं, जिन्हें परं पदम् कहा जाता है। निर्विशेष ब्रह्मज्योति भी परं पदम् कहलाती है, क्योंकि सूर्य की किरणों के ही समान ये वैकुण्ठ लोक की किरणें हैं। *भगवद्गीता* (१४.२७) में स्पष्ट कहा गया है कि निर्विशेष ब्रह्मज्योति भगवान् के शरीर पर आधारित रहती है और चूँकि प्रत्येक वस्तु प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से ब्रह्मज्योति पर निर्भर रहती

है, अतएव प्रत्येक वस्तु भगवान् से उत्पन्न होती है, उन्हीं पर आश्रित रहती है और प्रलय के बाद उन्हीं में विलीन हो जाती है। अतएव उनसे कोई भी वस्तु स्वतन्त्र नहीं। भगवान् का शुद्ध भक्त अपना समय अब्रह्म एवं ब्रह्म में अन्तर करने में नहीं गँवाता, क्योंकि वह भलीभाँति जानता रहता है कि भगवान् परब्रह्म अपनी ब्रह्मशक्ति से हर वस्तु में गुँथे हुए हैं। इस तरह भक्त प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सम्पत्ति के रूप में देखता है। भक्त हर वस्तु का उपयोग उन्हीं की सेवा में करना चाहता है और वह प्रकृति पर अपनी अनुचित प्रभुता जता कर के किसी प्रकार की जटिलता उत्पन्न नहीं करता। वह इतना आज्ञाकारी होता है कि अपने आपको तथा हर वस्तु को भगवान् की दिव्य सेवा में लगाता है, भक्त हर वस्तु में भगवान् का दर्शन करता है और भगवान् में हर वस्तु को देखता है। दुरात्मा द्वारा उत्पन्न किया गया उत्पात उसकी इस धारणा के कारण उपजता है कि भगवान् का दिव्य रूप भौतिक है।

इत्थं मुनिस्तूपरमेद् व्यवस्थितो
विज्ञान-दृग्वीर्य-सुरन्धिताशयः ।
स्व-पार्ष्णिनापीड्य गुदं ततोऽनिलं
स्थानेषु षट्सून्नमयेज्जित-क्लमः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार ब्रह्म-साक्षात्कार से; मुनिः—दार्शनिक; तु—लेकिन; उपरमेत्—अलग हो ले; व्यवस्थितः—भलीभाँति स्थित; विज्ञान-दृक्—वैज्ञानिक दृष्टि से; वीर्य—बल; सु-रन्धित—भलीभाँति नियमित; आशयः—जीवन-उद्देश्य; स्व-पार्ष्णिना—अपनी एड़ी से; आपीड्य—रोककर; गुदम्—वायुद्वार को; ततः—तत्पश्चात्; अनिलम्—प्राणवायु को; स्थानेषु—स्थानों में; षट्सु—छः मुख्य; उन्नमयेत्—ऊपर उठाये; जित-क्लमः—भौतिक इच्छाओं को दमित करके।

वैज्ञानिक ज्ञान के बल पर मनुष्य को परम अनुभूति में पूर्ण रूप से स्थिर हो जाना चाहिए और इस तरह समस्त भौतिक इच्छाओं को शमन करने में समर्थ हो जाना चाहिए। मनुष्य को वायु-द्वार (गुदा) को पाँव की एड़ी से बन्द करके तथा प्राणवायु को एक-एक करके क्रमशः छः प्रमुख स्थानों (चक्रों) में एक-एक करके ऊपर ले जाना चाहिए और तब भौतिक शरीर का त्याग कर देना चाहिए।

तात्पर्य : ऐसे अनेक दुरात्मा हैं, जो दावा करते हैं कि उन्हें ब्रह्म की अनुभूति हो चुकी है, लेकिन फिर भी वे भौतिक इच्छाओं को जीत पाने में असमर्थ रहते हैं। *भगवद्गीता* (१८.५४) में स्पष्ट बताया गया है कि स्वरूप-सिद्ध आत्मा समस्त भौतिक इच्छाओं से पूरी तरह विलग रहता है। भौतिक इच्छाएँ

जीव के मिथ्या अहंकार पर आधारित होती हैं और ये उसके बचकाना तथा व्यर्थ के कार्यकलापों द्वारा प्रकृति के नियमों पर विजय पाने के रूप में तथा पाँच तत्त्वों के संसाधनों पर प्रभुत्व जताने की इच्छा के रूप में प्रकट होती हैं। ऐसी मनोवृत्ति होने पर मनुष्य को भौतिक विज्ञान की शक्ति पर विश्वास हो जाता है, जिसमें परमाणु ऊर्जा की खोज तथा यान्त्रिक यानों द्वारा अन्तरिक्ष-यात्रा सम्मिलित हैं और भौतिक विज्ञान की ऐसी क्षुद्र उपलब्धियों के द्वारा छद्म अहंकारवादी उस परमेश्वर की भी शक्ति को ललकारने का प्रयत्न करता है, जो क्षण भर से कम समय में मनुष्य के इन सारे क्षुद्र प्रयासों को समाप्त कर सकती है। सुस्थित आत्मा या ब्रह्म-सिद्ध आत्मा भलीभाँति समझता है कि परब्रह्म या भगवान् ही सर्वशक्तिमान वासुदेव हैं और वह (स्वरूप-सिद्ध जीव) परम पूर्ण का अंश ही है। इस तरह उसकी स्वाभाविक स्थिति सेवक तथा सेव्य के दिव्य सम्बन्ध के रूप में भगवान् के साथ सहयोग करने की है। ऐसा स्वरूपसिद्ध जीव भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताने के अपने व्यर्थ के कार्यकलाप को प्रदर्शित करना बन्द कर देता है। वैज्ञानिक विधि से अच्छी तरह परिचित होने के कारण वह भगवान् की श्रद्धापूर्ण भक्ति में पूरी तरह जुट जाता है।

सक्षम योगी जो योग-पद्धति की स्वीकृत विधि द्वारा प्राणवायु को नियन्त्रित करने का अभ्यास कर लेता है, उसे इस प्रकार शरीर त्याग करने की सलाह दी जाती है—उसे गुदाद्वार को अपने पैर की एड़ी से दबाना चाहिए और तब प्राणवायु को क्रमशः छहों स्थानों (चक्रों) में घुमाना चाहिए—ये स्थान हैं नाभि, उदर, हृदय, वक्षस्थल, तालु, भौंह तथा ब्रह्मरंध्र। स्वीकृत योगविधि द्वारा प्राणवायु को नियन्त्रित करना यान्त्रिक है और यह विधि आध्यात्मिक पूर्णता (सिद्धि) के लिए न्यूनाधिक एक तरह का भौतिक प्रयास है। प्राचीन काल में ऐसा अभ्यास योगी के लिए बहुत सामान्य बात होती थी, क्योंकि उन दिनों जीवन तथा चरित्र की शैली अनुकूल थी। किन्तु वर्तमान समय में जब कलियुग का प्रभाव इतना विचलित करनेवाला बन गया है, तो लगभग प्रत्येक व्यक्ति इस शारीरिक व्यायाम की कला में अप्रशिक्षित होता है। इन दिनों भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करके, मन की एकाग्रता सरलता से प्राप्त की जा सकती है। इस तरह प्राप्त फल प्राणवायु के भीतरी अभ्यास द्वारा प्राप्त होने वाले फल से अधिक प्रभावशाली होते हैं।

नाभ्यां स्थितं हृद्यधिरोप्य तस्मा-
दुदान-गत्योरसि तं नयेन्मुनिः ।
ततोऽनुसन्धाय धिया मनस्वी
स्व-तालु-मूलं शनकैर्नयेत ॥ २० ॥

शब्दार्थ

नाभ्याम्—नाभि में; स्थितम्—स्थित; हृदि—हृदय में; अधिरोप्य—रखकर; तस्मात्—वहाँ से; उदान—उदान, ऊपर उठाते हुए; गत्य—वेग से; उरसि—छाती पर; तम्—तत्पश्चात्; नयेत्—ले जाय; मुनिः—ध्यानवान भक्त; ततः—उनको; अनुसन्धाय—खोज करने के लिए; धिया—बुद्धि से; मनस्वी—ध्यानशील; स्व-तालु-मूलम्—तालू के निचले भाग में; शनकैः—धीरे-धीरे; नयेत—ले जाये।

ध्यानमग्न भक्त को चाहिए कि वह प्राणवायु को धीरे-धीरे नाभि से हृदय में, हृदय से छाती में और वहाँ से तालु के निचले भाग तक ले जाये। उसे बुद्धि से समुचित स्थानों को ढूँढ निकालना चाहिए।

तात्पर्य : वायु की गति के छः चक्र हैं। बुद्धिमान भक्त को चाहिए कि बुद्धि तथा ध्यान लगाकर इन स्थानों को खोजे। इनमें से उसके पूर्व जिस चक्र का उल्लेख है, वह *स्वाधिष्ठान चक्र* या प्राणवायु का शक्ति-आगार है और इसके ऊपर नाभि के नीचे *मणिपूरक चक्र* है। जब हृदय में ऊपरी स्थान की खोज की जाती है, तो *अनाहत चक्र* मिलता है और इससे भी ऊपर जब प्राणवायु को तालुमूल पर स्थिर किया जाता है, तो *विशुद्धि चक्र* मिलता है।

तस्माद् भ्रुवोरन्तरमुन्नयेत
निरुद्ध-सप्तायतनोऽनपेक्षः ।
स्थित्वा मुहूर्तार्धमकुण्ठ-दृष्टि-
र्निर्भिद्य मूर्धन् विसृजेत्परं गतः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—वहाँ से; भ्रुवोः—भौहों के; अन्तरम्—बीच में; उन्नयेत—ले जाना चाहिए; निरुद्ध—रोककर; सप्त—सात; आयतनः—प्राणवायु के बहिर्द्वार; अनपेक्षः—समस्त भौतिक भोग से स्वतन्त्र; स्थित्वा—रखकर; मुहूर्त—क्षण भर; अर्धम्—आधा; अकुण्ठ—भगवान् के धाम वापस; दृष्टिः—जिसका ध्येय है; निर्भिद्य—भेदकर; मूर्धन्—ब्रह्मरन्ध्र; विसृजेत्—अपना शरीर त्याग दे; परम्—परमेश्वर; गतः—गया हुआ।

तत्पश्चात्, भक्तियोगी को अपनी प्राणवायु दोनों भौहों के मध्य लाना चाहिए और तब प्राणवायु के सातों बहिर्द्वारों को बन्द करके, उसे भगवद्धाम वापस जाने को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। यदि वह भौतिक भोग की सारी इच्छाओं से मुक्त है, तब उसे ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचना

चाहिए तथा भगवान् के पास चले जाने पर अपने सारे भौतिक बन्धनों को त्याग देना चाहिए।

तात्पर्य : यहाँ पर सारे भौतिक बन्धनों को त्यागने और भगवद्धाम वापस जाने की विधि संस्तुत की गई है। इसकी शर्त यह है कि मनुष्य को पहले भौतिक भोग की इच्छा से पूरी तरह मुक्त हो जाना चाहिए। आयु तथा इन्द्रियतृप्ति के अनुसार, भौतिक भोग की कई कोटियाँ हैं। *भगवद्गीता* (९.२०) में सबसे अधिक जीवनावधि तक इन्द्रिय-भोग के सर्वोच्च धरातल का उल्लेख हुआ है। ये सारे के सारे भौतिक भोग हैं और मनुष्य को इससे आश्वस्त हो जाना चाहिए कि उसे ब्रह्मलोक तक की इतनी दीर्घ आयु की भी आवश्यकता नहीं होती। उसे भगवद्धाम लौटना ही होगा। उसे अत्यधिक भौतिक सुविधाओं से आकृष्ट नहीं होना चाहिए। *भगवद्गीता* (२.५९) में कहा गया है कि ऐसी भौतिक विरक्ति तभी प्राप्त की जा सकती है, जब मनुष्य जीवन की परम संगति से परिचित हो जाए। *परं दृष्ट्वा निवर्तते।* जब तक मनुष्य आध्यात्मिक जीवन की प्रकृति को पूरी तरह समझ नहीं लेता, तब तक वह मुक्त नहीं हो सकता। निर्विशेषवादियों की एक श्रेणी द्वारा यह प्रचार करना कि आध्यात्मिक जीवन सभी प्रकार से शून्य है, घातक है और जीवों को बहका कर अधिकाधिक भौतिक भोग की ओर ले जानेवाला है; फलस्वरूप, अल्पज्ञों को *परम्* या परमेश्वर की कोई धारणा नहीं हो पाती; वे अपने को ब्रह्म-सिद्ध जीव कहकर भले ही मन को बहला लें, किन्तु वे नाना प्रकार के भौतिक भोगों से चिपके रहना चाहते हैं। ऐसे अल्पज्ञों के पास *परम्* की कोई अव-धारणा नहीं हो सकती, जैसाकि इस श्लोक में बताया गया है, अतएव वे परमेश्वर के पास नहीं पहुँच पाते। भक्तों को आध्यात्मिक जगत, भगवान् तथा वैकुण्ठ लोक कहलाने वाले असीम लोकों में उनकी दिव्य संगति का पूरा-पूरा ज्ञान रहता है। यहाँ पर *अकुण्ठ-दृष्टि:* का उल्लेख हुआ है। *अकुण्ठ* या *वैकुण्ठ* का एक ही भाव है और जिस किसी ने भी आध्यात्मिक जगत तथा भगवान् के साथ साक्षात् संगति को अपना लक्ष्य बना रखा है, केवल वही इस संसार में रहते हुए भी अपने भौतिक बन्धनों को त्याग सकता है। यह *परम्* शब्द तथा *भगवद्गीता* में कई स्थानों पर आया परं धाम शब्द एक ही है। जो भी परम धाम को जाता है, वह कभी इस जगत में लौट कर नहीं आता। ऐसी मुक्ति भौतिक जगत के सर्वोच्च लोक को प्राप्त करने पर भी नहीं मिल सकती।

प्राणवायु सात छिद्रों द्वारा निकलती है। ये हैं—दो आँखें, दो नथुने, दो कान तथा एक मुँह। सामान्यतया मनुष्य की मृत्यु के समय यह वायु मुँह से होकर निकलती है। किन्तु जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, जो योगी प्राणवायु को अच्छी तरह से वश में करता है, वह सिर में ब्रह्मरन्ध्र को भेद करके प्राणवायु का त्याग करता है। अतएव योगी उपुर्यक्त सातों छिद्रों को बन्द कर देता है, जिससे प्राणवायु सहज ही ब्रह्मरन्ध्र से होकर फूट निकले। यह महान् भक्त के भौतिक बन्धन त्यागने का निश्चित चिह्न है।

यदि प्रयास्यन् नृप पारमेष्ठ्यं
वैहायसानामुत यद् विहारम् ।
अष्टाधिपत्यं गुण-सन्निवाये
सहैव गच्छेन्मनसेन्द्रियैश्च ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; प्रयास्यन्—इच्छा करने पर; नृप—हे राजा; पारमेष्ठ्यम्—भौतिक जगत का अधिष्ठाता लोक; वैहायसानाम्—वैहायस नामक जीवों का; उत—कहा जाता है; यत्—जो है; विहारम्—भोग का स्थान; अष्ट-आधिपत्यम्—अष्टसिद्धियों का स्वामी; गुण-सन्निवाये—त्रिगुणात्मक जगत में; सह—साथ; एव—निश्चय ही; गच्छेत्—जाना चाहिए; मनसा—मन से; इन्द्रियैः—तथा इन्द्रियों से; च—भी।

तथापि, हे राजन्, यदि योगी में अत्यधिक भौतिक भोगों की, यथा सर्वोच्चलोक ब्रह्मलोक जाने की, या अष्ट-सिद्धियाँ प्राप्त करने की, अथवा वैहायसों के साथ बाह्य अन्तरिक्ष में यात्रा करने, या लाखों लोकों में से किसी एक में स्थान प्राप्त करने की इच्छा बनी रहती है, तो उसे भौतिकता में ढले मन तथा इन्द्रियों को अपने साथ-साथ ले जाना होता है।

तात्पर्य : ऊर्ध्व लोकों में अधलोकों की अपेक्षा हजारों-हजार गुना अधिक भौतिक भोग की सुविधाएं हैं। सर्वोच्च लोकों में ब्रह्मलोक, ध्रुवलोक इत्यादि हैं और वे सब महर्लोक के ऊपर हैं। इन लोकों के निवासियों को अष्टसिद्धियाँ प्राप्त हैं। उन्हें योग सीखने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती और वे कण के समान लघु होने की शक्ति (*अणिमा सिद्धि*) या पंख से भी हल्का होने की शक्ति (*लघिमा सिद्धि*) प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें भारी से भारी होने की (*महिमा सिद्धि*), कोई आश्चर्यजनक वस्तु उत्पन्न करने या कि इच्छानुसार किसी वस्तु को विनष्ट करने के लिए स्वतन्त्रापूर्वक कार्य करने की (*ईशित्व सिद्धि*) या सारे तत्त्वों को वश में करने की (*वशित्व सिद्धि*), किसी भी इच्छा के विफल न होने की

शक्ति रखने की (*प्राकाम्य सिद्धि*) या इच्छानुसार कोई भी रूप धारण करने (*कामवसायिता सिद्धि*) के लिए, कोई वस्तु किसी स्थान-विशेष से प्राप्त करने की (*प्राप्ति सिद्धि*) की आवश्यकता नहीं पड़ती। ये सारी *सिद्धियाँ* उच्च लोक के वासियों को प्राकृतिक उपहार के रूप में मिली होती हैं। उन्हें बाह्य अन्तरिक्ष में विचरण करने के लिए किसी यान्त्रिक सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती और वे पलक मारते एक लोक से दूसरे लोकों में इच्छानुसार विचरण कर सकते हैं। पृथ्वी के निवासी तो निकटतम लोक तक भी यान्त्रिक यान, यथा अन्तरिक्ष यान के बिना, यात्रा नहीं कर सकते, किन्तु ऐसे उच्चलोकों के प्रतिभा सम्पन्न निवासी सारा काम आसानी से कर लेते हैं।

चूँकि भौतिकतावादी ऐसे लोकों में वास्तव में जो कुछ है उसका अनुभव प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहता है, अतएव वह हर वस्तु को स्वयं देखना चाहता है। जैसे उत्सुक व्यक्ति पूरे संसार में घूमकर प्रत्यक्ष स्थानीय अनुभव प्राप्त करना चाहता है, उसी तरह अल्पज्ञ आध्यात्मिक व्यक्ति उन लोकों का कुछ अनुभव प्राप्त करना चाहता है, जिनके विषय में उसने विस्मयपूर्ण बातें सुन रखी हैं। किन्तु योगी अपने मन तथा इन्द्रियों सहित वहाँ जाकर अपनी इच्छा आसानी से पूरी कर सकता है। भौतिकतावादी मस्तिष्क की मूल प्रवृत्ति भौतिक जगत पर प्रभुत्व जताने की है और यहाँ पर वर्णित सारी सिद्धियाँ भौतिक जगत पर प्रभुत्व की द्योतक हैं। भगवद्भक्त इतने महत्त्वाकांक्षी नहीं होते कि मिथ्या तथा क्षणभंगुर घटना पर प्रभुत्व जताना चाहें। इसके विपरित भक्त तो परम अधिष्ठाता भगवान् द्वारा शासित होना चाहते हैं। भगवान् या परम अधिष्ठाता की सेवा करने की इच्छा आध्यात्मिक या दिव्य है और आध्यात्मिक जगत में प्रवेश पाने के लिए मनुष्य को मन तथा इन्द्रियों की यह शुद्धि प्राप्त करनी होती है। भौतिकतावादी मन से मनुष्य ब्रह्माण्ड के सर्वश्रेष्ठ लोक में पहुँच सकता है, लेकिन वह भगवद्धाम में नहीं जा सकता। इन्द्रियतृप्ति में रत न रहने पर इन्द्रियाँ आध्यात्मिक रीति से शुद्ध कहलाती हैं। इन्द्रियाँ कार्यरत रहना चाहती हैं और जब वे ही इन्द्रियाँ भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में पूर्ण रूप से प्रवृत्त रहती हैं, तो वे भौतिक दूषणों से कलुषित नहीं हो पातीं।

योगेश्वराणां गतिमाहुरन्त-
र्बहिस्त्रि-लोक्याः पवनान्तरात्मनाम् ।
न कर्मभिस्तां गतिमाप्नुवन्ति
विद्या-तपो-योग-समाधि-भाजाम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

योग-ईश्वराणाम्—महान् सन्तों तथा भक्तों का; गतिम्—गन्तव्य; आहुः—कहा जाता है; अन्तः—भीतर; बहिः—बाहर; त्रि-लोक्याः—तीनों लोकों का; पवन-अन्तः—वायु के भीतर; आत्मनाम्—सूक्ष्म शरीर का; न—कभी नहीं; कर्मभिः—सकाम कर्मों के द्वारा; ताम्—उस; गतिम्—चालक को; आप्नुवन्ति—प्राप्त करते हैं; विद्या—भक्ति; तपः—तपस्या; योग—योग-शक्ति; समाधि—ज्ञान; भाजाम्—पात्रों को।

योगियों का सम्बन्ध आध्यात्मिक शरीर के होता है। फलस्वरूप अपनी भक्ति, तपस्या, योगशक्ति तथा दिव्य ज्ञान के बल पर वे भौतिक जगत के भीतर तथा बाहर अबाध रुप से विचरण कर सकते हैं। किन्तु सकाम-कर्मी या निपट भौतिकतावादी इस तरह मुक्त भाव से कभी विचरण नहीं कर सकते।

तात्पर्य : भौतिकतावादी विज्ञानियों द्वारा, यान्त्रिक यानों की सहायता से, अन्य लोकों तक पहुँचने के सारे प्रयास केवल निरर्थक हैं। तथापि पुण्यकर्मों द्वारा मनुष्य स्वर्ग-लोक पहुँच सकता है। किन्तु ऐसे यान्त्रिक या भौतिकतावादी कार्यों द्वारा, चाहे वे स्थूल हों या सूक्ष्म, मनुष्य स्वर्ग या जनलोक से आगे नहीं जा सकता। चूँकि योगियों को स्थूल शरीर से कुछ लेना-देना नहीं रहता, अतएव वे भौतिक जगत के भीतर या बाहर कहीं भी विचरण कर सकते हैं। भौतिक जगत के भीतर वे महः, जनः, तपः तथा सत्यलोकों में और भौतिक जगत के परे वैकुण्ठ लोकों में, बिना रोकटोक के, अन्तरिक्ष यात्री के रूप में विचरण कर सकते हैं। नारद मुनि ऐसे ही अन्तरिक्ष-यात्री का उदाहरण हैं और दुर्वासा मुनि ऐसे ही योगियों में से एक हैं। प्रत्येक व्यक्ति भक्ति, तपस्या, योग-शक्ति तथा दिव्य ज्ञान के बल पर नारद मुनि या दुर्वासा मुनि की भाँति विचरण कर सकता है। ऐसा कहा जाता है कि दुर्वासा मुनि ने, केवल एक वर्ष में ही, सम्पूर्ण भौतिक व्योम तथा परव्योम के कुछ भाग की यात्रा की थी। स्थूल या सूक्ष्म भौतिकतावादी योगियों की गति को कभी नहीं पा सकते।

वैश्वानरं याति विहायसा गतः
सुषुम्णया ब्रह्म-पथेन शोचिषा ।
विधूत-कल्कोऽथ हरेरुदस्तात्
प्रयाति चक्रं नृप शैशुमारम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

वैश्वानरम्—अग्निदेव; याति—जाता है; विहायसा—आकाश मार्ग (आकाश-गंगा) से; गतः—पार करके; सुषुम्णया—सुषुम्णा द्वारा; ब्रह्म—ब्रह्मलोक; पथेन—पथ से; शोचिषा—प्रकाशमान; विधूत—धुला हुआ; कल्कः—धूल, मल; अथ—तत्पश्चात्; हरेः—हरि के; उदस्तात्—ऊपर; प्रयाति—पहुँचता है; चक्रम्—चक्र; नृप—हे राजा; शैशुमारम्—शिशुमार नामक।

हे राजन्, जब योगी सर्वोच्चलोक ब्रह्मलोक पहुँचने के लिए प्रकाशमान सुषुम्णा द्वारा आकाश-गंगा के ऊपर से गुजरता है, तो वह सर्वप्रथम अग्निदेव के लोक वैश्वानर जाता है, जहाँ वह सारे कल्मषों से परि-शुद्ध हो जाता है। तब वह भगवान् से तादात्म के लिए उससे भी ऊपर शिशुमार चक्र को जाता है।

तात्पर्य : ध्रुवतारा तथा उसके आसपास का मंडल शिशुमार चक्र कहलाता है, जहाँ पर भगवान् (क्षीरोदकशायी विष्णु) का निवास-स्थान है। वहाँ तक पहुँचने के पूर्व योगी को आकाश-गंगा के ऊपर से होकर ब्रह्मलोक पहुँचना होता है। वहाँ जाते समय सर्वप्रथम वह वैश्वानर लोक पहुँचता है, जहाँ का देवता अग्नि पर नियंत्रण रखता है। इस वैश्वानर में योगी भौतिक जगत के संसर्ग में रहने के रहने कारण अर्जित समस्त पापों के मल से पूर्ण रूप से स्वच्छ हो जाता है। यहाँ पर आकाश गंगा को सर्वोच्च लोक ब्रह्मलोक को जानेवाले मार्ग के रूप में दिखाया गया है।

तद् विश्व-नाभिं त्वतिवर्त्य विष्णो-
रणीयसा विरजेनात्मनैकः ।
नमस्कृतं ब्रह्म-विदामुपैति
कल्पायुषो यद् विबुधा रमन्ते ॥ २५॥

शब्दार्थ

तत्—उस; विश्व-नाभिम्—विराट पुरुष की नाभि को; तु—लेकिन; अतिवर्त्य—पार कर; विष्णोः—भगवान् विष्णु की; अणीयसा—योग-सिद्धि के कारण; विरजेन—शुद्ध की गई; आत्मना—जीव द्वारा; एकः—अकेला; नमस्कृतम्—पूज्य; ब्रह्म-विदाम्—अध्यात्म-पद पर स्थित रहनेवालों का; उपैति—पहुँचता है; कल्प-आयुषः—४,३००,०००,००० सौर वर्ष; यत्—जहाँ पर; विबुधाः—स्वरूपसिद्ध व्यक्ति; रमन्ते—भोग करते हैं।

यह शिशुमार चक्र संपूर्ण ब्रह्माण्ड के घूमने की कीली है और यह विष्णु (गर्भोदकशायी विष्णु) की नाभि कहलाती है। केवल योगी ही इस शिशुमार चक्र को पार करता है और ऐसे

लोक (महर्लोक) को प्राप्त करता है, जहाँ भृगु जैसे परि-शुद्ध हो चुके महर्षि ४,३००,०००,००० सौर वर्षों की आयु भोगते हैं। यह लोक उन सन्तों द्वारा भी पूजित है, जो अध्यात्मपद को प्राप्त हैं।

अथो अनन्तस्य मुखानलेन
दन्दह्यमानं स निरीक्ष्य विश्वम् ।
निर्याति सिद्धेश्वर-युष्ट-धिष्ण्यं
यद् द्वै-परार्ध्यं तदु पारमेष्ठ्यम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अथो—तत्पश्चात्; अनन्तस्य—ईश्वर के विश्राम करनेवाले अवतार अनन्त के; मुख-अनलेन—मुख से निकलनेवाली अग्नि से; दन्दह्यमानम्—भस्मीभूत करते हुए; सः—वह; निरीक्ष्य—देखकर; विश्वम्—ब्रह्माण्ड को; निर्याति—बाहर जाता है; सिद्धेश्वर-युष्ट-धिष्ण्यम्—शुद्धात्मा द्वारा प्रयुक्त वायुयान; यत्—स्थान; द्वै-परार्ध्यम्—१५,४८०,०००,०००,००० सौर वर्ष; तत्—वह; उ—महान्; पारमेष्ठ्यम्—सत्यलोक, जहाँ ब्रह्मा निवास करते हैं।

संपूर्ण ब्रह्माण्ड के अन्तिम संहार के समय (ब्रह्मा के जीवन के अन्त में), अनन्त के मुख से (ब्रह्माण्ड के नीचे से) अग्नि की ज्वाला फूट निकलती है। योगी ब्रह्माण्ड के समस्त लोकों को भस्म होकर क्षार होते हुए देखता है और वह शुद्धात्माओं द्वारा प्रयुक्त होनेवाले वायुयानों के द्वारा सत्यलोक के लिए प्रस्थान करता है। सत्यलोक में जीवन की अवधि दो परार्ध अर्थात् १५४८०,०००,०००,००० सौर वर्ष आँकी जाती है।

तात्पर्य : यहाँ यह संकेत किया गया है कि महर्लोक, जहाँ शुद्ध आत्माओं या देवताओं की आयु ४,३००,०००,००० सौर वर्ष आँकी जाती है, वहाँ के निवासियों के पास वायु-यान होते हैं, जिनसे वे ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोक सत्य-लोक में पहुँचते हैं। दूसरे शब्दों में, *श्रीमद्भागवत* हमें अन्य लोकों के विषय में अनेक संकेत देता है, जो हमसे बहुत ही दूर हैं और जिन तक काल्पनिक वेग से भी अधिकगति वालेआधुनिक यान तथा अन्तरिक्ष यान नहीं पहुँच सकते। *श्रीमद्भागवत* के इन कथनों को श्रीधर स्वामी, रामानुजाचार्य तथा वल्लभाचार्य जैसे महान् आचार्यों ने स्वीकार किया है। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु तो *श्रीमद्भागवत* को निर्मल वैदिक प्रमाण के रूप में मानते हैं, अतएव कोई भी विचारवान व्यक्ति *श्रीमद्भागवत* के कथनों की अवहेलना नहीं कर पाता जब कि इसके प्रवचनकर्ता स्वरूपसिद्ध व्यक्ति श्री शुकदेव गोस्वामी जो समस्त वैदिक वाङ्मय के संकलनकर्ता अपने पिता श्रील

व्यासदेव के पदचिह्नों का अनुसरण करनेवाले हैं। भगवान् की इस सृष्टि में ऐसी अनेक आश्चर्यजनक वस्तुएँ हैं, जिन्हें हम अपनी आँखों से सदैव देखते रहते हैं, किन्तु आधुनिक भौतिकतावादी विज्ञान द्वारा उन तक पहुँचने में अक्षम रहते आए हैं। अतएव हमें वैज्ञानिक परिधि से परे वस्तुओं को जानने के लिए भौतिकतावादी विज्ञान के खण्डित प्रमाण पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। सामान्य व्यक्ति को आधुनिक विज्ञान तथा वैदिक विद्या दोनों ही ग्रहण करनी चाहिए, क्योंकि वह न तो आधुनिक विज्ञान की, न ही वैदिक साहित्य के एक भी कथन की जांच कर सकता है। सामान्य व्यक्ति के सामने एक ही विकल्प रह जाता है कि या तो वह इनमें से किसी एक पर विश्वास करे या दोनों पर करे। किन्तु समझने की वैदिक विधि अधिक प्रामाणिक है, क्योंकि उसे उन आचार्यों ने स्वीकार किया है, जो न केवल श्रद्धालु एवम् विद्वान व्यक्ति हैं, अपितु मुक्त व्यक्ति भी हैं तथा बद्धजीवों के समस्त दोषों से रहित हैं। आधुनिक विज्ञानी तो ऐसे बद्धजीव हैं, जो अनेक त्रुटियाँ कर सकते हैं। अतएव अच्छा यही होगा कि *श्रीमद्भागवत* जैसे वैदिक ग्रंथों के प्रामाणिक वचन को स्वीकार किया जाय, जिसे महान् आचार्यों ने एकस्वर से स्वीकार किया है।

न यत्र शोको न जरा न मृत्यु-
र्नार्तिर्न चोद्वेग ऋते कुतश्चित् ।
यच्चित्ततोऽदः कृपयानिदं-विदां
दुरन्त-दुःख-प्रभवानुदर्शनात् ॥ २७॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; यत्र—जहाँ है; शोकः—शोक; न—न तो; जरा—बुढ़ापा; न—न तो; मृत्युः—मृत्यु; न—न तो; अर्तिः—पीड़ा; न—न तो; च—भी; उद्वेगः—चिन्ताएँ; ऋते—के अतिरिक्त, बिना; कुतश्चित्—कभी-कभी; यत्—के कारण; चित्—चेतना; ततः—तत्पश्चात्; अदः—दया; कृपया—हार्दिक दया से; अन्-इदम्-विदाम्—भक्तियोग के अनभिज्ञों का; दुरन्त—दुर्लंघ्य; दुःख—कष्ट; प्रभव—बारम्बार जन्म तथा मृत्यु; अनुदर्शनात्—क्रमिक अनुभव से।

सत्यलोक में न तो शोक है, न बुढ़ापा, न मृत्यु। वहाँ किसी प्रकार की वेदना नहीं है, जिसके कारण किसी तरह की चिन्ता भी नहीं है। हाँ, कभी-कभी चेतना के कारण उन लोगों पर दया उमड़ती है, जो भक्तियोग से अवगत न होने से भौतिक जगत के दुर्लंघ्य कष्टों को भोग रहे हैं।

तात्पर्य : भौतिकतावादी स्वभाव के मूर्ख व्यक्ति परम्परागत प्रामाणिक ज्ञान का कोई लाभ नहीं

उठाते। वैदिक ज्ञान प्रामाणिक है और इसकी प्राप्ति प्रयोग द्वारा नहीं, अपितु प्रामाणिक व्यक्तियों (अधिकारियों) द्वारा बताये गये ग्रन्थों के प्रामाणिक कथनों द्वारा होती है। मात्र पण्डित हो जाने से कोई वैदिक कथनों को नहीं समझ सकता, उसे उस वास्तविक विद्वान् के पास जाना होता है, जिसने शिष्य-परम्परा से वैदिक ज्ञान प्राप्त किया हो, जैसाकि *भगवद्गीता* (४.२) में स्पष्ट कहा गया है। भगवान् कृष्ण जोर देते हुए कहते हैं कि *भगवद्गीता* में जिस ज्ञान-पद्धति की व्याख्या की गई है, वह सूर्यदेव को बताई गई थी और यही ज्ञान शिष्य-परम्परा द्वारा सूर्यदेव से उनके पुत्र मनु को प्राप्त हुआ और मनु से राजा इक्ष्वाकु (भगवान् रामचन्द्र के पितामह) को प्राप्त हुआ। इस प्रकार यह ज्ञान पद्धति एक-एक करके महान् ऋषियों को प्राप्त होती रही। किन्तु कालानुक्रम में यह प्रामाणिक परम्परा टूट गई, अतएव ज्ञान की पुन:स्थापना के लिए, भगवान् ने वही ज्ञान अर्जुन को प्रदान किया, क्योंकि भगवद्भक्त होने के कारण वह इसे समझने का योग्य पात्र था।अर्जुन ने *भगवद्गीता* को जिस रूप में समझा उसका भी वर्णन हुआ है (*भगवद्गीता* १०.१२-१३), किन्तु ऐसे अनेक मूर्ख व्यक्ति हैं, जो *भगवद्गीता* के सार को समझने के लिए अर्जुन के पदचिह्नों का अनुसरण नहीं करते। वे अपनी व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं, जो उन्हीं के समान मूर्खतापूर्ण होती हैं और वास्तविक ज्ञान के मार्ग में रोड़े का काम करती हैं तथा अल्पज्ञों या शूद्रों को गुमराह करने वाली हैं। यह कहा गया है कि वैदिक कथनों को समझने के पूर्व मनुष्य को ब्राह्मण बन जाना चाहिए। यह आक्षेप उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि यह आक्षेप कि स्नातक हुए बिना कोई वकील नहीं बन सकता। ऐसा आक्षेप किसी की भी प्रगति में बाधक नहीं होता, अपितु किसी विशेष विज्ञान को अच्छी तरह समझने के लिए अनिवार्य है। जो योग्य ब्राह्मण नहीं हैं, वे वैदिक ज्ञान की मनमानी व्याख्या करते हैं। सुपात्र ब्राह्मण वह है, जिसने प्रामाणिक गुरु के मार्गदर्शन में कठिन प्रशिक्षण प्राप्त किया हो।

वैदिक विद्या हमें परमेश्वर श्रीकृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को समझने में और भगवद्धाम वापस जाने के इच्छित फल को प्राप्त करने के लिए तदनुकूल कर्म करने में, मार्गदर्शन का कार्य करती है। लेकिन भौतिकतावादी लोग इसे नहीं समझ पाते। वे ऐसे स्थान में सुखी रहने की योजना बनाना चाहते हैं जहाँ सुख है ही नहीं। वे मिथ्या सुख के लिए या तो वैदिक कर्मकाण्ड द्वारा, या अन्तरिक्षयान द्वारा

अन्य लोकों तक पहुँचने का प्रयास करते हैं, लेकिन उन्हें यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि ऐसे स्थान में जहाँ दुख ही दुख है, सुखी होने के लिए भौतिक समंजन की कोई भी मात्रा पथभ्रष्ट व्यक्ति को लाभ नहीं पहुँचा सकती, क्योंकि अन्ततोगत्वा इस ब्रह्माण्ड को कुछ काल बाद अपने समस्त वस्तुओं सहित विनष्ट होना है। तब भौतिकतावादी सुख की सारी योजनाएँ जैसी की तैसी धरी रह जायेंगी। इसीलिए बुद्धिमान मनुष्य भगवद्धाम वापस जाने की योजना बनाता है। ऐसा व्यक्ति संसार के सभी तापों—जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि—को पार कर जाता है। वह वास्तव में इसीलिए सुखी रहता है, क्योंकि उसे संसार की एक भी चिन्ता नहीं घेरती, अपितु वह दयालु होने के कारण उन भौतिकतावादी लोगों के लिए दुखी रहता है, जो कष्ट भोग रहे हैं और इस प्रकार से वह कभी-कभी ऐसे लोगों को भगवद्धाम वापस जाने की आवश्यकता का उपदेश देने के लिए उनके समक्ष आता है। सारे प्रामाणिक आचार्य भगवद्धाम वापस जाने की सत्यता का उपदेश देते हैं और लोगों को सचेत करते रहते हैं कि ऐसे स्थान में सुख की कोई योजना न बनायें जहाँ सुख कोरी कल्पना है।

ततो विशेषं प्रतिपद्य निर्भय-
स्तेनात्मनापोऽनल-मूर्तिरत्वरन् ।
ज्योतिर्मयो वायुमुपेत्य काले
वाय्वात्मना खं बृहदात्म-लिङ्गम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; विशेषम्—विशेषरूप से; प्रतिपद्य—प्राप्त करके; निर्भयः—बिना किसी सन्देह के; तेन—उससे; आत्मना—शुद्ध आत्मा; आपः—जल; अनल—अग्नि; मूर्तिः—रूप; अत्वरन्—पार करके; ज्योतिः-मयः—तेजवान; वायुम्—वायुमण्डल में; उपेत्य—पहुँचकर; काले—कालक्रम से; वायु—वायु; आत्मना—आत्मा से; खम्—आकाश में; बृहत्—विशाल; आत्म-लिङ्गम्—आत्मा का असली स्वरूप।

सत्यलोक पहुँचकर भक्त अपने सूक्ष्म शरीर से, अपने स्थूल शरीर जैसी सत्ता में निर्भय होकर समाविष्ट हो जाता है और क्रमशः वह भूमि से जल, अग्नि, तेज तथा वायु की अवस्थाएँ पार करता हुआ अन्त में स्वर्गीय आकाश में पहुँच पाता है।

तात्पर्य : जो व्यक्ति आध्यात्मिक सिद्धि तथा अभ्यास से ब्रह्मलोक या सत्यलोक तक पहुँच जाता है, वह तीन विभिन्न प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त करने का पात्र बन जाता है। जो व्यक्ति अपने पूर्व पुण्यकर्मों के कारण कोई विशेष लोक प्राप्त करता है, तो वह अपने आनुपातिक पुण्यकर्मों के आधार

पर ही ऐसे स्थान पाता है। जो व्यक्ति विराट या हिरण्यगर्भ की पूजा करके स्थान प्राप्त करता है, वह भी ब्रह्मा की मुक्ति के साथ-साथ मुक्त हो जाता है। किन्तु भक्ति के बल पर व्यक्ति जो स्थान प्राप्त करता है, जिसका यहाँ पर विशेष रूप से उल्लेख हुआ है, वह ब्रह्माण्ड के विभिन्न आवरणों को भेदकर अन्ततः परम अस्तित्व से परिपूर्ण वायुमण्डल में अपने आध्यात्मिक स्वरूप को प्रकट कर पाता है।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार सारे ब्रह्माण्ड ऊपर-नीचे एक दूसरे से संपुंजित हैं और इनमें से प्रत्येक में सात-सात आवरण हैं। जलमय अंश इन सप्तावरणों से परे होता है और प्रत्येक सप्तावरण अपने पूर्ववर्ती आवरण से दसगुना अधिक विस्तीर्ण है। जो भगवान् इन सारे ब्रह्माण्डों को अपनी श्वास से सृजित करता है, वह ब्रह्माण्डों के पुंज के ऊपर शयन करता है। कारणार्णव का जल ब्रह्माण्ड के जल-आवरण से पृथक् स्थित रहता है। ब्रह्माण्ड को आवरित करनेवाला जल भौतिक जल है, जबकि कारणार्णव का जल आध्यात्मिक जल है। फलस्वरूप, यहाँ जिस जल-आवरण का उल्लेख हुआ है, वह समस्त जीवों के मिथ्या अहंकार का आवरण माना जाता है। यहाँ पर एक-एक करके भौतिक आवरणों से क्रमिक मुक्ति का जो उल्लेख हुआ है, वह स्थूल शरीर की मिथ्या अंहकार अवधारणाओं से क्रमशः मुक्त होने तथा उसके पश्चात् सूक्ष्म शरीर में तब तक लीन रहने की प्रक्रिया है जब तक भगवद्धाम में शुद्ध आध्यात्मिक शरीर प्राप्त न हो ले।

श्रील श्रीधर स्वामी पुष्टि करते हैं कि भगवान् द्वारा संस्कारित किए जाने के बाद प्रकृति का एक अंश महत्-तत्त्व कहलाता है। इस महत्-तत्त्व का ही एक अंश मिथ्या अंहकार कहलाता है। अहंकार का एक अंश शब्द-ध्वनि है और शब्द-ध्वनि का एक अंश वायुमंडल की वायु है। इस वायु का एक अंश स्वरूपों में बदल जाता है और इन स्वरूपों से विद्युत् या उष्मा बनती है। उष्मा से पृथ्वी की गंध उत्पन्न होती है तथा इस गंध से स्थूल पृथ्वी उत्पन्न होती है। ये सब मिलकर दृश्य जगत बनाते हैं। दृश्य जगत का विस्तार ४ अरब मील (दोनों ओर का व्यास) है। तब ब्रह्मांड के आवरणों का शुभारम्भ होता है। पहले आवरण का विस्तार ८ करोड़ मील है। इसके पश्चात् ब्रह्मांड के आवरण क्रमशः अग्नि, तेज, वायु तथा आकाश के हैं और प्रत्येक अपने पूर्ववर्ती आवरण से दसगुना विस्तार वाला होता है। भगवान्

का निर्भीक भक्त इन्हें क्रमशः भेदकर परम वायुमण्डल में प्रवेश करता है जहाँ प्रत्येक वस्तु एक ही आध्यात्मिक सत्ता है। तब भक्त किसी एक वैकुण्ठ लोक में प्रवेश करता है जहाँ वह भगवान् जैसा ही स्वरूप धारण करके उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति में लग जाता है। भक्तिमय जीवन की यही सर्वोच्च सिद्धि है। पूर्ण योगी को इससे अधिक कुछ प्राप्त करने की इच्छा नहीं रहती।

घ्राणेन गन्धं रसनेन वै रसं
रूपं च दृष्ट्या श्वसनं त्वचैव ।
श्रोत्रेण चोपेत्य नभो-गुणत्वं
प्राणेन चाकूतिमुपैति योगी ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

घ्राणेन—सूँघने से; गन्धम्—सुगन्ध; रसनेन—स्वाद से; वै—ठीक-ठीक; रसम्—स्वाद; रूपम्—स्वरूप; च—भी; दृष्ट्या—दृष्टि से; श्वसनम्—सम्पर्क; त्वचा—स्पर्श; एव—मानो; श्रोत्रेण—कान के कम्पन से; च—भी; उपेत्य—प्राप्त करके; नभः-गुणत्वम्—आकाश की पहचान; प्राणेन—इन्द्रियों से; च—भी; आकूतिम्—भौतिक कार्य-कलाप; उपैति—प्राप्त करता है; योगी—भक्त।

इस प्रकार भक्त विभिन्न इन्द्रियों के सूक्ष्म विषयों को पार कर जाता है, यथा सूँघने से सुगन्धि को, चखने से स्वाद को, स्वरूप देखने से दृष्टि को, सम्पर्क द्वारा स्पर्श को, आकाशीय पहचान से कान के कम्पनों को तथा भौतिक कार्य-कलापों से इन्द्रियों को।

तात्पर्य : आकाश से परे सूक्ष्म आवरण हैं, जो ब्रह्माण्डों के प्राथमिक आवरणों के समान हैं। ये स्थूल आवरण, सूक्ष्म कारणों के आंशिक अवयवों के विकास हैं। इस तरह योगी या भक्त, स्थूल तत्त्वों के विलीन होने के साथ-साथ सूँघने से सुगन्ध जैसे सूक्ष्म कारणों का परित्याग कर देता है। इस तरह शुद्ध आध्यात्मिक स्फुलिंग-स्वरूप जीव सारे भौतिक कल्मष से शुद्ध होकर भगवद्धाम में प्रवेश करने के योग्य बन जाता है।

स भूत-सूक्ष्मेन्द्रिय-सन्निकर्षं
मनोमयं देवमयं विकार्यम् ।
संसाद्य गत्या सह तेन याति
विज्ञान-तत्त्वं गुण-सन्निरोधम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सः—वह (भक्त); भूत—स्थूल; सूक्ष्म—तथा सूक्ष्म; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; सन्निकर्षम्—उदासीनता का बिन्दु; मनः-मयम्—मानसिक स्तर; देव-मयम्—सतोगुण में; विकार्यम्—अहंकार; संसाद्य—पार करके; गत्या—प्रगति से; सह—साथ-साथ; तेन—उनके; याति—जाता है; विज्ञान—पूर्ण ज्ञान; तत्त्वम्—सत्य; गुण—गुण; सन्निरोधम्—पूर्ण रूप से अवरुद्ध।

इस तरह से भक्त स्थूल तथा सूक्ष्म आवरणों को पार करके अहंकार के स्तर में प्रवेश करता है। उस अवस्था में वह भौतिक गुणों (रजो तथा तमो गुणों) को इस उदासीन बिन्दु में विलीन कर देता है और इस तरह वह सतोगुणी अहंकार को प्राप्त होता है। इसके पश्चात् सारा अहंकार महत् तत्त्व में विलीन हो जाता है और वह शुद्ध आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त होता है।

तात्पर्य : जैसाकि हम कई बार बता चुके हैं, शुद्ध आत्म-साक्षात्कार अपने को भगवान् के नित्य दास के रूप में स्वीकार करने की शुद्ध चेतना है। इस तरह मनुष्य भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति की अपनी मूल स्थिति में पुनः आरूढ़ होता है, जैसाकि अगले श्लोक में स्पष्ट बताया गया है। भगवान् से किसी प्रकार का पारिश्रमिक पाये बिना या अन्य रूप में भगवान् की प्रेमाभक्ति करने की यह अवस्था तभी प्राप्त हो सकती है जब भौतिक इन्द्रियाँ शुद्ध हों तथा इन्द्रियों की आदि शुद्ध अवस्था पुनः प्राप्त हो सके। यहाँ पर यह सुझाया गया है कि इन्द्रियों को योग के द्वारा शुद्ध किया जा सकता है—इसमें स्थूल इन्द्रियाँ तमोगुण में लीन हो जाती हैं और सूक्ष्म इन्द्रियाँ रजोगुण में। मन का सम्बन्ध सतोगुण से होता है, अतएव यह देवमय कहलाता है। मन की पूर्ण शुद्धि तभी सम्भव हो पाती है जब मनुष्य भगवान् का नित्य दास बनकर स्थिर हो जाता है। अतएव सत्त्व की कोरी उपलब्धि भी भौतिक गुण है; मनुष्य को सत्त्व की यह भौतिक अवस्था पार करके शुद्ध सत्त्व या *वसुदेव सत्त्व* तक पहुँचना होता है। यह *वसुदेव सत्त्व* मनुष्य को भगवद्धाम में प्रविष्ट कराने में सहायक होता है।

इस प्रसंग में हमें स्मरण रखना होगा कि उपर्युक्त विधि की तुलना में भक्तों के क्रमिक उत्थान की विधि यद्यपि प्रामाणिक है, किन्तु वर्तमान युग के लिए उपयोगी नहीं है, क्योंकि लोग योग-अभ्यास से मूलतः अनजान हैं। व्यावसायिक समर्थकों द्वारा तथाकथित योगाभ्यास भले ही शारीरिक क्रियाओं के लिए लाभप्रद हो, किन्तु इतनी छोटी सी सफलता यहाँ पर वर्णित आध्यात्मिक उत्थान की प्राप्ति में सहायक नहीं बन सकती। पाँच हजार वर्ष पूर्व जब मानव समाज का स्तर पूर्ण रूप से वैदिक व्यवस्था के अनुसार था, तो यहाँ पर वर्णित योग विधि प्रत्येक व्यक्ति के लिए सामान्य बात थी, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को, विशेष रूप से ब्राह्मण तथा क्षत्रिय को घर से दूर रहकर ब्रह्मचर्य आश्रम में गुरु की संरक्षण

में दिव्य कला में प्रशिक्षित किया जाता था। किन्तु आधुनिक मनुष्य इसे ठीक से समझ पाने में अक्षम है।

इसीलिए भगवान् श्री चैतन्य ने इस युग के भावी भक्तों के लिए इसे निम्नलिखित विधि से अत्यन्त सुगम बना दिया। अन्तिम प्राप्त होने वाले फल में इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। सबसे मुख्य बात तो यह है कि मनुष्य को भक्तियोग की मूल महत्ता को समझना चाहिए। सारे जीव अपने-अपने कर्मों तथा फलों के अनुसार विविध योनियों में विभिन्न प्रकार का बन्धनों को भोग रहे हैं। किन्तु विभिन्न कार्यों को सम्पन्न करने के दौरान जिस व्यक्ति की भक्ति तक थोड़ी भी पैठ हो जाती है, वह भगवान् तथा गुरु की अहैतुकी कृपा से भगवान् की सेवा की महत्ता को समझ सकता है। भगवान् निष्ठावान् व्यक्ति की सहायता गुरु की भेंट कराकर करते हैं, जो भगवान् का ही प्रतिनिधि होता है। ऐसे गुरु के उपदेश से मनुष्य को भक्तियोग का बीज प्राप्त होता है। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु की संस्तुति है कि भक्त अपने हृदय में भक्ति का बीज बोये और भगवान् के पवित्र नाम तथा महिमा के श्रवण तथा कीर्तन द्वारा उसे सींचकर पल्लवित करे। अपराधरहित होकर भगवान् के पवित्र नाम के श्रवण तथा कीर्तन की यह सरल विधि धीरे-धीरे मनुष्य को मोक्ष की अवस्था तक पहुँचा देगी। भगवान् के पवित्र नाम-कीर्तन की तीन अवस्थाएँ हैं। पहली अवस्था है भगवन्नाम का सापराध कीर्तन करना, दूसरी अवस्था है पवित्र नाम के कीर्तन की आभास अवस्था और तीसरी अवस्था है अपराधरहित भगवन्नाम का कीर्तन। दूसरी अवस्था में ही, जो कि सापराध तथा निरपराध के बीच की अवस्था है, मनुष्य स्वत: मोक्ष की अवस्था प्राप्त कर लेता है। इस निरपराध अवस्था में ही मनुष्य वास्तव में भगवद्धाम में प्रवेश करता है, यद्यपि शारीरिक रूप से वह भौतिक जगत में ही रहता है। निरपराध अवस्था प्राप्त करने के लिए उसे निम्नलिखित प्रकार से सतर्क रहना होगा।

जब हम श्रवण तथा कीर्तन की बात करते हैं, तो हमारा अभिप्राय केवल भगवान् के—राम-कृष्ण नामों के—कीर्तन तथा श्रवण (या सोलह नामों—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे का क्रमबद्ध कीर्तन) से ही नहीं होता, अपितु भक्तों की संगति में रहकर *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* को पढ़ना और सुनना भी इसमें सम्मिलित रहता है। भक्तियोग के

प्रारम्भिक अभ्यास से हृदय में पहले से बोया हुआ बीज अंकुरित हो उठेगा और, जैसाकि ऊपर उल्लेख हो चुका है, नियमित सिंचाई करने से भक्तियोग की लता बढ़ने लगेगी। ठीक से पालन-पोषण करने से यह लता इस हद तक बढ़ जायेगी कि यह ब्रह्माण्ड के आवरणों को भेद करके, जैसाकि हमने पिछले श्लोकों में सुना है, तेजवान आकाश या ब्रह्मज्योति तक पहुँच जायेगी और आगे बढ़ती हुई असंख्य वैकुण्ठ लोकों तक चली जायेगी। इन लोकों के आगे कृष्णलोक या गोलोक वृन्दावन है जहाँ यह लता प्रविष्ट होकर आदि भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों का आश्रय ग्रहण करती है। जब मनुष्य गोलोक वृन्दावन स्थित भगवान् के चरणकमलों तक पहुँच जाता है, तो श्रवण तथा वाचन की सिंचन विधि तथा पवित्र नाम की कीर्तन विधि फलीभूत होती है और भगवत्प्रेम रूपी जो फल लगते हैं, वे भक्तों द्वारा आस्वाद्य होते हैं, भले ही वे इस लोक में रह रहे होते हैं। भगवत्प्रेम रूपी पक्व फल का आस्वादन वे ही भक्त कर पाते हैं, जो निरन्तर सिंचन कार्यों में लगे रहते हैं जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है। लेकिन इस काम में लगे भक्त को सदैव सचेष्ट रहना चाहिए जिससे वह लता जो इतनी बड़ी हुई है छिन्न-भिन्न न हो जाय। अतएव उसे निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना होगा।

(१) शुद्ध भक्त के चरणों पर किये गये अपराध की तुलना उस प्रमत्त हाथी से की जा सकती है, जो अत्यन्त सुन्दर उद्यान में घुस जाने पर उसे विनष्ट कर देता है।

(२) मनुष्य को चाहिए कि शुद्ध भक्तों के चरणों पर ऐसे अपराध न करने के लिए अपने को सावधान रखे जिस प्रकार मनुष्य एक लता की रक्षा चारों ओर बाड़ बनाकर करता है।

(३) ऐसा हो सकता है कि सिंचाई के कारण कुछ खर-पतवार भी उग आयें, अत: जब तक ऐसे खर-पतवार को समूल नष्ट न कर दिया जाय तब तक मुख्य लता या भक्ति योग की लता की वृद्धि अवरुद्ध हो सकती है।

(४) वास्तव में ये खर-पतवार हैं—भौतिक भोग, आत्मा को ब्रह्म में पृथक् अस्तित्व के बिना लीन करना तथा धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष के क्षेत्र में अन्य अनेक सांसारिक इच्छाएँ।

(५) अन्य खर-पतवार भी हैं—यथा शास्त्रों के नियमों का उल्लंघन, वृथा की व्यस्तताएँ, पशु हत्या तथा भौतिक लाभ, प्रतिष्ठा एवं सम्मान की लालसा।

(६) यदि पर्याप्त सावधानी नहीं बरती जाती तो सिंचाई से केवल खर-पतवारों की वृद्धि होगी, स्वस्थ लता ठिगनी रह जायेगी जिससे उसमें भगवत्प्रेम रूपी फल नहीं लग पायेंगे।

(७) अतएव भक्त को चाहिए कि प्रारम्भ में ही विभिन्न खर-पतवारों को समूल नष्ट कर दे। तभी मुख्य लता का स्वस्थ विकास हो सकेगा और वह ठिगनी नहीं रहेगी।

(८) ऐसा करने पर भक्त को भगवत्प्रेम-रूपी फल चखने को मिलता है और वह अपने इसी जीवन में भगवान् कृष्ण के साथ रह सकता है तथा पग-पग पर भगवान् के दर्शन कर सकता है।

जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है भगवान् की सतत संगति में जीवन का निरन्तर सुख भोगना और जिसने इसका स्वाद चख लिया है, वह किसी और तरीके से भौतिक जगत के किसी क्षणिक भोग की कामना नहीं करता।

तेनात्मनात्मानमुपैति शान्त-
मानन्दमानन्दमयोऽवसाने ।
एतां गतिं भागवतीं गतो यः
स वै पुनर्नेह विषज्जतेऽङ्ग ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तेन—उस शुद्ध; आत्मना—आत्मा द्वारा; आत्मानम्—परमात्मा को; उपैति—प्राप्त करता है; शान्तम्—शान्त; आनन्दम्—प्रसन्नता; आनन्द-मयः—स्वाभाविक रूप से ऐसा होने पर; अवसाने—सारे भौतिक कल्मष से रहित होकर; एताम्—ऐसा; गतिम्—गन्तव्य; भागवतीम्—भक्तिमयी; गतः—द्वारा प्राप्त; यः—जो व्यक्ति; सः—वह; वै—निश्चय ही; पुनः—फिर; न—कभी नहीं; इह—इस जगत में; विषज्जते—आकृष्ट होता है; अङ्ग—हे महाराज परीक्षित।

केवल विशुद्धात्मा ही भगवान् की संगति की पूर्णता अपनी स्वाभाविक स्थिति में परि-पूर्ण आनन्द तथा तुष्टि के साथ प्राप्त कर सकता है। जो कोई भी ऐसी भक्तिमयी पूर्णता को पुनः जागृत करने में समर्थ होता है, वह इस भौतिक जगत के प्रति फिर से आकृष्ट नहीं होता और इसमें लौटकर कभी नहीं आता।

तात्पर्य : इस श्लोक में *गतिं भागवतीम्* का वर्णन ध्यान देने योग्य है। ब्रह्मवादी-निर्विशेषवादी द्वारा इच्छित परब्रह्म भगवान् की किरणों से तादात्म्य *भागवतीम्* पूर्णता नहीं है। भागवतजन कभी भी भगवान् की निर्विशेष किरणों में लीन होना नहीं चाहते। वे तो सदैव ही आध्यात्मिक आकाश में किसी एक वैकुण्ठ लोक में परमेश्वर की संगति के लिए आकांक्षा करते हैं। सम्पूर्ण आध्यात्मिक आकाश

असंख्य वैकुण्ठ लोकों से भरा पड़ा है और भौतिक आकाश तो इस आध्यात्मिक आकाश का एक नगण्य अंश मात्र है। *भागवत* (भक्त) का लक्ष्य किसी एक वैकुण्ठ लोक में प्रवेश करना होता है जिनमें से प्रत्येक में भगवान् अपने असीम साकार अंशों के रूप में असंख्य शुद्ध भक्त पार्षदों की संगति का आनन्द भोगते रहते हैं। इस भौतिक जगत में बद्धजीवों को भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त करने पर इन लोकों में भेज दिया जाता है। किन्तु नित्य मुक्त आत्माओं की संख्या इस जगत के बद्धजीवों से कहीं अधिक रहती है और वैकुण्ठ लोक वासी नित्यमुक्त आत्माएँ इस दुखी भौतिक जगत में आना कभी भी पसन्द नहीं करतीं।

परमेश्वर की निर्विशेष ब्रह्मज्योति में लीन होने के इच्छुक निर्विशेषवादियों को भगवान् के साकार रूप की प्रेमाभक्ति की कोई धारणा नहीं होती। उनकी तुलना उन मछलियों से की जा सकती है, जो नदियों तथा नालों में उत्पन्न होकर महासागर में प्रवास के लिए चली जाती हैं। वे बहुत काल तक महासागर में नहीं रह सकतीं, क्योंकि इन्द्रिय तृप्ति की उनकी इच्छा उन्हें पुन: नदियों–नालों में वापस ला देती है। इसी प्रकार जब भौतिकतावादी सीमित जगत में भोग करने के अपने प्रयत्नों में विफल होता है, तो वह या तो कारणार्णव में लीन होकर या निर्विशेष ब्रह्मज्योति तेज में लीन होकर निर्विशेष मोक्ष की खोज करता है। किन्तु न तो कारणार्णव और न ही निर्विशेष ब्रह्मज्योति इन्द्रियों की संगति तथा व्यस्तता के लिए श्रेष्ठ विकल्प प्रस्तुत कर पाते हैं, फलत: निर्विशेषवादी एक बार फिर इन्द्रिय–तृप्ति की अतृप्त कामना में भौतिक जगत में जन्म–मृत्यु के चक्र में फँस जाता है। किन्तु कोई भी भक्त जो अपनी इन्द्रियों को भक्ति में लगाकर भगवद्धाम में प्रवेश करता है और वहाँ पर मुक्तात्माओं तथा भगवान् की संगति करता है। वह भौतिक जगत की सीमित चाहारदीवारियों की ओर कभी आकृष्ट नहीं होता।

भगवद्गीता (८.१५) में भी इसी की पुष्टि की गई है, जैसाकि भगवान् कहते हैं ''बड़े–बड़े महात्मागण या भक्तियोगी मेरी संगति प्राप्त करने के बाद इस दुखमय तथा अस्थायी जगत में फिर कभी वापस नहीं आते।'' अतएव जीवन की सर्वोच्च सिद्धि भगवान् की संगति प्राप्त करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भगवान् की सेवा में लगा रहने के कारण, भक्तियोगी को, ज्ञान या योग जैसी अन्य मोक्ष

की विधि के लिए कोई आकर्षण नहीं होता। शुद्ध भक्त शत प्रतिशत भगवान् का भक्त होता है, अन्य कुछ भी नहीं।

इस श्लोक के अन्य दो शब्दों *शान्तम्* तथा *आनन्दम्* पर भी हमें ध्यान देना होगा, क्योंकि ये बोध कराते हैं कि भगवद्भक्ति भक्त को वास्तव में दो महत्त्वपूर्ण वर देनेवाली है। ये हैं—शान्ति तथा तुष्टि। निर्विशेषवादी ब्रह्म से एकाकार होने का इच्छुक रहता है या दूसरे शब्दों में, वह ब्रह्म बनना चाहता है। यह कोरी कल्पना है। योगी विविध प्रकार की योगशक्तियों से ऊब उठता है, जिसके कारण उसे न तो शान्ति मिलती है, न सन्तोष। अतएव न तो निर्विशेषवादी, न ही योगी को वास्तविक शान्ति तथा सन्तोष मिल पाता है, किन्तु भक्त पूर्ण रूप से शान्त तथा सन्तुष्ट रह सकता है क्योंकि उसकी संगति पूर्ण ब्रह्म से रहती है। अतएव ब्रह्म में लीन होने या कतिपय योग-शक्तियों की उपलब्धि में भक्त को कोई आकर्षण नहीं रहता।

ईश-प्रेम की प्राप्ति का अर्थ है अन्य समस्त आकर्षणों से पूर्ण मुक्ति। बद्धजीव अनेक इच्छाएँ करता है—जैसे धार्मिक व्यक्ति बनना, धनी बनना, प्रथम कोटि का भोक्ता होना, या स्वयं ईश्वर होना या योगी आदि की भाँति शक्तिशाली बनना और कुछ भी पा कर या करके आश्चर्यजनकरूप से कार्य करना। ये समस्त महत्त्वाकांक्षाएँ उस भावी भक्त द्वारा ठुकरा दी जानी चाहिए जो अपने सुप्त भगवत्प्रेम को पुनः जागृत करना चाहता है। अशुद्ध भक्त भक्ति सम्पन्न करके उपर्युक्त सारी भौतिक वस्तुओं की कामना करता है, किन्तु शुद्ध भक्त में उपर्युक्त कल्मष लेशमात्र भी नहीं रहते। इनमें भौतिक इच्छाएँ, निर्विशेष का चिन्तन तथा योग शक्तियों की प्राप्ति सम्मिलित हैं। शुद्ध भक्ति-मय सेवा के द्वारा अपने वांछनीय उद्देश्य अर्थात् भगवान् के लिए मनुष्य भगवत्प्रेम की स्थिति प्राप्त कर सकता है।

यदि हम अधिक स्पष्ट करना चाहें तो कह सकते हैं कि यदि कोई भगवत्प्रेम प्राप्त करना चाहता है, तो उसे भौतिक भोग की सारी इच्छाओं का परित्याग कर देना चाहिए, उसे किसी भी देवता की पूजा से दूर रहना चाहिए और उसे केवल पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा में लगे रहना चाहिए। उसे भगवान् से तदाकार होने के मूर्खतापूर्ण विचार का परित्याग कर देना चाहिए और संसार में प्रतिष्ठा पाने के लिए आश्चर्यजनक शक्तियों को प्राप्त करने की इच्छा त्याग देनी चाहिए। शुद्ध भक्त किसी

पारिश्रमिक की आशा न करके भगवान् की सेवा में ही लगा रहता है। इससे भगवत्प्रेम प्राप्त होगा या, जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है, *शान्तम्* तथा *आनन्दम्* की स्थिति प्राप्त हो सकेगी।

एते सृती ते नृप वेद-गीते
त्वयाभिपृष्टे च सनातने च ।
ये वै पुरा ब्रह्मण आह तुष्ट
आराधितो भगवान् वासुदेवः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

एते—ये सब, जिनका वर्णन किया गया; सृती—मार्ग; ते—तुम तक; नृप—हे महाराज परीक्षित; वेद-गीते—वेदों के कथनानुसार; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अभिपृष्टे—ठीक से पूछे जाने पर; च—भी; सनातने—नित्य सत्य के मामले में; च—सचमुच; ये—जो; वै—निश्चय ही; पुरा—पहले; ब्रह्मणे—ब्रह्माजी से; आह—कहा; तुष्टः—सन्तुष्ट होकर; आराधितः—पूजित होकर; भगवान्—भगवान्; वासुदेवः—भगवान् कृष्ण ने।.

हे महाराज परीक्षित, आप इतना जान लें कि मैंने आपकी समुचित जिज्ञासा के प्रति जो भी वर्णन किया है, वह वेदों के कथनानुसार है और वही नित्य सत्य है। इसे साक्षात् भगवान् कृष्ण ने ब्रह्मा से कहा था, क्योंकि वे ब्रह्मा द्वारा समुचित रुप से पूजे जाने पर उनसे प्रसन्न थे।

तात्पर्य : परव्योम तक पहुँचने और फिर समस्त भौतिक बन्धन से मोक्ष पाने के दो भिन्न-भिन्न मार्ग हैं—या तो भगवद्धाम पहुँचने का सीधा मार्ग (सद्य:युक्ति) या अन्य उच्चलोकों से होकर धीरे-धीरे पहुँचने की क्रमिक विधि (क्रमयुक्ति)। ये वेदों के कथनानुसार यहाँ पर प्रस्तुत किये गये हैं। इस प्रसंग में वैदिक कथन इस प्रकार हैं—यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता:। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते (बृहदारण्यक उपनिषद् ४.४.७) तथा *तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति* (बृहदारण्यक उपनिषद ६.२.१५) : ''जो हृदयरोग तुल्य समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त हैं, वे मृत्यु को जीतने में समर्थ हैं और अर्चिलोक से होकर भगवद्धाम में प्रवेश करते हैं।'' ये वैदिक कथन *श्रीमद्भागवत* के कथन का समर्थन करनेवाले हैं और इनकी पुष्टि शुकदेव गोस्वामी द्वारा की जा रही है, जो जोर देकर यह कहते हैं कि इस सत्य का उद्घाटन वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण ने वेदों के प्रथम प्रमाण ब्रह्माजी से किया। शिष्य-परम्परा के अनुसार सर्वप्रथम भगवान् कृष्ण ने ब्रह्मा को वेद सुनाया, ब्रह्मा ने नारद को और नारद ने व्यासदेव को। तब व्यास ने शुकदेव गोस्वामी को यही ज्ञान दिया और इसी प्रकार आगे चलता रहा। इस तरह इन समस्त प्राधिकृत पुरुषों के कथनों में कोई अन्तर नहीं है। चूँकि सत्य नित्य है,

अतएव सत्य के विषय में कोई नवीन मत नहीं हो सकता। वेदों में निहित ज्ञान को जानने का यही साधन है। इसे न तो प्रकाण्ड पाण्डित्य द्वारा समझा जा सकता है, न संसारी पंडितों की फैशनपरस्त व्याख्याओं द्वारा। इसमें न कुछ जोड़ने को है, न घटाने को, क्योंकि सत्य तो सत्य है। किन्तु अन्ततः किसी न किसी प्रमाण को स्वीकार करना होता है। आधुनिक विज्ञानी भी कतिपय वैज्ञानिक सत्यों के लिए सामान्य व्यक्तियों के हेतु प्रमाणतुल्य हैं। सामान्य व्यक्ति विज्ञानी के कथन का पालन करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि सामान्य व्यक्ति प्रमाण का अनुगमन करता है। वैदिक ज्ञान भी इसी रीति से प्राप्त किया जाता है। सामान्य व्यक्ति यह तर्क नहीं कर सकता कि आकाश या ब्रह्माण्ड के परे क्या है; उसे चाहिए कि वह वेदों के कथनों को उसी तरह स्वीकार करे जिस तरह वे प्रामाणिक शिष्य-परम्परा द्वारा स्वीकृत किये जाते रहे हैं। *भगवद्गीता* में भी चतुर्थ अध्याय में, गीता को समझने की यही विधि बताई गई है। यदि कोई आचार्यों के प्रामाणिक कथन को नहीं मानता, तो वेदों में वर्णित सत्य की उसकी खोज व्यर्थ ही होगी।

न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह ।
वासुदेवे भगवति भक्ति-योगो यतो भवेत् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; हि—निश्चय ही; अतः—इसके परे; अन्यः—अन्य कुछ; शिवः—कल्याणप्रद; पन्थाः—साधन; विशतः—भटकते हुए; संसृतौ—भौतिक जगत में; इह—इस जीवन में; वासुदेवे—भगवान् वासुदेव कृष्ण में; भगवति—भगवान्; भक्ति-योगः—प्रत्यक्ष भक्ति; यतः—जहाँ; भवेत्—ऐसा हो।

जो लोग भौतिक विश्व में भटक रहे हैं, उनके लिए भगवान् कृष्ण की प्रत्यक्ष भक्ति से बढ़कर मोक्ष का कोई अधिक कल्याणकर साधन नहीं है।

तात्पर्य : जैसाकि अगले श्लोक से स्पष्ट हो जायेगा, भक्ति या प्रत्यक्ष भक्तियोग ही भवबन्धन से उद्धार का एकमात्र पूर्ण एवं कल्याणप्रद साधन है। भवबन्धन से उद्धार पाने के अनेक अप्रत्यक्ष उपाय हैं, लेकिन इनमें से कोई भी भक्तियोग के समान सरल तथा कल्याणप्रद नहीं है। ज्ञान तथा योग के साधन एवं अन्य सम्बद्ध विधाएँ कर्ता का उद्धार करने के लिए स्वतन्त्र नहीं हैं। ऐसे कार्यों से मनुष्य अनेकानेक वर्षों बाद भक्तियोग की अवस्था को प्राप्त होता है। *भगवद्गीता* (१२.५) में कहा गया है कि जो लोग ब्रह्म के निर्विशेष स्वरूप के प्रति आसक्त रहते हैं, उन्हें अपने इच्छित लक्ष्य तक पहुँचने में

अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं और परम सत्य की खोज करनेवाले ज्ञानी अनेकानेक जन्मों के बाद वासुदेव-अनुभूति की महत्ता को समझ पाते हैं (भगवद्गीता ७.१९)। जहाँ तक योग पद्धति का सम्बन्ध है, *भगवद्गीता* (६.४७) में यह भी कहा गया है कि योगियों में जो योगी परम सत्य का अनुगमन करता है और जो भगवान् की सेवा में सतत लगा रहता है, वह योगियों में सर्वोच्च है। *भगवद्गीता* (१८.६६) का अन्तिम उपदेश है कि आत्म-साक्षात्कार तथा भवबन्धन से मोक्ष की विभिन्न विधियों या अन्य सारे कार्यों को छोड़कर भगवान् की शरण में आओ। मनुष्य को सभी प्रकार से भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति स्वीकार करने के लिए प्रेरित करना ही समस्त वैदिक ग्रंथों का तात्पर्य है।

जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के उद्धरणों में (प्रथम स्कन्ध में) बताया जा चुका है, या तो प्रत्यक्ष भक्तियोग या वे सारे साधन ही जिनका पर्यवसान भक्तियोग में होता है, धर्म के सर्वोच्च रूप हैं। इसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ कर्ता के समय का अपव्यय मात्र है।

श्रील श्रीधर स्वामी तथा जीव गोस्वामी जैसे अन्य सारे आचार्य यह स्वीकार करते हैं कि भक्तियोग सरल, सहज, प्राकृतिक तथा चिन्तामुक्त होने के साथ ही मानवमात्र के सुख का एकमात्र स्रोत है।

भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया ।
तदध्यवस्यत् कूट-स्थो रतिरात्मन् यतो भवेत् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

भगवान्—महापुरुष ब्रह्माजी ने; ब्रह्म—वेद; कार्त्स्न्येन—संक्षिप्तीकरण द्वारा; त्रिः—तीन बार; अन्वीक्ष्य—परीक्षा करके; मनीषया—अत्यन्त विद्वत्तापूर्वक; तत्—वह; अध्यवस्यत्—निश्चित किया; कूट-स्थः—मन की एकाग्रता से; रतिः—आकर्षण; आत्मन् (आत्मनि)—भगवान् श्रीकृष्ण में; यतः—जिसके द्वारा; भवेत्—ऐसा होता है।

महापुरुष ब्रह्मा ने अत्यन्त मनोयोग से वेदों का तीन बार अध्ययन किया और उनकी भलीभाँति संवीक्षा कर लेने के बाद, वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति आकर्षण (रति) ही धर्म की सर्वोच्च सिद्धि है।

तात्पर्य : श्री शुकदेव गोस्वामी वेदों के परम प्रमाण, ब्रह्मा, का उल्लेख कर रहे हैं, जो भगवान् के गुणावतार हैं। भौतिक सृष्टि के प्रारम्भ में ही ब्रह्माजी को वेदों की शिक्षा दी गई। यद्यपि ब्रह्माजी ने साक्षात् भगवान् से वैदिक उपदेशों का श्रवण किया, लेकिन वेदों के भावी जिज्ञासुओं की उत्सुकता को तुष्ट करने के लिए ही ब्रह्माजी ने, एक जिज्ञासु की तरह, वेदों का तीन बार अध्ययन किया जैसाकि सारे

जिज्ञासु करते हैं। उन्होंने बड़े मनोयोग से अध्ययन किया और वेदों के प्रयोजन पर भी मन को केन्द्रित रखा और सारी विधि की सम्यक् परीक्षण करने के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भगवान् श्रीकृष्ण का शुद्ध अनन्य भक्त बनना ही समस्त धार्मिक सिद्धान्तों की सर्वोच्च सिद्धि है। *भगवद्गीता* का अन्तिम उपदेश भी यही है, जिसे स्वयं भगवान् ने दिया। इस प्रकार वैदिक निर्णय सभी आचार्यों द्वारा मान्य है और जो इस निर्णय के विरुद्ध हैं, वे वेदवादरत हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* (२.४२) में कहा गया है।

भगवान् सर्व-भूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः ।
दृश्यैर्बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा लक्षणैरनुमापकैः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; सर्व—समस्त; भूतेषु—सारे जीवों में; लक्षितः—देखे जाते हैं; स्व-आत्मना—आत्मा सहित; हरिः—भगवान्; दृश्यैः—देखे जाने के द्वारा; बुद्धि-आदिभिः—बुद्धि के द्वारा; द्रष्टा—देखने वाला; लक्षणैः—विभिन्न लक्षणों से; अनुमापकैः—परिकल्पना द्वारा।

आत्मा के साथ भगवान् श्रीकृष्ण प्रत्येक जीव में हैं। यह तथ्य हमारे देखने से तथा बुद्धि से सहायता लेने पर अनुभूत तथा परिकल्पित होता है।

तात्पर्य : जनसामान्य का यह आम तर्क है कि चूँकि भगवान् हमारी आँखों को नहीं दिखते तो फिर कोई किस तरह उनकी शरण में जाय या उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति करे? ऐसे जनसामान्य के लिए यहाँ पर श्रील शुकदेव गोस्वामी द्वारा व्यावहारिक सुझाव दिया गया है कि मनुष्य तर्क तथा अनुभूति द्वारा किस तरह परमेश्वर का दर्शन पा सकता है। वास्तव में, भगवान् हमारी वर्तमान भौतिक इन्द्रियों द्वारा देखे नहीं जा सकते, किन्तु जब कोई व्यावहारिक सेवा-भाव से भगवान् की उपस्थिति के बारे में आश्वस्त हो लेता है, तो भगवत्कृपा से उनका प्राकट्य होता है और भगवान् का ऐसा शुद्ध भक्त सदैव तथा प्रत्येक स्थान में भगवान् का दर्शन कर सकता है। वह यह अनुभव कर सकता है कि बुद्धि भगवान् के पूर्ण अंश परमात्मा का रूप-निर्देशन है। सामान्य व्यक्ति के लिए भी यह अनुभव कर सकना कि परमात्मा जन-जन के साथ हैं कठिन नहीं है। इसकी विधि इस प्रकार है—मनुष्य आत्म-पहचान का अनुभव करे और सकारात्मक रूप से ऐसा अनुभव करे कि वह विद्यमान है। उसे यह एकाएक नहीं, अपितु थोड़ी बुद्धि लगाने पर अनुभव होगा कि वह शरीर नहीं है। उसे अनुभव होगा कि हाथ, पाँव, सिर, बाल तथा अंग-प्रत्यंग उसके शरीर के अंश हैं, किन्तु हाथ पाँव, सिर इत्यादि से उसके आत्मस्वरुप की

पहचान नहीं हो सकती। अतएव अपनी बुद्धि से वह अपनी आत्मा को अन्य दृश्य वस्तुओं से अन्तर करके, उन्हें विलग कर सकता है। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि जीव, चाहे मनुष्य हो या पशु, वह द्रष्टा है और वह अपने अतिरिक्त सबों को देख सकता है। अतएव द्रष्टा तथा दृश्य में अन्तर होता है। अब थोड़ी बुद्धि लगाने पर, हम यह मान सकते हैं कि जो जीव अपने से दूर वस्तुओं को साधारण दृष्टि से देखता है, वह स्वतन्त्र रूप से देख या चल नहीं सकता। हमारे सारे कार्य तथा अनुभूतियाँ उन विभिन्न शक्तियों पर निर्भर हैं, जो हमें प्रकृति द्वारा विभिन्न संयोगों के रूप में प्रदान की जाती हैं। हमारी कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ, हमें प्राकृतिक शक्ति के स्थूल या सूक्ष्म रूपों, में हमें प्राप्त होती हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं—(१) श्रवण (२) स्पर्श (३) दर्शन (४) स्वाद तथा (५) गंध। इसी तरह कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच हैं—(१) हाथ (२) पाँव (३) वाणी (४) मल निकासी अंग; तथा (५) जननेन्द्रियाँ। हमारी तीन सूक्ष्म इन्द्रियाँ इस प्रकार हैं—(१) मन (२) बुद्धि; तथा (३) अहंकार। (कुल मिलाकर तेरह इन्द्रियाँ हैं)। यह भी समान रूप से स्पष्ट है कि हमारे अनुभव के विषय (वस्तुएँ) प्राकृतिक शक्ति के असीम संयोग के प्रतिफल हैं। चूँकि इससे यह सिद्ध हो जाता है कि सामान्य जीव अनुभव या गति के मामले में स्वतन्त्र नहीं है और हमारा अस्तित्व प्रकृति की शक्ति द्वारा प्रतिबन्धित है, अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जो देखता है (द्रष्टा), वह आत्मा है तथा हमारी समस्त इन्द्रियाँ एवं अनुभव के विषय भौतिक हैं। द्रष्टा का आध्यात्मिक गुण हमारी भौतिक बद्धावस्था की सीमित स्थिति के साथ हमारे असंतोष द्वारा परिलक्षित होता है। आत्मा तथा पदार्थ का यही अन्तर है। कुछ अल्पज्ञ तर्क करते हैं कि भौतिक पदार्थ से देखने तथा चलने की शक्ति विकसित होती है, किन्तु ऐसा तर्क स्वीकार्य नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा प्रयोगात्मक साक्ष्य प्राप्त नहीं है, जिसमें पदार्थ से कहीं भी जीव उत्पन्न हुआ हो। भविष्य कितना ही आकर्षक क्यों न हो, उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। भौतिक तत्त्वों से आत्मा के विकास की बात व्यर्थ व मूर्खतापूर्ण है, क्योंकि आज तक विश्व में कहीं भी पदार्थ में देखने तथा गति करने की शक्ति विकसित नहीं हुई। अतएव यह निश्चित है कि पदार्थ तथा आत्मा दो पृथक् सत्ताएँ हैं और बुद्धि द्वारा इस निष्कर्ष तक पहुँचा जा सकता है। अब हम इस बात पर आते हैं कि जो वस्तुएँ थोड़ी बुद्धि लगाने पर दिखती हैं, वे

चलित नहीं हो सकतीं जब तक कि हम किसी को बुद्धि का प्रयोगकर्ता या निर्देशक स्वीकार न कर लें। बुद्धि उसी प्रकार निर्देश करती है, जिस प्रकार उच्च अधिकारी निर्देश देता है और बुद्धि का प्रयोग किये बिना जीव न तो देख सकता है, न हिल–डुल सकता है, न खा सकता है और न कोई कार्य ही कर सकता है। जब मनुष्य बुद्धि का उपयोग नहीं कर पाता तो वह बेसुध बन जाता है, अतएव जीव बुद्धि पर अथवा किसी श्रेष्ठ व्यक्ति के निर्देशन पर निर्भर रहता है। ऐसी बुद्धि सर्वव्यापी है। प्रत्येक जीव में बुद्धि होती है और यह बुद्धि, किसी श्रेष्ठतर अधिकारी का निर्देशन होने के कारण, उस पिता के तुल्य है, जो अपने पुत्र को मार्गनिर्देश देता रहता है। यह उच्च अधिकारी परमात्मा हैं, जो प्रत्येक जीव में उपस्थित रहकर उसके भीतर वास कर रहा हैं।

अपनी खोज के सिलसिले में यहाँ हम निम्नलिखित प्रश्न पर विचार कर सकते हैं: एक ओर हम यह अनुभव करते हैं कि हमारी सारी अनुभूतियाँ तथा कार्य प्रकृति की व्यवस्था द्वारा नियन्त्रित हैं, तो भी हम ऐसा अनुभव करते हैं और कहते हैं ''मैं देख रहा हूँ'' या ''मैं कर रहा हूँ''। अतएव हम कह सकते हैं कि हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ गतिशील हैं, क्योंकि हम अपनी पहचान भौतिक शरीर के रूप में कर रहे हैं और परमात्मा हमारी इच्छानुसार हमारा मार्गदर्शन कर रहे हैं तथा हमारी इच्छा के अनुसार हमें फल दे रहे हैं। बुद्धि के रूप में परमात्मा के मार्गदर्शन का लाभ उठाकर, हम यह अध्ययन करते रहते हैं और अपने निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि, ''मैं शरीर नहीं हूँ'' या हम झूठी पहचान करते रह सकते हैं और अपने को ही स्वामी तथा कर्ता मानते रह सकते हैं। हमारी स्वतन्त्रता इतनी ही है कि हम अपनी इच्छा को अज्ञान, भौतिक भ्रान्त धारणाओं की ओर, या सही आध्यात्मिक धारणाओं की ओर ले जाँय। हम परमात्मा को अपना मित्र तथा मार्गदर्शक मानकर तथा उसी पर अपनी बुद्धि लगाकर, असली आध्यात्मिक धारणा प्राप्त कर सकते हैं। परमात्मा तथा आत्मा दोनों ही आत्मा हैं, अतएव दोनों के गुण एक से हैं और वे पदार्थ से भिन्न हैं। लेकिन परमात्मा तथा आत्मा समान स्तर पर नहीं हो सकते, क्योंकि परमात्मा निर्देश देता है या बुद्धि प्रदान करता है और आत्मा उस निर्देश का पालन करता है, जिससे सही ढंग से कार्य सम्पन्न होते हैं। व्यक्ति पूर्ण रूप से परमात्मा के निर्देश पर आश्रित रहता है, क्योंकि देखने, सुनने, सोचने, अनुभव करने तथा इच्छा करने इत्यादि में, वह पद–पद पर परमात्मा

के निर्देश का पालन करता है।

जहाँ तक सामान्य ज्ञान का प्रश्न है, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तीन प्रकार की सत्ताएँ हैं—पदार्थ, आत्मा तथा परमात्मा। अब यदि हम *भगवद्गीता* या वैदिक ज्ञान में प्रवेश करें, तो हम यह भी समझ सकेंगे कि ये तीनों सत्ताएँ पूर्ण पुरुषोत्तमभगवान् पर आश्रित हैं। परमात्मा तो भगवान् की आंशिक अभिव्यक्ति है। *भगवद्गीता* पुष्टि करती है कि भगवान् अपनी आंशिक अभिव्यक्ति से ही सारे भौतिक जगत में आधिपत्य बनाए हुए हैं। ईश्वर महान् हैं और वे जीवात्मा के आज्ञापालक मात्र नहीं हो सकते। अतएव परमात्मा पुरुषोत्तम भगवान् की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो सकता। जीवात्मा द्वारा परमात्मा की अनुभूति किया जाना आत्म-साक्षात्कार का शुभारम्भ है और इस आत्म-साक्षात्कार की प्रगति होने से मनुष्य बुद्धि द्वारा, मान्य शास्त्रों द्वारा तथा मुख्यतया भगवत्कृपा द्वारा भगवान् की अनुभूति कर पाने में सक्षम होता है। *भगवद्गीता* भगवान् श्रीकृष्ण की प्रारम्भिक अव-धारणा है और *श्रीमद्भागवत* उसके आगे ईश-विज्ञान की व्याख्या है। अतएव यदि हम अपने संकल्प में दृढ़ रहें तथा उसी शरीर-रूपी वृक्ष में आसीन बुद्धि के निर्देशक के कृपा की याचना करें, जो पक्षी रूप में अन्य पक्षी के साथ आसीन है (जैसाकि उपनिषदों में कहा गया है) तो वेदों में दी गई सूचनाएँ हमारे समक्ष स्पष्ट हो जाएँगी और तब भगवान् वासुदेव को समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी। अतएव बुद्धिमान व्यक्ति बुद्धि के ऐसे उपयोग से अनेक जन्मों के बाद भी वासुदेव के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है, जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में पुष्टि हुई है।

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान्नृणाम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; सर्व—सभी; आत्मना—आत्मा; राजन्—हे राजा; हरिः—भगवान्; सर्वत्र—सभी जगह; सर्वदा—सदैव; श्रोतव्यः—सुना जाना चाहिए; कीर्तितव्यः—गुणगान किया जाना चाहिए; च—भी; स्मर्तव्यः—स्मरण किया जाना चाहिए; भगवान्—भगवान्; नृणाम्—मनुष्यों द्वारा।

हे राजन्, अतएव यह आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य सर्वत्र तथा सदैव भगवान् का श्रवण करे, गुणगान करे तथा स्मरण करे।

तात्पर्य : श्री शुकदेव गोस्वामी इस श्लोक को *तस्मात्* अर्थात् अतएव से प्रारम्भ करते हैं, क्योंकि

वे पिछले श्लोक में बता चुके हैं कि भक्तियोग की भव्य विधि के अतिरिक्त मोक्ष का कोई शुभ उपाय नहीं है। भक्तों द्वारा विभिन्न विधियों यथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्म-निवदेन से भक्तियोग का अभ्यास किया जाता है। ये नवों प्रामाणिक विधियाँ हैं और निष्ठावान भक्त इनमें से सभी या कुछ या केवल एक विधि द्वारा वांछित फल पा सकता है। किन्तु इनमें से पहली विधि अर्थात् श्रवण विधि भक्तियोग में सर्व-प्रमुख है। पर्याप्त तथा समुचित विधि से श्रवण किये बिना, अन्य विधियों के अभ्यास से कोई प्रगति नहीं हो पाती और केवल श्रवण के लिए तो समूचा वैदिक वाङ्मय भरा पड़ा है, जिसे व्यासदेव जैसे भगवान् के शक्त्यावेश अवतार ने संकलित किया है। चूँकि यह सुनिश्चित हो चुका है कि भगवान् प्रत्येक वस्तु के परमात्मा हैं, अतएव उनका श्रवण तथा कीर्तन सर्वत्र एवं सदैव होना चाहिए। यह मनुष्य का विशिष्ट कर्तव्य है। जब मनुष्य सर्वव्यापी भगवान् के विषय में सुनना बन्द कर देता है, तो वह मानवनिर्मित यन्त्रों द्वारा प्रसारित कूड़ा-करकट सुनने का अभ्यस्त बन जाता है। कोई यन्त्र बुरा नहीं है, क्योंकि यन्त्र से मनुष्य भगवान् के विषय में सुन सकता है, किन्तु प्रच्छन्न कार्यों के लिए प्रयुक्त होने से यन्त्र मानव सभ्यता के स्तर में त्वरित ह्रास ला रहा है। यहाँ पर यह कहा गया है कि मनुष्य को सुनना अनिवार्य है, क्योंकि *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* जैसे ग्रंथ इसी उद्देश्य से लिखे गये हैं। मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य कोई सजीव प्राणी ऐसे वैदिक ग्रंथों का श्रवण नहीं कर सकता। यदि मानव समाज वैदिक साहित्य का श्रवण करे तो वह उन अपवित्र व्यक्तियों द्वारा उच्चरित अपवित्र शब्द-ध्वनि को नहीं सुन पायेगा, जो पूरे समाज के स्तर को गिराने वाले हैं। श्रवण की पुष्टि कीर्तन द्वारा होती है। जो व्यक्ति उचित स्रोत से सुनता है, वह सर्वव्यापी भगवान् के विषय में आश्वस्त हो जाता है और तब वह भगवान् का गुणगान करने के लिए प्रोत्साहित होता है। सभी बड़े-बड़े आचार्यों ने, यथा रामानुज, मध्व, चैतन्य, सरस्वती ठाकुर ने, या कि अन्य देशों में मुहम्मद, ईसा तथा अन्यों ने, कीर्तन द्वारा सदैव तथा सर्वत्र भगवान् का यशोगान किया है। चूँकि भगवान् सर्वव्यापी हैं, अतएव सर्वत्र तथा सदैव उनका गुणगान अनिवार्य है। भगवान् का गुणगान करने में देश तथा काल का बन्धन नहीं होना चाहिए। यही *सनातन धर्म* या *भागवत* धर्म कहलाता है। *सनातन* का अर्थ है शाश्वत, सदैव तथा सर्वत्र। *भागवत* का अर्थ है भगवान्

सम्बन्धी। भगवान् सारे देश-काल के स्वामी हैं, अतएव भगवान् के नाम का विश्व भर में श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण होना चाहिए। ऐसा करने से पूरे विश्व के लोगों द्वारा उत्पुकतावश प्रतीक्षित व इच्छित शांति व वैभव का प्रादुर्भाव होगा। *च* शब्द भक्तियोग की अन्य विधियों को सम्मिलित करता है, जैसाकि ऊपर वर्णित है।

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां
कथामृतं श्रवण-पुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषय-विदूषिताशयं
व्रजन्ति तच्चरण-सरोरुहान्तिकम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

पिबन्ति—पीते हैं; ये—जो; भगवतः—भगवान् का; आत्मनः—अत्यन्त प्रिय; सताम्—भक्तों के; कथा-अमृतम्—सन्देश-रूपी अमृत; श्रवण-पुटेषु—कान के छेदों के भीतर; सम्भृतम्—परिपूरित; पुनन्ति—पवित्र करते हैं; ते—उनके; विषय—भौतिक भोग; विदूषित-आशयम्—कलुषित जीवन लक्ष्य; व्रजन्ति—वापस जाते हैं; तत्—भगवान् के; चरण—चरण; सरोरुह-अन्तिकम्—कमल के निकट।

जो लोग भक्तों के अत्यन्त प्रिय भगवान् कृष्ण की अमृत-तुल्य कथा को कर्णरूपी पात्रों से भर-भर कर पीते हैं, वे भौतिक भोग के नाम से विख्यात दूषित जीवन-उद्देश्य को पवित्र कर लेते हैं और इस प्रकार पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर के चरणकमलों में भगवद्धाम को वापस जाते हैं।

तात्पर्य : मानव समाज के सारे कष्ट दूषित जीवन-उद्देश्य अर्थात् भौतिक संसाधनों पर प्रभुत्व जताने के कारण हैं। मानव समाज अविकसित संसाधनों का जितना ही दोहन अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए करता है, वह उतना ही भगवान् की भ्रामक भौतिक शक्ति (माया) द्वारा बँधता जाता है और विश्व के कष्ट घटने के बजाय बढ़ते जाते हैं। भगवान् मानव जीवन की सारी आवश्यकताओं की यथा अन्न, दूध, फल, लकड़ी, पत्थर, चीनी, रेशम, रत्न, कपास, नमक, जल, तरकारी आदि की प्रचुर मात्रा में पूर्ति करता है, जिससे विश्व की मानव जाति के साथ ही ब्रह्माण्ड के प्रत्येक लोक के अन्य जीवों का भी भरण-पोषण हो सके। पूर्ति के सारे साधन हैं और सही प्रणाली से अपनी आवश्यकता प्राप्त करने के लिए मनुष्य को थोड़ी सी शक्ति व्यय करने की आवश्यकता होती है। जीवन में कृत्रिम रूप से सुविधाएँ उत्पन्न करने के लिए यन्त्रों तथा औजारों या बड़े-बड़े इस्पात उद्योगों की आवश्यकता नहीं है। जीवन कभी कृत्रिम आवश्यकताओं द्वारा आरामदेह नहीं बनाया जा सकता; वह तो 'सादा जीवन

उच्च विचार' से ही आरामदेह बनता है। यहाँ पर शुकदेव गोस्वामी ने मानव समाज के लिए उच्चतम चिन्तन का सुझाव दिया है—यह है श्रीमद्भागवत का ठीक से श्रवण करना। इस कलियुग के मनुष्यों ने जीवन की पूर्ण दृष्टि खो दी है और यह श्रीमद्भागवत उनके लिए टार्चलाइट के समान है, जिससे असली मार्ग देखा जा सकता है। श्रील जीव गोस्वामी प्रभुपाद ने इस श्लोक में आये कथामृतम् की व्याख्या की है और यह संकेत किया है कि श्रीमद्भागवत भगवान् का अमृतमय संदेश है। श्रीमद्भागवत के पर्याप्त श्रवण से जीवन के दूषित लक्ष्य, प्रकृति पर प्रभुता जताना शमित होगा और संसार भर के लोग ज्ञान तथा आनन्द के साथ शान्तिमय जीवन बिता सकेंगे।

शुद्ध भगवद्भक्त के लिए भगवान् के नाम, यश, गुण, पार्षद आदि से सम्बन्धित कोई भी कथा मोहक होती है और चूँकि ऐसी कथाओं का अनुमोदन नारद, हनुमान, नन्द महाराज तथा वृन्दावन के अन्य वासियों द्वारा हुआ है, अतएव ऐसे संदेश निश्चय ही दिव्य तथा हृदय एवं आत्मा को भानेवाले हैं।

यहाँ पर श्री शुकदेव गोस्वामी आश्वस्त करते हैं कि *भगवद्गीता* तथा उसके बाद *श्रीमद्भागवत* की कथाओं के निरन्तर सुनते रहने से मनुष्य भगवान् के पास पहुँचकर विशाल कमल-सदृश गोलोक वृन्दावन में भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति कर सकेगा।

इस प्रकार इस श्लोक में बताई गई भक्तियोग की विधि को प्रत्यक्ष स्वीकार कर लेने से, अर्थात् भगवान् की दिव्य कथा के पर्याप्त श्रवण से, भगवान् के निर्विशेष विराट स्वरूप का चिन्तन किये बिना ही, मनुष्य का भौतिक कल्मष दूर हो जाता है। यदि अभ्यासकर्ता भक्तियोग का अभ्यास करने से भौतिक कल्मष से शुद्ध नहीं हो पाता, तो उसे छद्म भक्त समझना चाहिए। ऐसे पाखण्डी के लिए भवबन्धन से छूटने के लिए कोई उपाय नहीं है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''हृदय में भगवान्'' नामक द्वितीय अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तीन

शुद्ध भक्ति-मय सेवा : हृदय-परिवर्तन

श्री-शुक उवाच

एवमेतन्निगदितं पृष्टवान् यद्भवान् मम ।
नृणां यन्म्रियमाणानां मनुष्येषु मनीषिणाम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस तरह; एतत्—यह सब; निगदितम्—उत्तरित; पृष्टवान्—तुम्हारे पूछे जाने पर; यत्—जो; भवान्—आपने; मम—मुझसे; नृणाम्—मानव का; यत्—जो; म्रियमाणानाम्—मरणासन्न; मनुष्येषु—मनुष्यों में; मनीषिणाम्—बुद्धिमान मनुष्यों के।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे महाराज परीक्षित, आपने मुझसे मरणासन्न बुद्धिमान मनुष्य के कर्तव्य के विषय में जिस प्रकार जिज्ञासा की, उसी प्रकार मैंने आपको उत्तर दिया है।

तात्पर्य : सारे विश्व में मानव समाज में लाखों करोड़ों नर-नारी हैं और वे प्राय: सभी अल्पज्ञ हैं, क्योंकि उन्हें आत्मा के विषय में बहुत अल्प ज्ञान है। प्राय: सबों को जीवन की मिथ्या अव-धारणा है, क्योंकि वे अपनी पहचान स्थूल तथा सूक्ष्म भौतिक शरीर के रूप में करते हैं, जबकि वे ऐसे हैं नहीं। भले ही वे मानव समाज की नजरों में उच्च तथा निम्न पदों पर स्थित हों, किन्तु मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि जब तक वह अपने शरीर तथा मन से परे, अपने आत्मा के विषय में जिज्ञासा नहीं करता, तब तक मनुष्य-जीवन के उसके सारे कार्य नितान्त निष्फल हैं। इसलिए हजारों-हजार मनुष्यों में से कोई एक अपने आत्मा के विषय में जिज्ञासा करता है और *वेदान्त-सूत्र, भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* जैसे शास्त्रों को पढ़ता है। किन्तु ऐसे शास्त्रों के पढ़ने तथा सुनने के बावजूद भी, जब तक वह स्वरुपसिद्ध गुरु के सम्पर्क में नहीं आता, तब तक वह आत्मा की वास्तविक प्रकृति को नहीं समझ सकता। और ऐसे हजारों-लाखों व्यक्तियों में से कोई एक ऐसा निकलेगा जो वास्तव में भगवान् कृष्ण को जान सके। *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य २०.१२२-१२३) में कहा गया है कि भगवान् कृष्ण ने, अपनी अहैतुकी कृपावश, व्यासदेव का अवतार लेकर मानव समाज के बुद्धिमान वर्ग पठन-पाठन के लिए वैदिक साहित्य तैयार किया, क्योंकि यह वर्ग भगवान् से अपने असली सम्बन्ध को प्राय: पूरी तरह भूला हुआ है। ऐसा बुद्धिमान वर्ग भी भगवान् के साथ अपना सम्बन्ध भूल सकता है। अतएव सम्पूर्ण

भक्तियोग भूले हुए सम्बन्ध को पुनः जागृत करने के लिए है। यह पुनःजागरण केवल मनुष्य-जीवन में सम्भव है, जो चौरासी लाख योनियों का चक्र पूरा होने पर ही मिलता है। बुद्धिमान वर्ग के मनुष्यों को इस अवसर का लाभ उठाना चाहिए। चूँकि सारे मनुष्य बुद्धिमान नहीं होते, अतएव मनुष्य-जीवन की महत्ता हमेशा ठीक से समझ में नहीं आती। यहाँ पर *मनीषिणाम्* अर्थात् बुद्धिमान का विशेष प्रयोग हुआ है। महाराज परीक्षित जैसे *मनीषिणाम्* को भगवान् कृष्ण के चरणकमल ग्रहण करने चाहिए तथा भगवान् के पवित्र नाम तथा उनकी लीलाओं के श्रवण, कीर्तन आदि में अपने को लगाना चाहिए, क्योंकि ये सभी *हरिकथामृत* हैं। यह कृत्य विशेष रूप से मरणासन्न व्यक्ति के लिए संस्तुत है।

ब्रह्म-वर्चस-कामस्तु यजेत ब्रह्मणः पतिम् ।
इन्द्रमिन्द्रिय-कामस्तु प्रजा-कामः प्रजापतीन् ॥ २॥
देवीं मायां तु श्री-कामस्तेजस्कामो विभावसुम् ।
वसु-कामो वसून् रुद्रान् वीर्य-कामोऽथ वीर्यवान् ॥ ३॥
अन्नाद्य-कामस्त्वदितिं स्वर्ग-कामोऽदितेः सुतान् ।
विश्वान्देवान् राज्य-कामः साध्यान्संसाधको विशाम् ॥ ४॥
आयुष्कामोऽश्विनौ देवौ पुष्टि-काम इलां यजेत् ।
प्रतिष्ठा-कामः पुरुषो रोदसी लोक-मातरौ ॥ ५॥
रूपाभिकामो गन्धर्वान् स्त्री-कामोऽप्सर उर्वशीम् ।
आधिपत्य-कामः सर्वेषां यजेत परमेष्ठिनम् ॥ ६॥
यज्ञं यजेद् यशस्कामः कोश-कामः प्रचेतसम् ।
विद्या-कामस्तु गिरिशं दाम्पत्यार्थ उमां सतीम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

ब्रह्म—परम; वर्चस—तेज; कामः तु—जो उनकी कामना करता है; यजेत—पूजें; ब्रह्मणः—वेदों के; पतिम्—स्वामी को; इन्द्रम्—स्वर्ग के राजा को; इन्द्रिय-कामः तु—लेकिन जो प्रबल इन्द्रिय का इच्छुक है; प्रजा-कामः—सन्तान चाहनेवाला; प्रजापतीन्—प्रजापतियों को; देवीम्—देवी को; मायाम्—संसार की स्वामिनी को; तु—भी; श्री-कामः—सौन्दर्य की कामना करनेवाला; तेजः—शक्ति; कामः—चाहनेवाला; विभावसुम्—अग्निदेव को; वसु-कामः—सम्पत्ति चाहनेवाला; वसून्—वसुओं को; रुद्रान्—शिवजी के रुद्र अंशों को; वीर्य-कामः—बलिष्ठ बनने का इच्छुक; अथ—इसीलिए; वीर्यवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; अन्न-अद्य—अनाज की; कामः—कामना करनेवाला; तु—लेकिन; अदितिम्—देवताओं की माता अदिति को; स्वर्ग—स्वर्ग की; कामः—अभिलाषा करनेवाला; अदितेः सुतान्—अदिति के पुत्रों को; विश्वान्—विश्वदेव को; देवान्—देवताओं को; राज्य-कामः—राज्य की लालसा रखनेवाले; साध्यान्—साध्यदेवों को; संसाधकः—इच्छा पूरी करनेवाला; विशाम्—वणिक वर्ग की; आयुः-कामः—दीर्घायु चाहनेवाला; अश्विनौ—अश्विनीकुमार नामक; देवौ—दोनों देवताओं को; पुष्टि-कामः—सुगठित शरीर चाहनेवाला; इलाम्—पृथ्वी को; यजेत्—पूजे; प्रतिष्ठा-कामः—यश या पद में स्थिरता चाहनेवाला; पुरुषः—ऐसे व्यक्ति; रोदसी—अन्तरिक्ष; लोक-मातरौ—तथा पृथ्वी को; रूप—सौन्दर्य; अभिकामः—निश्चित रूप से कामना करनेवाला; गन्धर्वान्—गन्धर्वों को, जो गंधर्व लोक के रहनेवाले हैं तथा गायन में अत्यन्त पटु होते हैं; स्त्री-कामः—अच्छी पत्नी चाहनेवाला; अप्सरः उर्वशीम्—स्वर्गलोक की अप्सराओं को; आधिपत्य-कामः—दूसरों पर शासन चलाने की

इच्छा रखनेवाला; सर्वेषाम्—सबों की; यजेत—पूजा करे; परमेष्ठिनम्—ब्रह्माण्ड के प्रमुख ब्रह्मा को; यज्ञम्—भगवान् को; यजेत्—पूजे; यशः-कामः—प्रसिद्ध होने का इच्छुक; कोश-कामः—अच्छी बैंक-बचत का इच्छुक; प्रचेतसम्—स्वर्ग के कोषाध्यक्ष वरुण को; विद्या-कामः तु—लेकिन जो विद्या का इच्छुक हो; गिरिशम्—हिमालय के स्वामी शिवजी को; दाम्पत्य-अर्थः—तथा दाम्पत्य प्रेम के लिए; उमाम् सतीम्—शिवजी की सती पत्नी को, जो उमा के नाम से विख्यात हैं।

जो व्यक्ति निर्विशेष ब्रह्मज्योति तेज में लीन होने की कामना करता है, उसे वेदों के स्वामी (भगवान् ब्रह्मा या विद्वान पुरोहित बृहस्पति) की पूजा करनी चाहिए; जो प्रबल कामवासना का इच्छुक हो, उसे स्वर्ग के राजा इन्द्र की और जो अच्छी सन्तान का इच्छुक हो, उसे प्रजापतियों की पूजा करनी चाहिए। जो सौभाग्य का आकांक्षी हो, उसे भौतिक जगत की अधीक्षिका दुर्गादेवी की पूजा करनी चाहिए। जो अत्यन्त शक्तिशाली बनना चाहे, उसे अग्नि की और जो केवल धन की इच्छा करता हो, उसे वसुओं की पूजा करनी चाहिए। यदि कोई महान् वीर बनना चाहता है, तो उसे शिवजी के रुद्रावतारों की पूजा करनी चाहिए। जो प्रचुर अन्न की राशि चाहता हो, उसे अदिति की पूजा करनी चाहिए। जो स्वर्ग-लोक की कामना करे, उसे अदिति के पुत्रों की पूजा करनी चाहिए। जो व्यक्ति सांसारिक राज्य चाहता हो, उसे विश्वदेव की और जो जनता में लोकप्रियता का इच्छुक हो, उसे साध्यदेव की पूजा करनी चाहिए। जो दीर्घायु की कामना करता हो, उसे अश्विनीकुमारों की और जो पुष्ट शरीर चाहे, उसे पृथ्वी की पूजा करनी चाहिए। जो अपनी नौकरी (पद) के स्थायित्व की कामना करता हो, उसे क्षितिज तथा पृथ्वी दोनों की सम्मिलित पूजा करनी चाहिए। जो सुन्दर बनना चाहता हो, उसे गन्धर्व-लोक के निवासियों की और जो सुन्दर पत्नी चाहता हो, उसे अप्सराओं तथा स्वर्ग की उर्वशी अप्सराओं की पूजा करनी चाहिए। जो अन्यों पर शासन करना चाहता हो, उसे ब्रह्माण्ड के प्रमुख भगवान् ब्रह्माजी की पूजा करनी चाहिए। जो स्थायी कीर्ति का इच्छुक हो, उसे भगवान् की तथा जो अच्छी बैंक-बचत चाहता हो, उसे वरुणदेव की पूजा करनी चाहिए। और यदि कोई अच्छा वैवाहिक सम्बन्ध चाहता है, तो उसे शिवजी की पत्नी, सती देवी उमा, की पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : विभिन्न विषयों में सफलता के इच्छुक विभिन्न पुरुषों के लिए, पूजा की विधियाँ भिन्न-भिन्न हैं। इस भौतिक जगत की सीमा में रहनेवाला बद्धजीव प्रत्येक प्रकार की योग्य वस्तु में दक्ष नहीं हो सकता, किन्तु जैसाकि ऊपर बताया गया है, वह विशेष देवता की पूजा करके उस विशेष पदार्थ के

ऊपर प्रभूत प्रभाव डाल सकता है। शिवजी की पूजा करने से रावण, अत्यन्त शक्तिशाली बन गया था, वह शिवजी को प्रसन्न करने के लिए अपने शिरों को काटकर उन्हें अर्पित करता था। वह शिवजी की कृपा से तब तक इतना शक्तिशाली बनता गया कि सारे देवता उससे भयभीत रहने लगे, जब तक कि वह भगवान् श्रीरामचन्द्र को ललकार कर स्वयं नष्ट नहीं हो गया। दूसरे शब्दों में, ऐसे सारे व्यक्ति, जो कुछ या सारे भोग-विषयों की प्राप्ति करने में लगे रहते हैं, या स्थूल भौतिकतावादी व्यक्ति कुल मिलाकर अल्पज्ञ हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* (७.२०) में पुष्टि की गई है। उसमें कहा गया है कि जो सद्विवेक से विहीन हैं या जिनकी बुद्धि माया की भ्रामक शक्ति से हर ली गई है, वे जीवन में विभिन्न देवताओं को प्रसन्न करके, या वैज्ञानिक प्रगति के नाम पर भौतिक सभ्यता में उन्नति करके, जीवन के सारे भोगों को प्राप्त करना चाहते हैं। इस भौतिक जगत में जीवन की मुख्य समस्या जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि का समाधान ढूँढना है। कोई अपने जन्म-अधिकार को बदलना नहीं चाहता, कोई मरना नहीं चाहता, कोई वृद्ध या अशक्त नहीं होना चाहता और कोई रोगग्रस्त नहीं होना चाहता। किन्तु ये समस्याएँ, न तो किसी देवता के अनुग्रह से हल हो पाती हैं, न तथाकथित भौतिक विज्ञान की उन्नति से। *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* में ऐसे अल्पज्ञ व्यक्तियों का वर्णन सभी प्रकार के सद्विचारों से विहीन व्यक्तियों के रूप में हुआ हैं। शुकदेव गोस्वामी ने बताया कि जीवों की ८४,००,००० योनियों में से मनुष्य जीवन अत्यन्त दुर्लभ एवं मूल्यवान है और ऐसे व्यक्तियों में भी वे लोग और भी दुर्लभ हैं, जो भौतिक समस्याओं के प्रति सचेष्ट हों। इनमें से भी ऐसे लोग अत्यन्त दुर्लभ हैं, जो *श्रीमद्भागवत* के महत्त्व से अवगत हों, जिसमें भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्तों की कथाएँ मिलती हैं। मृत्यु सबके लिए अपरिहार्य है, चाहे वह बुद्धिमान हो या मूर्ख। लेकिन शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को *मनीषी* कहकर सम्बोधित किया है, जिसका अर्थ है कि वे अत्यधिक विकसित मन वाले पुरुष थे, क्योंकि उन्होंने मृत्यु निकट आने पर सारे भौतिक भोग छोड़ दिये थे और शुकदेव गोस्वामी जैसे योग्य व्यक्ति से भगवान् की कथाएँ सुन करके, उनके चरणकमलों में आत्म-समर्पण कर दिया था। लेकिन प्रयत्नशील पुरुषों द्वारा भौतिक भोग के लिए की जानेवाली आकांक्षाओं की भर्त्सना की गई है। ऐसी आकांक्षाएँ पतित मानव समाज के लिए नशे के तुल्य हैं। बुद्धिमान मनुष्यों को चाहिए कि इन

आकांक्षाओं से बचें और बजाय इसके भगवद्धाम वापस जाकर स्थायी जीवन को खोजें।

धर्मार्थ उत्तम-श्लोकं तन्तुः तन्वन् पितृन् यजेत् ।
रक्षा-कामः पुण्य-जनानोजस्कामो मरुद्गणान् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

धर्म-अर्थः—आध्यात्मिक विकास के लिए; उत्तम-श्लोकम्—परमेश्वर या उनके प्रति आसक्त व्यक्तियों को; तन्तुः—सन्तान के लिए; तन्वन्—तथा उनकी सुरक्षा के लिए; पितृन्—पितृलोक के वासियों को; यजेत्—पूजे; रक्षा-कामः—सुरक्षा चाहनेवाला; पुण्य-जनान्—पवित्र व्यक्तियों को; ओजः-कामः—शक्ति चाहनेवाला; मरुत्-गणान्—देवताओं को।

ज्ञान के आध्यात्मिक विकास के लिए मनुष्य को चाहिए कि भगवान् विष्णु या उनके भक्त की पूजा करे और वंश की रक्षा के लिए तथा कुल की उन्नति के लिए उसे विभिन्न देवताओं की पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : धर्म-पथ आध्यात्मिक विकास के पथ पर उन्नति करने, अन्ततोगत्वा भगवान् विष्णु के साथ उनके निर्विशेष तेज, उनके अन्तर्यामी परमात्मा-स्वरूप तथा अन्ततोगत्वा ज्ञान में आध्यात्मिक विकास के द्वारा उनके साकार स्वरूप के साथ नित्य सम्बन्ध को पुन:जागरित करने की ओर ले जाता है। जो व्यक्ति अच्छा वंश स्थापित करना चाहता है और क्षणिक शारीरिक सम्बन्धों की उन्नति से सुखी रहना चाहता है, उसे पितरों तथा अन्य पवित्र लोकों के देवताओं की शरण में जाना चाहिए। ऐसे विभिन्न देवताओं की भिन्न-भिन्न श्रेणियों के पूजक अन्ततोगत्वा उन-उन देवताओं के लोकों में पहुँच ही सकेंगे, किन्तु जो ब्रह्मज्योति में स्थित वैकुण्ठ लोकों तक पहुँच जाता है, उसे सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त होती है।

राज्य-कामो मनून् देवान् निर्ऋतिं त्वभिचरन् यजेत् ।
काम-कामो यजेत् सोममकामः पुरुषं परम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

राज्य-कामः—राज्य की इच्छा करनेवाला; मनून्—ईश्वर के अर्धअवतार मनुओं को; देवान्—देवताओं को; निर्ऋतिम्—असुरों को; तु—लेकिन; अभिचरन्—शत्रु पर विजय पाने की इच्छा रखते हुए; यजेत्—पूजे; काम-कामः—इन्द्रिय तृप्ति का इच्छुक; यजेत्—पूजा करे; सोमम्—चन्द्र देवता की; अकामः—निष्काम; पुरुषम्—परमेश्वर की; परम्—परम।

जो व्यक्ति राज्य-सत्ता पाने का इच्छुक हो, उसे मनुओं की पूजा करनी चाहिए। जो व्यक्ति शत्रुओं पर विजय पाने का इच्छुक हो, उसे असुरों की और जो इन्द्रियतृप्ति चाहता हो, उसे

चन्द्रमा की पूजा करनी चाहिए। किन्तु जो किसी प्रकार के भोग की इच्छा नहीं करता, उसे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : मुक्तात्माओं के लिए ऊपर गिनाये गये सारे भोग पूरी तरह से अर्थहीन हैं। जो लोग बहिरंगा शक्ति के गुणों द्वारा बद्ध हैं, वे ही विभिन्न प्रकार के भौतिक भोगों द्वारा मोहित होते रहते हैं। दूसरे शब्दों में, योगी की भौतिक भोग को पूरा करने की कोई इच्छा नहीं होती जबकि भौतिकतावादी समस्त प्रकार की इच्छाओं से युक्त रहता है। भगवान् ने घोषित किया है कि जो भौतिकतावादी, भौतिक भोग चाहते हैं और उनके लिए विभिन्न देवताओं से कृपा-याचना करते हैं, जैसाकि ऊपर कहा गया है, वे अपने विवेक में नहीं रहते हैं और मूर्ख सिद्ध होते हैं। अतएव मनुष्य को कभी किसी तरह के भौतिक भोग की इच्छा नहीं करनी चाहिए। उसे तो पूर्ण-पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा करने के लिए सजक रहना चाहिए। ऐसे विमूढ़ व्यक्तियों के नेता उनसे बढ़कर विमूढ़ होते हैं, क्योंकि वे खुल कर यह प्रचार करते हैं कि मनुष्य किसी भी देवता की पूजा करके एक सा फल प्राप्त कर सकता है। ऐसा प्रचार न केवल *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* की शिक्षाओं के विपरीत है, अपितु मूर्खतापूर्ण भी है। यह उसी तरह है, जैसे किसी भी यात्री-टिकट के बल पर किसी भी गन्तव्य तक पहुँचने का अधिकार जताना। यदि कोई बड़ौदा का टिकट खरीदे तो वह उससे बम्बई या दिल्ली नहीं जा सकता। यहाँ यह स्पष्ट बताया गया है कि विभिन्न इच्छाओं से युक्त व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न प्रकार से पूजा करनी चाहिए, लेकिन जिसे कोई भोग-वासना नहीं है, उसे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा करनी चाहिए। यह पूजा प्रक्रिया भक्ति-मय सेवा कहलाती है। शुद्ध भक्ति का अर्थ होता है कि किसी भी प्रकार की भौतिक इच्छा के बिना, जिसमें सकाम कर्म तथा ज्ञान की इच्छा भी सम्मिलित है, भगवान् की सेवा करना। भौतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए मनुष्य चाहे तो परमेश्वर की पूजा कर सकता है, किन्तु ऐसी पूजा से प्राप्त होनेवाला फल भिन्न होता है, जिसकी व्याख्या अगले श्लोक में की जायेगी। सामान्यतया भगवान् किसी की इन्द्रियभोग की कामनाओं को पूरा नहीं करते, किन्तु वे अपने पूजकों को ऐसा वरदान देते हैं जिससे अन्त में वे भौतिक भोग की इच्छा न करने के बिन्दु पर पहुँच जाते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य को भौतिक भोग की इच्छाएँ कम कर देनी चाहिए और इसके लिए उसे पूर्ण

पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा करनी चाहिए जिन्हें यहाँ परम् या किसी भी भौतिक वस्तु के परे कहा गया है। श्रीपाद शंकराचार्य ने भी कहा है— *नारायण: परोऽव्यक्तात्*—परमेश्वर भौतिक चक्र से परे है।

अकाम: सर्व-कामो वा मोक्ष-काम उदार-धी: ।
तीव्रेण भक्ति-योगेन यजेत पुरुषं परम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अकाम:—जिसने भौतिक इच्छाओं को पार कर लिया है; सर्व-काम:—जिसमें समग्र भौतिक इच्छाएँ हैं; वा—अथवा; मोक्ष-काम:—मुक्ति की इच्छा रखनेवाला; उदार-धी:—व्यापक बुद्धि वाला; तीव्रेण—तीव्र शक्ति के साथ; भक्ति-योगेन—भगवद्भक्ति द्वारा; यजेत—पूजे; पुरुषम्—भगवान् को; परम्—परम पूर्ण।

जिस व्यक्ति की बुद्धि व्यापक है, वह चाहे सकाम हो या निष्काम अथवा मुक्ति का इच्छुक हो, उसे चाहिए कि सभी प्रकार से परमपूर्ण भगवान् की पूजा करे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण को पुरुषोत्तम अर्थात् परम पुरुष कहा गया है। वे ही हैं, जो निर्विशेषवादियों को ब्रह्मज्योति में लीन करके उन्हें मोक्ष प्रदान करने वाले हैं। यह ब्रह्मज्योति भगवान् से पृथक् नहीं है, जिस प्रकार प्रकाशमान सूर्य किरणें सूर्यगोलक से पृथक् नहीं होती हैं। अतएव जो परम निर्विशेष ब्रह्मज्योति में लीन होना चाहता है, उसे भी भक्तियोग द्वारा भगवान् की पूजा करनी चाहिए जैसी कि यहाँ पर संस्तुति की गई है। यहाँ पर सर्वसिद्धि प्राप्ति के साधन, भक्तियोग, पर विशेष बल दिया गया है। पिछले अध्यायों में बताया गया है कि कर्मयोग तथा ज्ञानयोग दोनों का चरम लक्ष्य भक्तियोग है, उसी तरह इस अध्याय में यह घोषणा की गई है कि विभिन्न देवताओं की भिन्न-भिन्न प्रकार से पूजा करने का चरम लक्ष्य भक्तियोग है। आत्म-साक्षात्कार का परम साधन होने के कारण इस प्रकार यहाँ पर भक्तियोग की संस्तुति की गई है। चाहे कोई भौतिक भोग की या भवबन्धन से मुक्ति की आकांक्षा रखता हो, प्रत्येक व्यक्ति को गम्भीरतापूर्वक भक्तियोग अपनाना चाहिए।

अकाम: वह है, जिसे कोई भौतिक इच्छा न हो। *पुरुषं पूर्णम्* अर्थात् परम पूर्ण का अंश होने के कारण परमेश्वर की सेवा करना जीव का स्वाभाविक कार्य है, जिस तरह कि शरीर के अंग पूर्ण शरीर की सेवा करने के निमित्त होते हैं। अतएव *अकाम:* का अर्थ पत्थर की तरह निष्क्रिय या जड़ होना नहीं है, अपितु अपनी वास्तविक स्थिति के प्रति सचेष्ट रहना है और इस तरह से केवल परमेश्वर से तुष्टि की

कामना करना है। श्रील जीव गोस्वामी ने अपने ग्रन्थ सन्दर्भ में इस अकाम-भाव का *भजनीय परम-पुरुष सुख-मात्र-स्वसुखत्वम्* कहकर व्याख्या की है। इसका अर्थ है कि परमेश्वर की प्रसन्नता का अनुभव करके मनुष्य प्रसन्न होता है। जीव की यह अन्तश्चेतना भौतिक जगत में जीव की बद्ध अवस्था में भी कभी-कभी प्रकट होती है और यही अन्तश्चेतना अल्पज्ञ व्यक्तियों के अविकसित मनों द्वारा परोपकार, समाजवाद, साम्यवाद इत्यादि में अभिव्यकत होती है। सांसारिक क्षेत्र में समाज, समुदाय, परिवार, देश या मानवता के रूप में अन्यों की भलाई करने का दिखावा उसी मूल भावना की आंशिक अभिव्यक्ति होता है, जिसमें शुद्ध जीव परमेश्वर की प्रसन्नता को अपनी प्रसन्नता समझता है। ऐसी उत्कृष्ट भावनाएँ व्रजभूमि की गोपियों द्वारा भगवान् की प्रसन्नता के लिए प्रकट की गई थीं। गोपियों ने, किसी प्रतिफल के बिना, भगवान् से प्रेम किया और यह *अकाम* भावना की पूर्ण अभिव्यञ्जना है। *काम* मनो-भाव अर्थात् अपनी तुष्टि के भाव की पूर्ण अभिव्यञ्जना भौतिक जगत में होती है, जबकि *अकामः* भाव पूर्ण रुप से आध्यात्मिक जगत में प्रकट होता है।

भगवान् में तदाकार होने का भाव या ब्रह्मज्योति में लीन होने का भाव भी *काम* भाव का प्रदर्शन माना जा सकता है यदि ये भाव, भौतिक कष्टों से मुक्त होने के लिए हों। इसीलिए, भक्त कभी भी मोक्ष इसलिए नहीं चाहता कि वह जीवन के कष्टों से मुक्त हो जाय। ऐसे मोक्ष के बिना भी शुद्ध भक्त सदैव भगवान् की तुष्टि की कामना करता है। अर्जुन ने *काम* भाव से प्रेरित होकर कुरुक्षेत्र की युद्ध-भूमि में लड़ने से इनकार कर दिया था, क्योंकि वह अपनी तुष्टि के लिए अपने सम्बन्धियों को बचाना चाह रहा था। किन्तु शुद्ध भक्त होने के कारण भगवान् के आदेश पर वह युद्ध करने के लिए तैयार हो गया, क्योंकि उसे ज्ञान हो चुका था और उसने अनुभव किया कि अपनी तुष्टि की बलि देकर भगवान् की तुष्टि करना उसका परम कर्तव्य है। इस तरह वह *अकाम* हो गया। यह पूर्णजीव की पूर्णावस्था (सिद्धावस्था) है।

उदार-धीः का अर्थ है व्यापक दृष्टिवाला या उदार-चेता। जो लोग भौतिक भोग की कामना करते हैं, वे छोटे-मोटे देवताओं को पूजते हैं। *भगवद्गीता* (७.२०) में ऐसी बुद्धि को *हृतज्ञान* अर्थात् ऐसे व्यक्ति की बुद्धि जो संज्ञाशून्य हो चुका हो, कह कर भर्त्सना की गई है। कोई भी व्यक्ति परमेश्वर की

स्वीकृति लिए बिना देवताओं से कोई भी फल प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए व्यापक दृष्टिवाला व्यक्ति यह देख सकता है कि भौतिक लाभों के लिए भी अन्तिम प्राधिकारी (सत्ता) भगवान् ही हैं। ऐसी परिस्थिति में, व्यापक दृष्टिवाले व्यक्ति को चाहिए कि वह सीधे भगवान् की पूजा करे, भले ही वह भौतिक भोग या मुक्ति की कामना क्यों न कर रहा हो। चाहे कोई *अकाम* हो या *सकाम* या *मोक्षकाम,* हर एक को तत्परता से भगवान् की पूजा करनी चाहिए। इसका अर्थ यह होता है कि कर्म तथा ज्ञान के किसी प्रकार के मिश्रण के बिना ही, भक्तियोग पूरी तरह लागू किया जा सकता है। जैसे अमिश्रित सूर्य की किरण अत्यन्त तीव्र होती है। इसी तरह श्रवण, कीर्तन इत्यादि का अमिश्रित भक्तियोग आन्तरिक उद्देश्य से निरपेक्ष होकर सबों के द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है।

एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः ।
भगवत्यचलो भावो यद् भागवत-सङ्गतः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

एतावान्—ये भिन्न पूजक; **एव**—निश्चय ही; **यजताम्**—पूजा करते हुए; **इह**—इस जीवन में; **निःश्रेयस**—सर्वोच्च वर; **उदयः**—विकास; **भगवति**—परमेश्वर पर; **अचलः**—निश्चल; **भावः**—आकर्षण; **यत्**—जो; **भागवत**—भगवान् के शुद्ध भक्त की; **सङ्गतः**—संगति से।

अनेक देवताओं की पूजा करनेवाले विविध प्रकार के लोग, भगवान् के शुद्ध भक्त की संगति से ही सर्वोच्च सिद्धिदायक वर प्राप्त कर सकते हैं, जो भगवान् पर अविचल आकर्षण के रूप में होता है।

तात्पर्य : इस भौतिक सृष्टि में प्रथम देवता ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक विभिन्न योनियों के सारे जीव, प्रकृति के नियम या भगवान् की बहिरंगा शक्ति के अधीन हैं। जीव अपनी शुद्ध अवस्था में जानता रहता है कि वह भगवान् का अंश है, किन्तु जब जीव, भौतिक शक्ति पर प्रभुत्व जताने की इच्छा के कारण, भौतिक जगत में आ गिरता है, तो वह प्रकृति के तीन गुणों द्वारा बद्ध हो जाता है और वह अधिकाधिक लाभ के लिए जीवन-संघर्ष करता है। यह जीवन-संघर्ष, भौतिक भोग के वशीभूत होकर, मायाजाल के पीछे भागने के सदृश है। भौतिक भोग की सारी योजनाएँ, चाहे वे विभिन्न देवताओं की पूजा द्वारा सम्पन्न हों जैसाकि इसी अध्याय के पिछले श्लोकों में बताया गया है अथवा ईश्वर या देवता की सहायता के बिना वैज्ञानिक ज्ञान की आधुनीकृत प्रगति हो, मात्र भ्रम हैं, क्योंकि

सुख की इन समस्त योजनाओं के बावजूद बद्धजीव भौतिक सृष्टि के सम्पर्क में रहकर जीवन की समस्याओं को—जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग को—कभी हल नहीं कर सकता। विश्व का इतिहास ऐसे योजना-निर्माताओं से भरा पड़ा है। अनेक राजा-महाराज आते-जाते रहते हैं, लेकिन उनकी कहानी ही शेष रह जाती है और जीवन की मुख्य समस्या इन योजना-निर्माताओं के बावजूद जैसी की तैसी बनी रहती है।

वास्तव में यह मनुष्य जीवन, जीवन की समस्याओं का हल ढूँढ़ने के लिए प्राप्त हुआ है। किन्तु विभिन्न देवताओं को प्रसन्न करके, पूजा की विविध विधियों से या ईश्वर अथवा देवताओं की सहायता लिए बिना ज्ञान के तथाकथित वैज्ञानिक विकास से, मनुष्य इन समस्याओं को हल नहीं कर सकता। ईश्वर या देवता की परवाह न करनेवाले निपट भौतिकतावादियों के अतिरिक्त, सारे वेद विभिन्न लाभों के लिए विभिन्न देवताओं की पूजा करने की संस्तुति करते हैं। अतएव ये देवता न तो मिथ्या हैं, न काल्पनिक। देवता हमारी ही तरह वास्तविक हैं, लेकिन ब्रह्माण्डीय-सरकार के विभिन्न विभागों का प्रबन्ध करने में वे भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा में लगे रहने से अत्यधिक शक्तिशाली होते हैं। *भगवद्गीता* से इसकी पुष्टि होती है और उसमें परमदेव ब्रह्मा समेत देवताओं के विभिन्न लोकों का उल्लेख है। निपट भौतिकतावादी लोग ईश्वर या देवताओं के अस्तित्व पर विश्वास नहीं करते। न ही वे यह विश्वास करते हैं कि भिन्न-भिन्न लोकों में विभिन्न देवताओं का आधिपत्य है। वे निकटतम दैवी पिंड (उपग्रह) चन्द्रलोक तक पहुँचने में काफी हंगामा खड़ा कर रहे हैं, लेकिन इतने यान्त्रिक शोध के बाद भी वे चन्द्रमा के विषय में बहुत कम सूचना एकत्र कर पाये हैं और चन्द्रमा में भूखण्ड बेचने के झूठे विज्ञापन के बावजूद गर्वित विज्ञानी या निपट भौतिकतावादी वहाँ रह नहीं सकते। अन्य लोकों की तो बातें करना व्यर्थ है, क्योंकि वे उनकी गणना भी नहीं कर सकते। किन्तु वेदों के अनुयायी भिन्न विधि से ज्ञान प्राप्त करते हैं। वे वैदिक साहित्य के कथनों को प्रमाण मानते हैं, जैसाकि हम प्रथम स्कंध में कह चुके हैं। अतएव उन्हें ईश्वर तथा देवताओं के विषय में और उसी के साथ-साथ भौतिक जगत की परिधि में स्थित भौतिक आकाश की सीमा से परे विभिन्न आवासीय लोकों का पूरा-पूरा एवं संतोषजनक ज्ञान होता है। जिस सर्वाधिक प्रामाणिक साहित्य को शंकर, रामानुज, मध्व, विष्णुस्वामी,

निम्बार्क तथा चैतन्य जैसे भारतीय आचार्यों ने स्वीकार किया है और जिसका अध्ययन सभी महत्त्वपूर्ण महापुरुषों ने किया है, वह *भगवद्गीता* है, जिसमें देवताओं की पूजा तथा उनके अपने-अपने आवासीय लोकों का उल्लेख है। *भगवद्गीता* (९.२५) पुष्टि करती है—

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

''देवताओं के उपासक देवताओं के लोकों को जाते हैं और पितरों के पूजक पितृलोक को जाते हैं। निपट भौतिकतावादी भिन्न-भिन्न भौतिक लोक में रह जाते हैं, किन्तु भगवद्भक्त भगवान् के धाम पहुँच जाते हैं।''

भगवद्गीता से हमें यह भी जानकारी मिलती है कि इस जगत के सारे लोक, जिनमें ब्रह्मलोक भी सम्मिलित है, अस्थायी रूप से स्थित होते हैं और कुछ काल के बाद उनका विनाश हो जाता है। अतएव देवता तथा उनके अनुयायी भी प्रलय के समय विनष्ट हो जाते हैं, किन्तु जो भगवद्धाम पहुँच जाता है, वह शाश्वत जीवन का लाभ भोगता है। यह वैदिक साहित्य का मत है। देवताओं के उपासकों को नास्तिकों की तुलना में केवल एक लाभ है कि वे वैदिक निर्णय से आश्वस्त रहते हैं जिससे वे भगवद्भक्तों की संगति में रहकर परमेश्वर की पूजा के लाभ की जानकारी प्राप्त करते हैं। किन्तु निपट भौतिकतावादी को वैदिक निर्णय में कोई श्रद्धा नहीं होती, अतएव वह सदैव अपूर्ण प्रयोगात्मक ज्ञान या तथाकथित भौतिक ज्ञान के आधार पर झूठे विचार को प्राप्त होता है, जो कभी दिव्य ज्ञान को नहीं पा सकता।

अतएव जब तक निपट भौतिकतावादी या क्षणभंगुर देवताओं के उपासक किसी भगवद्भक्त के सम्पर्क में नहीं आ जाते तब तक उनके सारे प्रयास व्यर्थ जाते हैं। केवल दैवी पुरुषों, या भगवद्भक्तों के अनुग्रह से ही मनुष्य शुद्ध भक्ति प्राप्त कर सकता है और वही मानव जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है। केवल शुद्ध भक्त ही उसे उन्नतिशील जीवन का सही मार्ग दिखला सकता है। अन्यथा ईश्वर या देवताओं के विषय में कोई सूचना न होना तथा क्षणिक भोग की खोज में देवताओं की पूजा में संलग्न जीवन— ये दोनों ही भौतिकतावादी जीवन-शैलियाँ मृग-मरीचिका के विभिन्न पहलू हैं। इनकी सुन्दर व्याख्या

भगवद्गीता में भी हुई है, लेकिन उसे भक्तों की संगति में ही समझा जा सकता है, राजनीतिज्ञों या शुष्क ज्ञानियों की विवेचनाओं से नहीं।

ज्ञानं यदाप्रतिनिवृत्त-गुणोर्मि-चक्र-
मात्म-प्रसाद उत यत्र गुणेष्वसङ्गः ।
कैवल्य-सम्मत-पथस्त्वथ भक्ति-योगः
को निर्वृतो हरि-कथासु रतिं न कुर्यात् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ज्ञानम्—ज्ञान; यत्—जो; आ—की सीमा तक; प्रतिनिवृत्त—पूर्णतया निवृत्त; गुण-ऊर्मि—भौतिक गुणों की तरंगें; चक्रम्—भँवर; आत्म-प्रसादः—आत्म-संतोष; उत—और भी; यत्र—जहाँ; गुणेषु—प्रकृति के गुणों में; असङ्गः—अनासक्ति; कैवल्य—दिव्य; सम्मत—स्वीकृत; पथः—पथ, रास्ता; तु—लेकिन; अथ—अतएव; भक्ति-योगः—भक्ति; कः—कौन; निर्वृतः—लीन; हरि-कथासु—भगवान् की दिव्य कथाओं में; रतिम्—आकर्षण; न—नहीं; कुर्यात्—करेंगे।

भगवान् हरि विषयक दिव्य ज्ञान वह ज्ञान है, जिससे भौतिक गुणों की तरंगें तथा भँवरें पूरी तरह थम जाती हैं। ऐसा ज्ञान भौतिक आसक्ति से रहित होने के कारण आत्मतुष्टि प्रदान करनेवाला है और दिव्य होने के कारण महापुरुषों द्वारा मान्य है। तो भला ऐसा कौन है, जो इससे आकृष्ट नहीं होगा?

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१०.९) के अनुसार, शुद्ध भक्त के लक्षण अत्यन्त अद्भुत हैं। शुद्ध भक्त अपने सभी कार्यों को सदा भगवान् की सेवा में लगाता है। इस प्रकार शुद्ध भक्त आह्लाद की भावनाओं का परस्पर विनिमय और दिव्य आनन्द का आस्वादन करते हैं। यदि किसी प्रामाणिक गुरु के मार्गदर्शन में उचित ढंग से साधना की जाय तो *साधन-अवस्था* में भी यह दिव्य आनन्द अनुभव किया जाता है। परिपक्व अवस्था में इस विकसित दिव्य भाव की परिणति भगवान् के साथ विशेष सम्बन्ध की अनुभूति में होती है, जिस के द्वारा जीवात्मा का भौतिक स्वभाव बना होता है (भगवान् के साथ माधुर्य प्रेम तक, जो सर्वोच्च दिव्य आनन्द माना गया है)। इसलिए *ईश-साक्षात्कार* का एकमात्र साधन होने के कारण भक्तियोग कैवल्य कहलाता है। इस सन्दर्भ में श्रील जीव गोस्वामी एक वैदिक कथन उद्धृत करते हैं (*एको नारायणो देवः परावराणां परम आस्ते कैवल्य-संज्ञितः*) और यह प्रतिपादित करते हैं कि भगवान् नारायण ही कैवल्य हैं और जिस साधन से मनुष्य भगवान् तक पहुँचता है, वह *कैवल्यपन्था* अर्थात् भगवान तक पहुँचने का एकमात्र साधन कहा जाता है। *कैवल्यपन्था* भगवान्-सम्बन्धी कथाओं के

श्रवण से प्रारम्भ होता है और ऐसी हरिकथा सुनने का स्वाभाविक परिणाम दिव्य ज्ञान का लाभ है, जिससे संसारी कथाओं से विरक्ति उत्पन्न होती है और विषयों के लिए भक्त में कोई रुचि नहीं रह जाती। भक्त के लिए सारे कार्यकलाप, चाहे वे सामाजिक हों या राजनीतिक, अनाकर्षक प्रतीत होते हैं और परिपक्व अवस्था में ऐसे भक्त को अपने शरीर तक से अरुचि हो जाती है, शारीरिक सम्बन्धियों की बात तो उठती ही नहीं। ऐसी दशा में वह भौतिक गुणों की तरंगों से विचलित नहीं होता। प्रकृति के विभिन्न गुण हैं और जिन कार्यों में सामान्य व्यक्ति अत्यधिक रुचि लेता है या भाग लेता है, वे भक्त के लिए अनाकर्षक होते हैं। यहाँ पर इस अवस्था को *प्रतिनिवृत्त-गुणोर्मि* कहा गया है और यह *आत्म-प्रसाद* अर्थात् किसी प्रकार के भौतिक सम्बन्ध के बिना आत्मतुष्टि द्वारा सम्भव है। प्रथम कोटि का भगवद्-भक्त (*महाभागवत*) भक्ति द्वारा इस अवस्था को प्राप्त होता है, किन्तु अपनी महानता के बावजूद, वह भगवान् की तुष्टि के लिए भगवान् की महिमा का उपदेशक बन सकता है और वह इसी भक्ति में अपने सांसारिक स्वार्थ तक को लगा देता है, जिससे नवदीक्षित भक्तों को अपने सांसारिक स्वार्थों को दिव्य आनन्द में परिणत करने का अवसर मिल सके। श्रील रूप गोस्वामी ने शुद्ध भक्त के इस कार्य को *निर्बन्धः कृष्ण-सम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते* कहा है। यदि सांसारिक कार्यों को भगवद्भक्ति से जोड़ दिया जाय, तो वे भी दिव्य या प्रमाणित *कैवल्य* कार्य बन जाते हैं।

शौनक उवाच

इत्यभिव्याहृतं राजा निशम्य भरतर्षभः ।
किमन्यत्पृष्टवान् भूयो वैयासकिमृषिं कविम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

शौनकः उवाच—शौनक ने कहा; इति—इस प्रकार; अभिव्याहृतम्—जो कुछ कहा गया; राजा—राजा ने; निशम्य—सुनकर; भरत-ऋषभः—महाराज परीक्षित; किम्—क्या; अन्यत्—अधिक; पृष्टवान्—पूछा; भूयः—पुनः; वैयासकिम्—व्यास के पुत्र से; ऋषिम्—दक्ष; कविम्—काव्यमय।

शौनक ने कहा : व्यास-पुत्र श्रील शुकेदव गोस्वामी अत्यन्त विद्वान ऋषि थे और बातों को काव्यमय ढंग से प्रस्तुत करने में सक्षम थे। अतएव जो कुछ उन्होंने कहा, उसे सुनने के बाद महाराज परीक्षित ने उनसे और क्या पूछा?

तात्पर्य : भगवद्भक्त में सारे दैवीगुण स्वतः विकसित होते हैं। इन गुणों में से कुछ महत्त्वपूर्ण गुण

इस प्रकार हैं—वह दयालु, शान्त, सत्यवादी, समदर्शी, त्रुटिरहित, उदार, मृदु, स्वच्छ, अनासक्त, सर्व शुभैषी, सन्तुष्ट, कृष्ण का शरणागत, लालसा-रहित, सरल, स्थिर, आत्माराम, नियमित आहार करनेवाला, ज्ञानी, शिष्ट, निरभिमान, गम्भीर, सहानुभूतिशील, मैत्री भाववाला, कवि-हृदय, दक्ष होता है तथा मौन रहता है। भक्त के इन छब्बीस गुणों में, जिनका वर्णन कृष्णदास कविराज ने *चैतन्य-चरितामृत* में किया है, कवि-हृदय का विशेष उल्लेख शुकदेव गोस्वामी के लिए हुआ है। उन्होंने *श्रीमद्भागवत* को सुनकर जिस तरह प्रस्तुत किया, वह उनकी कवित्व-शक्ति का परिचायक है। वे स्वरूप-सिद्ध विद्वान ऋषि थे। दूसरे शब्दों में, वे ऋषियों में कवि थे।

एतच्छुश्रूषतां विद्वन् सूत नोऽर्हसि भाषितुम् ।
कथा हरि-कथोदर्काः सतां स्युः सदसि ध्रुवम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; शुश्रूषताम्—सुनने के लिए उत्सुक रहनेवालों का; विद्वन्—हे विद्वान; सूत—सूत गोस्वामी; नः—हम सबों को; अर्हसि—आप कर सकते हैं; भाषितुम्—समझाने के लिए; कथाः—कथाएँ; हरि-कथा-उदर्काः—भगवत्कथा में प्रतिफलित हो; सताम्—भक्तों का; स्युः—हों; सदसि—सभा में; ध्रुवम्—निश्चय ही।

हे विद्वान सूत गोस्वामी, आप हम सबों को ऐसी कथाएँ समझाते रहें, क्योंकि हम सुनने को उत्सुक हैं। इसके अतिरिक्त, ऐसी कथाएँ, जिनसे भगवान् हरि के विषय में विचार-विमर्श हो सके, भक्तों की सभा में अवश्य ही कही-सुनी जाँय।

तात्पर्य : जैसाकि हम रूप गोस्वामी कृत *भक्ति-रसामृत-सिन्धु* से पहले उद्धृत कर चुके हैं, यदि सांसारिक वस्तुओं को भी भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा से जोड़ दें, तो वे दिव्य बन जाती हैं। उदाहरणार्थ, *रामायण* तथा *महाभारत* जैसे महाकाव्य भी जो कि विशेष रूप से कम बुद्धिमान श्रेणी के लिए (स्त्रियों, शूद्रों तथा द्विजबन्धुओं के लिए) संस्तुत किये जाते हैं, वैदिक साहित्य माने जाते हैं, क्योंकि उनका संकलन भगवान् के कार्यकलापों के सम्बन्ध में किया गया है। *महाभारत* को पाँचवाँ वेद स्वीकार किया जाता हैं। अन्य चार विभाग है—*साम, यजु, ऋग्* तथा *अथर्व*। अल्पज्ञानी लोग *महाभारत* को वेदों का अंग (वेदांग) नहीं मानते, लेकिन महर्षि तथा आचार्य इसे पाँचवाँ वेद मानते हैं। *भगवद्गीता* भी *महाभारत* का एक अंश है और यह अल्पज्ञ लोगों के लिए भगवान् के उपदेशों से परिपूर्ण है। कुछ अल्पज्ञ यह कहते हैं कि *भगवद्गीता* गृहस्थों के लिए नहीं है, लेकिन ऐसे मूर्ख यह भूल जाते हैं कि

इसी *भगवद्गीता* का उपदेश अर्जुन को दिया गया जो गृहस्थ था और भगवान् स्वयं भी गृहस्थ की भूमिका में थे। अतएव, यद्यपि *भगवद्गीता* में वैदिक विद्या का उच्च दर्शन पाया जाता है, तो भी यह दिव्य विज्ञान के नौसिखियों के लिए है और *श्रीमद्भागवत* स्नातकों तथा उत्तर-स्नातकों के लिए है। अतएव *महाभारत,* पुराण तथा अन्य ऐसे ही ग्रंथ जो भगवान् की लीलाओं से ओतप्रोत हैं, सभी दिव्य ग्रंथ हैं और उनकी व्याख्या महान् भक्तों के समाज में अत्यन्त श्रद्धापूर्वक की जानी चाहिए।

कठिनाई तो यह है कि जब ऐसा साहित्य व्यावसायिक व्यक्तियों द्वारा व्याख्यायित होता है, तो यह इतिहास या महाकाव्यों की तरह संसारी साहित्य लगता है, क्योंकि इसमें अनेक ऐतिहासिक तथ्य तथा आँकड़े रहते हैं। इसीलिए यह कहा गया है कि ऐसे साहित्य की व्याख्या भक्तों के समाज में की जाय। जब तक ऐसे ग्रन्थों की व्याख्या भक्तों द्वारा नहीं की जाती, तब तक उच्च श्रेणी के लोग ऐसे साहित्य का रसास्वाद नहीं कर सकते। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि अन्ततोगत्वा भगवान् निर्विशेष नहीं हैं। वे परम पुरुष हैं और उनके कार्यकलाप विविध हैं। वे समस्त जीवों के पथ-प्रदर्शक हैं और पतितात्माओं के उद्धार हेतु अपनी निजी शक्ति तथा इच्छा से अवतरित होते हैं। इस तरह वे एक सामाजिक, राजनीतिक या धार्मिक नेता की तरह भूमिका निभाते हैं। चूँकि ऐसी भूमिकाएँ अन्ततः भगवान् की कथाओं की चर्चा में समाप्त होती हैं, अतएव ऐसी सारी प्रारम्भिक कथाएँ भी दिव्य हैं। मानव समाज के नागरिक कर्तव्यों के अध्यात्मीकरण का यही उपाय है। लोगों में इतिहास तथा अन्य संसारी साहित्य यथा कहानी, उपन्यास, नाटक, पत्रिका, समाचारपत्र पढ़ने की प्रवृत्ति होती है, अतएव उन्हें भगवान् की सेवा के साथ क्यों न जोड़ लिया जाय जिससे वे सभी भक्तों द्वारा आस्वादनीय कथाएँ बन जाँय? भगवान् निर्विशेष हैं, उनमें कोई क्रियाशीलता नहीं होती, वे पत्थर की तरह जड़ हैं, एवं उनके न कोई नाम हैं, न रूप—इस तरह के प्रचार ने लोगों को ईश्वरविहीन, श्रद्धाविहीन असुरों में परिणत कर दिया है। इस तरह वे, जितना ही भगवान् के दिव्य कार्यकलापों से दूर हटते जाते हैं, उतना ही अधिक संसारी कार्यों के अभ्यस्त होते जाते हैं जिससे भगवद्धाम जाने के बजाय उनका नरक जाने का मार्ग साफ होता रहता है।* *श्रीमद्भागवत* पाण्डवों के इतिहास (आवश्यक राजनीति तथा सामाजिक कार्यों से युक्त) से प्रारम्भ होता है, तो भी यह परमहंस संहिता अथवा श्रेष्ठ योगी के लिए

वैदिक साहित्य कहलाता है और इसमें *परं ज्ञानम्* अर्थात् सर्वोच्च दिव्य ज्ञान का वर्णन मिलता है। भगवान् के सारे शुद्ध भक्त परमहंस हैं। वे उन हंसों के समान हैं, जो दूध तथा पानी के मिश्रण में से दूध विलग करके पीने की कला जानते हैं।

start footnote here

पचास वर्ष पूर्व तक सभी भारतीयों की सामाजिक संरचना इतनी सुव्यवस्थित थी कि लोग ऐसा साहित्य नहीं पढ़ा करते थे, जो भगवान् के कार्यकलापों से जुड़ा न हो। वे ऐसा नाटक नहीं खेलते थे, जो भगवान् से सम्बन्धित न हो। वे ऐसे मेले या उत्सव का आयोजन भी नहीं करते थे, जो ईश्वर से सम्बन्धित न हो। न ही वे ऐसे स्थानों में जाते थे, जो पवित्र न हो तथा भगवान् की लीलाओं से पवित्र न हुआ हो। इसीलिए देहात का सामान्य व्यक्ति तक *रामायण, महाभारत,* गीता तथा *भागवत* के बारे में अपने बचपन से ही चर्चाएँ करने लगता था। किन्तु कलियुग के प्रभाव से, वे सब कूकरों-सूकरों की सभ्यता को प्राप्त हो चुके हैं और दिव्य ज्ञान की परवाह किये बिना, रोटी कमाने के लिए श्रम करते रहते हैं।

foot note ends here

स वै भागवतो राजा पाण्डवेयो महा-रथः ।
बाल-क्रीडनकैः क्रीडन् कृष्ण-क्रीडां य आददे ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; **वै**—निश्चय ही; **भागवतः**—भगवान् के महान् भक्त; **राजा**—महाराज परीक्षित; **पाण्डवेयः**—पाण्डवों का पौत्र; **महा-रथः**—महान् योद्धा; **बाल**—बाल्यावस्था में ही; **क्रीडनकैः**—खिलौनों के साथ; **क्रीडन्**—खेलते हुए; **कृष्ण**—भगवान् कृष्ण के; **क्रीडाम्**—कार्य-कलापों को; **यः**—जिसने; **आददे**—स्वीकार किया।

पाण्डवों के पौत्र महाराज परीक्षित अपने बाल्यकाल से भगवान् के महान् भक्त थे। वे खिलौनों से खेलते समय भी अपने कुलदेव की पूजा का अनुकरण करते हुए भगवान् कृष्ण की पूजा किया करते थे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में यह कहा गया है कि जो व्यक्ति समुचित रीति से योगाभ्यास करने में विफल रह जाता है, उसे भी ब्राह्मणों या सम्पन्न क्षत्रिय राजाओं या वणिकों के घर में जन्म लेने का अवसर प्रदान किया जाता है। किन्तु महाराज परीक्षित तो इनसे बढ़कर थे, क्योंकि वे अपने पूर्वजन्म में

भी महान् भगवद्भक्त थे। अतएव उन्होंने कुरुओं के राजवंश में और विशेष रूप से पाण्डवों के कुल में, जन्म लिया। अत: उन्हें बचपन से ही अपने परिवार में भगवान् कृष्ण की भक्ति से भलीभाँति परिचित होने का अवसर प्राप्त हुआ। सारे पाण्डव स्वयं भगवान् के भक्त होने के कारण राजमहल के कुलदेवता का सम्मान करते थे। सौभाग्यवश ऐसे परिवारों में जन्म लेनेवाले बालक अपने बाल्यकाल के खेलों में भी ऐसी देवपूजा का अनुसरण करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से हमें भी एक वैष्णव कुल में जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और हमने अपने पिता का अनुकरण करते हुए बचपन में भगवान् कृष्ण की पूजा का अनुसरण किया। हमारे पिता हमें सभी उत्सव मनाने के लिए प्रोत्साहित करते रहे, चाहे वह रथ यात्रा हो या दोल यात्रा और हम बालकों को तथा हमारे मित्रों को *प्रसाद* वितरित करने में खुले दिल से धन भी व्यय करते रहे। हमारे गुरु भी वैष्णव कुल में उत्पन्न हुए थे और उन्हें अपने महान् वैष्णव पिता ठाकुर भक्तिविनोद से सारा प्रोत्साहन प्राप्त होता रहा। सारे भाग्यशाली वैष्णव परिवारों में ऐसा ही होता है। सुप्रसिद्ध मीराबाई गोवर्धन-धारी भगवान् कृष्ण की महान् भक्तिन थीं।

ऐसे भक्तों का जीवन बहुधा एक-जैसा होता है, क्योंकि भगवान् के सभी बड़े-बड़े भक्तों के प्रारम्भिक जीवन में समानता रहती है। जीव गोस्वामी के अनुसार, महाराज परीक्षित ने भगवान् कृष्ण की वृन्दावन की बाललीलाओं को अवश्य सुना होगा, क्योंकि वे अपने किशोर सखाओं के साथ इन लीलाओं का अनुकरण करते थे। श्रीधर स्वामी के अनुसार, महाराज परीक्षित गुरुजनों द्वारा कुलदेवता की पूजा का अनुकरण करते थे। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भी श्रील जीव गोस्वामी के कथन की पुष्टि की है। उनके मतानुसार महाराज परीक्षित को बाल्यकाल से ही भगवान् कृष्ण की भक्ति में आसक्ति थी। उन्होंने उपर्युक्त कार्यकलापों में से किसी का अनुकरण किया होगा और ये सभी कार्यकलाप यह सिद्ध करते हैं कि वे बाल्यकाल से भक्त थे, जो कि *महाभागवत* का लक्षण है। ऐसे *महाभागवत* नित्य-सिद्ध कहलाते हैं, जिसका अर्थ है जन्म से ही मुक्तात्मा होना, किन्तु ऐसे भी लोग हैं, जो जन्म से ही मुक्त न हों, अपितु संगति से भक्ति की प्रवृत्ति विकसित करते हों। ऐसे लोग *साधन-सिद्ध* कहलाते हैं। अन्ततोगत्वा इन दोनों में कोई अन्तर नहीं रहता अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि

शुद्ध भक्तों की संगति से कोई भी *साधनसिद्ध* भगवद्भक्त बन सकता है। इसका ज्वलन्त उदाहरण हमारे महान् गुरु श्री नारद मुनि हैं। अपने पूर्व-जन्म में वे मात्र एक दासीपुत्र थे, किन्तु महान् भक्तों की संगति से, वे ऐसे भगवद्भक्त बन गये जो भक्ति-मय सेवा के इतिहास में अद्वितीय हैं।

वैयासकिश्च भगवान् वासुदेव-परायणः ।
उरुगाय-गुणोदाराः सतां स्युर्हि समागमे ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

वैयासकिः—व्यासदेव के पुत्र; च—भी; भगवान्—दिव्य ज्ञान से पूर्ण; वासुदेव—भगवान् कृष्ण पर; परायणः—अनुरक्त; उरुगाय—महान् दार्शनिकों द्वारा महिमान्वित भगवान् कृष्ण का; गुण-उदाराः—महान् गुण; सताम्—भक्तों का; स्युः—अवश्य हुआ; हि—निश्चय ही; समागमे—उपस्थिति से।

व्यासपुत्र शुकदेव गोस्वामी दिव्य ज्ञान से पूर्ण भी थे और वसुदेव-पुत्र भगवान् श्रीकृष्ण के महान् भक्त भी थे। अतएव भगवान् कृष्ण-विषयक चर्चाएँ अवश्य चलती रही होंगी, क्योंकि बड़े-बड़े दार्शनिकों द्वारा तथा महान् भक्तों की सभा में कृष्ण के गुणों का बखान होता ही रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *सताम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *सताम्* का अर्थ है 'शुद्ध भक्त' जिसे भगवान् की सेवा करने के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की इच्छा नहीं रहती। ऐसे भक्तों की संगति में ही भगवान् कृष्ण के दिव्य यश का सही-सही वर्णन हो सकता है। भगवान् ने कहा है कि उनकी कथाएँ आध्यात्मिक महत्त्व से युक्त होती हैं और यदि कोई एक बार भी *सताम्* की संगति में भगवान् के विषय में श्रवण करता है, तो उसे इस महान् शक्ति का आभास मिल जाता है और उसमें स्वतः भक्ति उत्पन्न हो जाती है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, महाराज परीक्षित जन्म से ही भगवान् के भक्त थे। उसी तरह शुकदेव गोस्वामी भी थे। वे दोनों समान स्तर पर थे, यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि महाराज परीक्षित राजसी सुविधाओं के अभ्यस्त थे जबकि शुकदेव गोस्वामी एक आदर्श महान् त्यागी थे, यहाँ तक कि वे शरीर में वस्त्र भी नहीं धारण करते थे। ऊपर-ऊपर से दोनों में विरोधाभास दिख सकता है, लेकिन मूलतः दोनों ही अनन्य शुद्ध भगवद्भक्त थे। जब ऐसे भक्त इकट्ठे जुटते हैं, तो उनके पास भगवान् की महिमा-चर्चा करने या भक्तियोग के अतिरिक्त अन्य कोई विषय नहीं रहता। *भगवद्गीता* में भी जब भगवान् तथा उनके भक्त अर्जुन के बीच वार्ता हुई तो भक्तियोग के अतिरिक्त कोई दूसरी चर्चा

नहीं हो सकती थी। फिर भी इस पर संसारी विद्वान अपने-अपने तरीके से सोच सकते हैं। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, *वैयासकि:* शब्द के बाद च शब्द का प्रयोग यह बताता है कि शुकदेव गोस्वामी तथा महाराज परीक्षित दोनों ही पहले से ही एक कोटि के थे, यद्यपि उनमें से एक गुरु की भूमिका निभा रहा था और दूसरा शिष्य की। चूँकि श्रीकृष्ण ही कथाओं के केन्द्र हैं, अतएव *वासुदेव-परायण:* शब्द वासुदेव के भक्त को सामान्य लक्ष्य के तौर पर सूचित करता है। यद्यपि वहाँ पर अनेक अन्य लोग एकत्रित थे जहाँ महाराज परीक्षित उपवास कर रहे थे, लेकिन सहज निष्कर्ष यह निकलता है कि वहाँ पर कृष्ण के महिमा-गायन के अतिरिक्त अन्य कोई चर्चा नहीं हुई होगी, क्योंकि प्रमुख वक्ता शुकदेव गोस्वामी थे और प्रमुख श्रोता महाराज परीक्षित थे। अतएव भगवान् के दो प्रमुख भक्तों के बीच कहे तथा सुने जाने के कारण *श्रीमद्भागवत* भगवान् श्रीकृष्ण के महिमा-गायन के ही निमित्त है।

आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ ।
तस्यर्ते यत्क्षणो नीत उत्तम-श्लोक-वार्तया ॥ १७॥

शब्दार्थ

आयु:—उम्र; हरति—घटाता है; वै—निश्चय ही; पुंसाम्—लोगों की; उद्यन्—उदय होते; अस्तम्—अस्त होते; च—भी; यन्—चलते हुए; असौ—सूर्य; तस्य—भगवान् की महिमा का गायन करनेवाले का; ऋते—सिवाय; यत्—जिससे; क्षण:—समय; नीत:—उपयोग किया हुआ; उत्तम-श्लोक—सर्वोत्तम भगवान् की; वार्तया—वार्ताओं में।.

उदय तथा अस्त होते हुए सूर्य सबों की आयु को क्षीण करता है, किन्तु जो सर्वोत्तम भगवान् की कथाओं की चर्चा चलाने में अपने समय का सदुपयोग करता हैं, उसकी आयु क्षीण नहीं होती।

तात्पर्य : यह श्लोक, अप्रत्यक्ष रूप से, भक्ति-मय सेवा को त्वरित करके भगवान् के भूले सम्बन्धों की अनुभूति कराने के लिए मानव जीवन का सदुपयोग करने की महत्ता की पुष्टि करता है। कहा गया है कि काल तथा ज्वार-भाटा किसी की प्रतीक्षा नहीं करते। अतएव सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक का समय व्यर्थ ही बीतेगा, यदि इसका उपयोग आध्यात्मिक मूल्यों की पहचान के लिए नहीं किया जाता। जीवन-काल के किसी अंश के नष्ट हो जाने पर कितनी भी स्वर्ण-राशि देकर इसकी भरपाई नहीं की जा सकती। जीव को यह मनुष्य-जीवन इसलिए प्रदान किया जाता है कि वह अपनी आध्यात्मिक पहचान एवं अपने सुख के स्थायी स्रोत को जान सके। जीव तो और वह भी मनुष्य, सुख

की तलाश में रहता है, क्योंकि सुख जीव की प्राकृतिक अवस्था है। किन्तु वह भौतिक परिवेश में व्यर्थ ही उसकी खोज करता है। जीव स्वाभाविक दृष्टि से परम पूर्ण का आध्यात्मिक स्फुलिंग है और उसका सुख उसके आध्यात्मिक कार्यों से पूर्णतः अनुभवगम्य है। भगवान् पूर्ण आत्मा हैं और उनका नाम, रूप, गुण, लीलाएँ, पार्षद तथा व्यक्तित्व सभी उनसे अभिन्न हैं। मानव के एक बार भक्ति के सही मार्ग से भगवान् की उपर्युक्त शक्तियों में से किसी एक के भी सम्पर्क में आते ही, तुरन्त उसके लिए सिद्धि के द्वार खुल जाते हैं। *भगवद्गीता* (२.४०) में भगवान् ने ऐसे सम्पर्क की व्याख्या इन शब्दों में की है, ''भक्ति के लिए किये गये प्रयास निष्फल नहीं होते। ऐसे कार्यों का शुभारम्भ भी मनुष्य को भौतिक भय के पारावार से उबारने के लिए पर्याप्त है।'' जिस प्रकार उच्चतम क्षमता की औषधि नसों के माध्यम से इंजेक्शन लगाते ही सारे शरीर पर अपना प्रभाव दिखा देती है, उसी प्रकार भगवद्भक्त के कर्ण-कुहरों में प्रविष्ट होनेवाली भगवान् की कथाएँ बड़ी तेजी से कार्य करती हैं। दिव्य कथाओं का श्रवण द्वारा पान करने का अर्थ है पूर्ण अनुभूति, जिस तरह वृक्ष के किसी अंग में फल लगने का अर्थ है पूरे वृक्ष का फलित होना। शुकदेव गोस्वामी जैसे शुद्ध भक्त के संग में की गई यह क्षणमात्र की अनुभूति मनुष्य-जीवन को अमरत्व प्रदान करती है। इस प्रकार सूर्य शुद्ध भक्त की आयु को चुरा नहीं पाता, क्योंकि भक्त भगवान् की सेवा में लगा रहकर अपने जीवन को शुद्ध कर लेता है। मृत्यु शाश्वत जीव के भौतिक संदूषण का लक्षण है। इसी संदूषण के कारण जीव जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के नियमों के अधीन हो जाता है।

जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने उद्धरण दिया है, दान जैसे पुण्य कर्म की भौतिक रीति की संस्तुति *स्मृति* शास्त्रों द्वारा की गई है। सुपात्र को दान में दिया गया धन अगले जीवन के लिए सुनिश्चित बैंक-बचत जैसा है। ऐसा दान ब्राह्मण को दिये जाने की संस्तुति है। यदि यह धन अब्राह्मण (ब्राह्मण गुणों से विहीन) को दान में दिया जाता है, तो वह उसी अनुपात में अगले जन्म में वापस हो जाता है। यदि यह धन अर्धशिक्षित ब्राह्मण को दिया जाता है, तो भी यह दुगुना होकर लौट आता है। किन्तु यदि यह धन पूर्णतः योग्य ब्राह्मण को दिया जाता है, तो वह सैंकड़ों हजारों गुना होकर वापस मिलता है। यदि यही धन *वेद-पारग* (जिसे सचमुच वेदों के पथ की अनुभूति हो चुकी है) को दिया

जाता है, तो वह असंख्य गुना होकर मिलता है। वैदिक ज्ञान का चरम लक्ष्य भगवान् कृष्ण की अनुभूति है जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*)। दान में जो भी धन दिया जाता है उसके लौटने की गारंटी है, चाहे उसका अनुपात जो भी हो। इसी प्रकार, शुद्ध भक्त की संगति से भगवान् की दिव्य कथाओं के श्रवण तथा कीर्तन में बिताया गया एक क्षण शाश्वत जीवन या भगवद्धाम लौटने की पूरी गारंटी है *। मद्धाम गत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।* दूसरे शब्दों में, भगवद्भक्त को शाश्वत जीवन की गारंटी रहती है। इस जीवन में भक्त का बुढ़ापा या रोग ऐसे गारंटीयुक्त शाश्वत जीवन के लिए प्रोत्साहन मात्र ही है।

तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत ।
न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामे पशवोऽपरे ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तरवः—वृक्ष; किम्—क्या; न—नहीं; जीवन्ति—जीवित रहते हैं; भस्त्राः—धौंकनी; किम्—क्या; न—नहीं; श्वसन्ति—साँस लेते हैं; उत—भी; न—नहीं; खादन्ति—खाते हैं; न—नहीं; मेहन्ति—वीर्य स्खलित करते हैं; किम्—क्या; ग्रामे—स्थान में; पशवः—पशु-तुल्य जीव; अपरे—अन्य।

क्या वृक्ष जीते नहीं हैं? क्या लुहार की धौंकनी साँस नहीं लेती? हमारे चारों ओर क्या पशुगण भोजन नहीं करते? या वीर्यपात नहीं करते?

तात्पर्य : आधुनिक युग का भौतिकतावादी व्यक्ति तर्क करेगा कि जीवन या इसका कोई भी अंश अध्यात्म-विद्या या धर्मशास्त्र-विषयक वाद-विवाद के लिए नहीं है। जीवन तो अधिकाधिक काल तक खाने, पीने, संभोग करने, मौज-मस्ती करने और आनन्द लूटने के लिए है। आधुनिक व्यक्ति भौतिक विज्ञान की उन्नति के द्वारा सदा-सदा के लिए जीवित रहना चाहता है। अधिकतम अवधि तथा जीवन को दीर्घ बनाने के लिए अनेक मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त हैं। किन्तु *श्रीमद्भागवत* आगाह करती है कि यह जीवन केवल आर्थिक विकास या खाने, पीने, मौज उड़ाने के भोगवादी दर्शन के लिए अथवा भौतिकतावादी विज्ञान के विकास के लिए नहीं मिला है। जीवन तो एकमात्र *तपस्या* के लिए, शुद्धि के लिए मिला है, जिससे मनुष्य इस जीवन के अन्त होने पर शाश्वत जीवन में प्रवेश कर सके।

भौतिकतावादी इस जीवन को अधिक से अधिक दीर्घ बनाना चाहते हैं, क्योंकि उन्हें अगले जीवन की कोई खबर नहीं रहती। वे इसी जीवन में अधिकतम सुख चाहते हैं, क्योंकि वे अन्तिम रूप से

सोचते हैं कि मृत्यु के बाद जीवन नहीं होता। जीव की नित्यता के विषय में अज्ञानता तथा भौतिक जगत में आवरण के परिवर्तन ने आधुनिक मानव समाज की संरचना में उत्पात मचा रखा है, फलस्वरुप अनेक समस्याएँ आ गई हैं, जिन्हें आधुनिकीकृत मनुष्य की विविध योजनाओं ने द्विगुणित कर दिया है। समाज की समस्याओं को हल करने की योजनाओं ने इन कठिनाइयों को और ही भड़का दिया है। यदि यह मान लिया जाय कि मनुष्य की आयु बढ़कर एक सौ वर्ष से भी ऊपर हो जाय तो जरुरी नहीं है कि मानव सभ्यता का विकास होगा। *भागवत* का कथन है कि कुछ वृक्ष सैकड़ों–हजारों वर्षों तक जीवित रहते हैं। वृन्दावन में एक इमली का वृक्ष है (यह स्थान इमलीताल कहलाता है) जो वहाँ पर भगवान् श्रीकृष्ण के समय से स्थित बताया जाता है। कलकत्ते के वानस्पतिक उद्यान में एक बरगद का वृक्ष है, जो पाँच सौ वर्षों से भी पुराना कहा जाता है और विश्वभर में ऐसे अनेक वृक्ष हैं। स्वामी शंकाराचार्य केवल ३२ वर्ष जीवित रहे और भगवान् चैतन्य महाप्रभु केवल ४८ वर्ष रहे। तो क्या इसका अर्थ यह हुआ कि उपर्युक्त वृक्षों का दीर्घजीवन शंकर या चैतन्य से अधिक महत्त्वपूर्ण है? बिना आध्यात्मिक महत्त्व के दीर्घजीवन अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होता। मनुष्य सन्देह कर सकता है कि वृक्ष इसीलिए जीवित हैं क्योंकि वे श्वास नहीं लेते, किन्तु आधुनिक विज्ञानियों ने, यथा बोस ने, यह पहले ही सिद्ध कर दिया है कि पौधों में भी प्राण है, अतएव श्वास लेना वास्तविक जीवन का लक्षण नहीं है। *भागवत* का कहना है कि लुहार की धौंकनी तेजी से श्वास लेती है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि धौंकनी में प्राण है। भौतिकतावादी तर्क करेगा कि पौधे का प्राण तथा मनुष्य का प्राण एकसमान नहीं, क्योंकि पौधा न तो नाना प्रकार के पकवान खा सकता है और न सम्भोग–सुख उठा सकता है। इसके उत्तर में *भागवत* यह पूछती है कि क्या एक ही गाँव में मनुष्यों के साथ रहनेवाले कूकर–सूकर नहीं खाते या विषयी जीवन नहीं बिताते? *श्रीमद्भागवत* में 'अन्य पशुओं' का जो विशेष उल्लेख हुआ है, उसका अर्थ यह है कि जो पुरुष केवल खाने, श्वास लेने तथा संभोग करने के पाशविक जीवन को कुछ बेहतर बनाने में लगे रहते हैं, वे मनुष्य के रूप में पशु होते हैं। बेहतर दिखने वाले इस प्रकार के पशुओं का समाज दुखी मानवता को कभी लाभ नहीं पहुँच सकता, क्योंकि एक पशु दूसरे पशु को हानि तो पहुँचा सकता है, किन्तु कोई विरला ही लाभ पहुँचा सकता है।

श्व-विड्वराहोष्ट्र-खरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः ।
न यत्कर्ण-पथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

श्व—कुत्ता; **विट्-वराह**—ग्रामीण शूकर, जो विष्ठा खाता है; **उष्ट्र**—ऊँट; **खरैः**—तथा गधों से; **संस्तुतः**—पूर्णतया प्रशंसित; **पुरुषः**—व्यक्ति; **पशुः**—पशु; **न**—कभी नहीं; **यत्**—उसका; **कर्ण**—कान; **पथ**—रास्ता; **उपेतः**—पहुँचा हुआ; **जातु**—किसी समय; **नाम**—पवित्र नाम; **गदाग्रजः**—समस्त बुराइयों से उद्धार करनेवाले भगवान् कृष्ण।

कुत्तों, सूकरों, ऊँटों तथा गधों जैसे पुरुष, उन पुरुषों की प्रशंसा करते हैं, जो समस्त बुराइयों से उद्धार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य लीलाओं का कभी भी श्रवण नहीं करते।

तात्पर्य : जन-सामान्य को यदि जीवन के उच्चतर आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा नहीं दी जाती तो वे पशु से भी अधम हैं और इस श्लोक में उनकी समता कुत्तों, शूकरों, ऊँटों तथा गधों से की गई है। आधुनिक विश्वविद्यालय की शिक्षा एक तरह से मनुष्य को कूकरों की मनोवृत्ति प्रदान करती है, जिससे किसी बड़े मालिक की सेवा की जाय। तथाकथित शिक्षा को पूरी कर लेने के बाद तथाकथित शिक्षित व्यक्ति किसी नौकरी के लिए द्वार-द्वार कुत्तों की भाँति घूमते रहते हैं और उनमें से अधिकतर यह कहकर दुत्कार दिये जाते हैं कि कोई स्थान नहीं हैं। जिस प्रकार कुत्ते उपेक्षित पशु हैं और एक रोटी के टुकड़े के लिए अपने स्वामी की आज्ञापूर्वक सेवा करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी पर्याप्त फल पाये बिना स्वामी की आज्ञा का पालन करता है।

जो लोग खाने के मामले में कोई भेदभाव नहीं बरतते और सभी प्रकार की सड़ी-गली वस्तुएँ खाते हैं, वे शूकर तुल्य हैं। शूकरों को मल खाना पसन्द है। इस तरह मल पशु विशेष का प्रिय खाद्य है। इसी तरह कुछ पशु या पक्षी पत्थर तक खाते हैं। किन्तु मनुष्य सभी तरह की वस्तुएँ खाने के लिए नहीं बना; वह तो अन्न, शाक, फल, दूध, चीनी इत्यादि खाने के लिए आया है। पशु-आहार मनुष्यों के लिए नहीं है। ठोस भोजन चबाने के लिए मनुष्य में विशेष प्रकार के दाँत होते हैं जिनसे वह फल तथा शाक काट सकता है। मनुष्य के दो कुकुर-दाँत भी होते हैं जिनसे, यदि वह चाहे तो, पशु-भोजन खा सकता है। यह सबों को ज्ञात है कि एक मनुष्य के लिए जो भोजन है, वही दूसरे मनुष्य के लिए विष हो सकता है। मनुष्यों से अपेक्षा की जाती है कि वे भगवान् श्रीकृष्ण को अर्पित भोग के बचे-खुचे

अंश को ग्रहण करेंगे और भगवान् पत्र, पुष्प, फल आदि ग्रहण करते हैं (*भगवद्गीता* ९.२६)। वैदिक शास्त्रों में कहा गया है कि भगवान् को कभी पशु–आहार अर्पित नहीं करना चाहिए। अतएव मनुष्य विशेष प्रकार का भोजन करने के लिए है। उसे तथाकथित विटामिनों की पूर्ति के लिए पशुओं का अनुकरण नहीं करना चाहिए। अतएव जो व्यक्ति भोजन के मामले में विवेक से काम नहीं लेता, उसे शूकर के तुल्य बताया गया है।

ऊँट एक ऐसा पशु है, जो कँटीली वस्तुएँ खाने से आनन्दित होता है। जो व्यक्ति पारिवारिक जीवन या तथाकथित भोग का सांसारिक जीवन बिताना चाहता है, उसकी तुलना ऊँट से की गई है। भौतिकतावादी जीवन काँटों से भरा हुआ है अतएव मनुष्य को चाहिए कि वैदिक अनुष्ठानों की संस्तुत विधि के अनुसार जीवनयापन करे, जिससे बुरे से बुरे सौदे से भी लाभ लिया जा सके। भौतिक जगत में अपना ही खून चूस कर पालन–पोषण करना होता है। भौतिक भोग का आकर्षण–केन्द्र विषयी जीवन है। विषयी जीवन का भोग अपना खून चूसना होता है, इस प्रसंग में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। ऊँट भी, कँटीली टहनियाँ चबाते समय, अपना रक्त चूसता है। ऊँट जिन कँटीली टहनियों को खाता है, वे उसकी जीभ को काट देती हैं, जिससे उसके मुँह के भीतर खून आने लगता है। रक्त के साथ मिलकर काँटे मूर्ख ऊँट के लिए स्वाद उत्पन्न कर देते हैं और वह झूठे आनन्द के साथ काँटे खाने में लगा रहता है। इसी प्रकार बड़े–बड़े व्यापारी और उद्योगपति जो विभिन्न साधनों से या संदेहास्पद साधनों से धन कमाने के लिए कठोर श्रम करते हैं, अपने रक्त से मिश्रित अपने कर्मों का कँटीला फल खाते हैं। इसीलिए *भागवत* में इन रुग्ण पुरुषों की गणना ऊँटों के साथ की गई है।

गधा ऐसा पशु है, जो पशुओं में सबसे बड़ा मूर्ख माना जाता है। गधा कठिन श्रम करता है और, बिना किसी लाभ के, भारी से भारी बोझ ढोता है*

START FOOTNOTE

मनुष्य जीवन मूल्यों की प्राप्ति के लिए है। यह जीवन अर्थदम् अर्थात् मूल्य प्रदान करनेवाला कहलाता है। और जीवन का सबसे बड़ा मूल्य क्या है? यह है भगवद्धाम वापस जाना, जैसाकि

भगवद्‌गीता (८.१५) में इंगित हुआ है। मनुष्य के स्वार्थ का लक्ष्य भगवद्धाम वापस जाना होना चाहिए। गधा अपना हित नहीं पहचानता। वह दूसरों के लिए कठिन श्रम करता है। जो व्यक्ति मानव जीवन में, अपने निजी हित को भूलकर केवल दूसरों के लिए ही कार्य करता है, वह गधे के समान है। *ब्रह्मवैवर्त पुराण* में कहा गया है—

अशीतिं चतुरश्चैव लक्षांस्ताञ्जीवजातिषु।
भ्रमद्‌भिः पुरुषैः प्राप्यं मानुष्यं जन्म-पर्ययात्॥
तदप्यभलतां जातः तेषां आत्माभिमानिनाम्।
वराकाणाम् अनाश्रित्य गोविन्दचरणद्वयम्॥

मानव जीवन इतना महत्त्वपूर्ण है कि स्वर्ग-लोक के देवता भी कभी-कभी इस धरा पर मनुष्य-देह की कामना करते हैं, क्योंकि मानव शरीर में ही मनुष्य भगवद्धाम को सरलता से वापस जा सकता है। यदि ऐसा महत्त्वपूर्ण शरीर प्राप्त करके भी कोई गोविन्द, श्रीकृष्ण के साथ अपने भूले हुए नित्य सम्बन्ध को पुनःस्थापित नहीं कर पाता, तो वह निश्चय ही मूर्ख है, जिसने अपना सारा स्वार्थ भुला दिया है। यह मनुष्य-देह चौरासी लाख योनियों में क्रमशः घूमने के बाद प्राप्त होती है। और बेचारा मनुष्य अपने स्वार्थ को भूलकर राजनीतिक उत्थान तथा आर्थिक विकास के नेता के रूप में अन्यों को ऊपर उठाने के अनेक भ्रामक कार्यों में संलग्न रहता है। राजनीतिक उत्थान या आर्थिक विकास के लिए प्रयास करने में कोई हानि नहीं है, किन्तु मनुष्य को जीवन के असली उद्देश्य को भूलना नहीं चाहिए। ऐसे सारे परोपकारी कार्यों को भगवद्धाम वापस जाने के साथ जोड़ देना चाहिए। जो मनुष्य यह नहीं जानता, वह उस गधे के तुल्य है, जो दुसरों या अपने कल्याण की परवाह न करके अन्यों के लिए ही कार्य करता है।

END FOOTNOTE

सामान्यतया धोबी गधे को रखता है, जिसकी स्वयं की स्थिति सम्मानजनक नहीं होती और गधे की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि गधी द्वारा उसे डुलत्ती मारे जाने पर वह उसका अभ्यस्त हो जाता

है। जब गधा मैथुन के लिए ललचाता है, तो गधी दुलत्ती चलाती है, फिर भी गधा मैथुन के लिए उसके पीछे-पीछे लगा रहता है। अतएव पत्नी के गुलाम की तुलना गधे से की जाती है। जनसामान्य, इस कलियुग में विशेषरूप से, अत्यधिक श्रम करता है। वह गधे के कार्य में लगा रहता है, वह भारी बोझा ढोता है और ठेला तथा रिक्शा खींचता है। मानव सभ्यता के तथाकथित विकास ने मनुष्य को गधे के कार्य में लगा रखा है। बड़ी-बड़ी फैक्टरियों तथा कार्यशालाओं में भी श्रमिक-गण भारी काम में लगे रहते हैं और दिन भर कठिन श्रम करने के बाद फिर से बेचारे मजदूर को घर पर न केवल कामसुख के लिए अपितु अनेक घरेलू कार्यों के लिए उसकी स्त्री लतियाती है।

अतएव *श्रीमद्भागवत* द्वारा आध्यात्मिक प्रकाश के बिना सामान्य मनुष्य को कूकरों, शूकरों, ऊँटों तथ गधों की श्रेणी में रखा जाना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं है। भले ही ऐसे अज्ञानी जनसमूह के नेता तमाम शूकरों द्वारा पूजित होने के लिए गर्वित हों, किन्तु यह कोई सम्मान नहीं है। *भागवत* तो खुला घोषित करती है कि कोई व्यक्ति भले ही ऐसे कूकरों-सूकरों के वेश में मनुष्यों का नेता हो, किन्तु यदि उसे कृष्ण के विज्ञान से अवगत होने में अभिरुचि नहीं है, तो ऐसा व्यक्ति पशु के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उसे शक्तिशाली प्रबल पशु या विशाल पशु कहा जा सकता है, किन्तु *श्रीमद्भागवत* के अनुसार, उसे अपने नास्तिकतावादी स्वभाव के कारण मनुष्य की कोटि में कभी नहीं रखा जा सकता। अथवा दूसरे शब्दों में, कूकरों-सूकरों जैसे व्यक्तियों के ईश्वर-विहीन नेता पशुओं से भी बढ़कर हैं, जिनमें पाशविक गुणों का अनुपात अधिक है।

बिले बतोरुक्रम-विक्रमान् ये
न शृण्वतः कर्ण-पुटे नरस्य ।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत
न चोपगायत्युरुगाय-गाथाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

बिले—साँपों के बिल; बत—सदृश; उरुक्रम—अद्भुत कार्य करनेवाले भगवान्; विक्रमान्—शौर्य; ये—जो सब; न—कभी नहीं; शृण्वतः—सुनते हैं; कर्ण-पुटे—कर्ण-छिद्रों में; नरस्य—मनुष्य के; जिह्वा—जीभ; असती—व्यर्थ; दार्दुरिका—मेंढकों के; इव—सदृश; सूत—हे सूत गोस्वामी; न—कभी नहीं; च—भी; उपगायति—तेजी से उच्चारण करती है; उरुगाय—गाने योग्य; गाथाः—गीत।

जिसने भगवान् के शौर्य तथा अद्भुत कार्यों की कथाएँ नहीं सुनी हैं तथा जिसने भगवान्

के विषय में गीतों को गाया या उच्चस्वर से उच्चारण नहीं किया है, उसके श्रवण-रंध्र मानो साँप के बिल हैं और जीभ मानो मेंढक की जीभ है।

तात्पर्य : भगवान् की भक्ति-मय सेवा शरीर के सभी अंगों या उपागों द्वारा सम्पन्न होती है। यह आत्मा की दिव्य गतिशील शक्ति है। अतएव भक्त भगवान् की सेवा में शत-प्रतिशत लग जाता है। भक्ति कोई तभी कर सकता है, जब उसके शरीर की इन्द्रियाँ भगवान् के सम्बन्ध की दृष्टि से शुद्ध हों और वह अपनी समस्त इन्द्रियों से भगवान् की सेवा कर सकता हो। फलत: जब तक इन्द्रियाँ केवल इन्द्रिय-तृप्ति में लगी रहती हैं, तब तक इन्द्रियों तथा उनके कार्यों को अशुद्ध या भौतिकतावादी ही मानना चाहिए। शुद्ध इन्द्रियाँ इन्द्रिय-तृप्ति में नहीं, अपितु पूर्णत: भगवान् की सेवा में लगी रहती हैं। भगवान् अपनी समस्त इन्द्रियों समेत परमेश्वर हैं और सेवक, जो भगवान् का अंश-स्वरूप है, वह भी उन्हीं इन्द्रियों से युक्त होता है। भगवान् की सेवा इन्द्रियों का नितान्त शुद्ध उपयोग है, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है। भगवान् ने पूर्ण इन्द्रियों से उपदेश दिया और अर्जुन ने पूर्ण इन्द्रियों से उसे ग्रहण किया। इस प्रकार यह गुरु तथा शिष्य के मध्य ज्ञेय तथा तार्किक ज्ञान का पूर्ण विनिमय था। आध्यात्मिक ज्ञान कोई विद्युत् आवेश नहीं है, जो गुरु से शिष्य में प्रवेश करता है, जैसाकि कुछ प्रचारक मूर्खतावश दावा करते हैं। प्रत्येक वस्तु ज्ञान तथा तर्क से पूर्ण है और गुरु तथा शिष्य के मध्य विचारों का आदान-प्रदान तभी सम्भव है, जब उसे विनीत भाव तथा सचाई से ग्रहण किया जाय। *चैतन्य-चरितामृत* में कहा गया है कि मनुष्य को चाहिए कि बुद्धि तथा पूर्ण चेतना से युक्त होकर भगवान् चैतन्य की शिक्षाएँ ग्रहण करे, जिससे वह महान् ध्येय को तर्क द्वारा समझ सके।

जीव की विभिन्न इन्द्रियाँ अशुद्ध अवस्था में संसारी कार्यों में संलग्न रहती हैं। यदि उसके कान, *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* का श्रवण करते हुए भगवान् की सेवा में नहीं लगे रहते, तो यह निश्चित है कि उसके कानों के छेद कूड़ा-करकट से भर जायेंगे। अतएव *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के सन्देशों का प्रसार उच्च स्वर से विश्व भर में होना चाहिए। यह उस शुद्ध भक्त का कर्तव्य है, जिसने सही स्रोत से उनके विषय में श्रवण किया है। बहुत से लोग दूसरों से कुछ बोलना चाहते रहते हैं, लेकिन चूँकि उन्हें वैदिक विद्या के विषय में बोलने की शिक्षा नहीं दी गई रहती, अतएव वे व्यर्थ की

बातें करते हैं और लोग उन्हें बिना समझे सुनते रहते हैं। सांसारिक खबरों को फैलाने के एक नहीं सैकड़ों- हजारों साधन हैं और संसार भर के लोग उन्हें ग्रहण भी करते रहते हैं। इसी तरह संसार भर के लोगों को भगवान् की दिव्य कथाएँ सुनने के लिए शिक्षा दी जानी चाहिए और भगवान् के भक्त को चाहिए कि उच्चस्वर से बोले, जिससे लोग सुन सकें। मेंढ़क उच्चस्वर से टर्राते हैं, जिनके कारण वे साँपों को आमन्त्रण देते हैं, जो उन्हें खा जाते हैं। मनुष्य को विशेषरूप से वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के लिए जीभ प्रदान की गई है, मेंढकों के समान टर्राने के लिए नहीं। इस श्लोक में प्रयुक्त *असती* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है 'ऐसी स्त्री जो वेश्या बन गई है।' वेश्या अपने उत्तम स्त्री-गुणों के लिए विख्यात नहीं है। इसी प्रकार जीभ, जो मनुष्य को वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के लिए मिली है, वेश्या मानी जायेगी यदि उसे किसी सांसारिक प्रलाप के लिए प्रयुक्त किया जाये।

भारः परं पट्ट-किरीट-जुष्ट-
मप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम् ।
शावौ करौ नो कुरुते सपर्यां
हरेर्लसत्काञ्चन-कङ्कणौ वा ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

भारः—बहुत बड़ा बोझा; परम्—भारी; पट्ट—रेशम; किरीट—पगड़ी; जुष्टम्—से सज्जित; अपि—भी; उत्तम—उत्कृष्ट; अङ्गम्—शरीर के अंग; न—कभी नहीं; नमेत्—झुकते हैं; मुकुन्दम्—उद्धार करनेवाले भगवान् कृष्ण को; शावौ—मृतक शरीर; करौ—दो हाथ; नो—नहीं; कुरुते—करते हैं; सपर्याम्—पूजा; हरेः—भगवान् की; लसत्—चमचमातेहुए; काञ्चन—सुनहरे; कङ्कणौ—दो कंगन; वा—यद्यपि।

शरीर का ऊपरी भाग, भले ही रेशमी पगड़ी से सज्जित क्यों न हो, किन्तु यदि मुक्ति के दाता भगवान् के समक्ष झुकाया नहीं जाता तो वह केवल एक भारी बोझ के समान है। इसी प्रकार चाहे हाथ चमचमाते कंकणों से अलंकृत हों, यदि भगवान् हरि की सेवा में नहीं लगे रहते, तो वे मृत पुरुष के हाथों के तुल्य हैं।

तात्पर्य : जैसाकि पहले कहा जा चुका है, भगवद्भक्त तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम श्रेणी के भक्त (*महाभागवत*) प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् की सेवा में ही लगा हुआ देखते हैं, किन्तु द्वितीय श्रेणी के भक्त भक्तों तथा अभक्तों में अन्तर करते हैं। अतएव ये द्वितीय श्रेणी के भक्त धर्मोपदेश के लिए उपयुक्त हैं और जैसाकि ऊपर के श्लोक में कहा गया है, उन्हें उच्चस्वर से भगवान् की महिमा का प्रचार करना

चाहिए। इस श्रेणी के भक्त तृतीय श्रेणी के भक्तों या अभक्तों में से अपना शिष्य बनाते हैं। कभी-कभी प्रथम श्रेणी के भक्त भी द्वितीय श्रेणी में आ कर प्रचार-कार्य करते हैं। किन्तु सामान्य व्यक्ति को, जिससे यह आशा की जाती है कि वह कम से कम तृतीय श्रेणी का भक्त तो बन ले, यहाँ पर सलाह दी गई है कि वह भगवान् के मन्दिर में जाय और अर्चाविग्रह के समक्ष झुके, भले ही वह अत्यन्त धनी व्यक्ति या रेशमी पगड़ी अथवा मुकुट पहने राजा ही क्यों न हो। भगवान् तो हर एक के स्वामी हैं, चाहे वह महान् राजा तथा सम्राट ही क्यों न हो। जो लोग संसारी व्यक्तियों की दृष्टि में धनी हैं, उन्हें चाहिए कि वे भगवान् कृष्ण के मन्दिर में जाँय और नियमित रूप से अर्चाविग्रह के समक्ष नतमस्तक हों। मन्दिर में भगवान् पूजनीय रूप को कभी भी पत्थर या लकड़ी का बना न मानें, क्योंकि भगवान् अपने अर्चा-विग्रह अवतार रुप में अपनी शुभ उपस्थिति द्वारा पतितात्माओं पर अतीव कृपा करनेवाले हैं। जैसाकि इसके पूर्व उल्लेख हो चुका है, श्रवण-विधि से मंदिर में भगवान् के अस्तित्व की यह अनुभूति सम्भव है। अतएव भक्ति के नैत्यिक कार्यों में पहली विधि श्रवण है, जो अत्यावश्यक है। सभी श्रेणी के भक्तों को *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* जैसे प्रामाणिक स्रोतों से श्रवण करना अनिवार्य है। जो व्यक्ति अपने भौतिक पद से गर्वित होकर, मन्दिर में भगवान् के अर्चाविग्रह के समक्ष नतमस्तक नहीं होता या जो बिना किसी ज्ञान के मन्दिर-पूजा का तिरस्कार करता है, उसे यह जान लेना चाहिए कि उसकी यह पगड़ी या मुकुट उसे भवसागर में डुबोने में ही सहायक बनेंगे। यदि डूबते व्यक्ति के सिर पर भारी बोझ हो, तो वह बिना भारवाले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक तेजी से डूबेगा। मूर्ख तथा अहंकारी व्यक्ति ईश-विज्ञान का निरादर करता है और कहता है कि उसे ईश्वर से कुछ लेना-देना नहीं, किन्तु जब वह ईश्वर के नियम की पकड़ में आता है और जब उसे मस्तिष्क-शून्यता जैसी बीमारी आ घेरती है, तो वह ईश-विहीन व्यक्ति अपनी भौतिक उपलब्धि के भार से अज्ञान-सागर में डूब जाता है। ईश-चेतना के बिना भौतिक विज्ञान की प्रगति मानव समाज पर सिर के बोझ के तुल्य है। अतएव लोगों को इस प्रबल चेतावनी पर ध्यान देना चाहिए।

यदि सामान्य व्यक्ति को भगवान् की पूजा करने के लिए समय न मिले, तो उसे कम से कम भगवान् के मन्दिर की साप-सफाई में ही सही, कुछ क्षणतो अवश्य बिताने चाहिए। उड़ीसा के अत्यन्त

शक्तिशाली राजा, महाराज प्रतापरुद्र, यद्यपि राज्य के उत्तरदायित्व के भारी बोझ के कारण सदैव व्यस्त रहते थे, फिर भी वे वर्ष में एक बार भगवान् के उत्सव के समय पुरी के जगन्नाथ मन्दिर की सफाई अपने हाथों से करते थे। भाव यह है कि मनुष्य, चाहे कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, उसे परमेश्वर की श्रेष्ठता स्वीकार करनी चाहिए। यह ईश-चेतना मनुष्य को उसकी भौतिक सम्पन्नता में भी सहायक बनती है। भगवान् जगन्नाथ के समक्ष महाराज प्रतापरुद्र की अधीनता ने उन्हें इतना शक्तिशाली राजा बना दिया था कि उनके समय का महान् पठान तक उड़ीसा में न घुस पाया। अन्त में महाराज प्रतापरुद्र की संसार के स्वामी भगवान् की शरणागति से भगवान् श्री चैतन्य ने उन पर कृपा की। इस प्रकार, भले ही धनी पुरुष की स्त्री के हाथ में सोने के कंकण क्यों न हों, उसे भगवान् की सेवा अपने हाथों से करनी चाहिए।

बर्हायिते ते नयने नराणां
लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये ।
पादौ नृणां तौ द्रुम-जन्म-भाजौ
क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

बर्हायिते—मोर पंखों की भाँति; ते—वे; नयने—आँखें; नराणाम्—मनुष्यों के; लिङ्गानि—स्वरूप; विष्णोः—भगवान् के; न—नहीं; निरीक्षतः—देखते हैं; ये—ऐसे सब; पादौ—पाँव; नृणाम्—मनुष्यों के; तौ—वे; द्रुम-जन्म—वृक्ष से उत्पन्न; भाजौ—उसके सदृश; क्षेत्राणि—पवित्र स्थल; न—नहीं; अनुव्रजतः—जाते हैं; हरेः—भगवान् के; यौ—जो।

जो आँखें भगवान् विष्णु की प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियों (उनके रूप, नाम, गुण आदि) को नहीं देखतीं, वे मोर पंख में अंकित आँखों के तुल्य हैं और जो पाँव तीर्थ-स्थानों की यात्रा नहीं करते (जहाँ भगवान् का स्मरण किया जाता है) वे वृक्ष के तनों जैसे माने जाते हैं।

तात्पर्य : विशेष रूप से गृहस्थ भक्तों के लिए अर्चाविग्रह की पूजा की जोरदार संस्तुति की गई है। जहाँ तक सम्भव हो, हर गृहस्थ को, गुरु के आदेशानुसार, विष्णु के श्रीविग्रह की यथा राधाकृष्ण, लक्ष्मीनारायण या सीताराम जैसे स्वरूपों की या नृसिंह, वराह, गौर-निताई, मत्स्य, कूर्म, *शालग्राम शिला,* या भगवान् के किसी अन्य रूप तथा त्रिविक्रम, केशव, अच्युत, वासुदेव, नारायण तथा दामोदर जैसे विष्णु के अन्य रूप जिनकी संस्तुति *वैष्णव तन्त्रों* या पुराणों में की गई है, इनकी स्थापना करनी चाहिए और पूरे परिवार को अर्चन विधि के नियमों का कड़ाई से पालन करते हुए पूजा करनी चाहिए।

परिवार का हर सदस्य, जो बारह वर्ष से ऊपर की आयु का हो, प्रामाणिक गुरु से दीक्षा ले और घर के सारे सदस्य भोर से लेकर रात्रि तक मंगल आरात्रिका, निरञ्जन, अर्चन, पूजा, कीर्तन, शृंगार, भोग-वैकाली,सन्ध्या आरात्रिका पाठ, भोग (रात्रि का), शयन आरात्रिका इत्यादि करके भगवान् की सेवा में लगा रहे। प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में इस तरह अर्चाविग्रह की पूजा में संलग्न रहने से गृहस्थों को अपना जीवन विमल बनाने तथा आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नति करने में सहायता मिलेगी। किसी नौसिखिये भक्त के लिए साधारण पुस्तकीय ज्ञान पर्याप्त नहीं है। किताबी ज्ञान सैद्धान्तिक होता है, जबकि अर्चन-विधि व्यावहारिक है। आध्यात्मिक ज्ञान का विकास सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक ज्ञान के मेल से किया जाना चाहिए। इससे आध्यात्मिक सिद्धि निश्चित है। नवदीक्षित भक्त के लिए भक्ति का प्रशिक्षण कुशल गुरु पर निर्भर करता है, क्योंकि वह जानता रहता है कि भगवद्धाम जाने के मार्ग में क्रमिक प्रगति करने के लिए शिष्य को किस तरह ले जाया जाय। किसी को अपने परिवार का खर्च चलाने के लिए छद्म गुरु नहीं बनना चाहिए, अपितु उसे कुशल गुरु होना चाहिए, जिससे वह शिष्य को आसन्न मृत्यु के चंगुल से उबार सके। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने गुरु के प्रामाणिक गुणों का बखान किया है और उन श्लोकों में से एक इस प्रकार है—

श्रीविग्रहाराधननित्यनानाशृंगारतन्मन्दिरमार्जनादौ।

युक्तस्य भक्तांश्च नियुञ्जतोऽपि वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥

श्रीविग्रह, अर्चा अथवा भगवान् का उपयुक्त पूजनीय स्वरूप है और शिष्य को चाहिए कि वह शृंगार द्वारा अर्थात् समुचित अलंकरण तथा वस्त्रों द्वारा एवं मन्दिर-मार्जन अर्थात् मन्दिर की सफाई द्वारा श्रीविग्रह की पूजा करे। गुरु, नवदीक्षित भक्त को अत्यन्त अनुग्रहपूर्वक स्वयं ही ये सारी बातें सिखाता है और धीरे-धीरे भगवान् के दिव्य नाम, रूप, गुण आदि की अनुभूति प्राप्त करने में सहायता करता है।

भगवान् को वस्त्र पहनाने तथा मन्दिर को सजाने जैसी सेवा में ध्यान लगाने के साथ ही संगीतमय *कीर्तन* एवं शास्त्रों से आध्यात्मिक उपदेशों के द्वारा ही सामान्य व्यक्ति नारकीय सिनेमा के आकर्षण तथा सर्वत्र रेडियो द्वारा प्रसारित होनेवाले भद्दे कामुक गीतों से बच सकता है। यदि कोई घर में मन्दिर नहीं

बना सकता है, तो उसे किसी अन्य के मन्दिर में जाना चाहिए, जहाँ उपर्युक्त सारे कार्य नियमित रूप से सम्पन्न होते हों। भक्त के मन्दिर में जाने तथा भगवान् के अलंकृत रूप का दर्शन करने से संसारी मन में आध्यात्मिक प्रेरणा उत्पन्न होगी। मनुष्यों को चाहिए कि वे वृन्दावन जैसे तीर्थ-स्थानों में जायें, जहाँ ऐसे मन्दिर तथा श्रीविग्रह-पूजन की व्यवस्था रहती है। प्राचीनकाल में सारे धनी व्यक्ति, जैसा राजा तथा धनी व्यापारी, ऐसे मन्दिरों का निर्माण षड्गोस्वामियों जैसे कुशल भगवद्भक्तों के निर्देशानुसार कराते थे और जनसामान्य का कर्तव्य है कि इन मन्दिरों का तथा तीर्थस्थलों में सम्पन्न होनेवाले उत्सवों का लाभ महान् भक्तों के पद-चिह्नों का अनुसरण करते हुए (*अनुव्रज*) उठायें। मनुष्यों को चाहिए कि इन पवित्र तीर्थस्थलों तथा मन्दिरों की यात्रा सैर-सपाटे करने की भावना से न करें, अपितु उन्हें भगवान् की दिव्य लीलाओं से अमर हुआ मानकर तथा ईश-विज्ञान जानने वाले व्यक्ति के मार्गदर्शन में करें। यह *अनुव्रज* कहलाता है। अनु का अर्थ है पीछे-पीछे जाना। अतएव उत्तम होगा कि मन्दिरों तथा तीर्थस्थानों को देखने जाने में भी गुरु के आदेश का पालन किया जाय। जो इस विधि से यात्रा नहीं करता, वह उस जड़ वृक्ष के सदृश है, जिसे भगवान् ने जड़ बने रहने का शाप दिया है। मनुष्य की चल-फिर सकने की प्रवृत्ति का दुरुपयोग दृश्य देखने या पर्यटन करने के लिए स्थानों की यात्रा करने में होता है। ऐसी यात्रा की प्रवृत्ति का सदुपयोग यही है कि महान् आचार्यों द्वारा संस्थापित तीर्थस्थलों में जाया जाय और उन धन कमानेवाले व्यक्तियों के नास्तिक प्रचार से गुमराह न हुआ जाय, जिन्हें आध्यात्मिक विषयों का कोई ज्ञान नहीं है।

जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रि-रेणुं
न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु ।
श्री-विष्णु-पद्या मनुजस्तुलस्याः
श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

जीवन्—जीवित रहते हुए; शवः—मृत शरीर; भागवत-अङ्घ्रि-रेणुम्—शुद्ध-भक्त के चरणों की धूलि; न—कभी नहीं; जातु—किसी भी समय; मर्त्यः—मरणशील, मर्त्य; अभिलभेत—विशेष रूप से प्राप्त; यः—जो व्यक्ति; तु—लेकिन; श्री—ऐश्वर्य से; विष्णु-पद्याः—विष्णु के चरणकमलों का; मनु-जः—मनु की संतान (मनुष्य); तुलस्याः—तुलसीदल; श्वसन्—श्वास लेते हुए; शवः—फिर भी शव; यः—जो; तु—लेकिन; न वेद—अनुभव नहीं किया; गन्धम्—सुगन्धि को।.

जिस व्यक्ति ने कभी भी भगवान् के शुद्धभक्त की चरण-धूलि अपने मस्तक पर धारण नहीं

की, वह निश्चित रूप से शव है तथा जिस व्यक्ति ने भगवान् के चरणकमलों पर चढ़े तुलसीदलों की सुगन्धि का अनुभव नहीं किया, वह श्वास लेते हुए भी मृत शरीर के तुल्य है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार, श्वास लेता शव प्रेत होता है। जब मनुष्य मरता है, तो वह मृत कहलाता है, किन्तु जब वह पुनः हमारी वर्तमान दृष्टि से अदृश्य, सूक्ष्म रूप में प्रकट होता है और कार्य करता है, तो ऐसा मृत शरीर प्रेत कहलाता है। प्रेत सदैव ही बुरे तत्त्व होते हैं, जो दूसरों के लिए भयानक स्थिति उत्पन्न करते हैं। इसी तरह प्रेत-सदृश अभक्त, जिन्हें न तो शुद्ध भक्तों के लिए, न मन्दिरों के विष्णु श्रीविग्रहों के लिए कोई सम्मान रहता है, वे भक्तों के लिए सदैव भयानक स्थिति उत्पन्न करते रहते हैं। भगवान् ऐसे अशुद्ध प्रेतों की कोई भेंट स्वीकार नहीं करते। एक आम कहावत है कि प्रेयसी के प्रति प्रेमभाव दिखाने के पूर्व मनुष्य को प्रेयसी के कुत्ते को प्यार करना होता है। शुद्धभक्ति की अवस्था भगवान् के शुद्ध भक्त की निष्ठापूर्वक सेवा द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। अतएव भगवान् की भक्ति की पहली शर्त है शुद्ध भक्त का दास होना और इस शर्त की पूर्ति इस कथन से होती है "उस शुद्ध भक्त के चरणों की धूलि को धारण करना, जिसने दूसरे शुद्ध भक्त की सेवा की है।" यही शुद्ध शिष्य-परम्परा या भक्ति परम्परा है।

जब महाराज रहूगण ने परम सन्त जड़भरत से पूछा कि उन्होंने परमहंस की मुक्तावस्था कैसे प्राप्त की, तो उन्होंने निम्नानुसार उत्तर दिया (*भागवत* ५.१२.१२)।

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।

नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥

"हे राजा रहूगण! महान् भक्तों के चरणकमलों की धूलि से सम्पूर्ण शरीर को पवित्र किए बिना भक्ति की पूर्णावस्था या जीवन की परमहंस अवस्था की प्रतीति नहीं हो सकती। यह तपस्या वैदिक पूजनविधि, संन्यास ग्रहण, गृहस्थ के कर्तव्य पालन, वैदिक स्तोत्रों के उच्चारण या गर्म धूप में अथवा जल के भीतर या तपती अग्नि के समक्ष तपस्या करने से कभी भी प्राप्त नहीं की जा सकती।"

दूसरे शब्दों में, भगवान् श्रीकृष्ण अपने शुद्ध मुक्त भक्तों की सम्पत्ति हैं, फलतः कृष्ण को केवल भक्त ही दूसरे भक्त को सौंप सकता हैं; कृष्ण कभी भी प्रत्यक्ष विधि से प्राप्त नहीं होते। अतएव

भगवान् चैतन्य ने स्वयं को *गोपीभर्तु: पदकमलयोर्दासदासानुदास:* ''अर्थात् वृन्दावन में गोपबालाओं का पालन करनेवाले भगवान् के दासों का अत्यन्त आज्ञाकारी दास'' कहा। शुद्ध भक्त कभी भी भगवान् तक सीधे नहीं पहुँचता, अपितु वह भगवान् के दासों के दास को प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है और इस तरह भगवान् प्रसन्न होते हैं। तभी भक्त भगवान् के चरणकमलों पर चढ़े तुलसीदलों का आस्वाद कर सकता है। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि वैदिक साहित्य का महान् पंडित बनने से भगवान् नहीं मिलते, अपितु वे अपने शुद्ध भक्त के माध्यम से सरलता से प्राप्त हो जाते हैं। वृन्दावन के सारे लोग भगवान् कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति, श्रीमती राधा रानी, से कृपा की प्रार्थना करते हैं, जो परम पूर्ण की सुकुमार हृदय अर्धाङ्गिनी हैं, जो संसार की स्त्रीरूपा प्रकृति की सिद्धावस्था के अनुरूप हैं। अतएव निष्ठावान भक्तों को राधारानी की कृपा सरलता से प्राप्त हो जाती है और एक बार जब वे भगवान् कृष्ण से ऐसे भक्त का अनुमोदन करती हैं, तो भगवान् उसे तुरन्त ही अपना संगी बना लेते हैं। अतएव निष्कर्ष यही निकला कि मनुष्य को सीधे भगवान् की कृपा की खोज न करके, भक्त की कृपा प्राप्त करनी चाहिए। ऐसा करने से (भक्त की कृपा से) भगवान् की सेवा करने का स्वाभाविक आकर्षण पुन: जागृत हो उठेगा।

तदश्म-सारं हृदयं बतेदं
यद् गृह्यमाणैर्हरि-नाम-धेयैः ।
न विक्रियेताथ यदा विकारो
नेत्रे जलं गात्र-रुहेषु हर्षः ॥ २४॥

शब्दार्थ

तत्—वह; अश्म-सारम्—फौलाद का बना; हृदयम्—हृदय; बत इदम्—निश्चय ही यह; यत्—जो; गृह्यमाणैः—उच्चारण करने पर भी; हरि-नाम—भगवान् का पवित्र नाम; धेयैः—मन की एकाग्रता से; न—नहीं; विक्रियेत—बदले; अथ—इस तरह; यदा—जब; विकारः—प्रतिक्रिया; नेत्रे—आँखों में; जलम्—अश्रु; गात्र-रुहेषु—छिद्रों पर; हर्षः—उल्लास का प्रस्फुटन।

निश्चय ही वह हृदय फौलाद का बना है, जो एकाग्र होकर भगवान् के पवित्र नाम का उच्चारण करने पर भी नहीं बदलता; जब हर्ष होता है, तो आँखों में आँसू नहीं भर आते और शरीर के रोम-रोम खड़े नहीं हो जाते।

तात्पर्य : हमें ध्यान देना होगा कि द्वितीय स्कन्ध के प्रथम तीन अध्यायों में किस तरह भक्ति के क्रमिक विकास को प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रथम अध्याय में श्रवण तथा कीर्तन द्वारा ईश-चेतना के

लिए भक्ति के प्रथम चरण पर बल दिया गया है और नवदीक्षितों के लिए भगवान् के विश्व रूप में उनकी स्थूल अवधारणा की संस्तुति की गई है। ईश्वर की ऐसी स्थूल अवधारणा से, जो उनकी शक्ति की भौतिक अभिव्यक्ति के माध्यम से प्राप्त होती है, मनुष्य का मन तथा इन्द्रियाँ आध्यात्मिक बनती हैं और धीरे-धीरे मन, उन भगवान् विष्णु पर एकाग्र होता है, जो प्रत्येक के हृदय में सर्वत्र और भौतिक ब्रह्माण्ड के प्रत्येक परमाणु में परमात्मा रुप में स्थित हैं। इसीलिए पञ्च *उपासना* पद्धति भी कार्य रूप में अपवाई जाती है, जिसमें पाँच मानसिक प्रवृत्तियों की संस्तुति की जाती है। ये हैं क्रमिक विकास, श्रेष्ठ की पूजा जो अग्नि, विद्युत, सूर्य, जीव, शिवजी तथा अन्ततः निराकार परमात्मा जो भगवान् विष्णु की आंशिक अभिव्यक्ति के रूप में हो सकती है। इन सबका सुन्दर वर्णन द्वितीय अध्याय में हुआ है। किन्तु तृतीय अध्याय में विष्णु पूजा की स्थिति अर्थात् शुद्ध भक्ति प्राप्त करने के बाद विष्णु पूजा की परिपक्क अवस्था का वर्णन है, जिसमें हृदय परिवर्तन की बात कही गई है।

आध्यात्मिक संस्कृति की सम्पूर्ण प्रक्रिया का उद्देश्य जीव के हृदय में परिवर्तन लाना है, जिससे वह परमेश्वर के प्रति नित्य अपने आपको अधीन दास के रूप में माने, क्योंकि यही उसकी शाश्वत स्वाभाविक स्थिति है। इस तरह भक्ति की प्रगति के साथ-साथ हृदय-परिवर्तन का प्रदर्शन, संसार पर प्रभुता दिखाने की मिथ्या भावना से उत्पन्न भौतिक भोग की भावना की क्रमिक विरक्ति तथा भगवान् की प्रेमाभक्ति करने की प्रवृत्ति में वृद्धि के द्वारा होता है। यहाँ पर *विधि भक्ति* अर्थात् शरीर के अंगों द्वारा (आँख, नाक, कान, हाथ, पाँव इत्यादि जिनका वर्णन पहले हो चुका है) की गई नियमित भक्ति पर शरीर के अंगों की समस्त गतिविधियों को प्रेरणा प्रदान करनेवाले मन के आधार पर बल दिया जा रहा है। ऐसी अपेक्षा की जाती है कि नियमित भक्ति-मय सेवा करने से हृदय में परिवर्तन अवश्य दिखना चाहिए। यदि परिवर्तन नहीं आता, तो समझना चाहिए कि हृदय फौलाद का बना है, क्योंकि भगवान् के पवित्र नाम के उच्चारण किये जाने पर भी यह नहीं पिघलता। हमें सदैव स्मरण रखना चाहिए कि भक्तिमय कार्यों को सम्पन्न करनें में श्रवण तथा कीर्तन दो मूलभूत सिद्धान्त हैं और यदि इन्हें ठीक से सम्पन्न किया जाय, तो इससे हर्ष उत्पन्न होगा जो आँखों में आँसू तथा शरीर में रोमांच द्वारा लक्षित होगा। ये स्वाभाविक परिणाम हैं और *भाव दशा* के प्रारम्भिक लक्षण हैं, जो *प्रेम* या भगवत्प्रेम

की पूर्णावस्था प्राप्त होने के पूर्व प्रकट होते हैं।

यदि भगवान् के पवित्र नाम के निरन्तर श्रवण तथा कीर्तन से भी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, तो यह समझना चाहिए कि यह केवल अपराध के कारण है। यही *सन्दर्भ* का अभिमत है। भगवान् के पवित्र नाम का उच्चारण प्रारम्भ करते समय, यदि भक्त पवित्र नाम के चरणों पर दस प्रकार के अपराधों से बचने के प्रति सावधान नहीं रहता, तो यह निश्चित मानें कि विरह की भावना आँखों में आँसू तथा शरीर में रोमांच के रूप में नहीं प्रकट होगी।

भाव दशा का प्राकट्य आठ दिव्य लक्षणों से होता है। ये हैं—निष्क्रियता, प्रस्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कम्पन, शरीर का पीला पड़ना, अश्रुपात तथा अन्ततः समाधि। श्रील रूप गोस्वामी द्वारा विरचित *भक्ति रसामृत सिंधु* नामक कृति के सार रूप भक्तिरसामृत सिंधु में इन लक्षणों का तथा स्थायी एवं संचारी भावों का विशद वर्णन किया गया है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कतिपय दुराचारी नवदीक्षितों द्वारा उपर्युक्त लक्षणों को सस्ती ख्याति के लिए अनुकरण करने के प्रसंग में इन सारे भावों की आलोचनात्मक व्याख्या की है। न केवल विश्वनाथ चक्रवर्ती ने, अपितु श्रील रूप गोस्वामी ने भी इनका आलोचनात्मक विवरण दिया है। कभी-कभी उपर्युक्त भाव के आठों लक्षणों का अनुकरण कतिपय संसारी भक्तों (प्राकृत सहजिया) द्वारा किया जाता है, किन्तु ऐसे छद्म लक्षणों का तब तुरन्त ही पता चलता है जब छद्म भक्त अनेक वर्जित कार्यों को करते पाया जाता है। कोई भक्त के चिह्नों से कितना ही अलंकृत क्यों न हो, यदि वह धूम्रपान, मद्यपान या स्त्रियों के साथ अवैध मैथुन करता है, तो उसमें उपर्युक्त भाव दशाएँ नहीं हो सकतीं। किन्तु ऐसा देखा गया है कि कभी-कभी जानबूझ कर इन लक्षणों का अनुकरण किया जाता है, इसीलिए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने ऐसे अनुकरणकर्ता को पाषाण हृदय कहा है। कभी-कभी ऐसे लोग ऐसे दिव्य लक्षणों की झलक से प्रभावित भी होते हैं, किन्तु यदि इतने पर भी वे वर्जित आदतें नहीं छोड़ते, तो उनसे दिव्य अनुभूति की आशा नहीं की जानी चाहिए।

जब भगवान् चैतन्य गोदावरी के तट पर कावौर के श्री रामानन्द राय से मिले थे, तो उनमें ये समस्त लक्षण उत्पन्न हुए थे, किन्तु वहाँ पर राय के अनुयायी कतिपय अभक्त ब्राह्मणों के होने से

भगवान् चैतन्य ने इन लक्षणों को दबा लिया था। अतएव परिस्थितिवश कभी-कभी, ये लक्षण *महाभागवत* के शरीर में भी प्रकट नहीं हो पाते। अतएव असली स्थायी भाव भौतिक इच्छाओं के अन्त होने (*क्षान्ति*), प्रत्येक क्षण को प्रेमाभक्ति में लगाने (*अव्यार्थ-कालत्वम्*), निरन्तर भगवान् की महिमा के गायन के प्रति उत्सुकता (*नाम गाने सदा रुचि*), भगवान् के धाम में रहने के लिए आकर्षण (*प्रीतिस्तद्वसति स्थले*), भौतिक सुख से पूर्ण वैराग्य (*विरक्ति*), निरभिमानता (मानशून्यता) द्वारा प्रकट होते हैं। जिसमें ये समस्त दिव्य गुण उत्पन्न होते हैं उसे ही असली भाव दशा प्राप्त होती है, पाषाण हृदय अनुकरणकर्ता या संसारी भक्त को नहीं।

सम्पूर्ण प्रक्रिया को संक्षेप में इस प्रकार बताया जा सकता है—पूर्ण रूप से निरपराध होकर भगवान् के पवित्र नाम का जप करनेवाला तथा प्रत्येक व्यक्ति के प्रति मैत्री भाव रखनेवाला प्रगत भक्त ही वास्तव में भगवान् के यशोगान का दिव्य आस्वादन कर सकता है। ऐसी अनुभूति का परिणाम समस्त भौतिक इच्छाओं की समाप्ति द्वारा परिलक्षित होता है, जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है। नवदीक्षित भक्त, भक्ति की निम्नतर अवस्था में रहने के कारण, ईर्ष्यालु होते हैं और अपने आचार्यों का अनुगमन न करके स्वयं भक्ति के विधि-विधानों का आविष्कार करते हैं। फलस्वरूप, वे कितना ही भगवन्नाम जप का प्रदर्शन क्यों न करें, वे पवित्र नाम का दिव्य स्वाद प्राप्त नहीं कर पाते। अतएव आँखों में आँसू आना, काँपना, पसीजना या मूर्छित होना—इन सबकी भर्त्सना की जाती है। हाँ, वे भगवान् के शुद्ध भक्त की संगति करके, अपनी बुरी आदतों को सुधार सकते हैं, अन्यथा वे पाषाण-हृदय बने रहेंगे और किसी भी उपचार के योग्य नहीं हो सकेंगे। भगवद्धाम जाने के मार्ग की पूरी प्रगति, स्वरुप सिद्ध भक्त के द्वारा निर्देशत शास्त्रों के आदेशों पर निर्भर करती हैं।

अथाभिधेह्यङ्ग मनोऽनुकूलं
प्रभाषसे भागवत-प्रधानः ।
यदाह वैयासकिरात्म-विद्या--
विशारदो नृपतिं साधु पृष्टः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतएव; अभिधेहि—कृपा करके बताएँ; अङ्ग—हे सूत गोस्वामी; मनः—मन; अनुकूलम्—हमारी मनोवृत्ति के उपयुक्त; प्रभाषसे—आप कहें; भागवत—परम भक्त; प्रधानः—प्रमुख; यत् आह—जो कुछ उसने कहा; वैयासकिः—शुकदेव गोस्वामी ने; आत्म-विद्या—दिव्य ज्ञान में; विशारदः—पटु; नृपतिम्—राजा से; साधु—अत्युत्तम; पृष्टः—पूछे जाने पर।

हे सूतगोस्वामी, आपके वचन हमारे मनों को भानेवाले हैं। अतएव कृपा करके आप हमें यह उसी तरह बतायें जिस तरह से दिव्य ज्ञान में अत्यन्त कुशल परम भक्त शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित के पूछे जाने पर उनसे कहा।

तात्पर्य : जो विद्या शुकदेव गोस्वामी जैसे पूर्ववर्ती आचार्य द्वारा प्रदान की जाती है और फिर सूत गोस्वामी जैसे व्यक्ति द्वारा जिसका अनुकरण किया जाता है, वह सदा शक्तिशाली दिव्य विद्या होती है, इसीलिए वह अन्तर्ग्राही तथा समस्त विनीत जिज्ञासुओं के लिए लाभप्रद होती है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कंध के अन्तर्गत ''शुद्धभक्तिमय सेवा: हृदय-परिवर्तन'' नामक तीसरे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चार

सृष्टि का प्रक्रम

सूत उवाच

वैयासकेरिति वचस्तत्त्व-निश्चयमात्मनः ।
उपधार्य मतिं कृष्णे औत्तरेयः सतीं व्यधात् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; वैयासकेः—शुकदेव गोस्वामी के; इति—इस प्रकार; वचः—शब्द; तत्त्व-निश्चयम्—सत्य की पुष्टि करनेवाले; आत्मनः—अपने में; उपधार्य—ठीक से समझ करके; मतिम्—मन की एकाग्रता; कृष्णे—कृष्ण के प्रति; औत्तरेयः—उत्तरा के पुत्र ने; सतीम्—संयत, निष्ठावान; व्यधात्—लगाया।.

सूत गोस्वामी ने कहा : शुकदेव गोस्वामी से आत्मा के सत्य के विषय में बातें सुनकर, उत्तरा के पुत्र महाराज परीक्षित ने आस्थापूर्वक अपना ध्यान भगवान् कृष्ण में लगा दिया।

तात्पर्य : *सतीम्* शब्द अत्यन्त सार्थक है। इसके दो अर्थ हैं 'निष्ठावान' तथा 'संयत'। ये दोनों ही आशय महाराज परीक्षित पर पूर्ण रूप से लागू होते हैं। सारा वैदिक अध्यवसाय मनुष्य के ध्यान को पूर्णतः भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की ओर आकृष्ट करना है, जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में निर्दिष्ट है। सौभाग्यवश महाराज परीक्षित अपनी माता के गर्भ में अपना शरीर धारण करके प्रारम्भ से ही भगवान् के प्रति आकृष्ट हो चुके थे। जब वे अपनी माता के गर्भ में थे तभी अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये ब्रह्मास्त्र या परमाणु बम से उन पर प्रहार हुआ था किन्तु भगवत्कृपा, से वे उस अग्नि-अस्त्र से जलने से बच गये थे। तबसे ही उन्होंने अपना मन भगवान् कृष्ण पर एकाग्र कर रखा था जिससे वे भक्ति में पूर्ण रूप से संयत हो गये। अतएव स्वाभाविक रुप से वे भगवान् के संयत शुद्ध भक्त थे तथा जब उन्होंने श्रील शुकदेव गोस्वामी से सुना कि उन्हें भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी की पूजा नहीं करनी चाहिए, चाहे सकाम भाव से हो या निष्काम भाव से, तो कृष्ण के प्रति उनका सहज प्रेम और भी दृढ़ हो गया। हम इन विषयों को पहले ही बता चुके हैं।

भगवान् कृष्ण का शुद्ध भक्त बनने के लिए दो बातें अत्यावश्यक हैं—भक्त-कुल में जन्म लेना तथा प्रामाणिक गुरु का आशीष प्राप्त होना। भगवान् कृष्ण की कृपा से महाराज परीक्षित को ये दोनों सुअवसर प्राप्त थे। वे पाण्डवों-जैसे भक्त कुल में उत्पन्न हुए थे और भगवान् ने पाण्डव वंश को बनाये रखने तथा उन पर विशेष कृपा दिखाने के कारण ही महाराज परीक्षित को बचा लिया था जिन्हें बाद में

ब्राह्मण बालक ने शाप दिया और फिर शुकदेव गोस्वामी जैसे गुरु का सान्निध्य प्राप्त हो सका। *चैतन्य-चरितामृत* में कहा गया है कि गुरु तथा भगवान् कृष्ण की कृपा से भाग्यशाली व्यक्ति को ही भक्ति का मार्ग प्राप्त होता है। यह महाराज परीक्षित पर पूरी तरह लागू होता है। भक्त कुल में जन्म लेने के कारण वे स्वतः कृष्ण के सम्पर्क में आ सके और इस तरह सम्पर्क में रहने से वे भगवान् का निरन्तर स्मरण करते रहे। फलस्वरूप भगवान् कृष्ण ने उन्हें भगवान् के सर्वोच्च भक्त तथा आत्मज्ञान में पूर्ण शुकदेव गोस्वामी से परिचित कराकर भक्ति का विकास करने के लिए आगे भी अवसर प्रदान किया। कालक्रम से प्रामाणिक गुरु से श्रवण करके वे अपने शुद्ध मन को भगवान् कृष्ण पर एकाग्र कर सके।

आत्म-जाया-सुतागार-पशु-द्रविण-बन्धुषु ।
राज्ये चाविकले नित्यं विरूढां ममतां जहौ ॥ २ ॥

शब्दार्थ

आत्म—शरीर; जाया—पत्नी; सुत—पुत्र; आगार—महल; पशु—हाथी घोड़े; द्रविण—खजाना; बन्धुषु—मित्रों तथा सम्बन्धियों में; राज्ये—राज्य में; च—भी; अविकले—अविचल, निष्कंटक; नित्यम्—निरन्तर; विरूढाम्—गहरी; ममताम्—ममता, लगाव; जहौ—त्याग दिया।

भगवान् कृष्ण के प्रति एकनिष्ठ आकर्षण के फलस्वरूप महाराज परीक्षित ने अपने निजी शरीर, अपनी पत्नी, अपनी सन्तान, अपने महल, अपने पशु, हाथी-घोड़े, अपने खजाने, मित्र तथा सम्बन्धी और अपने निष्कंटक राज्य के प्रति प्रगाढ़ ममता त्याग दी।

तात्पर्य : मुक्त होने का अर्थ है *देहात्मबुद्धि* से स्वतन्त्र होना, जो निजी शारीरिक आवरणों तथा शरीर से सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु तथा पत्नी, सन्तान और अन्य सारी झंझटों के प्रति भ्रामक आसक्ति है। मनुष्य अपने शारीरिक आराम के लिए पत्नी का चयन करता है और इसका परिणाम होता है सन्तान का जन्म। पत्नी तथा सन्तान के लिए निवासस्थान की आवश्यकता होती है और इस तरह घर बनाने की आवश्यकता पड़ती है। घोड़े, हाथी, गाय तथा कुत्ते—ये सब घरेलू पशु हैं और गृहस्थ को गृहस्थी सामान के तौर पर इन सबों को रखना होता है। आधुनिक सभ्यता में घोड़ों तथा हाथियों का स्थान पर्याप्त शक्तिशाली कारों तथा वाहनों ने ले लिया है। गृहस्थी चलाने के लिए मनुष्य को अपनी बैंक-पूँजी बढ़ानी पड़ती है और खजाने के विषय में सतर्क रहना होता है। भौतिक सम्पत्ति के ऐश्वर्य-प्रदर्शन के लिए मनुष्य को अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखना होता है और साथ

ही अपनी पूर्वस्थिति सँभालनी होती है। इसे भौतिक आसक्ति की भौतिक सभ्यता कहते हैं। भगवान् की भक्ति का अर्थ है समस्त भौतिक आसक्तियों का निषेध, जिनका ऊपर विस्तार से वर्णन हुआ है। भगवान् की कृपा से, महाराज परीक्षित को सारी भौतिक सुविधाएँ तथा अकंटक राज्य प्राप्त था जिससे वे राजा की अवचिल स्थिति को भोग सकते थे, लेकिन भगवत्कृपा से उन्होंने भौतिक आसक्ति से सारे सम्बन्ध तोड़ लिये। विशुद्ध भक्त की ऐसी ही स्थिति होती है। भगवान् के भक्त तथा उनके प्रति सहज प्रेम होने के कारण महाराज परीक्षित भगवान् की ओर से राज्य का कालि सँभाले थे और उत्तरदायी राजा की भाँति वे सतर्क थे कि उनके राज्य में कलियुग का प्रवेश न हो पाये। भगवद्भक्त कभी भी अपने घर की वस्तुओं को अपना नहीं मानता, अपितु प्रत्येक वस्तु को वह भगवान् की सेवा में समर्पित कर देता है। फलस्वरूप, भक्त की देखरेख में जीवों को ईश–अनुभूति का अवसर प्राप्त होता है।

घरेलू वस्तुओं के प्रति आसक्ति तथा भगवान् कृष्ण के प्रति आसक्तिका साथ–साथ चल पाना असंभव है। एक आसक्ति अंधकार का मार्ग है, तो दूसरी आसक्ति प्रकाश का मार्ग है। जहाँ प्रकाश होता है, वहाँ अंधकार नहीं रहता और जहाँ अंधकार है, वहाँ प्रकाश नहीं रहता। किन्तु पटुभक्त भगवान् के प्रति भक्तिभाव से हरवस्तु को प्रकाश के मार्ग की ओर मोड़ सकता है और इसका श्रेष्ठ उदाहरण पाण्डव हैं। महाराज युधिष्ठिर तथा उन्हीं की तरह के सारे गृहस्थ अपनी सारी तथाकथित भौतिक सम्पत्ति को भगवान् की सेवा से जोड़कर हर वस्तु को प्रकाश की ओर मोड़ सकते हैं, किन्तु जो प्रशिक्षित नहीं है अथवा हर वस्तु को भगवान् की सेवा में नहीं लगा सकता (*निर्बन्ध: कृष्णसम्बन्धे*) उसे सारे भौतिक सम्बन्धों का परित्याग कर देना चाहिए। तभी वह भगवान् की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन का पात्र बन सकता है। दूसरे शब्दों में, जिसने महाराज परीक्षित की भाँति शुकदेव गोस्वामी जैसे योग्य व्यक्ति से *श्रीमद्भागवत* का एक दिन भी निष्ठापूर्वक श्रवण किया है, वह भौतिक वस्तुओं के प्रति सारी ममता को छोड़ने में समर्थ होता है। महाराज परीक्षित का अनुकरण मात्र करने और पेशेवर व्यक्ति से *श्रीमद्भागवत* का सात सौ वर्षों तक भी श्रवण करने से कोई लाभ नहीं हो सकता। *श्रीमद्भागवत* को पारिवारिक खर्च चलाने के लिए साधन बनाना भगवान् के चरणों पर सबसे भोंड़ा नामापराध है (*सर्वशुभक्रियासाम्यमपि प्रमाद:*)।

पप्रच्छ चेममेवार्थं यन्मां पृच्छथ सत्तमाः ।
कृष्णानुभाव-श्रवणे श्रद्दधानो महा-मनाः ॥ ३ ॥
संस्थां विज्ञाय सन्न्यस्य कर्म त्रै-वर्गिकं च यत् ।
वासुदेवे भगवति आत्म-भावं दृढं गतः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

पप्रच्छ—पूछा; च—भी; इमम्—यह; एव—इसी तरह; अर्थम्—प्रयोजन; यत्—जो; माम्—मुझसे; पृच्छथ—आप पूछते हैं; सत्तमाः—हे महर्षियो; कृष्ण-अनुभाव—कृष्ण के विचार में लीन; श्रवणे—सुनने में; श्रद्दधानः—श्रद्धा से पूर्ण; महा-मनाः—महात्मा; संस्थाम्—मृत्यु; विज्ञाय—जानकर; सन्न्यस्य—त्याग कर; कर्म—सकाम कर्म; त्रै-वर्गिकम्—धर्म, अर्थ तथा काम नामक तीन सिद्धान्त; च—भी; यत्—जो भी हो; वासुदेवे—भगवान् कृष्ण में; भगवति—भगवान्; आत्म-भावम्—प्रेम का आकर्षण; दृढम्—ठीक से स्थिर; गतः—प्राप्त किया।

हे महर्षियो, महात्मा महाराज परीक्षित ने भगवान् कृष्ण के विचार में निरन्तर लीन रहते हुए, अपनी मृत्यु को आसन्न जानकर, सारे सकाम कर्म अर्थात् धर्म के कार्य, आर्थिक विकास तथा इन्द्रिय तृप्ति त्याग दिए और कृष्ण के लिए सहज प्रेम में अपने को दृढ़ता से स्थिर कर लिया। तब उन्होंने इन सारे प्रश्नों को उसी तरह पूछा जिस तरह तुम सब मुझसे पूछ रहे हो।

तात्पर्य : इस संसार में जीवन-संघर्ष में रत बद्धजीवों के लिए सामान्यतया धर्म, आर्थिक विकास तथा इन्द्रिय तृप्ति—ये तीन कर्म आकर्षक होते हैं। वेदों में बताये गये ऐसे नियमित कार्यकलाप जीवन की कर्म-काण्डीय धारणा कहलाते हैं और सामान्य रूप से गृहस्थों से कहा जाता है कि इस जीवन में तथा अगले जीवन में भौतिक सम्पन्नता भोगने के लिए इन नियमों का पालन करें। अधिकांश लोग ऐसे कार्यकलापों के प्रति आकृष्ट होते हैं। यहाँ तक कि आधुनिक ईश्वरविहीन सभ्यता के कार्यकलापों में भी लोग धार्मिक भावना के बिना ही आर्थिक विकास तथा इन्द्रिय तृप्ति के विषय में अधिक चिन्तित रहते हैं। महाराज परीक्षित को चक्रवर्ती सम्राट होने के नाते वैदिक कर्मकाण्डीय अनुभाग के ऐसे विधि-विधानों का पालन करना अनिवार्य था, लेकिन शुकदेव गोस्वामी की संगति मात्र से वे यह भलीभाँति जान सके कि भगवान् श्रीकृष्ण (वासुदेव) ही सर्वेसर्वा हैं, जिनके प्रति उन्हें अपने जन्म से ही सहज प्रेम था। इस प्रकार उन्होंने समस्त वैदिक कर्मकाण्डीय कार्यों को त्याग कर भगवान् पर अपना मन स्थिर कर लिया। यह सिद्धि-अवस्था ज्ञानियों को कई जन्मों के बाद प्राप्त हो पाती है। मुक्ति के लिए प्रयत्नशील ये ज्ञानी सकाम कर्मियों से हजार गुना अच्छे हैं और ऐसे लाखों ज्ञानियों में कोई एक वास्तव में मुक्त हो पाता है। ऐसे लाखों मुक्त व्यक्तियों में से विरला ही कोई एक ऐसा होता

है, जो भगवान् के चरणकमलों में अपने मन को स्थिर कर पाता है जैसाकि भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* (७.१९) में घोषित किया है। महाराज परीक्षित को विशेष रूप से *महामना:* शब्द से विभूषित किया गया है, जो उन्हें *भगवद्गीता* में वर्णित महात्माओं के समान बना देता है। बाद के युगों में भी इस तरह के अनेक महात्मा हुए हैं। वे भी जीवन की समस्त कर्मकाण्डीय धारणाओं का परित्याग करके भगवान् पर पूर्ण-रूपेण आश्रित रहे। भगवान् चैतन्य ने, जो साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, *शिक्षाष्टक* (८) में शिक्षा दी है—

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मामदर्शनान् मर्महतां करोतु वा।

यथा तथा वा विदधातु लम्पटो मत्प्राणनाथस्तु स एव नापर: ॥

"अनेक भक्तों (स्त्रियों) के प्रेमी भगवान् कृष्ण, चाहे मुझ शरणागत दासी का आलिंगन करें, या अपने पाँवों के नीचे रौंद दें, या मेरे समक्ष दीर्घकाल तक प्रकट न होकर मेरे हृदय को भग्न कर दें, तो भी वे मेरे हृदय के परमेश्वर हैं।"

श्रील रूप गोस्वामी ने इस प्रकार कहा है—

विरचय मयि दण्डं दीनबन्धो दयामी वा

गतिरिह न भवत्त: काचिदन्या ममास्ति।

निपततु शतकोटिनिर्भरं वा नवाम्भ:

तदपि किलपयोद: स्तूयते चातकेन॥

"हे दीनों के स्वामी! आप जैसा चाहें मेरे साथ करें। चाहे आप दया दिखायें या दण्ड दें, लेकिन इस जगत में आपके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं जिसको मैं निहारूँ। चातक पक्षी सदैव बादल से प्रार्थना करता है, चाहे वह वृष्टि करे या वज्र गिरा दे।"

श्री भगवान् चैतन्य के दादागुरु, श्रील माधवेन्द्रपुरी, ने निम्नलिखित शब्दों के साथ समस्त कर्मकाण्डीय उत्तरदायित्वों से छुट्टी पा ली थी।

सन्ध्यावन्दन भद्रमस्तु भवतो भो: स्नान तुभ्यं नमो

भो देवा: पितरश्च तर्पणविधौ नाहं क्षम: क्षम्यताम्।

यत्र क्वापि निषद्य यादवकुलोत्तमस्य कंसद्विष:

स्मारं स्मारमघं हरामि तदलं मन्ये किमन्येन मे॥

"हे सन्ध्यावन्दन! तुम्हारा कल्याण हो। हे प्रात:स्नान! मैं तुम्हें अन्तिम नमस्कार करता हूँ। हे देवो तथा पितरो! आप मुझे क्षमा करें। मैं आपकी प्रसन्नता के लिए और अधिक अर्पण करने में अक्षम हूँ। अब मैंने महान् यदुवंशी तथा कंस के महान् शत्रु (भगवान् श्रीकृष्ण) को सर्वत्र स्मरण करते हुए, अपने समस्त पापों के फलों से अपने को मुक्त करने का निश्चय किया है। मैं सोचता हूँ कि यही मेरे लिए पर्याप्त है। अतएव अब आगे प्रयास करने से क्या लाभ?"

श्रील माधवेन्द्रपुरी ने आगे कहा है—

मुग्धं मां निगदन्तु नीतिनिपुणा भ्रान्तं मुहुर्वैदिका:

मन्दं बान्धवसञ्चया जडधियं मुक्तादरा: सोदरा:।

उन्मत्तं धनिनो विवेकचतुरा: कामम् महादाम्भिकम्

मोक्तुं न क्षामते मनागपि मनो गोविन्दपादस्पृहाम्॥

"भले ही नीतिनिपुण लोग मुझ पर भ्रमित होने का दोषारोपण करें, किन्तु मुझे इसकी परवाह नहीं है। वैदिक कर्मों में पटु लोग मुझे पथभ्रष्ट कह लें, मेरे मित्र तथा सम्बन्धी मुझे हताश कहें, मेरे भाई मुझे मूर्ख कहें और धनवान लोग मुझे पागल कहकर अँगुली उठायें और विद्वान दार्शनिक भले ही मुझे अतीव दम्भी कहें, तो भी मेरा मन गोविन्द के चरणकमलों की सेवा के संकल्प से रंचमात्र भी नहीं हटता यद्यपि मैं ऐसा कर पाने में असमर्थ हूँ।"

और प्रह्लाद महाराज ने भी कहा है—

धर्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग

ईक्षा त्रयी नयदमौ विविधा च वार्ता।

मन्ये तदेतद् अखिलं निगमस्य सत्यं

स्वात्मार्पणं स्वसुहृद: परमस्य पुंस: ॥

''मोक्ष पथ प्राप्त करने के तीन उपाय माने गये हैं—धर्म, अर्थ तथा काम। इनमें से विशेष रूप से इच्छात्रयी—आत्मज्ञान, सकाम कर्म का ज्ञान, तर्क तथा राजनीति एवं अर्थशास्त्र—जीविका के विभिन्न साधन हैं। ये सब वैदिक शिक्षा के विभिन्न विषय हैं, अतएव मैं इन्हें क्षणिक गतिविधियाँ मानता हूँ। इसके विपरीत, भगवान् विष्णु की शरणागति जीवन का वास्तविक लाभ है और मैं इसे परम सत्य मानता हूँ।'' (*भागवत* ७.६.२६)

भगवद्गीता (२.४१) में इस सारे विषय को व्यवसायात्मिका बुद्धि के रूप में या सिद्धि के परम पथ के रूप में माना गया है। महान् वैष्णव विद्वान श्री बलदेव विद्याभूषण ने इसकी परिभाषा *भगवद्-अर्चना-रूपैक-निष्काम-कर्मभिर्विशुद्धचित्त:* के रूप में दी है अर्थात् सकाम कर्मफल से मुक्त होकर भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति को मूल कर्तव्य समझना।

अतएव महाराज परीक्षित बिल्कुल सही थे जब उन्होंने जीवन की समस्त कर्मकाण्डीय धारणाओं को त्यागकर भगवान् के चरणकमलों को दृढ़ता से अपना लिया।

राजोवाच

समीचीनं वचो ब्रह्मन् सर्व-ज्ञस्य तवानघ ।
तमो विशीर्यते मह्यं हरे: कथयत: कथाम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने कहा; समीचीनम्—सर्वथा उचित; वच:—वाणी; ब्रह्मन्—हे विद्वान ब्राह्मण; सर्व-ज्ञस्य—सब कुछ जाननेवाले का; तव—तुम्हारा; अनघ—निष्पाप; तम:—अज्ञान का अंधकार; विशीर्यते—क्रमशः लुप्त हो रहा है; मह्यम्—मेरे लिए; हरे:—भगवान् की; कथयत:—जिस तरह आप कह रहे हैं; कथाम्—कथा।

महाराज परीक्षित ने कहा : हे विद्वान ब्राह्मण, आप भौतिक दूषण से रहित होने के कारण सब कुछ जानते हैं, अतएव आपने मुझसे जो भी कहा है, वह मुझे पूर्ण रूप से उचित प्रतीत होता है। आपकी बातें क्रमशः मेरे अज्ञानरूपी अंधकार को दूर कर रही हैं, क्योंकि आप भगवान् की कथाएँ कह रहे हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर महाराज परीक्षित के व्यावहारिक अनुभव का उद्घाटन हुआ है, जिससे पता

चलता है कि भगवान् की दिव्य कथाएँ जब भौतिकता से रहित व्यक्ति से एक निष्ठावान भक्त को प्राप्त होती हैं, तो वे इंजेक्शन के समान प्रभाव दिखलाती हैं। दूसरे शब्दों में, जब पेशेवर लोगों से *श्रीमद्‌भागवत* की कथाएँ कर्मकाण्डी श्रोता द्वारा सुनी जाती हैं, तो वे ऊपर कहे गये चामत्कारिक ढंग से कार्य नहीं करतीं। भगवान् की कथाओं का भक्तिमय श्रवण सामान्य वार्ताओं के सुनने जैसा नहीं है, अतएव निष्ठावान श्रोता द्वारा इसका प्रभाव तभी अनुभव किया जायेगा जब अज्ञान का क्रमश: तिरोधान हो।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्था: प्रकाशन्ते महात्मन: ॥

(श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.२३)

जब भूखे व्यक्ति को भोजन दिया जाता है, तो उसकी भूख शान्त होती है और साथ ही भोजन करने का आनन्द प्राप्त होता है। इस तरह उसे यह पूछने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि वास्तव में उसे भोजन मिला है या नहीं। *श्रीमद्‌भागवत* के सुनने की अग्नि परीक्षा यह है कि मनुष्य को निश्चयात्मक प्रकाश प्राप्त हुआ या नहीं।

भूय एव विवित्सामि भगवानात्म-मायया ।
यथेदं सृजते विश्वं दुर्विभाव्यमधीश्वरैः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

भूयः—फिर; एव—भी; विवित्सामि—मैं जानने का इच्छुक हूँ; भगवान्—भगवान्; आत्म—निजी; मायया—शक्तियों से; यथा—जिस तरह; इदम्—यह व्यवहार जगत; सृजते—सृजन करता है; विश्वम्—ब्रह्माण्ड को; दुर्विभाव्यम्—अचिन्त्य; अधीश्वरैः—महान् देवताओं द्वारा।

मैं आपसे यह जानना चाहता हूँ कि भगवान् किस प्रकार अपनी निजी शक्तियों से इस रूप में इन दृश्य ब्रह्माण्डों की सृष्टि करते हैं, जो बड़े से बड़े देवताओं के लिए भी अचिन्त्य हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक जिज्ञासु मन में इस दृश्य जगत की सृष्टि का महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता रहता है। अतएव महाराज परीक्षित जैसे व्यक्ति के द्वारा इस तरह का प्रश्न असामान्य नहीं है, क्योंकि उन्हें अपने गुरु से भगवान् के सारे कार्यकलाप समझने थे। हमें प्रत्येक अपरिचित वस्तु को

किसी विद्वान से जानना तथा पूछना होता है। सृष्टि का प्रश्न भी ऐसा ही है, जिसे सही व्यक्ति से पूछना चाहिए। अतएव गुरु को ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो सर्वज्ञ हो, जैसाकि यहाँ पर शुकदेव गोस्वामी के विषय में कहा गया है। इस तरह ईश्वर सम्बन्धी ऐसे सारे प्रश्न जो शिष्य को ज्ञात न हों, योग्य गुरु से पूछे जाने चाहिए और यहाँ पर महाराज परीक्षित इसका व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। किन्तु महाराज परीक्षित को यह पहले से ज्ञात था कि प्रत्येक दिखाई देने वाली वस्तु भगवान् की शक्ति से उत्पन्न होती है, जैसाकि हम *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में ही सीख चुके हैं (*जन्माद्यस्य यत:*)। अत: महाराज परीक्षित सृष्टि-रचना की प्रक्रिया जानना चाहते थे। उन्हें सृष्टि का उद्गम ज्ञात था अन्यथा वे यह प्रश्न कैसे कर सकते थे कि भगवान् ने अपनी विभिन्न शक्तियों से इस व्यवहार जगत की सृष्टि कैसे की? सामान्य व्यक्ति भी जानता है कि यह सृष्टि किसी स्रष्टा द्वारा बनाई गई है, स्वत: उत्पन्न नहीं हुई है। हमें संसार में ऐसा कोई अनुभव नहीं है जहाँ कोई वस्तु स्वत: उत्पन्न हुई हो। मूर्ख लोग कहते हैं कि सृजनात्मक शक्ति स्वतन्त्र है और उसी तरह स्वत:कार्यशील है, जिस तरह कि विद्युतशक्ति होती है। किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति जानता है कि विद्युतशक्ति भी स्थानीय शक्तिघर में दक्ष इंजीनियर (शिल्पी) के निर्देन में उत्पन्न की जाती है और रेजिडेन्ट इंजीनियर के निरीक्षण में सर्वत्र वितरित की जाती है। सृष्टि के सम्बन्ध में भगवान् की अध्यक्षता का वर्णन *भगवद्गीता* (९.१०) में भी मिलता है और वहाँ पर यह स्पष्ट उल्लेख है कि भौतिक शक्ति परमेश्वर की ऐसी अनेक शक्तियों में से एक का प्राकट्य है (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*)। एक अनुभवशून्य बालक इलेक्ट्रानिकी के निराकार कार्यकलापों को देखकर या विद्युत शक्ति से सम्बन्धित अनेक आश्चर्यजनक वस्तुओं को देखकर आश्चर्यचकित हो सकता है, लेकिन एक अनुभवी व्यक्ति जानता है कि इन कार्यों के पीछे एक सजीव व्यक्ति रहता है, जो ऐसी शक्ति उत्पन्न करता है। इसी प्रकार संसार के तथाकथित विद्वान तथा विचारक अपने-अपने मानसिक चिन्तन द्वारा ब्रह्माण्ड की निराकार सृष्टि के विषय में अनेक स्वप्नदर्शी सिद्धान्त प्रस्तुत कर सकते हैं, किन्तु एक बुद्धिमान भगवद्भक्त *भगवद्गीता* का अध्ययन करके जान सकता है कि

इस सृष्टि के पीछे परमेश्वर का हाथ है, ठीक उसी तरह जिस तरह विद्युत शक्तिघर के पीछे रेजिडेंट इंजीनियर का हाथ रहता है। एक शोधार्थी प्रत्येक वस्तु के कारण तथा कार्य को ढूँढ़ता है, किन्तु जब ब्रह्मा, शिव, इन्द्र तथा अन्य देवताओं जैसे बड़े-बड़े शोधार्थी कभी-कभी भगवान् की आश्चर्यजनक सृजनात्मक शक्ति देखकर भ्रमित हो जाते हैं, तो उन क्षुद्र संसारी शोधार्थियों का क्या कहा जाय जो क्षुद्र वस्तुओं में लगे रहते हैं? जिस तरह ब्रह्माण्ड में विभिन्न लोकों के रहन-सहन में अन्तर है और जिस तरह एक लोक दूसरे से श्रेष्ठ है, उसी तरह उन लोकों के निवासियों के मस्तिष्क भी विभिन्न कोटियों के हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है ब्रह्माजी के लोक के निवासियों की दीर्घ आयु, जो इस धरा लोक के निवासियों के लिए अचिन्त्य है, की तुलना ब्रह्माजी के मस्तिष्क की कोटि के मूल्य से की जा सकती है, जो इस लोक के किसी भी महान् विज्ञानी के लिए अचिन्त्य है। इतनी बड़ी मस्तिष्क शक्ति होने पर भी ब्रह्माजी ने अपनी महान् संहिता (*ब्रह्म-संहिता* ५.१) में इस प्रकार वर्णन किया है—

ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्द विग्रह:।

अनादिरादिर्गोविन्द: सर्वकारणकारणम्॥

''ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जिनमें भगवान् के गुण पाये जाते हैं, लेकिन उनमें कृष्ण सर्वोच्च हैं, क्योंकि कोई उनसे बढ़कर नहीं है। वे परम पुरुष हैं और उनका शरीर सच्चिदानन्द स्वरूप है। वे आदि भगवान् गोविन्द है और समस्त कारणों के कारण हैं।''

ब्रह्माजी भगवान् कृष्ण को समस्त कारणों का कारण स्वीकार करते हैं। लेकिन इस क्षुद्र धरालोक के अतिलघु मस्तिष्क वाले व्यक्ति भगवान् को अपने जैसा समझते हैं। इस प्रकार जब *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि मैं सर्वेसर्वा हूँ तो ज्ञानी तथा संसारी विवादक उनका उपहास करते हैं जिससे भगवान् को अत्यन्त खेदपूर्वक कहना पड़ता है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

परं भावमजान्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

''जब मैं मनुष्य रूप में अवतरित होता हूँ तो मूर्ख मेरा उपहास करते हैं। वे मेरी दिव्य प्रकृति को

और समस्त चराचर पर मेरे परम प्रभुत्व को नहीं जानते।'' (*भगवद्गीता* ९.११)। ब्रह्मा तथा शिव (अन्य देवताओं की बात ही क्या) *भूत* हैं अर्थात् शक्तिमान उत्पन्न देवता हैं, जो विश्व के कार्यों को उसी तरह चलाते हैं, जिस तरह राजा द्वारा नियुक्त मन्त्री चलाते हैं। ये मन्त्री ईश्वर या नियन्त्रक हो सकते हैं, लेकिन परमेश्वर तो *महेश्वर* हैं अर्थात् इन नियंत्रकों के भी स्रष्टा हैं। अल्पज्ञ इसे नहीं जानते, अतएव वे भगवान् का खुला उपहास करते हैं, क्योंकि वे मनुष्यों पर यदाकदा अहैतुकी कृपा करके हमारे समक्ष मनुष्य रूप में प्रकट होते हैं। भगवान् मनुष्य की तरह नहीं हैं। वे *सच्चिदानन्द विग्रह* या पूर्ण परमेश्वर भगवान् हैं और उनके शरीर तथा उनकी आत्मा में कोई भेद नहीं है। वे शक्ति तथा शक्तिमान दोनों हैं।

महाराज परीक्षित ने अपने गुरु शुकदेव गोस्वामी से भगवान् कृष्ण की वृन्दावन लीलाओं का वर्णन करने के लिए नहीं कहा। वे सर्वप्रथम भगवान् की सृष्टि के विषय में सुनना चाह रहे थे। न ही शुकदेव गोस्वामी ने यह कहा कि राजा को भगवान् की दिव्य लीलाएँ सुननी चाहिए। चूँकि समय कम था, अतएव गोस्वामी चाहते तो सब बातों को छोड़कर सीधे दशम स्कंध में पहुँच जाते, जैसाकि पेशेवर वाचक करते हैं। लेकिन न तो राजा ने, न ही *श्रीमद्भागवत* के महान् वक्ता ने *भागवत* के प्रबन्धकों की भाँति उछल-कूद की। दोनों ही विधिपूर्वक आगे बढ़ते गये, जिससे भविष्य के श्रोता तथा वाचक दोनों ही *श्रीमद्भागवत* सुनाने की विधि से शिक्षा ग्रहण कर सकें। जो लोग भगवान् की बहिरंगा शक्ति के वश में हैं, अथवा दूसरे शब्दों में, जो लोग इस भौतिक जगत में हैं, उन्हें सर्वप्रथम यह जानना चाहिए कि भगवान् की बहिरंगा शक्ति किस तरह से परम पुरुष के निर्देशानुसार कार्य करती है। बाद में उनकी अन्तरंगा शक्ति के कार्यकलापों में वह प्रवेश कर सकता है। संसारी लोग अधिकांशतया कृष्ण की बहिरंगा शक्ति, दुर्गादेवी, के उपासक होते हैं, लेकिन वे यह नहीं जानते कि दुर्गादेवी भगवान् की शक्ति की छायामात्र हैं। उनकी चमत्कारी शक्ति के पीछे भगवान् का निर्देशन कार्य करता रहता है, जैसाकि *भगवद्गीता* (९.१०) में पुष्टि की गई है। *ब्रह्म-संहिता* इस बात की पुष्टि करती है कि दुर्गाशक्ति गोविन्द के निर्देशानुसार कार्य करती है और उनकी अनुमति के बिना शक्तिशालिनी दुर्गाशक्ति एक पत्ती भी नहीं हिला सकतीं। अतएव नवदीक्षित भक्त को चाहिए कि भगवान् की अन्तरंगा शक्ति द्वारा प्रस्तुत

की जानेवाली दिव्य लीलाओं में छलाँग न लगाकर, उनकी सृजनात्मक शक्ति की विधि के विषय में जिज्ञासा करते हुए जाने कि परमेश्वर कितने महान् हैं। *चैतन्य-चरितामृत* में भी सृजनात्मक शक्ति के वर्णन की और उसमें भगवान् के हाथ के होने की व्याख्या की गई है और *चैतन्य-चरितामृत* के रचयिता नवदीक्षित भक्तों को आगाह करते हैं कि वे कृष्ण की महानता विषयक इस ज्ञान की उपेक्षा करके गड्ढे में न गिरें। कृष्ण की महानता को जान लेने के बाद ही कोई उन पर अविचल विश्वास कर सकता है अन्यथा लोगों के महान् नेता भी सामान्य लोगों की तरह भगवान् कृष्ण को अनेक देवताओं में से एक या कोई ऐतिहासिक व्यक्ति या कोरी कपोलकल्पना मानने की भूल करेंगे। भगवान् की वृन्दावन या द्वारका की दिव्य लीलाएँ उन्हीं व्यक्तियों द्वारा आस्वाद्य हैं, जिन्होंने पहले से अपने को उच्च आध्यात्मिक बारीकियों से अवगत करा लिया है। सामान्य व्यक्ति ऐसे स्तर को सेवा तथा जिज्ञासा की क्रमिक विधि से प्राप्त करता है, जैसाकि हम महाराज परीक्षित के आचरण से देखेंगे।

यथा गोपायति विभुर्यथा संयच्छते पुनः ।
यां यां शक्तिमुपाश्रित्य पुरु-शक्तिः परः पुमान् ।
आत्मानं क्रीडयन् क्रीडन् करोति विकरोति च ॥ ७॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; गोपायति—पालन करता है; विभुः—महान्; यथा—जिस तरह; संयच्छते—समेट लेता है; पुनः—फिर; याम् याम्—जैसे-जैसे; शक्तिम्—शक्तियाँ; उपाश्रित्य—लगाकर; पुरु-शक्तिः—सर्वशक्तिमान; परः—परम; पुमान्—भगवान्; आत्मानम्—पूर्ण अंश को; क्रीडयन्—उन्हें लगा करके; क्रीडन्—जिस तरह स्वयं भी लगे रहकर; करोति—करता है; विकरोति—करवाता है; च—तथा।

कृपया बतायें कि सर्व-शक्तिमान परमेश्वर किस तरह अपनी विभिन्न शक्तियों तथा विभिन्न अंशों को इस व्यवहार जगत के पालन करने में लगाते हैं और एक खिलाड़ी के खेल की तरह फिरसे इसे समेट लेते हैं?

तात्पर्य : *कठोपनिषद्* (२.२.१३) में भगवान् को अन्य सभी नित्य जीवों में प्रधान नित्य जीव के रूप में (*नित्यो नित्यानां चेतश्चेतनानाम्*) तथा एकमेव परमेश्वर के रूप में वर्णित किया गया है, जो अन्य असंख्य जीवों का पालन करता है (*एको बहूनां यो विदधाति कामान्*)। इस तरह समस्त जीव, चाहे बद्ध अवस्था में हों या मुक्त अवस्था में, सर्व-शक्तिमान परमेश्वर द्वारा पालित हैं। परि-पालन का यह कार्य भगवान् स्वयं के विभिन्न विस्तारों तथा तीन प्रमुख शक्तियों द्वारा—जिनके नाम अन्तरंगा, बहिरंगा

तथा तटस्था शक्तियाँ हैं—सम्पन्न करते हैं। सारे जीव उनकी तटस्था शक्तियाँ हैं और उनमें से कुछ को विश्वास पात्र होने के कारण सृष्टि करने का भी कार्यभार सौंपा जाता है, यथा ब्रह्मा, मरीचि आदि को और उन्हें सृष्टि-कार्य करने की प्रेरणा भगवान् देते हैं (*तेने ब्रह्म हृदा*)। बहिरंगाशक्ति (माया) को भी जीवों से अथवा बद्ध आत्माओं से व्याप्त किया जाता है। अबद्ध तटस्था शक्ति आध्यात्मिक जगत (*वैकुण्ठ*) में कार्य करती है और भगवान् अपने विविध अंशों द्वारा दिव्य आकाश में प्रदर्शित विभिन्न दिव्य सम्बन्धों में इसे बनाए रखते हैं। इस तरह एक ही भगवान् अपने को अनेक रूपों (*बहु स्याम्*) में प्रकट करते हैं। इस तरह उनमें सारी विविधताएँ हैं और समस्त विविधताओं में वे रहते हैं, यद्यपि इतने पर भी वे इन सबसे पृथक् रहते हैं। यही है भगवान् की अचिन्त्य योगशक्ति। इस तरह प्रत्येक वस्तु एक ही साथ उनकी अचिन्त्य शक्तियों के कारण उनसे एक तथा पृथक् है (*अचिन्त्य-भेदाभेद-तत्त्व*)।

नूनं भगवतो ब्रह्मन् हरेरद्भुत-कर्मणः ।
दुर्विभाव्यमिवाभाति कविभिश्चापि चेष्टितम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—फिर भी अपर्याप्त; भगवतः—भगवान् का; ब्रह्मन्—हे विद्वान ब्राह्मण; हरेः—भगवान् का; अद्भुत—आश्चर्यजनक; कर्मणः—कर्म करनेवाला; दुर्विभाव्यम्—अचिन्त्य; इव—सृदश; आभाति—प्रतीत होता है; कविभिः—अत्यधिक विद्वानों द्वारा भी; च—भी; अपि—के होते हुए; चेष्टितम्—प्रयास करने पर भी।

हे विद्वान ब्राह्मण, भगवान् के दिव्य कार्यकलाप अद्‌भुत हैं और वे अचिन्त्य प्रतीत होते हैं, क्योंकि अनेक विद्वान पंडितों के अनेक प्रयास भी उन्हें समझने में अपर्याप्त सिद्ध होते रहे हैं।

तात्पर्य : अकेले इस ब्रह्माण्ड के सृजन में ही परमेश्वर के कार्य अचिन्त्य तथा अद्‌भुत प्रतीत होते हैं। फिर ऐसे असंख्य ब्रह्माण्ड हैं और वे सब मिलकर सृजित भौतिक जगत कहलाते हैं और उनकी सृष्टि का यह अंश सम्पूर्ण सृष्टि का एक भिन्नांश मात्र है। यह भौतिक जगत के केवल अंश मात्र है (*एकांशेन स्थितो जगत्*)। यदि यह कल्पना करें कि यह भौतिक जगत उनकी शक्ति के एक अंश का प्रदर्शन है, तो फिर शेष तीन-चौथाई वैकुण्ठ जगत है, जिसका वर्णन *भगवद्‌गीता* में *मद्धाम* या *सनातन* धाम के रूप में हुआ है। हम पिछले श्लोक में देख चुके हैं कि भगवान् पहले सृष्टि करते हैं और फिर उसे समेट लेते हैं। यह कार्य केवल भौतिक जगत पर लागू होता है, क्योंकि उनकी सृष्टि का बहुत बड़ा भाग वैकुण्ठ लोक न तो सृजित होता है और न उसका विनाश होता है, अन्यथा उसे *सनातन* धाम न

कहा जाता। भगवान् अपने धाम में रहते हैं और उनका दिव्य नाम, गुण, लीलाएँ, पार्षद तथा व्यक्तित्व—ये सभी उनकी विभिन्न शक्तियों तथा अंशों के प्रदर्शन हैं। भगवान् *अनादि* अर्थात् जिसका स्रष्टा न हो तथा आदि या सभी वस्तुओं का उद्गम कहलाते हैं। हम अपनी अधूरी विधि से सोचते हैं कि भगवान् भी सृजित होते हैं, लेकिन वेदान्त हमें बताता है कि वे सृजित नहीं होते, प्रत्युत अन्य सारी वस्तुएँ उनके द्वारा सजित हैं (*नारायण: परोऽव्यक्तात्*)। अतएव सामान्य व्यक्ति के लिए ये सभी अद्भुत विषय विचारणीय हैं। ये विषय बड़े-बड़े विद्वानों के लिए भी अचिन्त्य हैं। अतएव ये विद्वान एक दूसरे से विपरीत सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। यहाँ तक कि इस ब्रह्माण्ड-विशेष का भी, जो कि सृजित जगत का एक नगण्य अंश है, उन्हें पूरा-पूरा ज्ञान नहीं है कि यह सीमित आकाश कितनी दूरी तक फैला है या कि कितने नक्षत्र तथा लोक हैं या कि इन अनन्त लोकों में कैसी परिस्थितियाँ हैं? आधुनिक वैज्ञानिकों को इन सबके विषय में अपर्याप्त ज्ञान है। उनमें से कुछ यह विचार प्रकट करते हैं कि सारे आकाश में १० करोड़ लोक हैं। २१ फरवरी १९६० को मास्को से एक समाचार विज्ञापित हुआ, जो इस प्रकार है—

रूस के प्रसिद्ध ज्योतिर्विज्ञान के प्रोफेसर बोरिस वोरोन्तसोव-वेलियामिनोव ने कहा है कि ब्रह्माण्ड में ऐसे असंख्य लोक होने चाहिए, जहाँ तर्कशील प्राणियों का निवास है।

ऐसा सम्भव है कि ऐसे लोकों में पृथ्वी-जैसा ही जीवन फल-फूल रहा हो।

''रसायन-विज्ञान के डाक्टर निकोलाई चिरोव ने अन्य लोकों के वायुमण्डल की समस्या पर विचार करते हुए इंगित किया है कि उदाहरण के तौर पर कहा जा सकता है कि मंगल-लोक का जीव शरीर के कम ताप से सामान्य जीवन के लिये अपने को अच्छी तरह अनुकूल बना सका।

''उसने कहा कि उसे लगता है कि मंगल-लोक के वायुमंडल का संघटन उस लोक के अभ्यस्त प्राणियों के जीवन के लिए सर्वथा उपयुक्त है और उन्होंने अपने को तदानुसार ढाल लिया है''

विभिन्न लोकों में प्राणी की अनुकूलन-क्षमता का वर्णन *ब्रह्म-संहिता* में *विभूति भिन्नम्* के रूप में वर्णित है अर्थात् ब्रह्माण्ड के असंख्य लोकों में से प्रत्येक में एक विशेष प्रकार का वायुमण्डल है और वहाँ के प्राणी विज्ञान तथा मनोविज्ञान के क्षेत्र में काफी बढ़े-चढ़े हैं, क्योंकि वहाँ का वायुमण्डल

बेहतर है। विभूति का अर्थ है 'विशिष्ट शक्तियाँ' और भिन्नम् का अर्थ है 'विविध'। जो विज्ञानी बाह्य अन्तरिक्ष की खोज करने का प्रयास करके यान्त्रिक व्यवस्था द्वारा अन्य लोकों तक पहुँचने का प्रयत्न कर रहे हैं, उन्हें यह भलीभाँति जान लेना चाहिए कि जिन प्राणियों के शरीर को पृथ्वी के वायुमण्डल के अनुकूल है, वे अन्य लोकों के वायुमण्डल में नहीं रह सकते (हमारी 'अन्य लोकों की सुगम यात्रा' पुस्तक देखें)। मनुष्य को इस शरीर को त्यागने के बाद एक भिन्न लोक में जाने के लिए अपने को तैयार रखना होगा, जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२५) में कहा गया है—

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

''जो लोग देवताओं की पूजा करते हैं, वे देवताओं के बीच जन्म लेंगें; जो भूत-प्रेतों को पूजते हैं, वे उन्हीं के बीच जन्म लेंगे और जो मेरी पूजा करते हैं, वे मेरे साथ रहेंगे।''

भगवान् की सृजनात्मक शक्ति के विषय में महाराज परीक्षित का वक्तव्य यह बताता है कि वे सृष्टि-प्रक्रम के विषय में सब कुछ जानते थे। तो फिर उन्होंने शुकदेव गोस्वामी से ऐसी जानकारी क्यों चाही? पाण्डवों के वंशज महाराज परीक्षित महान् सम्राट थे तथा भगवान् श्रीकृष्ण के महान् भक्त थे। अतएव वे जगत की सृष्टि के विषय में बहुत कुछ जानथे में सक्षम थे, लेकिन उनका ज्ञान इतना पर्याप्त न था। इसलिए उन्होंने कहा कि बड़े-बड़े विद्वान काफी प्रयत्न करने के बाद भी इसे जानने में असफल रहते हैं। भगवान् अनन्त हैं और उनके कार्यकलाप भी अथाह हैं। सीमित ज्ञान तथा अपूर्ण इन्द्रियों के कारण कोई भी जीव, यहाँ तक कि इस ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च पूर्ण जीव ब्रह्माजी भी, अनन्त के विषय में जान लेने की कल्पना तक नहीं कर सकते। हम अनन्त के विषय में थोड़ा बहुत तभी समझ सकते हैं, जब यह अनन्त द्वारा बताया जाये जैसाकि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* में बतलाया है। शुकदेव गोस्वामी-जैसे प्रबुद्ध व्यक्तियों से भी इस बारे में कुछ हद तक जाना जा सकता है, क्योंकि उन्होंने नारद के शिष्य व्यासदेव से इसे सीखा था। इस तरह शिष्य-परम्परा द्वारा ही पूर्ण ज्ञान प्रकट हो सकता है, किसी भी व्यावहारिक ज्ञान द्वारा नहीं, चाहे वह प्राचीन हो या आधुनिक।

यथा गुणांस्तु प्रकृतेर्युगपत् क्रमशोऽपि वा ।
बिभर्ति भूरिशस्त्वेकः कुर्वन् कर्माणि जन्मभिः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह वे हैं; गुणान्—गुणों को; तु—लेकिन; प्रकृतेः—भौतिक शक्ति के; युगपत्—एकसाथ; क्रमशः—धीरे-धीरे; अपि—भी; वा—अथवा; बिभर्ति—पालन करता है; भूरिशः—अनेक रूपों में; तु—लेकिन; एकः—सर्वोच्च एक; कुर्वन्—कार्य करते हुए; कर्माणि—कार्यकलाप; जन्मभिः—अवतारों के द्वारा।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् एक हैं, चाहे वे प्रकृति के गुणों से अकेले कर्म करें या एकसाथ कई रूपों में विस्तार करें या कि प्रकृति के गुणों के निर्देशन हेतु बारी-बारी से विस्तार करें।

विचिकित्सितमेतन्मे ब्रवीतु भगवान् यथा ।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परस्मिंश्च भवान्खलु ॥ १० ॥

शब्दार्थ

विचिकित्सितम्—सन्देहपूर्ण प्रश्न; एतत्—यह; मे—मुझे; ब्रवीतु—स्पष्ट करें; भगवान्—भगवान् के समान शक्तिशाली; यथा—जिस तरह; शाब्दे—दिव्य शब्द में; ब्रह्मणि—वैदिक साहित्य में; निष्णातः—पूर्णतया प्रबुद्ध या पारंगत; परस्मिन्—अध्यात्म में; च—भी; भवान्—आप; खलु—वास्तव में।

कृपया इन सारे संशयप्रद प्रश्नों का निवारण कर दें, क्योंकि आप न केवल वैदिक साहित्य के परम विद्वान एवं अध्यात्म में आत्मसिद्ध हैं, अपितु आप भगवान् के महान् भक्त हैं अतएव आप भगवान् के ही समान हैं।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि परम सत्य गोविन्द यद्यपि अद्वितीय हैं, तथापि वे अपने को अच्युत भाव से असंख्य रूपों में प्रकट करते हैं, जो एक दूसरे से अभिन्न होते हैं और यद्यपि वे आदि पुरुष हैं, तो भी वे सदैव युवा प्रतीत होते हैं और स्थायीतरुण शक्ति से युक्त रहते हैं। वेदों का अध्यात्म-ज्ञान जान लेने मात्र से ही उन्हें नहीं जाना जा सकता, किन्तु उनके शुद्ध भक्त उन्हें सरलता से अनुभव कर पाते हैं।

भगवान् के विभिन्न रूपों के सारे विस्तार जैसे श्रीकृष्ण से बलदेव, बलदेव से संकर्षण, संकर्षण से वासुदेव, वासुदेव से अनिरुद्ध, अनिरुद्ध से प्रद्युम्न तथा प्रद्युम्न से पुनः द्वितीय संकर्षण और उनसे नारायण पुरुषावतार तथा अन्य असंख्य रूप, जो नदी की असंख्य तरंगों की भाँति निरन्तर प्रवाहित होते रहते हैं, वे सब एक हैं। वे समान शक्तिवाले दीपकों की भाँति हैं, जो एक दूसरे को प्रदीप्त करते हैं। यही भगवान् की दिव्य शक्ति है। वेदों का कथन है कि वे इतने पूर्ण हैं कि यद्यपि सम्पूर्ण सत्ता (जगत)

उनसे उद्‌भूत होती है, फिर भी वे ज्यों के त्यों पूर्ण बने रहते हैं (*पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते*)। अतएव ज्ञानियों के द्वारा बनाई गई भगवान् की भौतिक अवधारणा की कोई वैधता नहीं है। इस तरह वे (भगवान्) संसारी विद्वान् के लिए सदैव रहस्य बने रहते हैं, भले ही वह वैदिक साहित्य में कितना ही पंडित क्यों न हो (*वेदेषु दुर्लभम् अदुर्लभम् आत्मभक्तौ*)। अतएव भगवान् संसारी विद्वान पंडितों, दार्शनिकों या विज्ञानियों की धारणाओं से सर्वथा परे हैं। वे शुद्ध भक्त द्वारा सहज गम्य हैं, क्योंकि *भगवद्‌गीता* (१८.५४) में भगवान् घोषित करते हैं कि जब कोई ज्ञान की अवस्था को पार करके भगवान् की भक्ति में लीन हो जाता है, तभी वह भगवान् के वास्तविक स्वभाव को समझ सकता है। जब तक कोई भगवान् की भक्ति में प्रवृत्त नहीं होता, तब तक उसे भगवान् या उनके पवित्र नाम, रूप, लक्षण, लीलाओं आदि के विषय में कोई स्पष्ट धारणा नहीं बन सकती। *भगवद्‌गीता* का यह कथन कि सर्वप्रथम मनुष्य अन्य सारी व्यस्तताओं से मुक्त होकर भगवान् की शरण में जाये, यह बताता है कि मनुष्य को भगवान् का शुद्ध, मुक्त भक्त होना चाहिए। तभी वह भक्ति के बल पर उन्हें जान सकता है।

पिछले श्लोक में महाराज परीक्षित ने स्वीकार किया कि भगवान् बड़े से बड़े विद्वानों के लिए भी अचिन्त्य हैं। तो वे शुकदेव गोस्वामी से अपने उस अपर्याप्त ज्ञान को स्पष्ट करने का अनुरोध क्यों करते हैं? इसका कारण स्पष्ट है। शुकदेव गोस्वामी न केवल वैदिक साहित्य में प्रकाण्ड विद्वान् थे, अपितु वे महान् स्वरूपसिद्ध पुरुष और भगवान् के शक्तिसम्पन्न भक्त भी थे। भगवत्कृपा से भगवान् का शक्तिशाली भक्त भगवान् से भी बढ़कर होता है। भगवान् श्रीरामचन्द्र हिन्द महासागर पर सेतु बनाकर लंका द्वीप पहुँचने का प्रयास कर रहे थे, किन्तु उनके अनन्य भक्त श्री हनुमानजी छलांग मार कर उस सागर को पार कर गये। भगवान् अपने भक्तों के ऊपर इतने दयालु रहते हैं कि वे अपने प्रिय भक्तों को अपने से बढ़कर प्रस्तुत करते हैं। भगवान् ने दुर्वासा मुनि की रक्षा करने में अपनी असमर्थता व्यक्त कर दी थी, यद्यपि दुर्वासा मुनि इतने शक्तिशाली थे कि भौतिक दशाओं में ही भगवान् के पास सीधे पहुँच गये। लेकिन दुर्वासा मुनि की रक्षा की तो एक भगवद्‌भक्त अर्थात् महाराज अम्बरीष ने। अतएव भगवद्‌भक्त न केवल भगवान् से अधिक शक्तिशाली होता है, अपितु भक्त की पूजा भी भगवान् की प्रत्यक्ष पूजा से अधिक प्रभावशाली मानी जाती है (*मद्‌भक्तपूजाभ्यधिका*)।

अतएव निष्कर्ष यह निकला है कि गम्भीर भक्त को सर्वप्रथम ऐसे गुरु के समीप जाना चाहिए जो न केवल वैदिक साहित्य में निष्णात हो, अपितु महान् भक्त भी हो, जिसे भगवान् की एवं उनकी विभिन्न शक्तियों की वास्तविक अनुभूति हो। ऐसे भक्त-गुरु की सहायता के बिना कोई व्यक्ति भगवान् के अध्यात्म-विज्ञान में प्रगति नहीं कर सकता। शुकदेव गोस्वामी जैसा प्रामाणिक गुरु न केवल भगवान् की अन्तरंगा शक्तियों के विषय में बताता है, अपितु वह यह भी बताता है कि वे किस तरह अपनी बहिरंगा शक्ति के साथ रहते हैं।

अन्तंरगा शक्ति में भगवान् की लीलाएँ उनके वृन्दावन के कार्यकलापों के रूप में प्रदर्शित होती हैं, किन्तु उनकी बहिरंगा शक्ति के कार्यकलाप उनके कारणार्णवशायी विष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु के रूपों में प्रकट होते हैं। श्रील विश्वनाथचक्रवर्ती वैष्णवों को उपदेश देते हुए कहते हैं कि उन्हें केवल भगवान् के कार्यकलापों (यथा रासलीला) के सुनने में ही रुचि नहीं लेनी चाहिए, अपितु उनके पुरुषावतारों के रूप में की गई सृष्टि तत्त्व लीलाओं में भी रुचि लेनी चाहिए, जैसाकि महाराज परीक्षित ने आदर्श शिष्य के रूप में आदर्श गुरु शुकदेव गोस्वामी से ली।

सूत उवाच

इत्युपामन्त्रितो राज्ञा गुणानुकथने हरेः ।
हृषीकेशमनुस्मृत्य प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उपामन्त्रितः—अनुरोध किये जाने पर; राज्ञा—राजा द्वारा; गुण-अनुकथने—दिव्य गुणों के वर्णन में; हरेः—भगवान् के; हृषीकेशम्—इन्द्रियों के स्वामी को; अनुस्मृत्य—ठीक से स्मरण करके; प्रतिवक्तुम्—उत्तर देने के लिए; प्रचक्रमे—औपचारिकताएँ पूरी कीं।.

सूत गोस्वामी ने कहा : जब राजा ने शुकदेव गोस्वामी से इस प्रकार प्रार्थना की कि वे भगवान् की सृजनात्मक शक्ति का वर्णन करें, तो उन्होंने इन्द्रियों के स्वामी (श्रीकृष्ण) का ठीक से स्मरण किया और उपयुक्त उत्तर देने के लिए इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : भगवद्भक्तों को जब कोई व्याख्यान देना होता है तथा भगवान् के दिव्य गुणों का वर्णन करना होता है, तो वे यह नहीं सोचते कि वे कोई भी बात स्वतन्त्र रूप से कर सकते हैं। वे सोचते है कि वे तभी ऐसा कर सकते है जब इन्द्रियों के स्वामी भगवान् उन्हें बोलने की प्रेरणा न दें। जीव की

इन्द्रियाँ उसकी नहीं होतीं; भक्तगण जानते हैं कि ऐसी इन्द्रियाँ परमेश्वर की हैं और उनका समुचित प्रयोग तभी हो सकता है, जब उनका उपयोग भगवान् की सेवा में किया जाय। इन्द्रियाँ तो यन्त्र हैं और तत्त्व अवयव हैं, जो भगवान् द्वारा प्रदत्त हैं, अतएव मनुष्य जो भी करता, बोलता, देखता है, वह केवल भगवान् के निर्देश पर करता है। *भगवद्गीता* (१५.१५) इसकी पुष्टि करती है*: सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।* कोई भी स्वतन्त्र भाव से कर्म करने के लिए मुक्त नहीं हैं, अतएव मनुष्य को सदा कर्म करने, खाने या बोलने की अनुमति भगवान् से ले लेनी चाहिए और भगवान् के आशीर्वाद से भक्त जो कुछ करता है, वह बद्धजीव द्वारा किये गये चार प्रकार के दोषों के सिद्धान्तों से मुक्त होता है।

श्री-शुक उवाच

नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे
सदुद्भव-स्थान-निरोध-लीलया ।
गृहीत-शक्ति-त्रितयाय देहिना-
मन्तर्भवायानुपलक्ष्य-वर्त्मने ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; नमः—नमस्कार; परस्मै—परम; पुरुषाय—भगवान् को; भूयसे—परम पूर्ण को; सद्-उद्भव—भौतिक जगत की सृष्टि; स्थान—इसका पालन-पोषण; निरोध—तथा इसका संहार, समेटा जाना; लीलया—लीलाओं से; गृहीत—स्वीकार किया; शक्ति—शक्ति; त्रितयाय—तीन गुण; देहिनाम्—समस्त देहधारियों का; अन्तः-भवाय—अन्तःकरण में निवास करनेवाले को; अनुपलक्ष्य—अचिन्त्य; वर्त्मने—ऐसी गतियों वाला।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : मैं उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ, जो भौतिक जगत की सृष्टि के लिए प्रकृति के तीन गुणों को स्वीकार करते हैं। वे प्रत्येक शरीर के भीतर निवास करनेवाले परम पूर्ण हैं और उनकी गतियाँ अचिन्त्य हैं।

तात्पर्य : यह भौतिक जगत सतो, रजो तथा तमो गुणों की अभिव्यक्ति है और इस जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार के लिए ब्रह्माजी, विष्णु तथा शंकर (शिव) इन तीन प्रमुख रूपों को स्वीकार करते हैं। विष्णु के रूप में वे भौतिक रूप से सृजित प्रत्येक जीव में प्रवेश कर जाते हैं। गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में वे प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश करते हैं और क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में वे प्रत्येक जीव के शरीर में प्रवेश करते हैं। समस्त विष्णुतत्त्वों के उद्गम होने के कारण भगवान् कृष्ण को यहाँ पर परः

पुमान् या पुरुषोत्तम के रूप में सम्बोधित किया गया है, जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१८) में वर्णन आया है। वे परम पूर्ण हैं, अतएव सारे पुरुषावतार उनके अंश हैं। भक्तियोग ही वह एकमात्र विधि है, जिससे कोई उन्हें जानने में सक्षम हो सकता है। चूँकि ज्ञानी तथा योगी भगवान् की अनुभूति नहीं कर पाते, अतएव वे *अनुपलक्ष्यवर्त्मने* या अचिन्त्य गति या भक्तियोग वाले भगवान् कहलाते हैं।

भूयो नमः सद्वृजिन-च्छिदेऽसता-
मसम्भवायाखिल-सत्त्व-मूर्तये ।
पुंसां पुनः पारमहंस्य आश्रमे
व्यवस्थितानामनुमृग्य-दाशुषे ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

भूयः—पुनः; नमः—मेरा नमस्कार; सत्—भक्तों या पुण्यात्माओं का; वृजिन—आपत्तियाँ; छिदे—मुक्तिदाता; असताम्—नास्तिकों या अभक्त असुरों का; असम्भवाय—अगले दुखों का अन्त; अखिल—पूर्ण; सत्त्व—सतोगुण; मूर्तये—पुरुष को; पुंसाम्—योगियों का; पुनः—फिर; पारमहंस्ये—आध्यात्मिक सिद्धि; आश्रमे—आश्रम में; व्यवस्थितानाम्—विशिष्ट रूप से स्थित; अनुमृग्य—लक्ष्य; दाशुषे—उद्धारकर्ता।

मैं पुनः पूर्ण जगत-रुप तथा अध्यात्म-रूप उन भगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ, जो पुण्यात्मा भक्तों को समस्त संकटों से मुक्ति दिलानेवाले तथा अभक्त असुरों की नास्तिक मनोवृत्ति की वृद्धि को विनष्ट करनेवाले हैं। वे सर्वोच्च आध्यात्मिक सिद्धि-प्राप्त योगियों को उनके विशिष्ट पद प्रदान करने वाले हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण समस्त जगत के, भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही के, पूर्ण रूप हैं। अखिल का अर्थ है पूर्ण अथवा जो *खिल* या निकृष्ट नहीं है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, प्रकृति दो तरह की है—भौतिक प्रकृति तथा आध्यात्मिक प्रकृति, जो भगवान् की बहिरंगा तथा अन्तरंगा शक्तियाँ हैं। भौतिक प्रकृति *अपरा* या निकृष्ट कहलाती है और आध्यात्मिक प्रकृति *परा* या दिव्य कहलाती है। अतएव भगवान् का स्वरूप निकृष्ट भौतिक प्रकृति नहीं है। वे तो पूर्ण ब्रह्म हैं। वे *मूर्ति* हैं अर्थात् दिव्य स्वरूपवाले हैं। अल्पज्ञानी व्यक्ति उनके दिव्य स्वरूप से परिचित न होने के कारण उन्हें निराकार ब्रह्म के रूप में बताते हैं। लेकिन ब्रह्म तो उनके दिव्य शरीर की किरणें मात्र है (*यस्य प्रभा*)। भक्त-गण उनके दिव्य स्वरूप से परिचित होने के कारण उनकी सेवा करते हैं, अतएव भगवान् भी अपनी अहैतुकी कृपा का प्रतिदान करते हैं और अपने भक्तों को समस्त विपत्तियों से उबारते हैं। वे

पवित्रात्मा, जो वेदों के आदेशों का पालन करनेवाले हैं, भगवान् को अत्यन्त प्रिय हैं। अतएव वे उनकी भी रक्षा करते हैं। *दुरात्मा* तथा अभक्तगण वेदों के नियमों के विरुद्ध रहते हैं, अतएव ऐसे व्यक्तियों के निन्द्य कार्यकलापों की प्रगति में बाधा डाली जाती है। इनमें से कुछ, जिन पर भगवान् की विशेष कृपा होती है, उन्हीं के द्वारा मारे जाते हैं, जैसे रावण, हिरण्यकशिपु तथा कंस। इस प्रकार असुरों को मोक्ष प्राप्त होता है और उनके आसुरी कार्यकलापों को आगे बढ़ने से रोक दिया जाता है। चाहे भक्तों पर कृपा-भाव हो या असुरों का वध, भगवान् एक पिता की भाँति, सबों पर दयालु रहते हैं, क्योंकि वे प्रत्येक जीव के पूर्ण स्वामी हैं।

जीव की परमहंस अवस्था अध्यात्म की सर्वोच्च सिद्धावस्था है। श्रीमती कुन्तीदेवी के अनुसार, परमहंस ही भगवान् को वास्तव में जान पाते हैं। जिस तरह अध्यात्म की अनुभूति निर्विशेष ब्रह्म से अन्तर्यामी परमात्मा तथा उससे बढ़कर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में होती है, उसी प्रकार संन्यास के आध्यात्मिक जीवन में भी मनुष्य का पद क्रमशः ऊपर उठता है। संन्यास की क्रमिक अवस्थाएँ हैं *कुटीचक, बहूदक, परिव्राजकाचार्य* तथा *परमहंस*। इनका उल्लेख पाण्डवों की माता श्रीमती कुन्तीदेवी ने भगवान् कृष्ण की प्रार्थना के अन्तर्गत किया है (प्रथम स्कन्ध, अध्याय ८)। सामान्यतया परमहंस निर्विशेषवादियों तथा भक्तों दोनों में ही पाये जाते हैं, लेकिन *श्रीमद्भागवत* के अनुसार (जैसाकि कुन्ती देवी ने स्पष्ट कहा है), केवल परमहंस ही शुद्ध भक्तियोग को समझ पाते हैं। कुन्तीदेवी ने स्पष्ट कहा है कि भगवान् परमहंसों को भक्तियोग प्रदान करने के लिये ही विशेष रूप से अवतरति होते हैं (*परित्राणाय साधूनाम्*)। इस तरह एक प्रकार से अन्ततोगत्वा परमहंस भगवान् के अनन्य भक्त ही हैं। श्रील जीव गोस्वामी ने प्रत्यक्ष स्वीकार किया है कि परम गति तो भक्तियोग है, जिसके द्वारा मनुष्य भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति स्वीकार करते हैं। जो लोग भक्तियोग के मार्ग को ग्रहण करते हैं, वे ही वास्तविक परमहंस हैं।

चूँकि भगवान् सबों पर अत्यन्त दयालु रहते हैं, अतएव जो निर्विशेषवादी भगवान् की निर्विशेष ब्रह्मज्योति में तदाकार होने के लिए साधन-स्वरूप भक्ति ग्रहण करते हैं, उन्हें भी उनका मनोवांछित लक्ष्य प्राप्त होता है। उन्होंने *भगवद्गीता* (४.११) में सबों को आश्वस्त किया है—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते*।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार, परमहंसों की दो श्रेणियाँ हैं—*ब्रह्मानन्दी* (निर्विशेषवादी) तथा *प्रेमानन्दी* (भक्त) और इन दोनों को ही वांछित गति प्राप्त होती है, यद्यपि ब्रह्मानन्दियों की अपेक्षा प्रेमानन्दी अधिक भाग्यवान हैं। लेकिन ये दोनों श्रेणियाँ अध्यात्मवादी हैं और इन्हें अपरा प्रकृति से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता, जो जीवन के कष्टों से पूर्ण है।

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां
विदूर-काष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम् ।
निरस्त-साम्यातिशयेन राधसा
स्व-धामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ॥ १४॥

शब्दार्थ

नमः नमः ते—मैं आपको नमस्कार करता हूँ; अस्तु—हैं; ऋषभाय—महान् पार्षद को; सात्वताम्—यदुवंश के सदस्यों को; विदूर-काष्ठाय—संसारी द्वन्द्वों से दूर रहनेवाला; मुहुः—सदैव; कु-योगिनाम्—अभक्तों का; निरस्त—ध्वस्त; साम्य—समान पद; अतिशयेन—महानता से; राधसा—ऐश्वर्य से; स्व-धामनि—अपने धाम में; ब्रह्मणि—वैकुण्ठ लोक में; रंस्यते—भोग करता है; नमः—मैं नमस्कार करता हूँ।

मैं उन्हें सादर नमस्कार करता हूँ जो यदुवंशियों के संगी हैं और अभक्तों के लिए सदैव समस्या बने रहते हैं। वे भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों जगतों के परम भोक्ता हैं, फिर भी वे वैकुण्ठ स्थित अपने धाम का भोग करते हैं। कोई भी उनके समतुल्य नहीं है, क्योंकि उनका दिव्य ऐश्वर्य अमाप्य है।

तात्पर्य : परमेश्वर श्रीकृष्ण के दिव्य स्वरूपों के दो पहलू हैं। शुद्ध भक्तों के वे नित्य संगी हैं—यथा यदुवंशी होकर या अर्जुन के सखा बनकर या वृन्दावनवासियों के संगी-पड़ोसी बनकर, नन्द-यशोदा के पुत्र बनकर, सुदामा, श्रीदामा तथा मधुमंगल के मित्र बनकर या व्रजभूमि की बालाओं के प्रेमी बनकर इत्यादि-इत्यादि। यह उनके साकार स्वरूप का अंग है। अपने निर्विशेष रूप में वे ब्रह्मज्योति की किरणें प्रसारित करतें हैं, जो असीम तथा सर्वव्यापी हैं। सूर्य किरणों के तुल्य इस सर्वव्यापी ब्रह्म-ज्योति का एक अंश महत् तत्त्व के अंधकार से आच्छादित रहता है और यही नगण्य अंश भौतिक जगत कहलाता है। इस भौतिक जगत में ऐसे असंख्य ब्रह्माण्ड हैं जिस तरह के ब्रह्माण्ड का हम अनुभव कर रहे हैं और इनमें लाखों ऐसे लोक हैं—जैसे उनमें से एक लोक में हम रह रहे हैं। संसारी लोग भगवान् की किरणों के असीम विस्तार से किसी न किसी प्रकार से मोहित होते हैं, किन्तु

भक्तों को भगवान् के साकार रूप से ही प्रयोजन रहता है, क्योंकि उसी से प्रत्येक वस्तु उद्भूत होती है (*जन्माद्यस्य यत:*)। जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य-मण्डल में संकेन्द्रित रहती हैं, उसी तरह ब्रह्मज्योति सर्वोच्च लोक गोलोक वृन्दावन में संकेन्द्रित रहती है। असीम आध्यात्मिक आकाश वैकुण्ठ-लोकों से भरा हुआ है और भौतिक आकाश से बहुत दूर है। जहाँ संसारी लोगों को सांसारिक आकाश के विषय में ही अपर्याप्त ज्ञान हो, भला वे आध्यात्मिक आकाश के विषय में किस तरह सोच सकते हैं? अतएव संसारी लोग सदैव भगवान् से बहुत दूर रहते हैं। भविष्य में यदि वे ऐसा यन्त्र बना भी लें, जिसकी गति वायु या मन के वेग के तुल्य हो, तो भी संसारी मनुष्य आध्यात्मिक आकाश के लोकों तक पहुँचने की कल्पना नहीं कर सकते। अत: भगवान् तथा उनका वासस्थान सदा-सदा के लिए रहस्य या कल्पना बना रहेगा। किन्तु भगवान् भक्तों के लिए सदैव संगी के रूप में बने रहेंगे।

आध्यात्मिक आकाश में उनका ऐश्वर्य अपरिमेय है। भगवान् समस्त दिव्य वैकुण्ठ लोकों में अपने अंशों का विस्तार करके मुक्त पार्षदों के साथ निवास करते हैं, किन्तु जो निर्विशेषवादी भगवान् से तदाकार होना चाहते हैं उनको, ब्रह्मज्योति की एक आध्यात्मिक स्फुलिंग के रूप में तदाकार होने दिया जाता है। उनमें इतनी योग्यता नहीं होती कि वे वैकुण्ठ लोकों में, या परमलोक, गोलोक वृन्दावन में भगवान् के पार्षद बन सकें, जिसका उल्लेख *भगवद्गीता* में *मद्धाम* के रूप में हुआ है और इस श्लोक में *स्वधाम* कहा गया है।

भगवद्गीता (१५.६) में *मद्धाम* या *स्वधाम* का वर्णन इस प्रकार हुआ है।

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावक:।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम् परमं मम॥

भगवान् के स्वधाम में न तो सूर्यप्रकाश की आवश्यकता पड़ती है, न चाँदनी की, न बिजली जगमगाने की। वह धाम या स्थान सर्वश्रेष्ठ है और जो भी वहाँ जाता है, वह फिर कभी इस भौतिक जगत में वापस नहीं आता।

वैकुण्ठ लोक तथा गोलोक वृन्दावन स्वत: प्रकाशित रहते हैं और भगवान् के इस स्वधाम से

विकीर्ण किरणें ही ब्रह्मज्योति का निर्माण करती हैं। इसकी पुष्टि *मुण्डक* (२.२.१०), *कठ* (२.२.१५) तथा *श्वेताश्वतर* (६.१४) उपनिषदों में भी हुई है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयम् अग्निः।
तमेव भान्तम् अनु भाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

भगवान् के स्वधाम में प्रकाश के लिए सूर्य, चन्द्रमा या तारों की आवश्यकता नहीं पड़ती। न ही वहाँ बिजली की आवश्यकता है; तो फिर दीपकों के विषय में क्या कहा जाय? दूसरी ओर इन लोकों के स्वतः प्रकाशित होने के कारण ही सारा तेज सम्भव है और वहाँ जो भी जाज्वल्यमान है, वह उस स्वधाम के परावर्तन के कारण है।

जो निर्विशेष ब्रह्मज्योति से चकाचौंध हो जाता है, वह साक्षात् भगवान् को नहीं जान सकता। अतएव *ईशोपनिषद्* (१५) में यह प्रार्थना की गई है कि भगवान् अपने चमत्कृत तेज को हटा लें, जिससे भक्त वास्तविकता का दर्शन कर सके। यह श्लोक इस प्रकार है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

"हे भगवान्! आप भौतिक तथा आध्यात्मिक सभी वस्तुओं के पालक हैं और प्रत्येक वस्तु आपकी कृपा से फलती-फूलती है। आपका भक्तियोग ही धर्म का वास्तविक सिद्धान्त अर्थात् *सत्यधर्म* है और मैं उस सेवा में लगा हुआ हूँ। कृपया अपने असली मुख का दर्शन देकर मेरी रक्षा करें। अतएव आप अपनी ब्रह्मज्योति किरणों के इस अवगुण्ठन को हटा लें, जिससे मैं आपके सच्चिदानन्द स्वरूप का दर्शन कर सकूँ।"

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम् ।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं
तस्मै सुभद्र-श्रवसे नमो नमः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसका; कीर्तनम्—महिमागान; यत्—जिसका; स्मरणम्—स्मरण; यत्—जिसका; ईक्षणम्—दर्शन्; यत्—जिसका; वन्दनम्—प्रार्थना; यत्—जिसका; श्रवणम्—श्रवण; यत्—जिसका; अर्हणम्—पूजा; लोकस्य—लोगों का; सद्यः—तुरन्त; विधुनोति—विशेष रूप से स्वच्छ करता है; कल्मषम्—पापों के प्रभावों को; तस्मै—उसको; सुभद्र—मंगलमय; श्रवसे—श्रवण किया गया; नमः—नमस्कार; नमः—पुनः पुनः ।.

मैं उन सर्वमंगलमय भगवान् श्रीकृष्ण को सादर नमस्कार करता हूँ जिनके यशोगान, स्मरण, दर्शन, वन्दन, श्रवण तथा पूजन से पाप करनेवाले के सारे पाप-फल तुरन्त धुल जाते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर सर्वोच्च अधिकारी श्री शुकदेव गोस्वामी द्वारा समस्त पापों के फलों (कल्मषों) से मुक्त होने के लिए भव्य धार्मिक कृत्यों का सुझाव रखा दिया है। *कीर्तन* अर्थात् यशोगान कई प्रकार से सम्पन्न किया जा सकता है—यथा स्मरण करने, देवदर्शन के लिए मन्दिरों में जाने, भगवान् के समक्ष प्रार्थना करने तथा *श्रीमद्भागवत* या *भगवद्गीता* में वर्णित विधि से भगवान् की महिमा का पाठ सुनने से। मुधर संगीत के साथ भगवान् के यश का गायन करके तथा *श्रीमद्भागवत* या *भगवद्गीता* जैसे शास्त्रों का पाठ करके *कीर्तन* सम्पन्न किया जा सकता है।

भक्तों को चाहिए कि वे भगवान् की सदेह अनुपस्थिति से निराश न हों, भले ही वे अपने को उनकी संगति में न पा रहे हों। कीर्तन, श्रवण, स्मरण आदि (या तो सभी या इनमें से कुछ या केवल एक) की भक्ति-विधि हमें उपयुक्त प्रकार से भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति सम्पन्न करके उनके सान्निध्य का वांछित फल प्रदान कर सकती है। यहाँ तक कि कृष्ण या राम के नाम के उच्चारण मात्र से वायुमण्डल आध्यात्मिक हो उठता है। हमें भलीभाँति जान लेना चाहिए कि जहाँ भी ऐसी शुद्ध दिव्य सेवा की जाती है, वहाँ भगवान् विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार निरपराध *कीर्तनम्* सम्पन्न करनेवाले को भगवान् का सकारात्मक सान्निध्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार कुशल मार्गदर्शन के अन्तर्गत सम्पन्न स्मरण तथा वन्दन से भी वांछित फल प्राप्त हो सकता है। मनुष्य को चाहिए कि भक्ति के स्वरूपों को मनमाना नहीं गढ़े। वह किसी मन्दिर में जाकर भगवान् के स्वरूप की पूजा कर सकता है या किसी मस्जिद या गिरजाघर में भगवान् की निर्विशेष भक्तिमयी प्रार्थना कर सकता है। मनुष्य निश्चय ही पाप-

फलों से छूट सकता है बशर्ते कि वह मन्दिर, मस्जिद या गिरजाघर में पूजा करके पापों के फलों से मुक्त होने की आशा से जानबूझकर पाप न करने के बारे में सावधान रहे। भक्तिमय सेवा के बल पर जानबूझकर पाप करने की यह मनोवृत्ति *नाम्नो बलाद् यस्य हि पापबुद्धिः* कहलाती है और भक्ति के मार्ग में यह सबसे बड़ा अपराध है। अतएव ऐसे पापगर्तों से सावधान रहने के लिए श्रवण अत्यन्त आवश्यक है। इस श्रवण विधि पर विशेष बल देने के उद्देश्य से ही शुकदेव गोस्वामी समस्त कल्याण का आह्वान करते हैं।

विचक्षणा यच्चरणोपसादनात्
सङ्गं व्युदस्योभयतोऽन्तरात्मनः ।
विन्दन्ति हि ब्रह्म-गतिं गत-क्लमा-
स्तस्मै सुभद्र-श्रवसे नमो नमः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

विचक्षणाः—अत्यन्त बुद्धिमान; यत्—जिसका; चरण-उपसादनात्—चरणकमलों में आत्म-समर्पण करके; सङ्गम्—आसक्ति; व्युदस्य—पूर्णतया त्यागकर; उभयतः—वर्तमान एवं भविष्य में; अन्तः-आत्मनः—हृदय तथा आत्मा का; विन्दन्ति—आगे प्रगति करता है; हि—निश्चय ही; ब्रह्म-गतिम्—आध्यात्मिक जगत की ओर; गत-क्लमाः—बिना कठिनाई के; तस्मै—उसको; सुभद्र—शुभ; श्रवसे—जो सुना गया है उसे; नमः—मेरा नमस्कार; नमः—पुनः पुनः।

मैं सर्व-मंगलमय भगवान् श्रीकृष्ण को बारम्बार प्रणाम करता हूँ। उनके चरण-कमलों की शरण ग्रहण करने मात्र से उच्च कोटि के बुद्धिमान जन वर्तमान तथा भावी जगत की सारी आसक्तियों से छुटकारा पा जाते हैं और बिना किसी कठिनाई के आध्यात्मिक जगत की ओर अग्रसर होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को या उन सबों को, जो उनके अनन्य भक्त बनना चाहते हैं, बारम्बार उपदेश दिया है। उन्होंने *भगवद्गीता* (१८.६४-६६) में अपने अन्तिम उपदेश में, अत्यन्त गुह्य उपदेश दिया है—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

''हे प्रिय अर्जुन! तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो। अतएव तुम्हारे ही कल्याण के लिए मैं अपने गुह्यतम उपदेश को प्रकट करूँगा। वह इस तरह है—तुम मेरे शुद्ध भक्त बन जाओ और मुझे आत्म-समर्पण कर दो। मैं तुम्हें पूर्ण आध्यात्मिक जीवन का वचन देता हूँ, जिससे तुम मेरी दिव्य प्रेमाभक्ति का नित्य अधिकार प्राप्त कर सकोगे। तुम अन्य सारी धार्मिकता की विधियाँ त्याग दो और एकमात्र मेरी शरण में आ जाओ और यह विश्वास करो कि मैं तुम्हें सारे पाप पूर्ण कृत्यों से बचाऊँगा और तुम्हारा उद्धार करूँगा। तुम तनिक भी चिन्ता न करो।''

जो लोग बुद्धिमान हैं, वे भगवान् के इस अन्तिम उपदेश पर ध्यान देते हैं। आध्यात्मिक अनुभूति गुह्यज्ञान कहलाती है और आत्म-ज्ञान इस दिशा में पहला कदम है। इसके बाद का कदम ईश-साक्षात्कार है, जो गुह्यतर ज्ञान कहलाता है। '*भगवद्गीता*' के ज्ञान की चरम परिणति ईश-साक्षात्कार है और जब कोई इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है, तो वह स्वेच्छा से भगवान् का भक्त बन कर उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति करने लगता है। भगवान् की यह भक्ति सदैव ईशप्रेम पर निर्भर रहती है और कर्म-योग, ज्ञानयोग या ध्यानयोग में स्वीकृत औपचारिक सेवा से भिन्न है। *भगवद्गीता* में विभिन्न वर्ग के लोगों के लिए विभिन्न उपदेश हैं और वर्णाश्रम धर्म, संन्यास धर्म, यति धर्म, जीवन की विरक्त अवस्था, इन्द्रिय-दमन, ध्यान, यौगिक शक्तियों की सिद्धि इत्यादि के विभिन्न वर्णन मिलते हैं, किन्तु जो व्यक्ति भगवान् की सेवा करने के उद्देश्य से रागानुग प्रेम से उनकी शरण में जाता है, वही वेदों में वर्णित ज्ञान के सार को आत्मसात् कर पाता है। जो इस विधि को कौशल के साथ ग्रहण करता है, वह तुरन्त जीवन की सिद्धि प्राप्त कर लेता है। यही जीवन-सिद्धि *ब्रह्मगति* कहलाती है। जैसाकि श्रील जीव गोस्वामी ने वैदिक आश्वासनों के आधार पर बताया है ब्रह्मगति का अर्थ है भगवान् जैसा आध्यात्मिक रूप प्राप्त करना और उस रूप में मुक्तजीव परव्योम में किसी एक वैकुण्ठ लोक में नित्य निवास करता है। जीवन की यह सिद्धि भगवान् के शुद्ध भक्त को सिद्धि की कठोर साधना किये बिना प्राप्त होती है।

ऐसा भक्तिमय जीवन *कीर्तनम्, स्मरणम्, ईक्षणम्* आदि से पूर्ण होता है जैसाकि पिछले श्लोक में उल्लेख हुआ है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि भक्तिमय जीवन की इस शैली को ग्रहण करके विश्व के किसी भी भाग में मानव जीवन की किसी भी श्रेणी में सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करे। जब ब्रह्माजी वृन्दावन में क्रीड़ा करते हुए बालक रूप में भगवान् कृष्ण से मिले, तो उन्होंने इस प्रकार से स्तुति की—

श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो

क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।

तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते

नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

(*भागवत* १०.१४.४) भक्तियोग उच्चकोटि की सिद्धि है, जिसे बुद्धिमान व्यक्ति, प्रचुर आध्यात्मिक कार्य के बदले में प्राप्त करता है। यहाँ पर दिया गया उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। मुट्ठी भर चावल धान की भूसी के ढेर से कहीं अधिक मूल्यवान होता है। इस प्रकार मनुष्य को चाहिए कि वह कर्मकाण्ड या ज्ञानकाण्ड या योग आसनों के इन्द्रजाल के प्रति आकृष्ट न हो, अपितु प्रामाणिक गुरु के निर्देश में *कीर्तनम्, स्मरणम्* जैसी सरल विधियों को ग्रहण करके बिना किसी कठिनाई के चरम सिद्धि प्राप्त करे।

तपस्विनो दान-परा यशस्विनो
मनस्विनो मन्त्र-विदः सुमङ्गलाः ।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं
तस्मै सुभद्र-श्रवसे नमो नमः ॥ १७॥

शब्दार्थ

तपस्विनः—बड़े-बड़े विद्वान् ऋषि; दान-पराः—बड़े-बड़े दानी; यशस्विनः—बड़े-बड़े लब्धप्रतिष्ठ; मनस्विनः—बड़े-बड़े दार्शनिक या योगी; मन्त्र-विदः—वैदिक मन्त्रों के उच्चारण करनेवाले; सु-मङ्गलाः—वैदिक सिद्धान्तों के कट्टर अनुयायी; क्षेमम्—सकाम फल; न—कभी नहीं; विन्दन्ति—प्राप्त करते हैं; विना—रहित; यत्-अर्पणम्—समर्पण; तस्मै—उसको; सुभद्र—शुभ; श्रवसे—उसके विषय में सुनकर; नमः—मेरा नमस्कार; नमः—पुनः पुनः।

मैं समस्त मंगलमय भगवान् श्रीकृष्ण को पुनः पुनः सादर नमस्कार करता हूँ, क्योंकि बड़े-बड़े विद्वान ऋषि, बड़े-बड़े दानी, यश-लब्ध कार्यकर्ता, बड़े-बड़े दार्शनिक तथा योगी, बड़े

बड़े वेदपाठी तथा बड़े-बड़े वैदिक सिद्धान्तों के बड़े-बड़े अनुयायी तक भी ऐसे महान् गुणों को भगवान् की सेवा में समर्पित किये बिना कोई क्षेम (कुशलता) प्राप्त नहीं कर पाते।

तात्पर्य : विद्या में प्रगति, दानशीलता, मानव-समाज का राजनीतिक, सामाजिक या धार्मिक नेतृत्व, दार्शनिक चिन्तन, योगाभ्यास, वैदिक अनुष्ठानों में निपुणता तथा मनुष्य के ऐसे ही सारे उत्तम गुण उसकी सिद्धि-प्राप्ति में तभी सहायक बनते हैं जब उनका उपयोग भगवान् की सेवा में किया जाय। ऐसा किये बिना ये सारे गुण मनुष्य के लिए कष्ट के कारण बन जाते हैं। प्रत्येक वस्तु का उपयोग या तो अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए या फिर अपने अतिरिक्त अन्यों की सेवा के लिए हो सकता है। स्वार्थ के भी दो प्रकार हैं—निजी स्वार्थ तथा विस्तारित स्वार्थ। लेकिन इन दोनों प्रकार के स्वार्थों में कोई गुणात्मक यअन्तर नहीं है। चोरी चाहे निजी स्वार्थ के लिए की जाय या पारिवारिक स्वार्थ के लिए, वह एक-जैसी होती है—अर्थात् अपराधमय। यदि कोई चोर अपने लिए नहीं, अपितु समाज या देश के हित के लिए चोरी करने के कारण अपने को निर्दोष बताये, तो किसी भी देश के कानून द्वारा उसे क्षमा नहीं किया जा सकता। सामान्य लोगों को इसका ज्ञान नहीं रहता कि जीव का स्वार्थ तभी पूर्णता को प्राप्त होता है जब ऐसा स्वार्थ भगवान् के स्वार्थ से अभिन्न होता है। उदाहरणार्थ, शरीर तथा आत्मा का एकसाथ पालन-पोषण करने में क्या स्वार्थ है? मनुष्य शरीर पालने के लिए (निजी या सामाजिक) धन कमाता है, किन्तु जब तक ईश-चेतना न रहे, जब तक शरीर का पालन ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध की अनुभूति प्राप्त करने के लिए न हो तब तक शरीर तथा आत्मा का एकसाथ पालन करने के सारे प्रयास पशु द्वारा शरीर तथा आत्मा का पालन करने के सदृश ही हैं। मनुष्य शरीर के पालन-पोषण का प्रयोजन पशुओं से भिन्न होता है। इसी प्रकार विद्या की प्रगति, आर्थिक विकास, दार्शनिक शोध, वैदिक साहित्य का अध्ययन या कि पुण्यकर्मों को सम्पन्न करना (यथा दान, अस्पताल खोलना, अन्नदान), ये सारे कार्य भगवान् से सम्बन्धित होने चाहिए। ऐसे सारे कार्यों तथा प्रयासों का उद्देश्य भगवान् की प्रसन्नता होना चाहिए, किसी सत्ता, व्यक्ति या समूह की तुष्टि नहीं (*संसिद्धिर्हरि तोषणम्*)। भगवद्गीता (९.२७) में इसी सिद्धान्त की पुष्टि की गई है जहाँ पर यह कहा गया है कि हम जो भी दान दें तथा जो भी तपस्या करें, वह सब भगवान् को अर्पित कर देना चाहिए या उन्हीं के

निमित्त करना चाहिए। ईश्वरविहीन मानवीय सभ्यता के पटु नेतागण, तब तक शैक्षिक उन्नति या आर्थिक उन्नति के विविध प्रयासों में कोई सफलता प्राप्त नहीं कर सकते, जब तक वे ईशभावनाभावित न हों। ईश्वरभावनाभावित होने के लिए मनुष्य को सर्वमंगलमय भगवान् के विषय में उस तरह से श्रवण करना होता है, जिस रूप में *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* में उनका वर्णन हुआ है।

किरात-हूणान्ध्र-पुलिन्द-पुल्कशा
आभीर-शुम्भा यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

किरात—प्राचीन भारत का एक प्रान्त; हूण—जर्मनी तथा रूस का एक अंग; आन्ध्र—दक्षिणी भारत का प्रान्त; पुलिन्द—ग्रीक; पुल्कशाः—अन्य प्रान्त; आभीर—प्राचीन सिंध का एक भाग; शुम्भाः—अन्य प्रान्त; यवनाः—तुर्क; खस-आदयः—मंगोल का प्रान्त; ये—वे भी; अन्ये—अन्य; च—भी; पापाः—पाप में प्रवृत्त रहनेवाले; यत्—जिसका; अपाश्रय-आश्रयाः—भगवद्भक्तों की शरण ग्रहण करके; शुध्यन्ति—तुरन्त शुद्ध हो जाते हैं; तस्मै—उस; प्रभविष्णवे—शक्तिमान विष्णु को; नमः—मेरा सादर नमस्कार।

किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कश, आभीर, शुम्भ, यवन, खस आदि जातियों के सदस्य तथा अन्य लोग, जो पाप कर्मों में लिप्त रहते हुए परम शक्तिशाली भगवान् के भक्तों की शरण ग्रहण करके शुद्ध हो सकते हैं, मैं उन भगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : *किरात*—यह प्राचीन भारतवर्ष का एक प्रान्त था जिसका उल्लेख *महाभारत* के 'भीष्मपर्व' में हुआ है। सामान्यतया, किरात भारत के आदिवासियों के रूप में विख्यात हैं और आजकल के बिहार तथा छोटा नागपुर के सन्ताल परगने किरात नामक प्राचीन प्रान्त कहलाते थे।

हूण—पूर्वी जर्मनी का क्षेत्र तथा रूस का एक भाग हूण प्रान्त कहलाते हैं। तदनुसार कभी-कभी पर्वतीय आदिवासी जाति हूण कहलाती है।

आन्ध्र—यह दक्षिण भारत का एक प्रान्त था जिसका उल्लेख *महाभारत* के भीष्मपर्व में मिलता है। यह आज भी इसी नाम से प्रसिद्ध है।

पुलिन्द—इसका उल्लेख *महाभारत* (आदि पर्व १७४.३८) में पुलिन्द नामक प्रान्त के निवासियों के लिए हुआ है। भीमसेन तथा सहदेव ने इस देश को जीता था। ग्रीसवासी *पुलिन्द* कहलाते हैं और *महाभारत* के *वन-पर्व* में उल्लेख हुआ है कि इस भू भाग की अवैदिक जाति संसार के ऊपर राज्य

करेगी। यह पुलिन्द प्रान्त भारत के प्रान्तों में से था और इसके वासियों की गणना क्षत्रिय राजाओं में की जाती थी। किन्तु बाद में, ब्राह्मण संस्कृति का परित्याग कर देने के कारण, उन्हें *म्लेच्छ* कहा गया (जिस प्रकार इस्लामी संस्कृति को न माननेवाले काफिर कहलाते हैं और जो क्रिस्तानी संस्कृति के अनुयायी नहीं हैं, वे 'हीदन्स' कहलाते हैं)।

आभीर—यह नाम *महाभारत* के *सभा-पर्व* तथा *भीष्म-पर्व* दोनों में ही आता है। यह उल्लेख मिलता है कि यह प्रान्त सिंध प्रदेश में सरस्वती नदी के तट पर स्थित था। आधुनिक सिंध प्रान्त पहले अरब सागर के दूसरी ओर भी फैला हुआ था और इस प्रान्त के सारे निवासी आभीर कहलाते थे। ये सब महाराज युधिष्ठिर के अधीन थे और *मार्कण्डेय पुराण* के अनुसार इस भू भाग के *म्लेच्छ* भारत पर भी शासन करेंगे। आगे चलकर यह सही साबित हुआ, जैसाकि पुलिन्दों के साथ हुआ। पुलिन्दों की ओर से सिकन्दर महान् ने भारत को जीता और आभीरों की ओर से मुहम्मद गोरी ने भारत जीता। ये आभीरगण पहले ब्राह्मण-संस्कृति के अन्तर्गत क्षत्रिय थे, किन्तु बाद में उन्होंने सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। जो क्षत्रिय परशुराम से भयभीत होकर काकेशस के पर्वतीय भागों में छिप गये थे बाद में वे ही आभीर कहलाये और जिस स्थान में वे बस गये, वह आभीर देश कहलाया।

शुम्भ या कंक—ये प्राचीन भारत के कंक प्रान्त के निवासी थे जिनका उल्लेख *महाभारत* में हुआ है।

यवनगण—महाराज ययाति के पुत्र का नाम यवन था जिसे तुर्की नामक भू भाग पर शासन चलाने का भार सौंपा गया। अतएव तुर्क यवन हैं क्योंकि वे महाराज यवन के वंशज हैं। इसलिए यवन लोग क्षत्रिय थे, जो कालान्तर में अपनी ब्राह्मण संस्कृति त्याग कर *म्लेच्छ* यवन बन गये। यवनों के वर्णन *महाभारत* (आदि पर्व ८५.३४) में मिलते हैं। तुर्वसु नामक एक अन्य राजा भी यवन कहलाता था। पाण्डवों में से सहदेव ने उसके देश को जीता। पश्चिमी यवन कर्ण के दबाव से कुरुक्षेत्र के युद्ध में दुर्योधन के साथ सम्मिलित हो गये। यह भविष्यवाणी की गई थी कि यवन लोग भारत को जीत लेंगे और यह खरी उतरी।

खस—खस देश के निवासियों का उल्लेख *महाभारत* (द्रोण पर्व) में हुआ है। जिनके ऊपरी होठ

पर ठिगने केश (मूँछ) उगते हैं, वे सामान्यतया खस कहलाते हैं। फलस्वरूप मंगोल, चीनी तथा अन्य लोग खस हैं।

उपर्युक्त ऐतिहासिक नाम विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के नाम हैं। निरन्तर पाप कर्म करते रहनेवाले व्यक्ति भी तो सुधरने पर पूर्ण मनुष्य के स्तर को प्राप्त होते हैं, यदि वे भगवद्भक्त की शरण ग्रहण कर लें। जीसस क्राइस्ट तथा मुहम्मद—इन दो शक्तिशाली भगवद्भक्तों ने इस भू-मंडल में भगवान् की ओर से अपार सेवाएँ की हैं। श्रील शुकदेव गोस्वामी के कथन से प्रतीत होता है कि विश्व की वर्तमान परिस्थिति में ईश्वरविहीन सभ्यता चलाने से अच्छा तो यह होगा कि संसार के मामलों का नेतृत्व भगवद्भक्तों को सौंप दिया जाय जिसके लिए पहले से कृष्णभावनामृत नामक अन्तर्राष्ट्रीय संघ चल रहा है। तब भगवत्कृपा से सारे विश्व के मनुष्यों के हृदयों में परिवर्तन हो सकेगा, क्योंकि भगवद्भक्त सामान्य लोगों के धूलधूसरित मनों को शुद्ध करके ऐसा परिवर्तन ला सकने में सक्षम हैं। संसार के राजनीतिज्ञ अपने-अपने स्थानों में बने रहेंगे, क्योंकि भगवद्भक्तों को नेतृत्व या राजनायिक उलझन में कोई रुचि नहीं रहती। भक्तों को केवल इतनी ही रुचि रहती है कि सामान्य जन राजनीतिक प्रचार से दिग्भ्रमित न हों, लोग ऐसी सभ्यता का अनुसरण करके बिगड़ न जाँय जो अन्ततोगत्वा विनाश की ओर ले जानेवाली हो। अतएव, यदि राजनीतिज्ञ लोग भक्तों से मार्गदर्शन प्राप्त करें तो निश्चय ही भक्तों के शुद्धिकरण आन्दोलन से विश्व की परिस्थिति में महान् परिवर्तन आयेगा जैसाकि भगवान् चैतन्य ने कर दिखाया है। जिस प्रकार शुकदेव गोस्वामी ने अपनी स्तुति यत् *कीर्तनम्* शब्द से प्रारम्भ की है उसी तरह भगवान् चैतन्य ने भी संस्तुति की कि केवल भगवान् के पवित्र नाम के यशोगान से हृदयों में महान् परिवर्तन आयेगा जिससे राजनीतिज्ञों द्वारा मानवीय राष्ट्रों के बीच जो मनोमालिन्य उत्पन्न हुआ है, वह तुरन्त मिट सकेगा। भ्रम की अग्नि बुझ जाने पर दूसरे लाभ भी मिलने लगेंगे। हमरा लक्ष्य भगवद्धाम वापस जाने का है, जिसका उल्लेख हम पिछले पृष्ठों में अनेक बार कर चुके हैं।

भक्ति-सम्प्रदाय के अनुसार, जिसे सामान्तया वैष्णव सम्प्रदाय कहा जाता है, ईश-साक्षात्कार के विषय में किसी के भी अग्रसर होने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। वैष्णव इतना शक्तिसम्पन्न होता है कि वह किरात इत्यादि को भी वैष्णव बना लेता है, जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है। *भगवद्गीता* (९.३२)

में भगवान् ने कहा है कि भगवद्भक्त होने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है (यहाँ तक कि निम्न कुल में उत्पन्न व्यक्तियों अथवा स्त्रियों, शूद्रों या वैश्यों पर भी) और भगवद्भक्त होने पर प्रत्येक व्यक्ति भगवद्धाम जाने का भागी बन जाता है। इसके लिए एकमात्र योग्यता यह है कि ऐसे भगवद्भक्त की शरण लेनी चाहिए जिसे कृष्ण के दिव्य विज्ञान (*भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत*) का सम्यक् ज्ञान हो। विश्व के किसी भी भाग का व्यक्ति, जो कृष्ण विज्ञान से अवगत है, शुद्ध भक्त बन सकता है और सामान्य लोगों का गुरु बन कर उनके हृदयों को शुद्ध करके उनका उद्धार कर सकता है। कोई कितना ही बड़ा पापी क्यों न हो, शुद्ध वैष्णव के सम्पर्क से वह तुरन्त शुद्ध हो जाता है। अतएव कोई वैष्णव, विश्व के किसी भी भाग से, जाति-पाँति का विचार किये बिना शिष्य बना सकता है और विधि-विधानों द्वारा उसे शुद्ध वैष्णव का पद दिला सकता है, जो ब्राह्मण संस्कृति से परे है। *वर्णाश्रम-धर्म* की सत्ता अब इस प्रणाली के तथाकथित अनुयायियों में भी नहीं रह गयी है। न ही वर्तमान सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक उथल-पुथल के सन्दर्भ में *वर्णाश्रम धर्म* की पुन:स्थापना कर पाना सम्भव है। किसी भी देश के किसी विशेष रीति-रिवाज का ध्यान रखे बिना आध्यात्मिक दृष्टि से, किसी को वैष्णव-सम्प्रदाय में स्वीकार किया जा सकता है और इस दिव्य विधि में कोई बाधा नहीं है। अतएव भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के आदेश से *श्रीमद्भागवत* या *भगवद्गीता* सम्प्रदाय का सारे विश्व में प्रचार किया जा सकता है और जो इस दिव्य सम्प्रदाय को स्वीकार करने के इच्छुक हों, उनका उद्धार हो सकता है। भक्तों के इस प्रकार के आन्दोलन को ऐसे सारे लोग स्वीकार करेंगे जो विवेकपूर्ण तथा जिज्ञासु हैं और जो किसी देश की रीति-रिवाज के प्रति द्वेष नहीं रखते। एक वैष्णव दूसरे वैष्णव को जन्म-अधिकार के आधार पर स्वीकार नहीं करता, जिस तरह कि वह मंदिर में स्थित भगवान् के श्रीविग्रह को कभी मूर्ति नहीं मानता। इस सम्बन्ध में सारे संशयों को दूर करने के लिए श्रील शुकदेव गोस्वामी ने सर्वशक्तिमान के आशीर्वाद की कामना की है (*प्रभविष्णवे नम:*)। जिस प्रकार सर्व-शक्तिमान भगवान् मन्दिर में पूजनीय अपने विग्रह के रूप में अर्चन के भक्तिमय कार्यकलापों के अन्तर्गत अपने भक्त की तुच्छ सेवाएँ ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार जब शुद्ध वैष्णव भगवान् की सेवा में अपने को अर्पित कर देता है और योग्य वैष्णव द्वारा प्रशिक्षित किया जाता है, तो उसका शरीर तुरन्त ही दिव्य बन जाता है। इस

प्रसंग में वैष्णव नियम का आदेश है—*अर्च्ये विष्णौ शिलाधीर्गुरुषु नरमतिर्वैष्णवे जातिबुद्धिः श्रीविष्णोर्नाम्नि शब्दसामान्यबुद्धिः*—मनुष्य को चाहिए कि मन्दिर में पूजित भगवान् के श्रीविग्रह को न तो मूर्ति समझे, न वैध गुरु को सामान्य पुरुष समझे; न ही शुद्ध वैष्णव को किसी जाति से सम्बन्धित माने (*पद्म-पुराण*)।

निष्कर्ष यह निकला कि सर्वशक्तिमान होने के कारण भगवान् किसी भी परिस्थिति में विश्व के किसी भी व्यक्ति को, चाहे स्वयं या गुरु रूप में, अपनी प्रामाणिक अभिव्यक्ति द्वारा स्वीकार कर सकते हैं। भगवान् चैतन्य ने वर्णाश्रम धर्म के अतिरिक्त अन्य जातियों के अनेक भक्तों को स्वीकार किया और हम सबों को शिक्षा देने के लिए यह घोषित किया कि वे स्वयं किसी जाति या वर्ण के नहीं हैं, अपितु वे वृन्दावन की गोपियों के पालनकर्ता भगवान् (कृष्ण) के दासों के दास हैं। यही आत्म-साक्षात्कार की विधि है।

स एष आत्मात्मवतामधीश्वर-
स्त्रयीमयो धर्ममयस्तपोमयः ।
गत-व्यलीकैरज-शङ्करादिभि-
र्वितर्क्य-लिङ्गो भगवान् प्रसीदताम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—यह है; आत्मा—परमात्मा; आत्मवताम्—स्वरूपसिद्धों का; अधीश्वरः—परमेश्वर; त्रयी-मयः—साक्षात् वेद; धर्म-मयः—साक्षात् शास्त्र; तपः-मयः—साक्षात् तप; गत-व्यलीकैः—आडंबररहितों द्वारा; अज—ब्रह्माजी; शङ्कर-आदिभिः—शिवजी तथा अन्यों द्वारा; वितर्क्य-लिङ्गः—आश्चर्य तथा सम्मान के साथ देखा जानेवाला; भगवान्—भगवान्; प्रसीदताम्—मेरे प्रति दयालु हों।

वे परमात्मा हैं तथा समस्त स्वरूपसिद्ध पुरुषों के परमेश्वर हैं। वे साक्षात् वेद, धर्मग्रंथ (शास्त्र) तथा तपस्या हैं। वे ब्रह्माजी, शिवजी तथा कपट से रहित समस्त व्यक्तियों द्वारा पूजित हैं। आश्चर्य तथा सम्मान से ऐसे पूजित होनेवाले पूर्ण पुरुषोत्तम मुझ पर प्रसन्न हों।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् आत्म-साक्षात्कार के विभिन्न पंथों के अनुयायियों के स्वामी हैं, तो भी वे उन्हीं लोगों द्वारा ज्ञेय हैं, जो आडंबर से परे हैं। प्रत्येक व्यक्ति नित्य शान्ति या शाश्वत जीवन की खोज में रहता है, जिसके लिए वह या तो वैदिक शास्त्रों का या अन्य धर्मशास्त्रों का अध्ययन करता है या ज्ञानमार्गी दार्शनिकों या योगियों अथवा अनन्य भक्तों इत्यादि की तरह भक्ति करता है। लेकिन परमेश्वर

की पूर्ण अनुभूति केवल भक्तों को ही हो पाती है, क्योंकि वे समस्त छल–छद्म से ऊपर होते हैं। जो लोग आत्म–साक्षात्कार के पथ पर होते हैं, वे सामान्यतया कर्मी, ज्ञानी, योगी या भगवद्‌भक्त के रूप में वर्गीकृत किये जाते हैं। जो कर्मी वैदिक कर्मकाण्डों के सकाम कर्मों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं, वे *भुक्तिकामी* अर्थात् भौतिक–भोग की इच्छा रखनेवाले कहलाते हैं। जो ज्ञानी मानसिक चिन्तन (ज्ञान) द्वारा परमेश्वर से तदाकार होना चाहते हैं, वे *मुक्तिकामी* अर्थात् भौतिक जीवन से मुक्ति के इच्छुक कहलाते हैं। जो योगी आठ प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए विभिन्न प्रकार की तपस्याएँ करते हैं और अन्ततः समाधि में परमात्मा से मिलते हैं, वे *सिद्धिकामी* कहलाते हैं। ये योगी सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम बनने, भारीतर से भारीतम बनने, इच्छित वस्तु प्राप्त करने, सबों पर नियन्त्रण करने, इच्छानुसार वस्तुएँ उत्पन्न करने इत्यादि की इच्छा करते हैं। ये सब शक्तिमान योगी की क्षमताएँ हैं। लेकिन भगवद्‌भक्त आत्मतुष्टि के लिए इस प्रकार की कोई चीज नहीं चाहते हैं। वे केवल भगवान् की सेवा करना चाहते हैं, क्योंकि भगवान् महान् हैं और जीवात्माओं के रुप में वो भगवान के नित्य अधीन अंश–प्रत्यंश हैं। भक्त द्वारा इस प्रकार आत्मा की पूर्ण अनुभूति उसे निष्काम बनने में सहायक बनती है और ऐसे भक्त *निष्कामी* कहलाते हैं। जीव अपनी स्वाभाविक स्थिति के कारण समस्त इच्छाओं से रहित नहीं हो सकता (भुक्तिकामी, मुक्तिकामी तथा सिद्धिकामी—सभी आत्मतुष्टि के लिए कुछ न कुछ पाने की इच्छा करते हैं), लेकिन निष्कामी भक्त भगवान् के लिए ही सब कुछ इच्छा करता है। वह भगवान् के आदेशों पर पूरी तरह आश्रित रहता है और भगवान् की तुष्टि के लिए अपना कर्तव्य निभाने के लिए सदैव उद्यत रहता है।

प्रारम्भ में अर्जुन ने अपने को इस प्रकार प्रस्तुत किया मानो वह आत्मतुष्टि का इच्छुक है, क्योंकि वह कुरुक्षेत्र युद्ध में लड़ना नहीं चाह रहा था, लेकिन भगवान् ने उसे निष्काम बनाने के लिए *भगवद्‌गीता* का उपदेश दिया जिसमें कर्मयोग, ज्ञानयोग, हठयोग तथा भक्तियोग की भी व्याख्या मिलती है। चूँकि अर्जुन निष्कपट था, अतएव उसने अपना निर्णय बदल दिया और युद्ध करने के लिए राजी होकर भगवान् को तुष्ट किया (*करिष्ये वचनं तव*)। इस तरह वह निष्कामी बना।

यहाँ पर ब्रह्माजी तथा शिवजी के उदाहरण जानबूझकर दिये गये हैं, क्योंकि ब्रह्माजी, शिवजी,

श्रीमती लक्ष्मीजी तथा चारों कुमार (सनक, सनातन आदि) ये चारों निष्काम *वैष्णव-सम्प्रदायों* के अग्रणी हैं। ये सभी सारे छल-छद्मों से रहित हैं। श्रील जीव गोस्वामी *गतव्यलीकैः* शब्द की व्याख्या *प्रोज्झित कैतवैः* के रूप में करते हैं जिसका अर्थ है : वे जो समस्त कपटों से मुक्त हैं (केवल अनन्य भक्त)। *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य १९.१४९) में यह कहा गया है—

कृष्णभक्त—निष्काम, अत एव 'शान्त'।

भुक्ति-मुक्ति—सिद्धि-कामी, सकलि 'अशान्त'॥

जो लोग अपने पुण्यकार्यों के लिए सकाम फल चाहते हैं, जो मुक्ति चाहते हैं तथा ब्रह्म से तदाकार होना चाहते हैं तथा जो योग की सिद्धियों के इच्छुक हैं, वे सभी अशान्त हैं, क्योंकि वे अपने लिए कुछ न कुछ चाहते हैं, लेकिन भक्त तो पूर्ण रूप से शान्त होता है, क्योंकि उसे अपने लिए कुछ भी नहीं चाहिए। किन्तु वह भगवान् की इच्छा पूरी करने के लिए सदैव उद्यत रहता है। अतएव यह निष्कर्ष निकला कि भगवान् सबों के हैं, क्योंकि उनकी मर्जी के बिना कोई भी इच्छित फल प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* (८.९) में कहा है, वे ही सबों को ऐसे फल प्रदान करते हैं, क्योंकि वे सबों के—वेदान्तियों, कर्मकाण्डियों धार्मिक नेताओं, तपस्वियों तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयत्न करने वालों के अधीश्वर (आदि नियन्ता) हैं। लेकिन अन्ततोगत्वा निष्कपट भक्त ही उन्हें प्राप्त कर पाते हैं। इसीलिए श्रील शुकदेव गोस्वामी ने यहाँ पर भक्तिमय सेवा पर विशेष बल दिया है।

श्रियः पतिर्यज्ञ-पतिः प्रजा-पति-
धियां पतिर्लोक-पतिर्धरा-पतिः ।
पतिर्गतिश्चान्धक-वृष्णि-सात्वतां
प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः ॥ २०॥

शब्दार्थ

श्रियः—समस्त ऐश्वर्य; पतिः—स्वामी; यज्ञ—यज्ञ का; पतिः—निर्देशक; प्रजा-पतिः—समस्त जीवों के नायक; धियाम्—बुद्धि का; पतिः—स्वामी; लोक-पतिः—समस्त लोकों के स्वामी; धरा—पृथ्वी का; पतिः—परम; पतिः—अग्रणी; गतिः—गन्तव्य; च—भी; अन्धक—यदुवंश के राजाओं में से एक; वृष्णि—यदुवंश का पहला राजा; सात्वताम्—यदुगण; प्रसीदताम्—कृपालु हों; मे—मुझ पर; भगवान्—श्रीकृष्ण; सताम्—भक्तों के; पतिः—स्वामी।

भगवान् श्रीकृष्ण, जो समस्त भक्तों द्वारा पूज्य हैं, यदुवंश के अंधक तथा वृष्णि जैसे समस्त

राजाओं के रक्षक तथा उनके यश हैं, लक्ष्मी देवी के पति, समस्त यज्ञों के निर्देशक अतएव समस्त जीवों के अग्रणी, समस्त बुद्धि के नियन्ता, समस्त दिव्य एवं भौतिक लोकों के अधिष्ठाता तथा पृथ्वी पर परम अवतार (सर्वेसर्वा) हैं, वे मुझ पर कृपालु हों।

तात्पर्य : चूँकि शुकदेव गोस्वामी प्रमुख *गतव्यलीक* अर्थात् निष्कपट हैं, अतएव वे भगवान् श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में अपनी अनुभूति को समस्त सिद्धियों का सार भगवान् बताते हैं। प्रत्येक व्यक्ति लक्ष्मी जी की कृपा का आकांक्षी रहता है, लेकिन लोग यह नहीं जानते कि भगवान् श्रीकृष्ण लक्ष्मीजी के प्रियतम पति हैं। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि भगवान् अपने दिव्य धाम गोलोक वृन्दावन में सुरभि गायों को चराते रहते हैं और वहाँ लाखों लक्ष्मियाँ उनकी सेवा करती रहती हैं। ये सारी लक्ष्मियाँ उनकी अन्तरंगा शक्ति के अन्तर्गत ह्लादिनी शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं और जब भगवान् इस पृथ्वी पर प्रकट हुए हैं, तो उन्होंने इस ह्लादिनी शक्ति के कार्यकलापों का आंशिक प्रदर्शन उन बद्धजीवों को आकृष्ट करने के लिए रासलीला के रूप में किया जो तुच्छ कामवासना की मृगतृष्णा के पीछे दौड़ते रहते हैं। शुकदेव गोस्वामी जैसे भगवान् के शुद्ध भक्त ने जो भौतिक जगत के गर्हित विषयी जीवन से पूर्ण रूप से विरक्त हैं, भगवान् की ह्लादिनी शक्ति के इस कार्य को कामवासना (यौन) से सम्बन्धित करके कभी विवेचन नहीं किया,अपितु उन संसारी लोगों के लिए जो विषयीजीवन के पीछे दौड़ते हैं अचिन्त्य दिव्य रस का आस्वादन कराने के लिए इसका विवेचन किया। संसार में मोह की जंजीरों में बद्ध होने का मूल कारण विषयी जीवन ही है, किन्तु शुकदेव गोस्वामी कभी भी संसारी विषयी जीवन के प्रति रुचि नहीं रखते थे। न ही भगवान् की ह्लादिनी शक्ति की अभिव्यक्ति का ऐसी पतित वस्तुओं से कोई सम्बन्ध होता है। भगवान् चैतन्य एक दृढ़ संन्यासी थे, यहाँ तक कि वे किसी भी स्त्री को अपने निकट नहीं आने देते थे, न ही उन्हें नमन करने तथा प्रणाम करने देते थे। उन्होंने जगन्नाथ मन्दिर में देवदासियों द्वारा की जानेवाली प्रार्थनाएँ तक कभी नहीं सुनीं, क्योंकि संन्यासी को स्त्री जाति द्वारा गाये गये गीत भी सुनने की मनाही है। फिर भी दृढ़ संन्यासी पद पर रहते हुए भी उन्होंने वृन्दावन की गोपियों द्वारा की गई पूजा की विधि को भगवान् की सर्वोच्च प्रेमाभक्ति के रूप में मान्यता दी। श्रीमती राधारानी तो ऐसी लक्ष्मियों में प्रधान हैं, अतएव वे भगवान् की ह्लादिनी अर्धांगिनी हैं और कृष्ण से

अभिन्न हैं।

जीवन में सर्वोच्च लाभ प्राप्त करने के लिए वैदिक अनुष्ठानों में विभिन्न प्रकार के यज्ञों के करने की संस्तुतियाँ की गई हैं। बड़े-बड़े यज्ञ करने से प्राप्त होनेवाले वर अन्ततः लक्ष्मीजी द्वारा की गई कृपा ही हैं और लक्ष्मीजी के पति या प्रियतम होने के कारण भगवान् समस्त यज्ञों के भी स्वामी हैं। वे सभी प्रकार के यज्ञों के अन्तिम भोक्ता हैं, अतएव विष्णु का एक अन्य नाम यज्ञपति भी है। *भगवद्गीता* में संस्तुति की गई है कि प्रत्येक कार्य यज्ञपति के लिए किया जाय (*यज्ञार्थात् कर्मणः*), अन्यथा मनुष्य के कार्य प्रकृति के नियम द्वारा उसके बन्धन का कारण होंगे। जो लोग समस्त भ्रान्त धारणाओं (*व्यलीकम्*) से मुक्त नहीं हैं, वे छोटे-छोटे देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ करते हैं, लेकिन भगवद्भक्त अच्छी तरह जानते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण ही समस्त यज्ञ-अनुष्ठानों के परम भोक्ता हैं, अतएव वे संकीर्तन यज्ञ (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*) करते हैं, जो इस कलियुग के लिए विशेषरूप से संस्तुत है। कलियुग में अन्य प्रकार के यज्ञों को सम्पन्न करना सम्भव नहीं है, क्योंकि व्यवस्था अपर्याप्त है और कुशल पुरोहित भी नहीं मिल पाते।

भगवद्गीता से (३.१०-११) हमें यह सूचना मिलती है कि ब्रह्मा ने, ब्रह्माण्ड में बद्धजीवों को जन्म देने के पश्चात्, उन्हें यज्ञ करने तथा सम्पन्न जीवन बिताने का आदेश दिया। ऐसे यज्ञों के सम्पन्न करने से बद्धजीवों को कभी भी जीवन-निर्वाह करने में कठिनाई नहीं होती। अन्ततोगत्वा वे अपने जीवन को शुद्ध कर सकते हैं। वे देखेंगे कि उनकी उन्नति आध्यात्मिक जगत में सहज में ही हो गई है और जीव का वही वास्तविक स्वरूप है। बद्धजीव को चाहिए कि वह कभी भी यज्ञ, दान तथा तपस्या का परित्याग किसी भी दशा में न करे। ऐसे सभी यज्ञों का उद्देश्य यज्ञपति अर्थात् भगवान् को प्रसन्न करना है, इसीलिए भगवान् प्रजापति भी हैं। *कठोपनिषद्* के अनुसार अकेले भगवान् असंख्य जीवों के नायक हैं। सारे जीव भगवान् द्वारा पालित हैं (*एको बहूनां यो विदधाति कामान्*) इसीलिए भगवान् परम भूतभृत् या सभी जीवों के पालक कहलाते हैं।

जीवों को उनके पूर्वकर्मों के अनुसार ही बुद्धि प्रदान की जाती है। सारे जीवों को एकसमान गुणवाली बुद्धि प्रदान नहीं की जाती क्योंकि बुद्धि के ऐसे विकास के पीछे भगवान् का नियन्त्रण रहता

है जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में घोषणा की गई है। परमात्मा-रूप में भगवान् जन-जन के हृदय में वास करते हैं और उन्हीं से स्मृति, ज्ञान की शक्ति तथा विस्मृति आती है (*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*)। एक व्यक्ति भगवत्कृपा से अपने पूर्वकर्मों को भलीभाँति स्मरण कर सकता है जब कि दूसरा व्यक्ति नहीं कर पाता। कोई व्यक्ति भगवत्कृपा से अत्यधिक बुद्धिमान होता है, किन्तु उसी नियन्त्रण से दूसरा व्यक्ति मूर्ख होता है। अतएव भगवान् धियाम्पति अथवा बुद्धि के स्वामी हैं।

बद्धजीव भौतिक जगत के स्वामी बनने का प्रयास करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी उच्चतम बुद्धि का प्रयोग करके भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताना चाहता है। बद्धजीव द्वारा बुद्धि का यह दुरुपयोग पागलपन कहलाता है। मनुष्य को अपनी बुद्धि का उपयोग *भवबन्धन* से मुक्त होने के लिए करना चाहिए। लेकिन बद्धजीव अपने पागलपन के कारण इन्द्रियतृप्ति में ही सारी शक्ति तथा बुद्धि लगा देता है और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह सभी प्रकार के दुष्कर्म करता है। परिणाम यह होता है कि पागल बद्धजीव मुक्त जीवन प्राप्त न करके पुनः पुनः अनेक प्रकार के बन्धनों में पड़ता रहता है। भौतिक जगत में हम जो कुछ देखते हैं, वह भगवान् की ही सृष्टि है। अतएव समस्त ब्रह्माण्डों में प्रत्येक वस्तु के वे ही असली स्वामी हैं। बद्धजीव भगवान् के वश में रहकर इस सृष्टि के एक अंश का ही भोग कर सकता है, लेकिन आत्म-निर्भर बनकर नहीं। यही *ईशोपनिषद्* का उपदेश है। मनुष्य को ब्रह्माण्ड के स्वामी द्वारा प्रदत्त वस्तुओं से सन्तुष्ट रहना चाहिए। यह तो निरा पागलपन है कि कोई दूसरे के हिस्से की भौतिक सम्पत्ति में अधिकार जताने का प्रयास करता है।

ब्रह्माण्ड के स्वामी बद्धजीवों पर अपनी अहैतुकी कृपावश अपनी ही शक्ति (आत्म-माया) द्वारा बद्धजीवों के साथ नित्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अवतरित होते हैं। वे सबों को उनके नियन्त्रण में कुछ हद तक झूठे ही भोक्ता बनने के बजाय अपनी शरण में आने के लिए आदेश देते हैं। जब वे इस तरह अवतरित होते हैं, तो वे यह दिखा देते हैं कि उनमें भोगने का कितना बड़ा सामर्थ्य है और वे एकसाथ सोलह हजार पत्नियों के साथ विवाह करके भोग की अपनी शक्ति का प्रदर्शन उदाहरण के तौर पर करते हैं। बद्धजीव केवल एक पत्नी का पति बनकर गर्व का अनुभव करता है, लेकिन भगवान् इस पर हँसते हैं; बुद्धिमान व्यक्ति जान सकता है कि असली पति कौन है। वास्तव में भगवान् ही

अपनी सृष्टि की सारी स्त्रियों के पति हैं, लेकिन भगवान् के वशीभूत बद्धजीव अपने को एक या दो पत्नियों का पति होने पर गर्व का अनुभव करता है।

इस श्लोक में वर्णित विभिन्न प्रकार के पतियों की ये योग्यताएँ भगवान् श्रीकृष्ण को ही शोभा देती हैं, अतएव शुकदेव गोस्वामी ने यदुवंश के *पति* तथा *गति* का विशेष उल्लेख किया है। यदुवंश के सभी सदस्य जानते थे कि श्रीकृष्ण ही सब कुछ हैं और जब उन्होंने पृथ्वी पर अपनी दिव्य लीलाएँ समाप्त कर लीं, तो वे सभी उनके पास लौटना चाह रहे थे। यदुवंश का विनाश भगवान् की इच्छा से हुआ, क्योंकि इसके सदस्यों को भगवान् के साथ भगवद्धाम वापस जाना था। यदुवंश का संहार परमेश्वर द्वारा सृजित एक भौतिक प्रदर्शन था अन्यथा यदुवंश के सारे सदस्य तथा भगवान् नित्य संगी थे। अतएव भगवान् समस्त भक्तों के मार्गदर्शक हैं, इसीलिए शुकदेव गोस्वामी ने प्रेमपूरित भावों से भगवान् को सादर नमस्कार किया।

यदङ्घ्र्यभिध्यान-समाधि-धौतया
धियानुपश्यन्ति हि तत्त्वमात्मनः ।
वदन्ति चैतत् कवयो यथा-रुचं
स मे मुकुन्दो भगवान् प्रसीदताम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यत्-अङ्घ्रि—जिसके चरणकमल; अभिध्यान—प्रत्येक क्षण चिन्तन करते; समाधि—समाधि; धौतया—धुल जाने से; धिया—ऐसी विमल बुद्धि से; अनुपश्यन्ति—महापुरुषों का अनुसरण करते हुए देखते हैं; हि—निश्चय ही; तत्त्वम्—परम सत्य को; आत्मनः—परमेश्वर का तथा अपना; वदन्ति—कहते हैं; च—भी; एतत्—यह; कवयः—दार्शनिक या विद्वान पंडित; यथा-रुचम्—जैसा वह सोचता है; सः—वह; मे—मेरा; मुकुन्दः—भगवान् कृष्ण (जो मुक्ति के दाता हैं); भगवान्—भगवान्; प्रसीदताम्—मुझ पर प्रसन्न हों।

भगवान् श्रीकृष्ण ही मुक्तिदाता हैं। भक्त प्रतिपल उनके चरण-कमलों का चिन्तन करके और महापुरुषों के चरणचिन्हों पर चलते हुए समाधि में परम सत्य का दर्शन कर सकता है। तथापि विद्वान ज्ञानीजन उनके विषय में अपनी सनक के अनुसार चिन्तन करते हैं। ऐसे भगवान् मुझ पर प्रसन्न हों।

तात्पर्य : योगी-जन इन्द्रियों को वश में करने का कठिन प्रयास करके प्रत्येक के भीतर स्थित परमात्मा की झलक पाने के लिए योग की समाधि में स्थित होते हैं, किन्तु शुद्ध भक्त प्रतिपल भगवान् के चरणकमलों का स्मरण करते हुए वास्तविक समाधि को तुरन्त ही प्राप्त होते हैं, क्योंकि ऐसी

अनुभूति के द्वारा उनके मन तथा बुद्धि भवरोग से धुल कर पूर्ण रूप से स्वच्छ हो जाते हैं। शुद्ध भक्त अपने आपको जन्म-मृत्यु के सागर में पतित हुआ सोचता है, अतएव वह अपने को उबारने के लिए भगवान् से निरन्तर प्रार्थना करता है। वह भगवान् के चरणकमलों की धूलि का एक कण बनना चाहता है। शुद्ध भक्त भगवत्कृपा से भौतिक भोग के सारे आकर्षण से पूरी तरह रहित हो जाता है और कल्मष से दूर रहने के लिए वह निरन्तर भगवान् के चरणकमलों का चिन्तन करता रहता है। भगवान् के परम भक्त राजा कुलशेखर ने प्रार्थना की है—

कृष्ण त्वदीयपदपंकजपञ्जरान्तम्
अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः।
प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः
कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते॥

''हे भगवान् कृष्ण! मेरी प्रार्थना है कि मेरा मन रूपी हंस तुरन्त आपके चरणकमल के डंठलों तक डूब कर उनके जाल में उलझ जाय अन्यथा मृत्यु के समय, जब मेरा गला कफ से रुद्ध हो जायेगा, तो भला मैं आपका चिन्तन कैसे कर सकूँगा?''

हंस तथा कमलनाल के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव यह उपमा अत्यन्त उपयुक्त है: हंस या *परमहंस* बने बिना भगवान् के चरणकमलों के डंठलों के जाल तक प्रवेश कर पाना असम्भव है। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि ज्ञानी अपने पाण्डित्य के बावजूद अनन्त काल तक चिन्तन करने पर भी परम सत्य का स्वप्न तक नहीं देख सकता। भगवान् को अधिकार है कि ऐसे *ज्ञानियों* के समक्ष प्रकट न हों और चूँकि ऐसे लोग भगवान् के चरणकमलों के डंठलों के जाल में प्रवेश नहीं कर पाते, अतएव सारे ज्ञानी अपना-अपना निष्कर्ष निकालते हैं और अन्त में अपनी-अपनी रुचि के अनुसार (*यथारुचम्*) यह कहकर समझौता करते हैं ''जितने पंथ उतने मत''। लेकिन भगवान् कोई दुकानदार तो हैं नहीं जो ज्ञान के विनिमय में सभी प्रकार के ग्राहकों को प्रसन्न करने का प्रयास कर सकें। भगवान् तो पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर हैं और वे चाहते हैं कि वे लोग पूर्ण रूप से उनके ही शरणागत हों। लेकिन शुद्ध भक्त पूर्ववर्ती आचार्यों के पथ का अनुसरण करते हुए अपने गुरु के पारदर्शी

माध्यम से परमेश्वर का दर्शन कर सकता है (*अनुपश्यन्ति*)। शुद्ध भक्त मानसिक चिन्तन (ज्ञान) द्वारा भगवान् का दर्शन करने का प्रयास कभी नहीं करता अपितु वह आचार्यों के पदचिह्नों पर चलता है (*महाजनो येन गत: स पन्था:*)। अतएव वैष्णव आचार्यों में भगवान् तथा भक्तों को लेकर कोई भेद नहीं रहता। भगवान् चैतन्य जोर देकर कहते हैं कि जीव भगवान् का नित्य दास है और वह एक ही साथ भगवान् से एक तथा पृथक् है। भगवान् चैतन्य के इस तत्त्व को वैष्णव मत के चारों सम्प्रदाय समान रूप से मानते हैं (मोक्ष के बाद भी भगवान् की नित्य दासता सभी स्वीकार करते हैं) और ऐसा कोई वैध वैष्णव आचार्य नहीं है, जो भगवान् तथा अपने आपको एक सोच सके।

भगवान् की सेवा में शत प्रतिशत लगे रहनेवाले भक्त की यह विनम्रता भगवद्भक्त को समाधि दशा प्राप्त कराती है, जिससे वह प्रत्येक वस्तु की अनुभूति करता है, क्योंकि भगवान् निष्ठावान भक्त के समक्ष प्रकट होते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.१०) में कहा गया है। भगवान् प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि के स्वामी होने से (यहाँ तक कि अभक्तों के भी) अपने भक्त को समुचित बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे भक्त स्वत: भगवान् तथा उनकी विभिन्न शक्तियों के विषय में असली तथ्यों से अवगत हो जाता है। भगवान् न तो किसी की चिन्तन शक्ति से, न परम सत्य विषयक वाग्जाल से प्रकट होते हैं। वे भक्त के समक्ष तभी प्रकट होते हैं जब भक्त के सेवा-भाव की प्रवृत्ति से पूर्ण रूप से संतुष्ट होते हैं। शुकेदव गोस्वामी न तो चिन्तक हैं, न ही 'जितने पंथ उतने मत' सिद्धान्त के समर्थक हैं। अपितु वे केवल भगवान् से उनके दिव्य आनन्द का आह्वान करते हुए प्रार्थना करते हैं। भगवान् को जानने का यही तरीका है।

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती
वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि ।
स्व-लक्षणा प्रादुरभूत् किलास्यत:
स मे ऋषीणामृषभ: प्रसीदताम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

प्रचोदिता—प्रेरित; येन—जिसके द्वारा; पुरा—सृष्टि के प्रारम्भ में; सरस्वती—विद्या की देवी; वितन्वता—विस्तारित; अजस्य—प्रथम जीव ब्रह्मा का; सतीम् स्मृतिम्—शक्तिशाली स्मरण शक्ति; हृदि—हृदय में; स्व—अपना; लक्षणा—लक्षित; प्रादुरभूत्—उत्पन्न किया गया; किल—मानो; आस्यत:—मुँह से; स:—वह; मे—मुझ पर; ऋषीणाम्—शिक्षकों का; ऋषभ:—प्रमुख; प्रसीदताम्—प्रसन्न हों।

जिन्होंने सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा के हृदय में शक्तिशाली ज्ञान का विस्तार किया और सृष्टि तथा अपने विषय में पूर्ण ज्ञान की प्रेरणा दी और जो ब्रह्मा के मुख से प्रकट हुए प्रतीत हुए, वे भगवान् मुझ पर प्रसन्न हों।

तात्पर्य : हम पहले ही यह बता चुके हैं, कि ब्रह्मा से लेकर क्षुद्र चींटी तक सारे जीवों के परमात्मा-रूप में भगवान् प्रत्येक जीव को वांछित ज्ञान प्रदान करते हैं। प्रत्येक जीव भगवान् से ५०:६४ के अनुपात में या पूर्ण ज्ञान का ७८% अर्जित करने की क्षमता रखता है। चूँकि जीव भगवान् का स्वाभाविक अंशमात्र है, अतएव वह भगवान् के सम्पूर्ण ज्ञान को आत्मसात् करने में असमर्थ होता है। बद्ध अवस्था में जीव, शरीर के परिवर्तन या मृत्यु के साथ सब कुछ भूल जाता है। यही ज्ञान पुनः प्रत्येक जीव में भगवान् द्वारा जीव के हृदय के भीतर से प्रेरित किया जाता है और यही ज्ञान की जागृति कहलाती है, क्योंकि यह निद्रा या अचेतनावस्था से जागरण के तुल्य है। यह ज्ञान की जागृति भगवान् के पूर्ण रूप से अधीन है, अतएव व्यवहारजगत में विभिन्न व्यक्तियों में ज्ञान की विभिन्न कोटियाँ पाई जाती हैं। यह ज्ञान की जागृति न तो स्वतः घटित होती है, न भौतिक अन्तःक्रिया है। इसकी पूर्ति करनेवाले साक्षात् भगवान् हैं (*धियां पतिः*), क्योंकि ब्रह्मा तक परम स्रष्टा के इस नियम के अधीन हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा माता-पिता के बिना उत्पन्न होते हैं, क्योंकि तब कोई अन्य जीव न था। ब्रह्मा उस कमल से उत्पन्न होते हैं, जो गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से प्रकट होता है और इसीलिए वे अज कहलाते हैं। ये ब्रह्मा या अज भी भगवान् के अंशरूप जीव हैं, लेकिन भगवान् के परम पवित्र भक्त होने के नाते, भगवान् मुख्य सृष्टि कर लेने के बाद प्रकृति के द्वारा उन्हें सृष्टि करने की प्रेरणा देते हैं। अतएव न तो प्रकृति, न ही ब्रह्मा भगवान् से स्वतन्त्र हैं। भौतिक विज्ञानी प्रकृति की प्रतिक्रियाओं का अवलोकन ही कर सकते हैं, वे ऐसे कार्यकलापों के पीछे कार्यरत निर्देशन को नहीं समझ पाते जिस तरह कि एक शिशु बिजली के करतब को तो देखता है, किन्तु उसे बिजलीघर के इंजीनियर का कोई ज्ञान नहीं होता। भौतिक विज्ञानी का यह अपूर्ण ज्ञान उसकी अल्पज्ञता के कारण है। अतएव वैदिक ज्ञान सर्वप्रथम ब्रह्मा के अन्तःकरण में प्रविष्ट कराया गया जिससे ऐसा लगता है कि ब्रह्मा ही वैदिक ज्ञान का वितरण करनेवाले हैं। निस्सन्देह, ब्रह्मा वैदिक ज्ञान के प्रवक्ता हैं, किन्तु वास्तव में भगवान् ने

ही उन्हें ऐसा दिव्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया, क्योंकि यह ज्ञान सीधे भगवान् से अवतरित होता है। इसीलिए वेदों को अपौरुषेय अर्थात् किसी सृजित जीव द्वारा प्रदत्त न किये गये, कहा जाता है। सृष्टि के पूर्व भगवान् उपस्थित थे (*नारायण: परोऽव्यक्तात्*), अतएव भगवान् द्वारा उच्चरित शब्द दिव्य ध्वनि की लहरियाँ हैं। ध्वनि के दो प्रकारों, *प्राकृत* तथा *अप्राकृत,* में बहुत बड़ा अन्तर है। भौतिक-शास्त्री केवल *प्राकृत* ध्वनि या भौतिक आकाश में स्पन्दित ध्वनि पर ही विचार कर सकता है, अतएव हमें यह जान लेना चाहिए कि सांकेतिक अभिव्यंजनाओं के रूप में अंकित वैदिक ध्वनियाँ इस ब्रह्माण्ड में किसी के द्वारा तब तक नहीं समझी जा सकतीं जब तक उन्हें *अप्राकृत* ध्वनि के स्पन्दनों द्वारा प्रेरित न किया जाय जो शिष्य-परम्परा द्वारा भगवान् से ब्रह्मा को, ब्रह्मा से नारद को, नारद से व्यास को और आगे इसी क्रम में प्राप्त होती है। कोई भी संसारी विद्वान वैदिक मन्त्रों के असली आशय को न तो प्रकट कर सकता है, न उनको अनुदित कर सकता है। इन्हें तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक कोई वैध गुरु द्वारा प्रेरित या दीक्षित न होले। आदि गुरु तो स्वयं भगवान् हैं और परम्परा से यह ज्ञान चलता रहा है जैसाकि *भगवद्गीता* के चतुर्थ अध्याय में स्पष्ट कहा गया है। अतएव दिव्य ज्ञान जब तक किसी वैध परम्परा से प्राप्त नहीं होता, तब तक उसे विफल (*विफला मता:*) मानना चाहिए, भले ही वह कला या विज्ञान में कितनी ही प्रगति क्यों न कर ले।

शुकदेव गोस्वामी अपने अन्त:करण में भगवान् द्वारा प्रेरित होकर ही भगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं जिससे वे महाराज परीक्षित द्वारा पूछे गये सृष्टि-सम्बन्धी तथ्यों को सही-सही बतला सकें। गुरु संसारी विद्वान की तरह, सैद्धान्तिक चिन्तक नहीं होता, अपितु वह *श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्* होता है।

भूतैर्महद्भिर्य इमाः पुरो विभु-
निर्माय शेते यदमूषु पूरुषः ।
भुङ्क्ते गुणान् षोडश षोडशात्मकः
सोऽलङ्कृषीष्ट भगवान् वचांसि मे ॥ २३॥

शब्दार्थ

भूतैः—तत्त्वों के द्वारा; महद्भिः—भौतिक सृष्टि के; यः—जो; इमाः—ये सब; पुरः—शरीर; विभुः—भगवान् के; निर्माय—तैयार करने के लिए; शेते—लेटते हैं; यत् अमूषु—अवतीर्ण होनेवाला; पूरुषः—भगवान् विष्णु; भुङ्क्ते —प्रभावित करते हैं; गुणान्—तीनों गुणों को; षोडश—सोलह भागों में; षोडश-आत्मकः—इन सोलह का जनक होने से; सः—वह; अलङ्क षीष्ट—सुसज्जित करे; भगवान्—भगवान्; वचांसि—वाणी को; मे—मेरी।

ब्रह्माण्ड के भीतर लेटकर जो तत्त्वों से निर्मित शरीरों को प्राणमय बनाते हैं और जो अपने पुरुष-अवतार में जीव को भौतिक गुणों के सोलह विभागों को, जो जीव के जनक रूप हैं अधीन करते हैं, वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् मेरे प्रवचनों को अलंकृत करने के लिए प्रसन्न हों।

तात्पर्य : पूर्ण आश्रित भक्त के रूप में (अपनी सामर्थ्य पर गर्व करनेवाले संसारी व्यक्ति से सर्वथा विपरीत) शुकदेव गोस्वामी भगवान् से प्रसन्न होने के लिए प्रार्थना करते हैं जिससे उनके प्रवचन सफल हो और श्रोताओं द्वारा समादृत हो। भक्त सदैव अपने आपको किसी भी सफलता में निमित्त मात्र मानता है और अपने द्वारा किये गये किसी भी कृत्य का श्रेय लेने से इनकार करता है, जबकि ईशविहीन नास्तिक कार्यकलापों का सारा श्रेय लेना चाहता है, जो यह भी नहीं जानता कि परमात्मा भगवान् की मर्जी के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। अतएव शुकदेव गोस्वामी उन परमेश्वर के निर्देशानुसार आगे बढ़ना चाहते हैं, जिन्होंने ब्रह्माजी को वैदिक ज्ञान व्यक्त करने के लिए प्रेरणा दी। वैदिक ग्रंथों में वर्णित सत्य न तो संसारी कल्पना के सिद्धान्त हैं, न वे कपोलकल्पित हैं जैसाकि अल्पज्ञ लोग कभी-कभी सोचते हैं। वैदिक सत्य वास्तविक सत्य के पूर्ण विवरण हैं जिनमें न तो त्रुटि है, न भ्रम। शुकदेव गोस्वामी सृष्टि सम्बन्धी सत्यों को वास्तविक तथ्यों के रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं, न कि दार्शनिक चिन्तक के किसी तत्त्व-ज्ञान के सिद्धान्त के रूप में, क्योंकि वे उसी तरह भगवान् के इशारे पर चलेंगे जिस तरह ब्रह्माजी अनुप्राणित हुए थे। जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है, भगवान् स्वयं *वेदान्त-ज्ञान* के जनक हैं और वेदान्त-दर्शन के वास्तविक तात्पर्य को जाननेवाले एकमात्र वही हैं। अतएव वेदों में वर्णित धर्म के सिद्धान्तों से बढ़कर कोई सत्य नहीं है। ऐसा वैदिक ज्ञान या धर्म शुकदेव गोस्वामी जैसे प्रामाणिक पुरुष द्वारा फैलता है क्योंकि वे भगवान् के विनीत दास थे जिन्हें स्व-नियुक्त व्याख्याकार बनने की कोई इच्छा न थी। वैदिक ज्ञान की व्याख्या की यही विधि है, जिसे *परम्परा* प्रणाली कहते हैं।

बुद्धिमान व्यक्ति यह देख सकता है कि चाहे कोई भी भौतिक सृष्टि (चाहे अपना शरीर हो, या फल या फूल) हो, आध्यात्मिक स्पर्श के बिना वह सुन्दरता के साथ वृद्धि नहीं कर पाती। संसार का सर्वाधिक बुद्धिमान व्यक्ति या विज्ञानी किसी भी वस्तु को तभी ढंग से प्रस्तुत कर सकता है जब उसमें

जीवन हो या आध्यात्मिक स्पर्श हो। अतएव समस्त सत्यों का स्रोत परमात्मा है, स्थूल पदार्थ नहीं, जैसाकि भ्रमवश निपट भौतिकतावादी सोचता है। वैदिक साहित्य से हमें पता चलता है कि सर्वप्रथम भगवान् ने भौतिक ब्रह्माण्ड के शून्य में प्रवेश किया और तब सारी वस्तुएँ एक-एक करके विकसित हुईं। इसी प्रकार भगवान् परमात्मा के रूप में प्रत्येक प्राणी के घर-घर में स्थित हैं, अतएव उनके द्वारा सारे कार्य अच्छे ढंग से सम्पन्न होते हैं। सोलह प्रमुख सृजनकारी तत्त्व, जिनके नाम हैं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश तथा ग्यारह इन्द्रियाँ, साक्षात् भगवान् से विकसित हुए और तब जीवों में बँट गए। इस तरह भौतिक तत्त्वों का सृजन जीवों के भोग के लिए किया गया। अतएव समस्त भौतिक अभिव्यक्तियों के पीछे जो सुन्दर व्यवस्था है, वह भगवान् की शक्ति द्वारा सम्भव होती है और प्रत्येक जीव उसे ठीक से समझने के लिए भगवान् से प्रार्थना ही कर सकता है। चूँकि भगवान् परम चेतना हैं और शुकदेव गोस्वामी से भिन्न हैं, अतएव उनकी प्रार्थना की जानी चाहिए। भगवान् भौतिक सृष्टि का भोग करने में जीव की सहायता करते हैं, किन्तु वे ऐसे झूठे भोग से पृथक् रहते हैं। शुकदेव गोस्वामी भगवान् से कृपा करने के लिए प्रार्थना करते हैं जिससे वे सत्य को प्रस्तुत करने में स्वयं सहायता पाने के साथ-साथ उन लोगों की भी सहायता करें जिन्हें वे सुनाने जा रहे हैं।

नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय वेधसे ।
पपुर्ज्ञानमयं सौम्या यन्मुखाम्बुरुहासवम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

नमः—मेरा नमस्कार है; तस्मै—उस; भगवते—भगवान् को; वासुदेवाय—वासुदेव या उनके अवतारों को; वेधसे—वैदिक ग्रंथों के संकलनकर्ता; पपुः—पान किया गया; ज्ञानम्—ज्ञान; अयम्—यह वैदिक ज्ञान; सौम्याः—भक्तगण, विशेष रूप से भगवान् कृष्ण की प्रेमिकाएँ; यत्—जिनके; मुख-अम्बुरुह—कमल सदृश मुख का; आसवम्—अमृत।

मैं साक्षात् वासुदेव के अवतार उन श्रील व्यासदेव को सादर नमस्कार करता हूँ जिन्होंने वैदिक शास्त्रों का संकलन किया। शुद्ध भक्तगण भगवान् के कमल सदृश मुख से टपकते हुए अमृतोपम दिव्य ज्ञान का पान करते हैं।

तात्पर्य : *वेधसे* शब्द की व्याख्या करते हुये श्रील श्रीधर स्वामी ने टीका की है कि इस शब्द द्वारा श्रील व्यासदेव को सादर नमस्कार किया गया है, जो वासुदेव के अवतार हैं। श्रील जीव गोस्वामी ने इसे स्वीकार किया है, लेकिन श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर एक कदम आगे हैं कि भगवान् कृष्ण के

मुख से टपकता अमृत उनकी विभिन्न प्रेमिकाओं के मुखों में चला जाता है, जिससे वे संगीत, नृत्य, वेशसज्जा, अलंकरण जैसी ललित कलाएँ एवं वे सारी बातें जानती हैं, जो भगवान् को आस्वाद्य हैं। भगवान् द्वारा आस्वाद्य ऐसा संगीत, नृत्य तथा अलंकरण संसारी नहीं होता, क्योंकि भगवान् को प्रारम्भ में ही परम् अर्थात् दिव्य कहकर सम्बोधित किया गया है। भुलक्कड़ बद्ध-जीवों को यह दिव्य ज्ञान अज्ञात है। भगवान् के अवतार श्रील व्यासदेव ने वैदिक साहित्य का इसीलिये संकलन किया जिससे बद्धजीव भगवान् के साथ अपने विसरे हुए सम्बन्धों को फिर से स्मरण कर सकें, अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह वैदिक शास्त्रों को, या कहें कि माधुर्य रस में भगवान् द्वारा अपनी प्रेमिकाओं को किये गये अमृत दान को, समझने के लिए व्यासदेव या शुकदेव के कमलमुख से सुनें। दिव्य ज्ञान के क्रमिक विकास द्वारा मनुष्य संगीत तथा नृत्य की उस दिव्य कला को प्राप्त हो सकता है, जिसे भगवान् ने अपनी रासलीला के समय प्रदर्शित किया। लेकिन वैदिक ज्ञान के अभाव में भगवान् के रास-नृत्य तथा संगीत की दिव्य प्रकृति को समझ पाना कठिन है। किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त इस अमृत का आस्वादन अगाध दार्शनिक वार्ताओं के रूप में तथा रास-नृत्य में भगवान् द्वारा चुम्बन के रूप में करते हैं, क्योंकि इन दोनों में कोई भौतिक अन्तर नहीं है।

एतदेवात्म-भू राजन् नारदाय विपृच्छते ।
वेद-गर्भोऽभ्यधात् साक्षाद् यदाह हरिरात्मनः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

एतत्—इस विषय में; **एव**—इसी तरह; **आत्म-भूः**—प्रथम जन्मा (ब्रह्माजी); **राजन्**—हे राजा; **नारदाय**—नारदमुनि से; **विपृच्छते**—पूछा जाकर; **वेद-गर्भः**—जन्म से ही वैदिक ज्ञान से संपृक्त है, जो; **अभ्यधात्**—बतलाया; **साक्षात्**—प्रत्यक्ष; **यत् आह**—उसने जो कहा; **हरिः**—भगवान्; **आत्मनः**—अपने ही से(ब्रह्मा से)।

हे राजन्, नारद द्वारा पूछे जाने पर प्रथम-जन्मा ब्रह्माजी ने इस विषय में ठीक वही बात बतलाई जो भगवान् ने अपने पुत्र (ब्रह्मा) से प्रत्यक्ष कही थी जो जन्म से ही वैदिक ज्ञान से संपृक्त थे।

तात्पर्य : ज्योंही विष्णु के नाभि-कमल से ब्रह्मा का जन्म हुआ, वे वैदिक ज्ञान से संपृक्त थे, अतएव वे *वेदगर्भ* या जन्म से वेदान्ती कहलाते हैं। वैदिक ज्ञान के या कि पूर्ण अच्युत ज्ञान के बिना कोई भी सृष्टि नहीं कर सकता। सारा वैज्ञानिक ज्ञान तथा पूर्ण ज्ञान वैदिक है। वेदों से सभी तरह की

जानकारी प्राप्त की जा सकती हैं। इसीलिए ब्रह्माजी परिपूर्ण ज्ञान से संपृक्त थे जिससे वे सृष्टि करने में समर्थ हो सके। अतएव ब्रह्माजी सृष्टि के पूर्ण विवरण से अवगत थे, क्योंकि भगवान् हरि ने उन्हें इससे अवगत कराया था। जब नारद ने ब्रह्मा से जिज्ञासा की तो उन्होंने नारद को ठीक उसी तरह सुनाया जैसा उन्होंने साक्षात् भगवान् से सुना था। नारद ने ठीक यही बात व्यास को बताई और व्यास ने भी शुकदेव गोस्वामी को उसी रूप में सुनाया जिस तरह उन्होंने नारद से सुन रखा था। शुकदेव गोस्वामी वे ही बातें अब सुनाने जा रहे थे जिन्हें उन्होंने व्यास से सुना था। वैदिक ज्ञान को समझने की यही विधि है। केवल उपर्युक्त परम्परा द्वारा ही वेदों की भाषा समझी जा सकती है, अन्यथा नहीं।

सिद्धान्तों से कोई लाभ होनेवाला नहीं। ज्ञान को वास्तविक होना चाहिए। बहुत सी ऐसी बातें हैं, जो जटिल होती हैं और कोई उन्हें तब तक नहीं समझ पाता जब तक वे किसी ज्ञाता द्वारा न बताई जायें। वैदिक ज्ञान को जानना भी कठिन है। उसे उपर्युक्त प्रणाली से सीखना चाहिए, अन्यथा वह समझ में नहीं आता।

अतएव शुकदेव गोस्वामी ने भगवान् से कृपा करने के लिए प्रार्थना की, जिससे वे उनके द्वारा ब्रह्मा को प्रत्यक्ष कहे गये सन्देश को या ब्रह्मा ने जो कुछ नारद से कहा, उसे दुहरा सकें। अतएव शुकदेव गोस्वामी द्वारा वर्णित सृष्टि-विषयक कथन सैद्धान्तिक नहीं हैं, जैसाकि कुछ संसारी कहते हैं, अपितु पूर्ण रूप से सत्य हैं। जो इन सन्देशों (कथाओं) को सुनता है और आत्मसात् करने का प्रयास करता है, वह भौतिक सृष्टि-विषयक पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के द्वितीय स्कंध के अन्तर्गत ''सृष्टि का प्रक्रम'' नामक चतुर्थ अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पाँच

समस्त कारणों के कारण

नारद उवाच

देव-देव नमस्तेऽस्तु भूत-भावन पूर्वज ।
तद् विजानीहि यज्ज्ञानमात्म-तत्त्व-निदर्शनम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—श्री नारद ने कहा; देव—समस्त देवताओं के; देव—देवता; नमः—नमस्कार; ते—तुमको; अस्तु—है; भूत-भावन—समस्त प्राणियों के जनक; पूर्व-ज—सर्वप्रथम जन्मा; तत् विजानीहि—उस ज्ञान को बताएँ; यत् ज्ञानम्—जो ज्ञान; आत्म-तत्त्व—दिव्य; निदर्शनम्—विशेष रूप से निर्देश करता है।

श्री नारद मुनि ने ब्रह्माजी से पूछा : हे देवताओं में प्रमुख देवता, हे अग्रजन्मा जीव, मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ। कृपा करके मुझे वह दिव्य ज्ञान बतायें, जो मनुष्य को आत्मा तथा परमात्मा के सत्य तक ले जाने वाला है।

तात्पर्य : *परम्परा* प्रणाली की पूर्णता की और भी पुष्टि हो रही है। पिछले अध्याय में यह स्थापना हुई थी कि आदि-जीव ब्रह्माजी ने सीधे परमेश्वर से ज्ञान प्राप्त किया और उन्होंने वह ज्ञान अगले शिष्य नारद को प्रदान किया। नारद ने ज्ञान प्रदान किये जाने की प्रार्थना की, तो ब्रह्माजी ने ज्ञान प्रदान किया। अतएव सही व्यक्ति से दिव्य ज्ञान के लिए याचना करना और सही ढंग से उसे प्राप्त करना परम्परा का विधान है। इस विधि की संस्तुति *भगवद्गीता* (४.२) में की गई है। जिज्ञासु शिष्य को चाहिए कि वह समर्पण, विनीत जिज्ञासा तथा सेवा द्वारा दिव्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए सुयोग्य गुरु के पास जाय। इस तरह विनीत जिज्ञासा तथा सेवा द्वारा प्राप्त ज्ञान धन के बदले प्राप्त होनेवाले ज्ञान से अधिक प्रभावात्मक होता है। ब्रह्मा तथा नारद की परम्परा का गुरु कभी डालर तथा सेंट (रुपये-पैसे) नहीं चाहता। प्रामाणिक शिष्य को अपनी प्रतिष्ठावान् सेवा से उसे प्रसन्न करके आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्ध तथा स्वभाव का ज्ञान प्राप्त करना होता है।

यद्रूपं यदधिष्ठानं यतः सृष्टमिदं प्रभो ।
यत्संस्थं यत्परं यच्च तत् तत्त्वं वद तत्त्वतः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; रूपम्—लक्षण; यत्—जो; अधिष्ठानम्—पृष्ठभूमि; यतः—जहाँ से; सृष्टम्—उत्पन्न; इदम्—यह संसार; प्रभो—हे पिता; यत्—जिसमें; संस्थम्—प्रतिष्ठित; यत्—जो; परम्—वश में; यत्—जो हैं; च—तथा; तत्—इसका; तत्त्वम्—लक्षण; वद—कृपया वर्णन करें; तत्त्वतः—वास्तव में।

हे पिता, आप इस व्यक्त जगत के वास्तविक लक्षणों का वर्णन करें। इसका आधार क्या है? यह किस तरह उत्पन्न हुआ? यह किस तरह संस्थित है? और यह सब किसके नियन्त्रण में किया जा रहा है?

तात्पर्य : वास्तविक कारण तथा कार्य के आधार पर नारद मुनि द्वारा उठाये गये प्रश्न अत्यन्त तर्कसंगत प्रतीत होते हैं। किन्तु नास्तिक लोग स्वनिर्मित अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत करते रहते हैं जिनमें कारण-कार्य का लेशमात्र भी नहीं रहता। यह व्यक्त जगत तथा आत्मा, अब भी इन ईशविहीन नास्तिकों द्वारा प्रयोगात्मक ज्ञान के आधार पर, अविवेचित है, यद्यपि उन्होंने अपने उर्वर मस्तिष्क द्वारा निर्मित अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। किन्तु नारद मुनि ऐसे मानसिक चिन्तनपरक सिद्धान्तों के विपरीत सृष्टि सम्बन्धी सारे तथ्यों को जानने के इच्छुक थे, उन सिद्धान्तों के द्वारा नहीं।

आत्मा तथा परमात्मा सम्बन्धी दिव्य ज्ञान में जगत तथा इसकी सृष्टि की पृष्ट-भूमि का ज्ञान सम्मिलित होता है। व्यवहार-जगत में किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति को यथार्थ रुप तीन बातें दिखती हैं—जीव, व्यक्त जगत तथा इनके ऊपर अनन्तिम नियन्त्रण। बुद्धिमान व्यक्ति देख सकता है कि न तो जीव, न ही व्यवहार-जगत संयोगजन्य सृष्टियाँ हैं। सृष्टि एवं इसके नियमनकारी कार्य-कारणों से इसके पीछे किसी बुद्धिमान मस्तिष्क की योजना कार्यशील प्रतीत होती है। शुद्ध जिज्ञासा द्वारा और किसी ऐसे व्यक्ति की सहायता से, जो उन्हें वास्तव में जानता हो, परम कारण को खोजा जा सकता है।

सर्वं ह्येतद् भवान् वेद भूत-भव्य-भवत्प्रभुः ।
करामलक-वद् विश्वं विज्ञानावसितं तव ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सर्वम्—सारी वस्तुएँ; हि—निश्चय ही; एतत्—यह; भवान्—आप; वेद—जानते हैं; भूत—जो भी उत्पन्न है; भव्य—जो उत्पन्न होंगे; भवत् प्रभुः—आप, सबों के स्वामी; कर-आमलक-वत्—हथेली के आँवले के समान; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; विज्ञान-अवसितम्—आपके वैज्ञानिक ज्ञान के अन्तर्गत; तव—आपका।

हे पिता, आप यह सब वैज्ञानिक ढंग से जानते हैं, क्योंकि भूतकाल में जो कुछ रचा गया, भविष्य में जो भी रचा जायेगा या वर्तमान में जो कुछ रचा जा रहा है तथा इस ब्रह्माण्ड के भीतर

जितनी सारी वस्तुएँ हैं, वे सब आपकी हथेली में आँवले के सदृश हैं।

तात्पर्य : इस व्यक्त ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्माण्ड के भीतर की प्रत्येक वस्तु के प्रत्यक्ष स्रष्टा ब्रह्माजी हैं; अतएव वे जानते हैं कि भूतकाल में क्या घटा, भविष्य में क्या घटित होगा और इस समय क्या घट रहा है। तीन मुख्य वस्तुएँ यथा जीव, दृश्य जगत तथा नियन्ता—ये सतत कार्यशील हैं चाहे भूत हो, वर्तमान या भविष्य और प्रत्यक्ष व्यवस्थापक इन सारे कार्यकारणों को जानता रहता है, जिस तरह कि हथेली में रखे हुए आमलक के विषय में सब कुछ ज्ञात रहता है। किसी वस्तु विशेष का असली निर्माता जानता रहता है कि उसने निर्माण-कला किस तरह सीखी, कहाँ से उसे आवश्यक सामग्री मिली, किस तरह उसे जोड़ा गया और किस तरह से निर्माण-क्रिया के फलस्वरूप वस्तुएँ बन रही हैं। चूँकि ब्रह्माजी प्रथम-जन्मा जीव हैं, अतएव उनसे अपेक्षा है कि वे सृष्टि के सारे कार्यों के विषय में जानें।

यद्विज्ञानो यदाधारो यत्परस्त्वं यदात्मकः ।
एकः सृजसि भूतानि भूतैरेवात्म-मायया ॥ ४॥

शब्दार्थ

यत्-विज्ञानः—ज्ञान का स्रोत; यत्-आधारः—जिसके संरक्षण में; यत्-परः—जिसकी अधीनता में; त्वम्—तुम; यत्-आत्मकः—किस हैसियत से; एकः—अकेले; सृजसि—सृष्टि करते हो; भूतानि—जीवों को; भूतैः—भौतिक तत्त्वों के द्वारा; एव—निश्चय ही; आत्म—स्व; मायया—शक्ति से।

हे पिता, आपके ज्ञान का स्रोत क्या है? आप किसके संरक्षण में रह रहे हैं? आप किसकी अधीनता में कार्य करते हैं? आपकी वास्तविक स्थिति क्या है? क्या आप अकेले ही सारे जीवों को अपनी निजी शक्ति के द्वारा भौतिक तत्त्वों से उत्पन्न करते हैं?

तात्पर्य : यह श्री नारद मुनि को ज्ञात था कि ब्रह्माजी ने कठिन तपस्या करके सृजन-शक्ति प्राप्त की थी। अतएव वे यह जान सके कि ब्रह्माजी से भी श्रेष्ठ कोई है, जिसने ब्रह्मा को सृजन-शक्ति से भरपूर किया है। इसीलिए उन्होंने ये सारे प्रश्न पूछे। अतएव प्रगतिशील वैज्ञानिक उपलब्धियों की खोजें स्वतन्त्र नहीं होतीं। *वैज्ञानिक* को पहले से विद्यमान वस्तु का ज्ञान अन्य किसी के द्वारा प्रदत्त अद्‌भुत मस्तिष्क द्वारा प्राप्त करना होता है। एक *वैज्ञानिक* इस प्रकार से प्रदत्त मस्तिष्क से कार्य कर सकता है, लेकिन उसके लिए अपना मस्तिष्क या इसी तरह का अन्य मस्तिष्क उत्पन्न कर पाना सम्भव नहीं है। अतएव किसी भी सृष्टि के मामले में न तो कोई स्वतन्त्र है, न ऐसी सृष्टि स्वचालित है।

आत्मन् भावयसे तानि न पराभावयन् स्वयम् ।
आत्म-शक्तिमवष्टभ्य ऊर्णनाभिरिवाक्लमः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

आत्मन् (आत्मनि)—अपने द्वारा; भावयसे—प्रकट करते हैं; तानि—वे सब; न—नहीं; पराभावयन्—पराजित होकर; स्वयम्—खुद, अपने आप; आत्म-शक्तिम्—आत्मनिर्भर शक्ति; अवष्टभ्य—नियुक्त होकर; ऊर्ण-नाभिः—मकड़ी; इव—सदृश; अक्लमः—बिना सहायता के।

जिस प्रकार मकड़ी अपने जाले को सरलता से उत्पन्न करती है और अन्यों के द्वारा पराजित हुए बिना अपनी सृजन-शक्ति प्रकट करती है, उसी प्रकार आप अपनी आत्म-निर्भर शक्ति को प्रयुक्त करके दूसरे से सहायता लिये बिना सृजन करते हैं।

तात्पर्य : आत्मनिर्भरता का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण सूर्य है। सूर्य को प्रकाशित होने के लिए किसी दूसरे तत्त्व की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रत्युत सूर्य ही समस्त प्रकाशमान वस्तुओं का सहायक बनता है, क्योंकि सूर्य के होने पर अन्य कोई प्रकाशमान वस्तु महत्त्वपूर्ण नहीं होती। नारद ने ब्रह्मा की स्थिति की तुलना उस मकड़ी की आत्म-निर्भरता से की है, जो अन्य किसी से सहायता लिये बिना अपनी लार के शक्तिशाली सृजन से अपना जाला बनाती है।

नाहं वेद परं ह्यस्मिन्नापरं न समं विभो ।
नाम-रूप-गुणैर्भाव्यं सदसत् किञ्चिदन्यतः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; वेद—जानता हूँ; परम्—श्रेष्ठ; हि—क्योंकि; अस्मिन्—इस संसार में; न—न तो; अपरम्—निकृष्ट; न—न तो; समम्—समान; विभो—हे महान्; नाम—नाम; रूप—लक्षण; गुणैः—योग्यता से; भाव्यम्—सृजित, सृष्ट; सत्—नित्य, शाश्वत; असत्—क्षण भंगुर; किञ्चित्—या अन्य इसी तरह की कोई वस्तु; अन्यतः—किसी अन्य स्त्रोत से।

हम किसी विशेष वस्तु—श्रेष्ठ, निकृष्ट या समतुल्य, नित्य या क्षणिक—इनके नामों, लक्षणों तथा गुणों से जो भी समझ पाते हैं, वह आपके अतिरिक्त अन्य किसी स्त्रोत से सृजित नहीं होती, क्योंकि आप इतने महान् हैं।

तात्पर्य : यह व्यक्त जगत ८४,००,००० योनियों में उत्पन्न विविध प्रकार के जीवों से परिपूर्ण है। इनमें से कुछ श्रेष्ठ हैं, तो कुछ निकृष्ट। मानव समाज में मनुष्य श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है और मनुष्यों में भी विभिन्न किस्में होती हैं यथा उत्तम, निकृष्ट, समान इत्यादि। लेकिन नारदमुनि ने यह मान लिया कि

उनके पिता ब्रह्मा के अतिरिक्त अन्य किसी में सृजन का स्रोत नहीं है। अतएव वे ब्रह्माजी से उनके विषय में सब कुछ जान लेना चाहते थे।

स भवानचरद् घोरं यत् तपः सुसमाहितः ।
तेन खेदयसे नस्त्वं परा-शङ्कां च यच्छसि ॥ ७॥

शब्दार्थ

सः—वह; भवान्—आपने; अचरत्—किया; घोरम्—कठिन; यत् तपः—ध्यान; सु-समाहितः—पूर्ण अनुशासन में; तेन—उस कारण से; खेदयसे—कष्ट देते हैं; नः—हमको; त्वम्—आप; परा—अन्तिम सत्य; शङ्काम्—सन्देह; च—तथा; यच्छसि—हमें अवसर प्रदान करते हैं।

फिर भी जब हम आपके द्वारा पूर्ण अनुशासन में रहते हुए सम्पन्न कठिन तपस्याओं के विषय में सोचते हैं, तो हमें आपसे भी अधिक शक्तिशाली किसी व्यक्ति के अस्तित्व के विषय में आश्चर्य-चकित रह जाना होता है, यद्यपि आप सृष्टि के मामले में इतने शक्तिशाली हैं।

तात्पर्य : श्री नारद मुनि के चरण-चिह्नों का अनुसरण करते हुए मनुष्य को चाहिए कि वह अंधे की तरह गुरु को साक्षात् ईश्वर न मान ले। गुरु का सम्मान ईश्वर के समान ही किया जाता है, लेकिन जो गुरु अपने को साक्षात् ईश्वर कहे, उसे तुरन्त त्याग देना चाहिए। नारद मुनि ने ब्रह्मा को सृष्टि करने के अद्भुत कार्य के कारण परमेश्वर मान लिया था, लेकिन जब उन्होंने देखा कि ब्रह्माजी भी किसी श्रेष्ठ पुरुष की पूजा कर रहे हैं, तो उनको सन्देह हुआ। परमेश्वर तो श्रेष्ठतम हैं ही। उनका कोई आराध्य नहीं है। *अहङ्ग्रहोपासिता* या जो साक्षात् ईश्वर बनने के उद्देश्य से अपनी पूजा करता है भ्रामक है, लेकिन बुद्धिमान शिष्य तुरन्त पहचान सकता है कि परमेश्वर को ईश्वर बनने के लिए किसी की, यहाँ तक कि अपनी भी, पूजा करने की आवश्यकता नहीं रहती। भले ही दिव्य अनुभूति के लिए *अहङ्ग्रहोपासना* एक विधि हो, लेकिन इससे वह कभी ईश्वर नहीं बन सकता। कोई भी व्यक्ति आत्म-अनुभूति की विधि से ईश्वर नहीं बनता। नारद मुनि ने ब्रह्माजी को परम पुरुष के रूप में सोचा था, किन्तु जब उन्होंने देखा कि वे दिव्य अनुभूति की विधि में लगे हैं, तो उन्हें सन्देह हुआ। अतएव वे सही-सही जानकारी चाह रहे थे।

एतन्मे पृच्छतः सर्वं सर्व-ज्ञ सकलेश्वर ।
विजानीहि यथैवेदमहं बुध्येऽनुशासितः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह सब; मे—मुझको; पृच्छतः—उत्सुक, जिज्ञासु; सर्वम्—जो कुछ पूछा जाता है; सर्व-ज्ञ—सब कुछ जाननेवाला; सकल—सम्पूर्ण; ईश्वर—नियन्ता; विजानीहि—कृपा करके बतायें; यथा—जिस तरह; एव—वे हैं; इदम्—यह; अहम्—मैं; बुध्ये—समझ सकूँ; अनुशासितः—आपसे सीखकर।

हे पिता, आप सब कुछ जाननेवाले हैं और सबों के नियन्ता हैं। अतएव मैंने आपसे जितने सारे प्रश्न किये हैं, उन्हें कृपा करके बताइये, जिससे मैं आपके शिष्य के रूप में उन्हें समझ सकूँ।

तात्पर्य : नारद मुनि द्वारा पूछे गये सारे प्रश्न सबों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अतएव उन्होंने ब्रह्माजी से प्रार्थना की कि वे इन्हें उपयुक्त समझें, जिससे ब्रह्म-सम्प्रदाय की परम्परा के अन्य सभी लोग बिना कठिनाई के उन्हें समझ सकें।

ब्रह्मोवाच

सम्यक् कारुणिकस्येदं वत्स ते विचिकित्सितम् ।
यदहं चोदितः सौम्य भगवद्वीर्य-दर्शने ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; सम्यक्—ठीक ढंग से; कारुणिकस्य—आपका, जो अत्यन्त दयालु हैं; इदम्—यह; वत्स—मेरे बच्चे; ते—तुम्हारी; विचिकित्सितम्—जिज्ञासा; यत्—जिससे; अहम्—मैं; चोदितः—प्रेरित; सौम्य—हे भद्र; भगवत्—भगवान् का; वीर्य—पराक्रम के; दर्शने—सम्बन्ध में, विषयक।

ब्रह्माजी ने कहा : हे मेरे वत्स नारद, तुमने सबों पर (मुझ सहित) करुणा करके ही ये सारे प्रश्न पूछे हैं, क्योंकि इनसे मैं भगवान् के पराक्रम को बारीकी से देखने के लिए प्रेरित हुआ हूँ।

तात्पर्य : नारद जी द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर ब्रह्माजी ने उनको बधाई दी, क्योंकि जब भी भक्तों से भगवान् के विषय में प्रश्न पूछे जाते हैं, तो वे अत्यन्त प्रफुल्लित हो उठते हैं। यह भगवान् के शुद्ध भक्त का लक्षण है। भगवान् के दिव्य कार्यकलापों से सम्बन्धित ऐसी वार्ताओं से वह वायुमण्डल शुद्ध हो जाता है, जिसमें ये वार्ताएँ होती हैं और ऐसे प्रश्नों का उत्तर देते समय भक्तगण जीवन्त हो उठते हैं। यह प्रश्नकर्ता तथा उत्तरदाता दोनों को ही शुद्ध करनेवाला है। शुद्ध भक्त भगवान् के विषय में प्रत्येक वस्तु जानकर न केवल तुष्ट होते हैं, अपितु वे इस जानकारी को अन्यों तक प्रसारित करना चाहते हैं, क्योंकि वे यह देखना चाहते हैं कि भगवान् का यश प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञात हो। अतएव जब उन्हें ऐसा

अवसर प्रदान किया जाता है, तो वे अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। धर्मोपदेश-कार्यों का यही मूल सिद्धान्त है।

नानृतं तव तच्चापि यथा मां प्रब्रवीषि भोः ।
अविज्ञाय परं मत्त एतावत्त्वं यतो हि मे ॥ १० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अनृतम्—झूठ; तव—तुम्हारा; तत्—वह; च—भी; अपि—जैसा तुमने कहा है; यथा—विषय में; माम्—मेरे; प्रब्रवीषि—जिस तरह तुम कहते हो; भोः—हे पुत्र; अविज्ञाय—बिना जाने; परम्—परम; मत्तः—मुझसे परे; एतावत्—जो कुछ कहा है; त्वम्—तुमने; यतः—के कारण से; हि—निश्चय ही; मे—मेरे विषय में।.

तुमने मेरे विषय में जो कुछ कहा है, वह असत्य नहीं है, क्योंकि जब तक कोई उन भगवान् के विषय में अवगत नहीं हो लेता, जो मुझसे परे परम सत्य रूप हैं, तब तक वह मेरे सशक्त कार्यकलापों से निश्चित रूप से मोहित होता रहेगा।

तात्पर्य : *कूपमण्डूक* तर्क यह बताता है कि कुएँ की चहारदीवारी तथा वातावरण के भीतर रहनेवाला मेढ़क (मण्डूक) विशाल सागर की लम्बाई-चौड़ाई का अनुमान नहीं लगा सकता। ऐसे मेढ़क को यदि विशाल सागर की लम्बाई-चौड़ाई बताई जाय तो पहले तो वह विश्वास नहीं करेगा कि ऐसा समुद्र हो सकता है और यदि कोई उसे आश्वस्त कर भी दे कि समुद्र सचमुच ऐसा ही होता है, तो वह मेढ़क अपने पेट को फुला कर कल्पना से उसे मापने का प्रयास करता है, जिससे उसका छोटा सा पेट फट जाता है और वह बेचारा वास्तविक समुद्र का अनुभव किये बिना ही मर जाता है। इसी प्रकार भौतिक विज्ञानी भी भगवान् की अचिन्त्य शक्ति को अपने मेढ़क सरीखे मस्तिष्क से तथा अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों के द्वारा, मापकर चुनौती देना चाहते हैं, किन्तु अन्त में वे विफल हो कर मेढ़क की मौत मरते हैं।

कभी-कभी भौतिक दृष्टि से शक्तिशाली व्यक्ति को ईश्वर या ईश्वर का अवतार मान लिया जाता है, यद्यपि उसे वास्तविक ईश्वर का कोई ज्ञान नहीं रहता। ऐसे भौतिक मूल्यांकन को धीरे-धीरे बढ़ाकर ब्रह्माजी की सर्वोत्तम सीमा तक पहुँचा जा सकता है, जो इस ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च जीव हैं और जिनकी आयु भौतिक वैज्ञानिकों के लिए अकल्पनीय है। जैसाकि हमें *भगवद्गीता* नामक सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रंथ (८.१७) से विदित होता है, ब्रह्मा का एक दिन और रात मिलकर हमारे लोक के लाखों वर्षों के

तुल्य होते हैं। इस दीर्घ आयु पर 'कूप-मण्डूक' भले ही विश्वास न करे, किन्तु जिन व्यक्तियों को *भगवद्गीता* में वर्णित सत्यों की अनुभूति है, वे ऐसे महापुरुष के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, जो पूर्ण ब्रह्माण्ड की विविधता का सृजन करता है। शास्त्रों से यह भी प्रकट होता है कि इस ब्रह्माण्ड के ब्रह्माजी इस ब्रह्माण्ड से परे अनेक अन्यान्य ब्रह्माण्डों के ब्रह्माओं से अपेक्षतया छोटे हैं, लेकिन इनमें से कोई भी भगवान् के समकक्ष नहीं है।

नारद जी मुक्तात्मा हैं। मुक्ति मिलने के बाद ही वे नारद कहलाये अन्यथा इसके पूर्व वे दासी-पुत्र थे। यहाँ प्रश्न पूछा जा सकता है कि नारद को परमेश्वर का ज्ञान क्यों न था और उन्होंने ब्रह्माजी को परमेश्वर क्यों मान लिया था? जबकि वास्तविकता ऐसी न थी? मुक्तात्मा कभी ऐसे भ्रमात्मक विचार से मोहित नहीं होता, तो फिर नारद एक सामान्य व्यक्ति की भाँति इस तरह के प्रश्न क्यों पूछ रहे थे? ऐसा ही मोह अर्जुन को भी हुआ था, यद्यपि वे भगवान् के नित्य सखा थे। अर्जुन या नारद जैसा मोह भगवान् की इच्छा से ही उत्पन्न होता है, जिससे अन्य अमुक्त (बद्ध) व्यक्ति भी भगवान् के असली सत्य तथा ज्ञान की अनुभूति प्राप्त कर सकें। नारद के मन में ब्रह्माजी के सर्वशक्तिमान होने का जो सन्देह उठा, वह कूप-मण्डूकों के लिए अच्छा पाठ है कि वे भगवान् की गलत पहचान करके मोहित न हो जाँय (यहाँ तक की ब्रह्माजी जैसे पुरुष से तुलना करके; उनकी तो कोई बात ही नहीं, जो क्षुद्र मानव अपने को ईश्वर या ईश्वर-अवतार कहते हैं)। परमेश्वर सदैव सर्वश्रेष्ठ रहता है और जैसाकि हमने अपने तात्पर्यों में कई बार प्रतिपादित किया है, कोई भी जीव, यहाँ तक कि ब्रह्मा भी, स्वयं के भगवान् होने का दावा नहीं कर सकता। जब लोग किसी महापुरुष की मृत्यु के बाद, वीर-पूजा के रूप में उसको ईश्वर की भाँति पूजने लगें तो इससे किसी को दिग्भ्रमित नहीं होना चाहिए। अयोध्या के राजा रामचन्द्र जी जैसे अनेक राजा हुए हैं, किन्तु शास्त्रों में कहीं भी ऐसे राजाओं का उल्लेख ईश्वर के रूप में नहीं हुआ है। भगवान् राम होने के लिए आवश्यक योग्यता एक अच्छा राजा होना नहीं, अपितु भगवान् होने के लिए कृष्ण-जैसा महान् पुरुष होना आवश्यक है। यदि हम कुरुक्षेत्र-युद्ध में भाग लेनेवाले पात्रों के बारे में अध्ययन करें, तो हम देखेंगे कि महाराज युधिष्ठिर भगवान् रामचन्द्र से कम पवित्र राजा न थे और पात्रों अध्ययन से महाराज युधिष्ठिर कृष्ण से अच्छे नैतिकतावादी थे। भगवान्

कृष्ण ने महाराज युधिष्ठिर से झूठ बोलने के लिए कहा, किन्तु महाराज युधिष्ठिर ने इसका प्रतिरोध किया। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि महाराज युधिष्ठिर भगवान् रामचन्द्र या भगवान् कृष्ण के तुल्य थे। महापुरुषों ने महाराज युधिष्ठिर को पुण्यात्मा कहा है, किन्तु उन्होंने राम या कृष्ण को भगवान् के रूप में स्वीकार किया है। अतएव भगवान् सभी परिस्थितियों में भिन्न सत्ता होते हैं और उसके विषय में कोई अवतारवाद लागू नहीं होता। भगवान् सदैव भगवान् रहते हैं और सामान्य प्राणी कभी भी उनकी समता नहीं कर सकता।

येन स्व-रोचिषा विश्वं रोचितं रोचयाम्यहम् ।
यथार्कोऽग्निर्यथा सोमो यथर्क्ष-ग्रह-तारकाः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

येन—जिसके द्वारा; स्व-रोचिषा—अपने तेज से; विश्वम्—सारा जगत; रोचितम्—पहले से रचा हुआ; रोचयामि—प्रकट करता हूँ; अहम्—मैं; यथा—जिस तरह; अर्कः—सूर्य; अग्निः—अग्नि; यथा—जिस तरह; सोमः—चन्द्रमा; यथा—जिस तरह; ऋक्ष—आकाश; ग्रह—प्रभावशाली लोक; तारकाः—तारे।

भगवान् द्वारा अपने निजी तेज (ब्रह्मज्योति) से की गई सृष्टि के बाद मैं उसी तरह सृजन करता हूँ जिस तरह कि सूर्य द्वारा अग्नि प्रकट होने के बाद चन्द्रमा, आकाश, प्रभावशाली ग्रह तथा टिमटिमाते तारे भी अपनी चमक प्रकट करते हैं।

तात्पर्य : ब्रह्माजी ने नारद से यह कहा कि उनका अनुमान कि ब्रह्मा सृष्टि में परम प्रमाण नहीं है, ठीक ही था। कभी-कभी अल्पज्ञानी पुरुषों की ऐसी धारणा बनती है कि ब्रह्मा ही सभी कारणों के कारण हैं। लेकिन नारद इस बात को ब्रह्माण्ड के परम प्रमाण ब्रह्माजी के कथनों से स्पष्ट कर लेना चाहते थे। जिस प्रकार राज्य के सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय अन्तिम होता है, उसी तरह ब्रह्माजी का निर्णय ज्ञान प्राप्त करने की वैदिक विधि के अनुसार अन्तिम था। जैसाकि हम पिछले श्लोक में पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं, नारद जी मुक्तात्मा थे। अतएव वे कोई ऐसे अल्पज्ञ व्यक्ति न थे, जो झूठे देवता या देवताओं को मनमाने ढंग से स्वीकार कर लेते। वे अपने को अल्पज्ञ के रूप में प्रस्तुत कर रहे थे, किन्तु बुद्धिमानी के साथ संदेह को समक्ष रख रहे थे जिसका स्पष्टीकरण परम प्रमाण द्वारा हो जिससे अज्ञानी लोग इसको समझ सकें और सृष्टि तथा स्रष्टा की जटिलताओं के विषय में सही-सही जानकारी प्राप्त कर लें।

इस श्लोक में ब्रह्माजी अल्पज्ञों की गलत धारणा को स्पष्ट कर देते हैं और पुष्टि करते हैं कि वे विश्व की विविधता का सृजन भगवान् श्रीकृष्ण के प्रकाशमान तेज द्वारा उत्पन्न सृष्टि के बाद करते हैं। ब्रह्माजी ने अलग से भी यही बात *ब्रह्म संहिता* (५.४०) में इस प्रकार कही है—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-

कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्।

तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की सेवा करता हूँ, जिनका दिव्य शारीरिक तेज जो ब्रह्मज्योति के नाम से प्रसिद्ध है, जो असीम, अगाध तथा सर्वव्यापी हैं और जो उन असंख्य लोकों आदि की सृष्टि के कारण हैं, जिनमें नाना प्रकार की जलवायु तथा जीवन की दशाएँ हैं।''

यही वक्तव्य *भगवद्गीता* (१४.२७) में पाया जाता है। भगवान् कृष्ण ही ब्रह्मज्योति के आधार हैं (*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*)। *निरुक्ति* अर्थात् वैदिक कोश में प्रतिष्ठा का उल्लेख 'जो स्थापित करता है' के रूप में हुआ है। इस तरह ब्रह्मज्योति स्वतन्त्र या आत्म-निर्भर नहीं है। भगवान् कृष्ण ही अन्ततोगत्वा ब्रह्मज्योति के स्रष्टा हैं, जिसे इस श्लोक में स्व-रोचिषा या भगवान् के दिव्य शरीर का तेज कहा गया है। यह ब्रह्मज्योति सर्वव्यापी है और इसकी निहित शक्ति से सारी सृष्टि सम्भव होती है। अतएव वैदिक स्तोत्र घोषित करते हैं कि जितनी वस्तुओं का अस्तित्व है, वे ब्रह्मज्योति द्वारा धारित हैं (*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*)। इस प्रकार सारी सृष्टि का बीज ब्रह्मज्योति है और यही असीम तथा अगाध ब्रह्मज्योति भगवान् द्वारा स्थापित की जाती है। अतएव भगवान् (श्रीकृष्ण) ही सारी सृष्टि के परम कारण हैं (*अहं सर्वस्य प्रभवः*)।

हमें यह अपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि भगवान् लुहार की तरह हथौड़े तथा अन्य औजारों से सृजन करते होंगे। वे तो अपनी शक्तियों से सृजन-कार्य करते हैं। उनकी बहुगुणित शक्तियाँ हैं (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*)। जिस प्रकार एक छोटे से वट-बीज में विशाल वट-वृक्ष उत्पन्न करने की क्षमता रहती है, उसी प्रकार भगवान् अपनी ब्रह्मज्योति (स्व-रोचिषा) से सभी प्रकार के बीजों को फैलाते हैं

और ये बीज ब्रह्मा जैसे व्यक्तियों द्वारा सींचे जाने पर विकसित होते हैं। ब्रह्मा बीजों को उत्पन्न नहीं कर सकते, किन्तु वे बीज को वृक्ष के रूप में दिखला सकते हैं जिस प्रकार माली जल से सींच-सींच कर पौधों को तथा अमराइयों को बड़ा बनाता है। यहाँ पर दिया गया सूर्य का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। भौतिक जगत में सूर्य ही समस्त प्रकाश का यथा अग्नि, बिजली, चन्द्रमा की किरणों का कारण है। आकाश के सारे ज्योतिष्क सूर्य की सृष्टियाँ हैं, सूर्य ब्रह्मज्योति की सृष्टि है और ब्रह्मज्योति भगवान् का तेज है। इस प्रकार सृष्टि के अनन्तिम कारण भगवान् हैं।

तस्मै नमो भगवते वासुदेवाय धीमहि ।
यन्मायया दुर्जयया मां वदन्ति जगद्गुरुम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तस्मै—उस; **नमः**—नमस्कार करता हूँ; **भगवते**—भगवान् को; **वासुदेवाय**—भगवान् कृष्ण को; **धीमहि**—उनका ध्यान करता हूँ; **यत्**—जिस; **मायया**—शक्ति के द्वारा; **दुर्जयया**—दुर्जय; **माम्**—मुझको; **वदन्ति**—कहते हैं; **जगत्**—जगत; **गुरुम्**—स्वामी।.

मैं उन भगवान् कृष्ण (वासुदेव) को नमस्कार करता हूँ तथा उनका ध्यान करता हूँ, जिनकी दुर्जय शक्ति उन्हें (अल्पज्ञ मनुष्यों को) इस तरह प्रभावित करती है कि वे मुझे ही परम नियन्ता कहते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि अगले श्लोक में अधिक स्पष्ट रूप से बतलाया जायेगा, अल्पज्ञ को भगवान् की शक्ति इस तरह मोहित करती है कि वह ब्रह्माजी को या अन्य किसी व्यक्ति को परमेश्वर मान बैठता है। किन्तु ब्रह्माजी को ऐसा कहलाना पसन्द नहीं है। वे भगवान् वासुदेव या श्रीकृष्ण को उसी तरह सादर नमस्कार करते हैं जिस तरह उन्होंने *ब्रह्म-संहिता* (५.१) में उनका अभिवादन किया है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।

अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणं॥

"परमेश्वर तो भगवान् श्रीकृष्ण हैं, जो अपने दिव्य शरीर से आदि भगवान् हैं और समस्त कारणों के परम कारण हैं। मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ।"

ब्रह्माजी अपनी असली स्थिति से अवगत हैं और वे जानते हैं कि किस तरह अल्पज्ञानी व्यक्ति

भगवान् की भ्रामक शक्ति द्वारा मोहित होकर हर एक को ईश्वर मान लेते हैं। ब्रह्माजी जैसे उत्तरदायी पुरुष अपने शिष्यों या आश्रितों से परमेश्वर कहलाना पसन्द नहीं करते, लेकिन मूर्ख व्यक्ति कुत्तों, शूकरों, ऊँटों तथा घोड़ों जैसे पुरुषों से प्रशंसित होने एवं परमेश्वर के रूप में सम्बोधित किये जाने पर अत्यन्त प्रफुल्लित होते हैं। ऐसे लोग ईश्वर कहलाने या मूर्ख प्रशंसकों द्वारा ईश्वर कहकर पुकारे जाने पर क्यों पुलकित होते हैं इसकी व्याख्या अगले श्लोक में दी गई है।

विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षा-पथेऽमुया ।
विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

विलज्जमानया—लज्जित व्यक्ति द्वारा; **यस्य**—जिसका; **स्थातुम्**—ठहरने के लिए; **ईक्षा-पथे**—समक्ष; **अमुया**—भ्रामिका शक्ति द्वारा; **विमोहिताः**—जो मोहित हैं; **विकत्थन्ते**—प्रलाप करते हैं; **मम**—यह मेरा है; **अहम्**—मैं ही सब कुछ हूँ; **इति**—इस तरह भला-बुरा कहकर; **दुर्धियः**—इस प्रकार बुरा सोचा गया।

भगवान् की भ्रामिका शक्ति (माया) अपनी स्थिति से लज्जित होने के कारण सामने ठहर नहीं पाती, लेकिन जो लोग इसके द्वारा मोहित होते हैं, वे ''यह मैं हूँ'' और ''यह मेरा है'' के विचारों में लीन रहने के कारण व्यर्थ की बातें करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् की दुर्जेय शक्तिशाली छलिनी शक्ति या तीसरी शक्ति, जो अज्ञान का प्रतिनिधित्व करती है, सम्पूर्ण जगत को मोहित कर सकती है, तो भी वह इतनी प्रबल नहीं होती कि परमेश्वर के समक्ष ठहर सके। अविद्या तो भगवान् के पीछे रहकर वहीं से जीवों को गुमराह करती है। मोहग्रस्त जीव का मुख्य लक्षण है कि वह व्यर्थ की बकवास करता है। यह वैदिक साहित्य के सिद्धान्तों से समर्थित नहीं रहती और सबसे अधिक निकृष्ट बकवास है—''यह मैं हूँ, यह मेरा है।'' ईशविहीन सभ्यता ऐसे झूठे विचारों पर ही चलती है और ऐसे व्यक्ति ईश्वर की वास्तविक अनुभूति के बिना ही मिथ्या ईश्वर को मानते हैं या उन लोगों को, जो पहले से ठगिनी शक्ति द्वारा मोहग्रस्त होते हैं, गुमराह करने के लिए अपने को ही ईश्वर घोषित कर देते हैं। किन्तु जो भगवान् के समक्ष रहते हैं तथा जो उनकी शरण ग्रहण किये रहते हैं, वे ठगिनी शक्ति द्वारा प्रभावित नहीं होते। अतएव वे इस भ्रान्त धारणा से कि, ''यह मैं हूँ, यह मेरा है'' मुक्त रहते हैं। इस तरह वे न तो मिथ्या ईश्वर को स्वीकार करते हैं, न अपने को परमेश्वर के तुल्य कहते हैं। इस श्लोक में मोहग्रस्त व्यक्ति की पहचान स्पष्ट रुप से की गई

है।

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च ।
वासुदेवात्परो ब्रह्मन्न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः ॥ १४॥

शब्दार्थ

द्रव्यम्—अवयव (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश); कर्म—अन्योन्य क्रियाएँ; च—तथा; कालः—शाश्वत काल; च—भी; स्व-भावः—स्वभाव; जीवः—जीव; एव—निश्चय ही; च—तथा; वासुदेवात्—वासुदेव से; परः—भिन्न अंश; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; न—कभी नहीं; च—भी; अन्यः—पृथक्; अर्थः—महत्त्व; अस्ति—है; तत्त्वतः—वास्तव में।

सृष्टि के पाँच मूल अवयव शाश्वत काल द्वारा उनसे उत्पन्न अन्योन्य क्रिया तथा जीव का स्वभाव—ये सब भगवान् वासुदेव के भिन्नांश हैं और सच बात तो यह है कि उनका कोई अन्य महत्व नहीं है।

तात्पर्य : यह व्यवहार-जगत निर्विशेषतया वासुदेव की अभिव्यक्ति है, क्योंकि इसके सृजनकारी अवयव, उनकी अन्योन्य क्रिया तथा फल का भोक्ता जीव—ये सभी भगवान् कृष्ण की बहिरंगा तथा अन्तरंगा शक्तियों द्वारा उत्पन्न हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.४-५) में हुई है। सारे अवयव यथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश एवं इन्हीं के साथ भौतिक पहचान की अवधारणा, बुद्धि तथा मन भगवान् की बहिरंगा शक्ति से उत्पन्न हैं। शाश्वत काल द्वारा निर्धारित इन स्थूल तथा सूक्ष्म अवयवों का भोग करनेवाला जीव अन्तरंगा शक्ति की उपज है, जिसे इस जगत में या वैकुण्ठ लोक में रहने की छूट है। भौतिक जगत में जीव ठगिनी अविद्या से छला जाता है, किन्तु वैकुण्ठ लोक में वह किसी भ्रम के बिना सामान्य अवस्था में रहता है। जीव को भगवान् की तटस्था शक्ति कहा जाता है, लेकिन सभी परिस्थितियों में न तो भौतिक अवयव और न आध्यात्मिक भिन्नांश ही भगवान् वासुदेव से स्वतन्त्र हैं, क्योंकि सारी वस्तुएँ, चाहे वे भगवान् की बहिरंगा, अन्तरंगा या तटस्था शक्तियों के प्रतिफल हों, उसी तरह भगवान् के तेज के प्रदर्शन हैं जिस प्रकार प्रकाश, उष्मा तथा धुआँ एक ही अग्नि के प्रदर्शन हैं। इनमें से कोई अग्नि से भिन्न नहीं—सभी मिलकर अग्नि कहलाते हैं। इसी प्रकार सारी व्यावहारिक अभिव्यक्तियाँ तथा वासुदेव के शरीर का तेज उनके निर्विशेष गुण हैं, जबकि भगवान् उपर्युक्त भौतिक अवयवों की अवधारणाओं से सर्वथा पृथक् *सच्चिदानन्द विग्रह* नामक अपने दिव्य रूप में रहते हैं।

नारायण-परा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः ।
नारायण-परा लोका नारायण-परा मखाः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

नारायण—परमेश्वर; पराः—कारण-स्वरूप तथा उसी के निमित्त; वेदाः—ज्ञान; देवाः—देवता; नारायण—परमेश्वर के; अङ्ग-जाः—सहायक; नारायण—भगवान्; पराः—के लिए; लोकाः—सारे लोक; नारायण—परमेश्वर; पराः—उन्हें प्रसन्न करने के लिए; मखाः—सारे यज्ञ।

सारे वैदिक ग्रंथ परमेश्वर से ही बने हैं और उन्हीं के निमित्त हैं। देवता भी भगवान् के शरीर के अंगों के रूप में उन्हीं की सेवा के लिए हैं। विभिन्न लोक भी भगवान् के निमित्त हैं और विभिन्न यज्ञ उन्हीं को प्रसन्न करने के लिए सम्पन्न किये जाते हैं।

तात्पर्य : *वेदान्त सूत्र* (*शास्त्रयोनित्वात्*) के अनुसार परमेश्वर समस्त शास्त्रों के रचयिता हैं और सारे शास्त्र इन्हीं परमेश्वर को जानने के लिए हैं। वेद का अर्थ है भगवान्-विषयक ज्ञान। वेदों की रचना बद्धजीव की विस्मृत चेतना को जागृत करने के लिए हुई और ऐसा साहित्य जो ईश-चेतना को जागृत करनेवाला नहीं होता, वह *नारायणपर* भक्तों द्वारा त्याज्य है। जिन ग्रंथों का लक्ष्य नारायण नहीं होता, ऐसे भ्रामक ग्रंथ ज्ञान नहीं हैं अपितु उन कौवों के क्रीड़ास्थल हैं, जो विश्व भर का जूठन खाने में रुचि रखते हैं। ज्ञान (विज्ञान या कला) के किसी भी ग्रंथ से नारायण का ज्ञान होना चाहिए, अन्यथा वह त्यागने योग्य है। ज्ञान की प्रगति का यही साधन है। परम पूज्य विग्रह नारायण हैं। पूजन के लिए देवताओं को नारायण से गौण स्थान प्रदान किया जाता है, क्योंकि देवता तो विश्व के कार्यों की व्यवस्था में सहायक होते हैं। जिस तरह किसी राज्य के अधिकारियों का आदर इसीलिए होता है क्योंकि राजा से उनका सम्बन्ध होता है, उसी तरह देवताओं की पूजा भगवान् के साथ उनके सम्बन्ध के कारण होती है। भगवान् से सम्बन्ध न होने पर देवाताओं की पूजा अनुचित है (*अविधिपूर्वकम्*), ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि जड़ को न सींच कर वृक्ष की पत्तियों तथा टहनियों को सींचना। अतएव सारे देवता भी नारायण पर आश्रित रहते हैं। विभिन्न लोक इसलिए आकर्षक लगते हैं, क्योंकि उनमें तरह-तरह का जीवन है तथा आनन्द है, जो *सच्चिदानन्द विग्रह* की आंशिक अभिव्यक्ति है। प्रत्येक व्यक्ति शाश्वत आनन्द तथा ज्ञानमय जीवन चाहता है। भौतिक जगत में ऐसा आनन्द तथा ज्ञानमय शाश्वत जीवन उच्चतर लोकों में ही सम्भव है, लेकिन वहाँ तक पहुँचने पर वह भगवद्धाम जाने के लिये उन्मुख हो सकता है। जीवन की अवधि (आयु) भी आनन्द तथा ज्ञान की मात्रा के अनुपात में, एक

लोक से दूसरे लोक में, अधिक हो सकती है। विभिन्न लोकों में जीव की आयु हजारों-लाखों साल तक बढ़ सकती है, किन्तु कहीं भी शाश्वत जीवन नहीं है। किन्तु जो व्यक्ति सर्वोच्च लोक अर्थात् ब्रह्मलोक तक पहुँच जाता है, वह वैकुण्ठ लोक जाने की कामना कर सकता है, जहाँ जीवन शाश्वत है। अतएव एक लोक से दूसरे लोक की यात्रा का अन्त भगवान् के परम लोक (*मद्धाम*) पहुँचने पर हो जाता है, जहाँ जीवन शाश्वत है और ज्ञान तथा आनन्द से पूर्ण है। जितने सारे यज्ञ किये जाते हैं, वे भगवान् नारायण को प्रसन्न करके उन तक पहुँचने के लिए होते हैं और इस कलियुग के लिए जिस सर्वश्रेष्ठ यज्ञ की संस्तुति की जाती है, वह *संकीर्तन यज्ञ* है, जो नारायण-पर भक्त की भक्तिमय सेवा का मूलाधार है।

नारायण-परो योगो नारायण-परं तपः ।
नारायण-परं ज्ञानं नारायण-परा गतिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

नारायण-परः—**नारायण को जानने के लिए**; **योगः**—**मन की एकाग्रता**; **नारायण-परम्**—**नारायण को प्राप्त करने के उद्देश्य से**; **तपः**—**तपस्या**; **नारायण-परम्**—**नारायण की झलक पाने के लिए**; **ज्ञानम्**—**दिव्य ज्ञान की संस्कृति**; **नारायण-परा**—**नारायण के धाम में प्रवेश करते ही मोक्ष का पथ समाप्त हो जाता है**; **गतिः**—**उत्तरोत्तर पथ**।.

सभी प्रकार के ध्यान या योग नारायण की अनुभूति प्राप्त करने के लिए हैं। सारी तपस्याओं का लक्ष्य नारायण को प्राप्त करने के निमित्त है। दिव्य ज्ञान का संवर्धन नारायण की झलक प्राप्त करने के लिए है और चरम मोक्ष तो नारायण के धाम में प्रवेश करने के लिए ही है।

तात्पर्य : ध्यान योग की दो पद्धतियाँ है—*अष्टांग योग* तथा *सांख्य योग*। *अष्टांग योग* मन को एकाग्र करने का अभ्यास है, जिसमें ध्यान, धारण, आसन, प्राणायाम आदि की विधियों से अपने को समस्त व्यस्तताओं से मुक्त कर लिया जाता है। *सांख्य योग* क्षणिक और सत्य का अन्तर बताने वाला है। लेकिन दोनों ही पद्धतियाँ अन्ततोगत्वा निर्विशेष ब्रह्म की अनुभूति के लिए हैं, जो भगवान् नारायण की आंशिक अभिव्यक्ति है। जैसाकि हम पहले कह चुके हैं निर्विशेष ब्रह्मतेज भगवान् का अंशमात्र है। निर्विशेष ब्रह्म साक्षात् भगवान् पर स्थित है, फलस्वरूप ब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् का महिमा-गायन है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* तथा *मत्स्यपुराण* दोनों से होती है। गति शब्द चरम गन्तव्य या मोक्ष की अन्तिम स्थिति का सूचक है। निर्विशेष *ब्रह्मज्योति* से तादात्म्य चरम मोक्ष नहीं है। इससे तो श्रेष्ठ है अनन्त

वैकुण्ठ लोकों में से किसी एक में भगवान् की भव्य संगति। अतएव निष्कर्ष निकलता है कि नारायण या भगवान् सभी प्रकार की योग-पद्धतियों तथा सभी प्रकार के मोक्ष के चरम लक्ष्य हैं।

तस्यापि द्रष्टुरीशस्य कूट-स्थस्याखिलात्मनः ।
सृज्यं सृजामि सृष्टोऽहमीक्षयैवाभिचोदितः ॥ १७॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; अपि—निश्चय ही; द्रष्टुः—देखनेवाले का; ईशस्य—नियन्ता का; कूट-स्थस्य—जो सबों की बुद्धि के ऊपर है, उसका; अखिल-आत्मनः—परमात्मा का; सृज्यम्—पहले से सृष्ट; सृजामि—मैं खोजता हूँ; सृष्टः—सृजित; अहम्—मैं; ईक्षया—झलक मात्र से; एव—सही-सही; अभिचोदितः—उससे प्रेरित होकर।

उनके ही द्वारा प्रेरित होकर मैं भगवान् नारायण द्वारा सर्वव्यापी परमात्मा के रूप में उनकी ही दृष्टि के सामने पहले जो सृजित हो चुका है, उसी की फिर खोज करता हूँ और मैं भी केवल उन्हीं के द्वारा सृजित हूँ।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्माजी भी स्वीकार करते हैं कि वे असली स्रष्टा नहीं, अपितु भगवान् नारायण द्वारा प्रेरणा-प्राप्त हैं। अतएव उन्हीं की अध्यक्षता में वे समस्त जीवों के परमात्मास्वरूप उन्हीं के द्वारा पहले से निर्मित वस्तुओं का सृजन करते हैं। परमात्मा तथा आत्मा, इन दो को ब्रह्माण्ड के बड़े-बड़े महापुरुषों तक ने जीव में निहित माना है। परमात्मा तो भगवान् है, जबकि आत्मा भगवान् का नित्य सेवक है। भगवान् आत्मा (जीव) को प्रेरित करते हैं कि उन्होंने जो कुछ पहले सृष्टि की है, वह उसका सृजन करे और भगवत्कृपा से इस संसार में जो कोई किसी भी वस्तु की खोज करता है, वह उसका खोजी मान लिया जाता है। कहा जाता है कि कोलम्बस ने पश्चिमी गोलार्द्ध की खोज की, लेकिन वास्तविकता यह है कि उस भूभाग का सृजन कोलम्बस ने नहीं किया। यह विशाल भूखण्ड परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता के कारण पहले से वहाँ था और कोलम्बस को भगवान् की विगत सेवा के बल पर अमरीका की खोज करने का श्रेय प्राप्त हुआ। इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति भगवान् की इच्छा के विरुद्ध कुछ भी सृजन नहीं कर सकता, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार ही देखता है। यह क्षमता भी मनुष्य द्वारा भगवान् की सेवा करने की रजामन्दी के अनुसार भगवान् द्वारा प्रदान की जाती है। अतएव मनुष्य को स्वेच्छा से भगवान् की सेवा करने के लिए इच्छुक होना चाहिए। इस तरह भगवान् कर्ता को उसी अनुपात में शक्ति प्रदान करते हैं, जिस अनुपात में वह भगवान् के चरणकमलों

में आत्मसमर्पण करता है। ब्रह्माजी भगवान् के महान् भक्त हैं, अतएव भगवान् ने उन्हें शक्ति दी, या यों कहें कि यह प्रेरणा दी कि हमारे समक्ष जैसा विश्व है, वे वैसे ही विश्व की सृष्टि करें। भगवान् ने इसी तरह अर्जुन को कुरुक्षेत्र में युद्ध करने के लिए प्रेरित किया था (*भगवद्गीता* ११.३३)।

तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व

जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।

मयैवैते निहताः पूर्वमेव

निमित्तमात्रम् भव सव्यसाचिन्॥

चाहे कुरुक्षेत्र का युद्ध हो या किसी अन्य स्थान अथवा अन्य समय में लड़ा गया कोई युद्ध हो, वह भगवान् की इच्छा से लड़ा जाता है, क्योंकि भगवान् की मर्जी के बिना कोई इतना बड़ा जन-संहार नहीं कर सकता। दुर्योधन के दल ने कृष्ण की परम भक्त द्रौपदी का अपमान किया और द्रौपदी ने भगवान् से तथा वहाँ पर उपस्थित सारे मूक दर्शकों से इस अनुचित अपमान से बचने के लिए याचना की। तब अर्जुन को भगवान् ने सलाह दी कि वह लड़कर बदला ले अन्यथा दुर्योधन का दल भगवान् की इच्छा से किसी न किसी प्रकार मारा जायेगा। इस तरह अर्जुन को निमित्तमात्र बनने तथा भीष्म एवं कर्ण जैसे महान् सेनापतियों का बध करने का श्रेय लेने के लिए कहा गया।

कठोपनिषद् जैसे वैदिक ग्रंथ में भगवान् को सर्वभूत अन्तरात्मा के रूप में वर्णित किया गया है अर्थात् वे प्रत्येक शरीर के भीतर निवास करनेवाले तथा उनकी शरण में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को निर्देश देनेवाले हैं। जो शरणागत नहीं हैं उन्हें प्रकृति के संरक्षण में रखा जाता है (*भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया*)। इस तरह उन्हें अपने ढंग से कार्य करने दिया जाता है और स्वयं दुष्परिणाम भोगने दिया जाता है। ब्रह्मा तथा अर्जुन जैसे भक्त अपनी ओर से कुछ भी नहीं करते, अपितु पूर्ण शरणागत होने के कारण भगवान् के संकेतों की प्रतीक्षा करते रहते हैं। अतएव वे कुछ ऐसा करने का प्रयास करते हैं, जो सामान्य दृष्टि में अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। भगवान् का एक नाम उरुक्रम है, जिसका अर्थ है, वह जिसके कार्य अत्यन्त अद्भुत और जीव की कल्पना से परे होते हैं; अतएव भगवान् के भक्तों के कार्य कभी-कभी अत्यन्त अद्भुत प्रतीत होते हैं, क्योंकि उनमें भगवान् का

निर्देशन रहता है। ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च बुद्धिमान जीव ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक सारे जीवों की बुद्धि भगवान् द्वारा सारे कार्यों के साक्षी रूप में देखी जाती है। भगवान् की सूक्ष्म उपस्थिति का अनुभव उस बुद्धिमान व्यक्ति को होता है, जो सोचने, अनुभव करने तथा चाहने के मनोवैज्ञानिक प्रभावों का अध्ययन कर सकता है।

सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः ।
स्थिति-सर्ग-निरोधेषु गृहीता मायया विभोः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सतोगुण; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; इति—ये सब; निर्गुणस्य—ब्रह्म के; गुणाः त्रयः—तीन गुण हैं; स्थिति—पालन; सर्ग—उत्पत्ति; निरोधेषु—संहार में; गृहीताः—स्वीकृत; मायया—बहिरंगा शक्ति के द्वारा; विभोः—परमेश्वर की।

परमेश्वर अपने शुद्ध आध्यात्मिक रूप में सारे भौतिक गुणों से परे होते हैं, फिर भी भौतिक जगत की सृष्टि, उसके पालन तथा संहार के लिए वे अपनी बहिरंगा शक्ति के माध्यम से प्रकृति के गुणों को—सतो, रजो तथा तमो गुणों को—स्वीकार करते हैं।

तात्पर्य : परमेश्वर उस बहिरंगा शक्ति के स्वामी हैं, जो सतो, रजो तथा तमो—इन तीन गुणों द्वारा व्यक्त होती है और इस शक्ति के स्वामी होने के कारण वे कभी भी इस मोहक शक्ति से प्रभावित नहीं होते। किन्तु जीव ऐसे गुणों से या तो प्रभावित रहते हैं या उनके प्रभावित होने की सम्भावना बनी रहती है—भगवान् तथा जीव में यही प्रमुख अन्तर है। यद्यपि जीव मूलतः गुणात्मक दृष्टि से भगवान् से एक हैं, किन्तु जीव इन गुणों द्वारा प्रभावित होते रहते हैं। दूसरे शब्दों में, ये भौतिक गुण भगवान् की बहिरंगा शक्ति से उत्पन्न होने के कारण निश्चय ही भगवान् से सम्बन्धित होते हैं, लेकिन यह सम्बन्ध स्वामी तथा दास जैसा होता है। परमेश्वर भौतिक शक्ति के नियामक हैं, किन्तु सारे जीव भौतिक जगत में फँसे होने के कारण न तो स्वामी हैं, न नियामक प्रत्युत वे ऐसी शक्ति द्वारा नियन्त्रित होते हैं या उसके अधीन हो जाते हैं। वास्तव में, भगवान् अपनी अन्तरंगा या आध्यात्मिक शक्ति से उसी प्रकार नित्य प्रकट रहते हैं, जिस तरह स्वच्छ आकाश में सूर्य तथा उसकी किरणें प्रकट होती हैं। लेकिन कभी-कभी वे भौतिक शक्ति उत्पन्न करते हैं, जिस तरह सूर्य निर्मल आकाश में बादल उत्पन्न कर देता है। जिस प्रकार सूर्य बादल के टुकड़े से अप्रभावित रहता है, उसी प्रकार अनन्त भगवान् भौतिक शक्ति

के धब्बे से जो कभी-कभी भगवान् की ब्रह्मज्योति की किरणों के असीम विस्तार में प्रकट हो जाता है, अप्रभावित रहते हैं।

कार्य-कारण-कर्तृत्वे द्रव्य-ज्ञान-क्रियाश्रयाः ।
बध्नन्ति नित्यदा मुक्तं मायिनं पुरुषं गुणाः ॥ १९॥

शब्दार्थ

कार्य—प्रभाव, फल; कारण—कारण; कर्तृत्वे—कार्यों में; द्रव्य—पदार्थ; ज्ञान—ज्ञान; क्रिया-आश्रयाः—ऐसे लक्षणों से प्रकट; बध्नन्ति—बद्ध करते हैं; नित्यदा—नित्य; मुक्तम्—दिव्य; मायिनम्—भौतिक शक्ति से प्रभावित; पुरुषम्—जीव को; गुणाः—भौतिक गुण।

भौतिक प्रकृति के ये तीनों गुण आगे चलकर पदार्थ, ज्ञान तथा क्रियाओं के रूप में प्रकट होकर दिव्य जीव को कार्य-कारण के प्रतिबन्धों के अन्तर्गत डाल देते हैं और ऐसे कार्यों के लिए उसे उत्तरदायी बना देते हैं।

तात्पर्य : चूँकि नित्य शाश्वत जीव अन्तरंगा तथा बहिरंगा शक्तियों के मध्य में स्थित हैं, अतएव वे भगवान् की तटस्था शक्ति कहलाते हैं। वास्तव में जीव भौतिक शक्ति द्वारा बद्ध होने के लिए नहीं हैं, लेकिन भौतिक शक्ति पर प्रभुता जताने के मिथ्या भाव के कारण वे ऐसी शक्ति के वशीभूत हो जाते हैं और इस तरह तीनों गुणों द्वारा बँध जाते हैं। भगवान् की यह बहिरंगा शक्ति उस जीव के शुद्ध ज्ञान को प्रच्छन्न कर लेती है, जो शाश्वत रूप से भगवान् के साथ रहनेवाला है। यह आवरण इतना स्थायी होता है कि बद्धजीव नित्य अज्ञानी प्रतीत होता है। माया या बहिरंगा शक्ति का प्रभाव इतना अद्भुत होता है मानो यह भूतों से उत्पन्न हुआ हो। भौतिक शक्ति की आवरणात्मक मजबूती के कारण भौतिक-विज्ञानी भौतिक कारणों से परे नहीं देख पाता लेकिन वस्तुतः भौतिक अभिव्यक्तियों के पीछे *अधिभूत, अध्यात्म* तथा *अधिदैव* क्रियाएँ होती हैं, जिन्हें तमोगुणी बद्धजीव नहीं देख पाता। *अधिभूत* अभिव्यक्ति के अन्तर्गत बुढ़ापा तथा रोग समेत जन्म-मृत्यु की पुनरावृत्ति होती है, *अध्यात्म* अभिव्यक्ति में आत्मा बद्ध होती है और *अधिदैव* अभिव्यक्ति नियामक पद्धति है। ये कार्य-कारण तथा बद्ध कर्ताओं में उत्तरदायित्व के भावों की भौतिक अभिव्यक्तियाँ हैं। आखिर कार ये सब बद्ध अवस्था की अभिव्यक्तियाँ हैं और ऐसी बद्ध अवस्था से मनुष्य का स्वतन्त्र होना ही सर्वोच्च सिद्धि है।

स एष भगवाँल्लिङ्गैस्त्रिभिरेतैरधोक्षजः ।
स्वलक्षित-गतिर्ब्रह्मन् सर्वेषां मम चेश्वरः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—यह; भगवान्—भगवान्; लिङ्गैः—लक्षणों से; त्रिभिः—तीन; एतैः—इन सबों से; अधोक्षजः—परम द्रष्टा ब्रह्म; सु-अलक्षित—अदृश्य; गतिः—चाल-फेर; ब्रह्मन्—हे नारद; सर्वेषाम्—हर एक का; मम—मेरा; च—भी; ईश्वरः—नियन्ता।.

हे ब्राह्मण नारद, परम द्रष्टा परब्रह्म प्रकृति के उपर्युक्त तीनों गुणों के कारण जीवों की इन्द्रियों की अनुभूति से परे हैं। लेकिन वे मुझ समेत सबों के नियन्ता हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.२४-२५) में भगवान् ने यह स्पष्टतः घोषित किया है कि निर्विशेषवादी जो ब्रह्मज्योति रूप भगवान् की दिव्य किरणों को अधिक महत्त्व देता है तथा यह निष्कर्ष निकालता है कि परम सत्य वास्तव में निर्विशेष है तथा आवश्यकता पड़ने पर अपना रूप प्रकट करता है, ऐसा निर्विशेषवादी सगुणवादी से कम बुद्धिमान होता है, चाहे वह वेदान्त के अध्ययन में कितना ही क्यों न लगा रहे। तथ्य तो यह है कि ऐसा निर्विशेषवादी उपर्युक्त गुणों से आच्छादित रहता है, अतएव वह भगवान् तक पहुँचने में असमर्थ रहता है। भगवान् प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुगम्य नहीं हैं, क्योंकि वे अपनी योगमाया शक्ति से आवृत रहते हैं। लेकिन इससे यह त्रुटिपूर्ण निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि भगवान् मूलतः अव्यक्त थे और अब मनुष्य रूप में प्रकट हुए हैं। भगवान् के रूपविहीन होने की यह भ्रान्त धारणा भगवान् के योगमाया आवरण के कारण है और जब बद्धजीव भगवान् की शरण में जाता है, तो परम इच्छा से ही यह दूर हो सकता है। भगवद्भक्त जो उपर्युक्त तीनों गुणों से परे रहते हैं, भक्तिभाव में अपनी प्रेम दृष्टि से उनके सर्व आनन्दमय दिव्य रूप का दर्शन कर सकते हैं।

कालं कर्म स्वभावं च मायेशो मायया स्वया ।
आत्मन् यदृच्छया प्राप्तं विबुभूषुरुपाददे ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कालम्—नित्य काल; कर्म—जीव का भाग्य; स्वभावम्—प्रकृति; च—भी; माया—शक्ति; ईशः—नियन्ता; मायया—शक्ति से; स्वया—अपनी; आत्मन्—(आत्मनि) अपने को; यदृच्छया—स्वतन्त्रतापूर्वक; प्राप्तम्—तदाकार होकर; विबुभूषुः—भिन्न दिखनेवाले; उपाददे—पुनः सृजित होना स्वीकार किया।.

समस्त शक्तियों के नियन्ता भगवान् अपनी ही शक्ति से नित्य काल, समस्त जीवों के भाग्य तथा उनके विशिष्ट स्वभाव की सृष्टि करते हैं और फिर स्वतन्त्र रूप से उन्हें अपने में विलीन कर

लेते हैं।

तात्पर्य : इस भौतिक संसार की सृष्टि, जिसमें परमेश्वर बद्धजीवों को अपने अधीन रखकर कर्म करने देते हैं, हर बार यह प्रलय के बाद बार बार होता रहता है। भौतिक सृष्टि असीम आकाश में बादल के समान है। वास्तविक आकाश तो आध्यात्मिक आकाश है, जो ब्रह्मज्योति की किरणों से निरन्तर पूर्ण रहता है और इस असीम आकाश का एक अंश भौतिक सृष्टिरूपी महत्तत्व के बादल से आच्छादित रहता है, जिसमें भगवान् की बहिरंगा शक्ति के नियन्त्रण में रहकर इच्छानुसार कर्म करने के लिए बद्धजीवों को छोड़ दिया जाता है, जो भगवान् की इच्छा के विरुद्ध अपनी प्रभुता जताना चाहते हैं। जिस प्रकार वर्षा ऋतु हर बार आती है और चली जाती है उसी तरह सृष्टि उत्पन्न होती है और भगवान् के नियन्त्रण में पुन: विलीन हो जाती है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (८.१९) में हुई है। इस तरह भौतिक जगतों की सृष्टि तथा प्रलय भगवान् का नियमित कार्य है, जिसमें बद्धजीवों को इच्छानुसार क्रीड़ा करने और अपना-अपना भाग्य निर्मित करके प्रलय के समय अपनी स्वतन्त्र इच्छाओं के अनुसार पुन: जन्म लेने के लिए छोड़ दिया जाता है। इस तरह सृष्टि एक ऐतिहासिक तिथि से प्रारम्भ होती है (जैसाकि हम अपने अल्प अनुभव से सोचने के आदी हैं)। सृष्टि तथा प्रलय का प्रक्रम *अनादि* है अर्थात् इसकी उत्पत्ति पहले पहल कब हुई, इसका पता नहीं हैं, क्योंकि आंशिक सृष्टि की ही अवधि ८,६४०,०००,००० वर्ष है, लेकिन वैदिक साहित्य में वर्णित सृष्टि का नियम यह है कि वह कुछ-कुछ अन्तरालों में सृजित होती है और भगवान् की इच्छा से पुन: विनष्ट हो जाती है। सारी भौतिक सृष्टि या आध्यात्मिक सृष्टि भी भगवान् की शक्ति की वैसी ही अभिव्यक्ति है जैसे कि अग्नि का प्रकाश तथा उष्मा अग्नि की शक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। अतएव भगवान् शक्ति के ऐसे विस्तार द्वारा ही निर्विशेष रूप में विद्यमान रहते हैं और सम्पूर्ण सृष्टि उनके निर्विशेष स्वरूप पर आश्रित है। तो भी वे अपने को ऐसी सृष्टि से *पूर्णम्* के रूप में पृथक् रखते हैं। अतएव किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि वे अपने निर्विशेष असीम विस्तार के कारण साकार रूप में विद्यमान नहीं होते। उनका निर्विशेष विस्तार उनकी शक्ति की अभिव्यक्ति है और वे अपने असंख्य निर्विशेष विस्तारों के होते हुए भी सदा अपने साकार रूप में रहते हैं (*भगवद्गीता* ९.५-७)। मानवी बुद्धि के लिए यह कल्पना कर

पाना अत्यन्त कठिन है कि किस तरह सारी सृष्टि भगवान् की शक्ति के विस्तार पर टिकी है, लेकिन भगवान् ने *भगवद्गीता* में एक बहुत सुन्दर उदाहरण दे रखा है। उसमें कहा है कि यद्यपि वायु तथा परमाणु आकाश के विशाल विस्तार में टिके हैं, जो प्रत्येक भौतिक वस्तु के लिए विश्राम का आगार है, तो भी यह आकाश पृथक् तथा अप्रभावित रहता है। इसी प्रकार यद्यपि परमेश्वर अपनी शक्ति के विस्तार से उत्पन्न प्रत्येक वस्तु का पालन करते हैं, तो भी वे पृथक् रहते हैं। इसे तो निराकार ब्रह्म के प्रबल समर्थक शंकराचार्य तक ने स्वीकार किया है। वे कहते हैं *नारायणः परोऽव्यक्तात्* अर्थात् नारायण अपनी निर्विशेष सृजनात्मक शक्ति से पृथक् विद्यमान हैं। इस तरह, प्रलय के समय यह सारी सृष्टि नारायण के दिव्य शरीर के भीतर लीन हो जाती है और यह सृष्टि पुनः भाग्य तथा स्वभाव की उन्हीं अपरिवर्तित कोटियों समेत उन्हीं के शरीर से उद्भूत होती है। सारे जीव भगवान् के अंश होने के कारण कभी-कभी *आत्मा* के रूप में वर्णित होते हैं—जो आध्यात्मिक संरचना में एक से है। चूँकि ऐसे जीव भौतिक सृष्टि के प्रति पूरी आसक्ति के साथ आकृष्ट होते रहते हैं, अतएव वे भगवान् से भिन्न होते हैं।

कालाद् गुण-व्यतिकरः परिणामः स्वभावतः ।
कर्मणो जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूत् ॥ २२॥

शब्दार्थ

कालात्—नित्यकाल से; गुण-व्यतिकरः—प्रतिक्रिया द्वारा गुणों का रूपान्तर; परिणामः—रूपान्तर; स्वभावतः—स्वभाव से; कर्मणः—कर्मों से; जन्म—सृष्टि; महतः—महत्तत्व का; पुरुष-अधिष्ठितात्—भगवान् के पुरुष-अवतार के कारण; अभूत्—हुआ।

प्रथम पुरुष के अवतार (कारणार्णवशायी विष्णु) के बाद महत्-तत्त्व अथवा भौतिक सृष्टि के तत्त्व अर्थात् भौतिक सृष्टि के सिद्धान्त घटित होते हैं, तब काल प्रकट होता है और काल-क्रम से तीनों गुण प्रकट होते हैं। प्रकृति का अर्थ है तीन गुणात्मक अभिव्यक्तियाँ, जो कार्यों में रूपान्तरित होती हैं।

तात्पर्य : परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता से सारी भौतिक सृष्टि का विकास रूपान्तरण तथा प्रतिक्रियाओं की क्रमागत विधि से होता है और इसी सर्वशक्तिमत्ता से वे क्रमशः समेट लिए जाते हैं और परमेश्वर के शरीर में संरक्षित रहते हैं। काल प्रकृति का पर्यायवाची है और भौतिक सृष्टि के

सिद्धान्तों का रूपान्तरित स्वरूप है। इस तरह *काल* को सृष्टि का प्रथम कारण माना जा सकता है और प्रकृति के रूपान्तरणों से ही भौतिक जगत के विभिन्न कार्यकलाप दृष्टिगोचर होते हैं। इन कार्यकलापों को ही प्रत्येक जीव या कि जड़ पदार्थों की सहज प्रवृत्ति माना जा सकता है और कार्यकलापों की अभिव्यक्ति के बाद तो उसी के अनुसार नाना प्रकार के फल और प्रतिफल उत्पन्न होते हैं। मूलत: ये सब परमेश्वर के कारण हैं। इसीलिए, *वेदान्त-सूत्र* तथा *भागवत* परम सत्य को समस्त सृष्टियों का मूल मानकर चलते हैं (*जन्माद्यस्य यत:*)।

महतस्तु विकुर्वाणाद्रजः-सत्त्वोपबृंहितात् ।
तमः-प्रधानस्त्वभवद् द्रव्य-ज्ञान-क्रियात्मकः ॥ २३॥

शब्दार्थ

महतः—महत् तत्त्व का; तु—लेकिन; विकुर्वाणात्—रूपान्तरित होकर; रजः—रजोगुण; सत्त्व—सतोगुण; उपबृंहितात्—बढ़ जाने से; तमः—तमोगुण; प्रधानः—प्रमुख होने से; तु—लेकिन; अभवत्—घटित हुआ; द्रव्य—पदार्थ; ज्ञान—भौतिक ज्ञान; क्रिया-आत्मकः—प्रधानतः भौतिक कार्यकलाप।

महत् तत्त्व के विक्षुब्ध होने पर भौतिक क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। सर्वप्रथम सतो तथा रजोगुणों का रूपान्तरण होता है और बाद में तमोगुण के कारण पदार्थ, ज्ञान तथा ज्ञान के विभिन्न कार्यकलाप प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : सभी तरह की भौतिक सृष्टियाँ, न्यूनाधिक रूप में, रजोगुण के विकास से होती हैं। महत् तत्त्व भौतिक सृष्टि का तत्त्व (मूल कारण) है और जब भगवान् की इच्छा से यह विक्षुब्ध होता है, तो सर्वप्रथम रजो तथा सतोगुण प्रकट होते हैं। बाद में विभिन्नप्रकार के भौतिक कार्य-कलापों के द्वारा उत्पन्न रजोगुण मुखर होता है और जीव अधिकाधिक तमोगुण में लिप्त होते जाते हैं। ब्रह्मा रजोगुण के प्रतिनिधि हैं, तो विष्णु सतोगुण के, किन्तु तमोगुण का प्रतिनिधित्व भौतिक कार्य-कलापों के जनक शिवजी द्वारा किया जाता है। भौतिक प्रकृति माता कहलाती है और भौतिक जीवन के प्रवर्तक हैं पिता रूप शिवजी। इसीलिए जीवों द्वारा की गई सारी सृष्टि रजोगुण से प्रसूत है। किसी युग विशेष में, जीवन की अवधि बढ़ने के साथ क्रमिक विकास के कारण विभिन्न गुण कार्यशील होते हैं। कलियुग में (जिसमें तमोगुण प्रधान है) मानवी सभ्यता के विकास के नाम पर विभिन्न प्रकार के भौतिक कार्य-कलाप सम्पन्न होते हैं और जीव अपने असली स्वरूप—आध्यात्मिक स्वरूप—को अधिकाधिक भूलते

जाते हैं। सतोगुण के नाममात्र अनुशीलन से आध्यात्मिक स्वभाव की झलक प्राप्त की जाती है, किन्तु रजोगुण की प्रधानता के कारण सतोगुण मिलावट हो जाती है। अतएव मनुष्य भौतिक गुणों की सीमाओं को लाँघ नहीं पाता, जिससे जीवों के लिए भौतिक गुणों से अतीत रहनेवाले भगवान् का साक्षात्कार कठिन हो जाता है, भले ही ये जीव अनुशीलन की विभिन्न विधियों द्वारा सतोगुण में ही स्थित क्यों न रहें। दूसरे शब्दों में, स्थूल पदार्थ *अधिभूतम्* हैं, उनका पालन अधिदैवम् है और भौतिक कार्यकलापों का शुभारम्भ करनेवाला अध्यात्मम् है। भौतिक जगत में ये तीनों नियम प्रमुख गुणों के रूप में कार्य करते हैं, अर्थात् कच्चा माल, इसकी नियमित पूर्ति तथा मोहग्रस्त जीवों द्वारा इन्द्रिय-भोग के लिए विविध रूपों में इनका उपयोग।

सोऽहङ्कार इति प्रोक्तो विकुर्वन् समभूत्त्रिधा ।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेति यद्भिदा ।
द्रव्य-शक्तिः क्रिया-शक्तिर्ज्ञान-शक्तिरिति प्रभो ॥ २४॥

शब्दार्थ

सः—वही; अहङ्कारः—अहंकार; इति—इस प्रकार; प्रोक्तः—कहा गया; विकुर्वन्—रूपान्तरित होकर; समभूत्—प्रकट हुआ; त्रिधा—तीन रूपों में; वैकारिकः—सतो गुणो में; तैजसः—रजोगुण में; च—तथा; तामसः—तमोगुण में; च—भी; इति—इस प्रकार; यत्—जो है; भिदा—विभक्त; द्रव्य-शक्तिः—पदार्थ को विकसित करनेवाली शक्ति; क्रिया-शक्तिः—सृजन करने की प्रेरणा; ज्ञान-शक्तिः—मार्गदर्शक बुद्धि; इति—इस तरह; प्रभो—हे स्वामी।

इस प्रकार आत्म-केन्द्रित भौतिकतावादी अहंकार तीनों स्वरूपों में रूपान्तरित होकर सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण बन जाता है। ये तीन स्वरूप हैं : पदार्थ को विकसित करने वाली शक्तियाँ, भौतिक सृष्टियों का ज्ञान तथा ऐसी भौतिकतावादी क्रियाओं का मागदर्शन करनेवाली बुद्धि। हे नारद, तुम इसे समझने के लिए पूर्ण सक्षम हो।

तात्पर्य : भौतिकतावादी अहंकार या पदार्थ के साथ पहचान का भाव निपट आत्मकेन्द्रित एवं ईश्वर के अस्तित्व के स्पष्ट ज्ञान से रहित होता है और भौतिकतावादी जीवों का यही आत्म-केन्द्रित अहंकार अन्य वस्तुओं द्वारा उनके बद्ध होने तथा संसार के बन्धन में पड़े रहने का कारण होता है। यह आत्म-केन्द्रित अहंकार *भगवद्गीता* के सप्तम अध्याय में (श्लोक २४ से २७ तक) भलीभाँति समझाया गया है। आत्म-केन्द्रित निर्विशेषवादी भगवान् की स्पष्ट अवधारणा के बिना ही अपने ढंग से यह निष्कर्ष निकालता है कि भगवान् किसी उद्देश्य विशेष से अपने मूल निर्विशेष आध्यात्मिक

अस्तित्व से भौतिक स्वरूप ग्रहण करते हैं। और उसकी भगवान्–सम्बन्धी यह भ्रामक धारणा उसी तरह बनी रहती है, भले ही वह ब्रह्मसूत्र तथा अन्य बौद्धिक ज्ञान जैसे वैदिक साहित्य में रुचि रखता प्रतीत हो। भगवान् के साकार स्वरूप के प्रति यह अज्ञानता विभिन्न गुणों के मिश्रण को न जानने के कारण है। इस प्रकार निर्विशेषवादी भगवान् के सच्चिदानन्द स्वरूप के विषय में धारणा नहीं बना पाते। इसका कारण यह है कि भगवान् यह अधिकार अपने पास सुरक्षित रखते हैं कि वे ऐसे अभक्त के समक्ष प्रकट न हों जो *भगवद्गीता* जैसे ग्रंथ का अध्ययन करने के बाद भी हठ–वश (मूढ़ता से) निर्विशेषवादी बने रहते हैं। यह हठ भगवान् की निजी शक्ति योगमाया के प्रभाव के कारण होता है और हठी निर्विशेषवादी की दृष्टि को आच्छादित करने में सहायक का कार्य करता है। ऐसे मोहग्रस्त व्यक्ति को मूढ़ अर्थात् निपट अज्ञानी कहा जाता है, क्योंकि वह भगवान् के दिव्य रूप को अजन्मा तथा अक्षर समझने में असमर्थ रहता है। यदि भगवान् अपने मूल निर्विशेष स्वरूप से भिन्न कोई स्वरूप या भौतिक आकार ग्रहण करते हैं, तो इसका अर्थ होता है कि वे जन्म लेते हैं और निर्विशेष से साकार रूप में परिवर्तित होते हैं। लेकिन वे परिवर्तनशील नहीं हैं। न ही वे बद्धजीव की भाँति कभी नया जन्म धारण करते हैं। बद्धजीव अपनी भौतिक स्थिति के कारण एक जन्म के बाद दूसरा जन्म ले सकता है, लेकिन आत्म–केन्द्रित निर्विशेषवादी अपनी निरी अज्ञानता वश अहंकार के कारण भगवान् को अपने जैसा मानकर चलते हैं, यद्यपि *वेदान्त* के ज्ञान में वे तथाकथित रूप से बहुत आगे बढ़े होते हैं। प्रत्येक जीव के हृदय में निवास करने के कारण भगवान् ऐसे जीवों की भूत, वर्तमान तथा भविष्य की प्रवृत्तियों से भलीभाँति अवगत रहते हैं, लेकिन मोहग्रस्त बद्धजीव शायद ही उन्हें उनके शाश्वत रूप में जान सके। अतएव निर्विशेषवादी भगवान् के ब्रह्म तथा परमात्मा स्वरूपों को जान लेने के बाद भी उनके नित्य साकार स्वरूप नारायण से, जो समस्त भौतिक सृष्टि से परे है, अनजान रहते हैं।

ऐसी निपट अज्ञानता (मूढ़ता) का कारण भौतिकतावादी व्यक्ति के द्वारा कृत्रिम रूप से बढ़ती हुई भौतिक माँगों में जगे रहना है। भगवान् की अनुभूति प्राप्त करने के लिए मनुष्य को भक्ति द्वारा भौतिकतावादी इन्द्रियों को शुद्ध करना होता है। सतोगुण या वैदिक साहित्य में वर्णित ब्राह्मण संस्कृति ऐसी आध्यात्मिक अनुभूति कराने में सहायक है। इस तरह बद्धजीव की *ज्ञानशक्ति* अवस्था अन्य दो

अवस्थाओं—*द्रव्यशक्ति* तथा *क्रियाशक्ति*—से अच्छी है। समस्त भौतिक संस्कृति पदार्थों के विपुल संग्रह द्वारा या दूसरे शब्दों में, औद्योगिक कार्यों के लिए कच्चे-माल के संग्रह द्वारा व्यक्त होती है और सारे औद्योगिक कार्यकलाप (*क्रियाशक्ति*) आध्यात्मिक जीवन के प्रति निपट अज्ञान के कारण हैं। द्रव्यशक्ति तथा क्रियाशक्ति के सिद्धान्तों पर आधारित भौतिकतावादी सभ्यता की इस महान् विडम्बना को ठीक करने के लिए *भगवद्गीता* (९.२७) में व्यक्त कर्मयोग के सिद्धान्तों के अनुसार भक्तियोग को ग्रहण करना होगा। यथा—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

"हे कुन्तीपुत्र! तुम जो भी करो, जो भी खाओ, जो भी अर्पित करो और दान दो तथा जो भी तपस्याएँ करो, वे सब मुझे भेंट के रूप में की जाँय।"

तामसादपि भूतादेर्विकुर्वाणादभून्नभः ।
तस्य मात्रा गुणः शब्दो लिङ्गं यद् द्रष्टृ-दृश्ययोः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तामसात्—मिथ्या अहंकार के अंधकार से; अपि—निश्चय ही; भूत-आदेः—भौतिक तत्त्वों का; विकुर्वाणात्—रूपान्तरण के कारण; अभूत्—उत्पन्न हुआ; नभः—आकाश; तस्य—उसका; मात्रा—सूक्ष्म रूप; गुणः—गुण; शब्दः—ध्वनि; लिङ्गम्—लक्षण; यत्—जो; द्रष्टृ—द्रष्टा; दृश्ययोः—देखे गये का।

मिथ्या अंहकार के अंधकार से पाँच तत्त्वों में से पहला तत्त्व आकाश उत्पन्न होता है। इसका सूक्ष्म रूप शब्द का गुण है, ठीक उसी प्रकार जिस तरह द्रष्टा का दृश्य से सम्बन्ध होता है।

तात्पर्य : पाँच तत्त्व, जिनके नाम आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी हैं, मिथ्या अहंकार के अंधकार के ही विभिन्न गुण हैं। इसका अर्थ हुआ कि महत् तत्त्व के रूप में मिथ्या अहंकार भगवान् की तटस्था शक्ति से उत्पन्न होता है और भौतिक सृष्टि पर प्रभुता जताने के इस मिथ्या अहंकार के कारण ही जीव के मिथ्या भोग के लिए सारे अवयव उत्पन्न होते हैं। जीव भोक्ता के रूप में भौतिक तत्त्वों के ऊपर प्रधान कारक बना रहता है यद्यपि पृष्ठभूमि में परमेश्वर रहता है। वास्तव में भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई भोक्ता नहीं कहा जा सकता, लेकिन जीव झूठे ही भोक्ता बनना चाहता है। मिथ्या अहंकार का यही मूल है। जब मोहग्रस्त जीव इसकी इच्छा करता है, तो भगवान् की इच्छा से छाया तत्त्व उत्पन्न

होतें हैं और जीवों को उनके पीछे उसी तरह दौड़ने दिया जाता है, जिस तरह मृगमरीचिका के पीछे मृग।

यह कहा गया है कि पहले *ध्वनि* तन्मात्रा उत्पन्न होती है और उसके बाद आकाश तत्त्व निर्माण होता है, और इस श्लोक में पुष्टि की गई है कि वास्तव में ऐसा ही होता है, लेकिन ध्वनि आकाश का सूक्ष्मरूप है और इनमें जो अन्तर है, वह द्रष्टा तथा दृश्य के अन्तर जैसा है। ध्वनि वास्तविक वस्तु का प्रतिरूप है, जिस तरह वस्तु के बारे में बोला हुआ शब्द या ध्वनि उस वस्तु के वर्णन का बोध कराता है। अतएव ध्वनि वस्तु का सूक्ष्म गुण है। इसी प्रकार भगवान् का ध्वनि रूप उनके लक्षणों के सम्बन्ध में भगवान् का पूर्ण रूप है जैसाकि भगवान् कृष्ण तथा भगवान् राम के पिता वसुदेव तथा महाराज दशरथ ने देखा था। भगवान् का ध्वनि रूप साक्षात् भगवान् से अभिन्न है, क्योंकि भगवान् तथा उनका ध्वनि रूप परम ज्ञान हैं। भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने हमें उपदेश दिया है कि भगवान् के पवित्र नाम में, जो भगवान् का ध्वनि रूप है, भगवान् की सारी शक्तियाँ निहित हैं। अतएव भगवान् के पवित्र नाम के ध्वनि रूप के उच्चारण से मनुष्य तुरन्त भगवान् के सान्निध्य का आनन्द उठा सकता है और शुद्ध भक्त को तुरन्त ही भगवान् का स्वरूप प्रकट हो जाता है। अतएव शुद्ध भक्त भगवान् से एक क्षण के लिए भी विलग नहीं होता। अतएव जो भक्त निरन्तर भगवान् के सम्पर्क में रहने की कामना करता है उसे शास्त्रों द्वारा अनुमोदित भगवान् के पवित्र नाम—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का कीर्तन करना चाहिए। जो इस प्रकार भगवान् का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है, वह निश्चित रूप से मिथ्या अहंकार से उत्पन्न जगत के अंधकार से उबर आता है (*तमसो मा ज्योतिर्गमय*)।

नभसोऽथ विकुर्वाणादभूत् स्पर्श-गुणोऽनिलः ।
परान्वयाच्छब्दवांश्च प्राण ओजः सहो बलम् ॥ २६ ॥
वायोरपि विकुर्वाणात् काल-कर्म-स्वभावतः ।
उदपद्यत तेजो वै रूपवत् स्पर्श-शब्दवत् ॥ २७ ॥
तेजसस्तु विकुर्वाणादासीदम्भो रसात्मकम् ।
रूपवत् स्पर्शवच्चाम्भो घोषवच्च परान्वयात् ॥ २८ ॥

विशेषस्तु विकुर्वाणादम्भसो गन्धवानभूत् ।
परान्वयाद् रस-स्पर्श-शब्द-रूप-गुणान्वितः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

नभसः—आकाश का; अथ—इस प्रकार; विकुर्वाणात्—रूपान्तरित होकर; अभूत्—उत्पन्न हुआ; स्पर्श—स्पर्श; गुणः—गुण; अनिलः—वायु; पर—पूर्ववर्ती, पिछली; अन्वयात्—परम्परा से; शब्दवान्—ध्वनि से पूर्ण; च—भी; प्राणः—प्राण, जीवन; ओजः—इन्द्रिय बोध; सहः—मोटा; बलम्—बल; वायोः—वायु के; अपि—भी; विकुर्वाणात्—रूपान्तरण से; काल—समय; कर्म—पिछले कर्म; स्वभावतः—स्वभाव के अनुसार; उदपद्यत—उत्पन्न हुआ; तेजः—अग्नि; वै—ठीक से; रूपवत्—रूप के साथ; स्पर्श—स्पर्श; शब्दवत्—शब्द के साथ भी; तेजसः—अग्नि का; तु—लेकिन; विकुर्वाणात्—रूपान्तरित होकर; आसीत्—ऐसा हुआ; अम्भः—जल; रस-आत्मकम्—रस से निर्मित; रूपवत्—रूप के साथ; स्पर्शवत्—स्पर्श के साथ; च—तथा; अम्भः—जल; घोषवत्—ध्वनि के साथ; च—तथा; पर—पूर्व; अन्वयात्—परम्परा से; विशेषः—नानारूपता; तु—लेकिन; विकुर्वाणात्—रूपान्तरण से; अम्भसः—जल का; गन्धवान्—सुगन्धित; अभूत्—हो गया; पर—पूर्व; अन्वयात्—परम्परा से; रस—रस; स्पर्श—स्पर्श; शब्द—ध्वनि; रूप-गुण-अन्वितः—गुणात्मक रूप से।

चूँकि आकाश रूपान्तरित होता है, अतएव स्पर्शगुण से युक्त वायु उत्पन्न होती है और पूर्व परम्परा के अनुसार वायु शब्द तथा आयु के मूलभूत तत्त्वों अर्थात् स्पर्श, मानसिक-शक्ति तथा शारीरिक बल से भी पूर्ण होती है। काल तथा प्रकृति के साथ ही जब वायु रूपान्तरित होती है, तो अग्नि उत्पन्न होती है और यह स्पर्श तथा ध्वनि का रूप धारण करती है। चूँकि अग्नि भी रूपान्तरित होती है, अतएव जल प्रकट होता है, जो रस तथा स्वाद से पूरित होता है। परम्परानुसार यह भी रूप, स्पर्श तथा शब्द से परिपूर्ण होता है। और जब यही जल अपनी नानारूपता समेत पृथ्वी में रूपान्तरित होता है, तब वह सुगन्धिमय प्रतीत होता है और परम्परानुसार यह रस, स्पर्श, शब्द तथा रूप के गुणों से पूरित हो उठता है।

तात्पर्य : सम्पूर्ण सृष्टि का प्रक्रम क्रमिक विकास कार्य है तथा एक तत्त्व से दूसरे तत्त्व का विकास है, जिससे पृथ्वी में नानारूपता प्राप्त होती है, जिसमें इतने सारे वृक्ष, पौधे, पर्वत, नदियाँ, सरीसृप, पक्षी, पशु तथा तरह-तरह के मनुष्य मिलते हैं। इन्द्रिय-अनुभूति का गुण भी विकासमान है अर्थात् यह शब्द से उत्पन्न होता है फिर स्पर्श और स्पर्श से रूप बनता है। आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी के क्रमिक विकास के साथ-साथ स्वाद तथा गन्ध भी उत्पन्न होते हैं। वे एक दूसरे के पारस्परिक कारण तथा कार्य होते हैं, किन्तु मूल कारण तो अंशरूप में साक्षात् भगवान् होते हैं, जो महत् तत्त्व के कारण-जलशायी महाविष्णु हैं। इसीलिए *ब्रह्म-संहिता* में भगवान् कृष्ण को समस्त कारणों का कारण बताया गया है और *भगवद्गीता* (१०.८) में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है :

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥

इन्द्रिय अनुभूति के सारे गुण पृथ्वी में पूरी तरह से आते हैं और वे ही, कुछ कम हद तक, अन्य तत्त्वों में प्रकट होते हैं। आकाश में केवल शब्द होता है, किन्तु वायु में शब्द तथा स्पर्श दोनों होते हैं। अग्नि में ध्वनि, स्पर्श तथा आकार होते हैं तथा जल में अन्य अनुभूतियों यथा ध्वनि, स्पर्श तथा आकार के अतिरिक्त स्वाद भी होता है। किन्तु पृथ्वी में उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त गन्ध का भी अतिरिक्त विकास होता है। अतएव पृथ्वी पर जीवन की विविधता का पूर्ण प्रदर्शन होता है, उस जीवन का जो मूलतः वायु को मूल तत्त्व मानकर प्रारम्भ होता है। शारीरिक रोग जीवों के भौतिक शरीर के भीतर वायु में विकार आ जाने से होते हैं, मानसिक रोग शरीर के भीतर वायु के विशेष कुपित होने से होता है अतएव योगिक व्यायाम वायु को ठीक से रखने में विशेष लाभप्रद होते हैं और ऐसे व्यायामों से शरीर के रोग प्रायः न के बराबर हो जाते हैं। योगासनों को ठीक से करने पर आयु भी बढ़ती है और ऐसे अभ्यासों से मृत्यु को भी वश में किया जा सकता है। एक पूर्णयोगी मृत्यु पर भी वर्चस्व रख सकता है और ठीक समय पर शरीर को त्याग सकता है किन्तु तभी जब वह अपने को उपयुक्त लोक तक ले जाने में सक्षम होता है। किन्तु भक्तियोगी समस्त योगियों से बढ़कर होता है क्योंकि वह अपनी भक्ति-मय सेवा से भौतिक आकाश से परे वाले लोक को भेज दिया जाता है और सबों के नियन्ता भगवान् की परम इच्छा से उसे वैकुण्ठ के किसी भी लोक में रखा जाता है।

वैकारिकान्मनो जज्ञे देवा वैकारिका दश ।
दिग्वातार्क-प्रचेतोऽश्वि-वह्नीन्द्रोपेन्द्र-मित्र-काः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

वैकारिकात्—सतोगुण से; मनः—मन; जज्ञे—उत्पन्न किया; देवाः—देवता; वैकारिकाः—सतोगुण में; दश—दस; दिक्—दिशाओं का अधिष्ठाता; वात—वायु का अधिष्ठाता; अर्क—सूर्य; प्रचेतः—वरुण; अश्वि—अश्विनीकुमार; वह्नि—अग्निदेव; इन्द्र—स्वर्ग का राजा; उपेन्द्र—स्वर्ग का देव (श्री विग्रह); मित्र—बारह आदित्यों में से एक; काः—प्रजापति ब्रह्मा।

सतोगुण से मन उत्पन्न होकर व्यक्त होता है, साथ ही शारीरिक गतियों के नियन्त्रक दस देवता भी प्रकट होते हैं। ऐसे देवता दिशाओं के नियन्त्रक, वायु के नियन्त्रक, सूर्यदेव, दक्ष प्रजापति के पिता, अश्विनीकुमार, अग्निदेव, स्वर्ग का राजा (इन्द्र), स्वर्ग के पूजनीय अर्चाविग्रह, आदित्यों के प्रमुख तथा प्रजापति ब्रह्माजी कहलाते हैं। सभी इस तरह अस्तित्व में

आते हैं।

तात्पर्य : *वैकारिक* सृष्टि की उदासीन अवस्था है और *तेजस* सृष्टि का शुभारम्भ है, जबकि तमस अज्ञान के अन्तर्गत इस भौतिक सृष्टि का पूर्ण प्रदर्शन है। फैक्टरियों तथा कार्यशालाओं में 'जीवन की आवश्यकताओं' का निर्माण ही कलियुग में सर्वाधिक प्रमुख है और यही निर्माण अज्ञान की सर्वोच्च अवस्था है। मानव समाज द्वारा ऐसे निर्माणकारी उद्योग तमोगुण में सम्पन्न होते हैं, क्योंकि वास्तव में निर्मित सामग्रियों की कोई आवश्यकता नहीं होती। मानव समाज को मूलत: अपने भरण-पोषण के लिए भोजन की आवश्यकता होती है, सोने के लिए आश्रय, रक्षा के लिए संरक्षण तथा इन्द्रियतृप्ति के लिए वस्तओं की चाहत होती है। इन्द्रियाँ जीवन के व्यावहारिक चिह्न हैं, जैसाकि अगले श्लोक में बताया जायेगा। मानवीय सभ्यता इन्द्रियों की शुद्धि के लिए है और इन्द्रियतृप्ति के विषयों की पूर्ति केवल आवश्यकता के अनुसार होनी चाहिए, न कि कृत्रिम ऐन्द्रिय आवश्यकताओं को भड़काने के लिए। भोजन, आश्रय, सुरक्षा तथा इन्द्रियतृप्ति—ये भौतिक जीवन की आवश्यकताएँ हैं। अन्यथा अपने शुद्ध मूल जीवन की संदुषण रहित अवस्था में जीव को इनकी आवश्यकताएँ नहीं होतीं। अतएव आवश्यकताएँ कृत्रिम होती हैं और जीवन की विशुद्ध अवस्था में ऐसी आवश्यकताएँ नहीं उठतीं। इस तरह कृत्रिम आवश्यकताएँ बढ़ाना जैसाकि भौतिक सभ्यता का मानक बन गया है या मानव-समाज का आर्थिक विकास करना एक प्रकार से ज्ञान के बिना अन्धकार में हाथ चलाना है। ऐसी व्यस्तता से मनुष्य की शक्ति नष्ट होती है, क्योंकि मानवीय शक्ति इन्द्रियों को शुद्ध करने के लिए है, जिससे उन्हें भगवान् की इन्द्रियों को तुष्ट करने में लगाया जा सके। परमेश्वर समस्त इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश हैं, क्योंकि वे आध्यात्मिक इन्द्रियों के अधिकारी हैं। हृषीक का अर्थ है इन्द्रियाँ तथा ईश का अर्थ है स्वामी। भगवान् इन्द्रियों के दास नहीं हैं दूसरे शब्दों में, वे इन्द्रियों के निर्देश पर नहीं चलते। हाँ, बद्धजीव या जीव विशेष इन्द्रियों के दास होते हैं। वे इन्द्रियों के इशारों पर चलते हैं, इसीलिए यह भौतिक सभ्यता एक प्रकार से इन्द्रियतृप्ति की व्यस्तता मात्र है। मानव सभ्यता का मापदण्ड इन्द्रियतृप्ति रूपी रोग का उपचार होना चाहिए और यदि कोई भगवान् की आध्यात्मिक इन्द्रियों के तुष्ट करने का निमित्त मात्र बन जाये तो ऐसा कर सकता है। इन्द्रियों को कभी उनके व्यापारों से रोकना नहीं चाहिए

अपितु उन्हें इन्द्रियों के स्वामी (हृषीकेश) की इन्द्रियतृप्ति की शुद्ध सेवा में लगाकर उन्हें पवित्र बनाना चाहिए। सम्पूर्ण *भगवद्गीता* का यही उपदेश है। अर्जुन अपने सगे-सम्बन्धियों के साथ युद्ध न करने का निर्णय करके अपनी इन्द्रियों की तुष्टि करना चाह रहा था, लेकिन भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे *भगवद्गीता* की शिक्षा दी जिससे वह इन्द्रियतृप्ति सम्बन्धी अपने निर्णय को पवित्र कर सके। अतएव अर्जुन ने भगवान् की इन्द्रियों को तुष्ट करना स्वीकार किया और भगवान् की इच्छानुसार उसने कुरुक्षेत्र के युद्ध में भाग लिया।

वेद हमें अंधकार की स्थिति से निकलकर प्रकाश के मार्ग पर अग्रसर होने का आदेश देते हैं (*तमसि मा ज्योतिर्गम*), अतएव प्रकाश का मार्ग भगवान् की इन्द्रियों की तुष्टि के लिए है। किन्तु जो दिग्भ्रमित हैं या अल्पज्ञ हैं, वे अर्जुन तथा अन्य भगवद्भक्तों द्वारा दिखाये गये मार्ग का पालन करते हुए भगवान् की दिव्य इन्द्रियों को तुष्ट करने का कोई प्रयास किये बिना ही आत्म-साक्षात्कार के पथ का अनुसरण करते हैं। इसके विपरीत वे इन्द्रियों की क्रियाओं को रोकने का कृत्रिम प्रयास करते हैं (योग पद्धति) या भगवान् की दिव्य इन्द्रियों की अवहेलना करते हैं (ज्ञानयोग)। लेकिन भक्तगण योगियों तथा ज्ञानियों के ऊपर होते हैं, क्योंकि वे भगवान् की इन्द्रियों से इनकार नहीं करते; वे तो भगवान् की इन्द्रियों को तुष्ट करना चाहते हैं। ज्ञानी तथा योगी मात्र अपने अज्ञान रूपी अन्धकार के कारण भगवान् की इन्द्रियों को नकारते हैं और कृत्रिम रीति से अपनी रुग्ण इन्द्रियों के कार्यकलापों पर नियन्त्रण प्राप्त करना चाहते हैं। इन्द्रियों के रुग्ण होने पर उनमें भौतिक आवश्यकताओं के प्रति व्यस्तता बढ़ जाती है। जब कोई व्यक्ति इन्द्रियों के कार्यकलापों को बढ़ाने की हानियों को देखता है, तो वह ज्ञानी कहलाता है और जब कोई व्यक्ति योग के नियमों के अभ्यास द्वारा उन्हीं इन्द्रियों के कार्यकलापों को रोकना चाहता है, तो वह योगी कहलाता है, किन्तु जब वही व्यक्ति भगवान् की दिव्य इन्द्रियों से पूर्ण रूप से अवगत हो जाता है और उन इन्द्रियों को तुष्ट करना चाहता है, तो वह भगवद्भक्त कहलाता है। भगवद्भक्त कभी भी भगवान् की इन्द्रियों को नकारते नहीं, न ही वे कृत्रिम रूप से इन्द्रियों के कार्यों को रोकते हैं। किन्तु वे स्वेच्छा से अपनी पवित्र इन्द्रियों को इन्द्रियों के स्वामी की सेवा में लगाते हैं जैसाकि अर्जुन ने किया था और इस तरह वे भगवान् को तृप्त करने की पूर्णता प्राप्त करते हैं, जो सारी सिद्धि का चरम

लक्ष्य है।

तैजसात् तु विकुर्वाणादिन्द्रियाणि दशाभवन् ।
ज्ञान-शक्तिः क्रिया-शक्तिर्बुद्धिः प्राणश्च तैजसौ ।
श्रोत्रं त्वग्घ्राण-दृग्जिह्वा वाग्दोर्मेढ्राङ्घ्रि-पायवः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तैजसात्—रजोगुणी अहंकार से; तु—लेकिन; विकुर्वाणात्—रूपान्तरण से; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; दश—दस; अभवन्—उत्पन्न की गई; ज्ञान-शक्तिः—ज्ञान प्राप्त करने की पाँच इन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ; क्रिया-शक्तिः—कार्य की पाँच इन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ; बुद्धिः—बुद्धि; प्राणः—जीवनशक्ति; च—भी; तैजसौ—रजोगुण के सारे पदार्थ; श्रोत्रम्—सुनने की इन्द्रिय; त्वक्—स्पर्शेन्द्रिय; घ्राण—सूँघने की इन्द्रिय; दृक्—देखने की इन्द्रिय; जिह्वाः—स्वाद लेने की इन्द्रिय; वाक्—बोलने की इन्द्रिय; दोः—ग्रहण करने की इन्द्रिय; मेढ्र—जननेन्द्रिय; अङ्घ्रि—पाँव; पायवः—मल-विसर्जन इन्द्रिय।

रजोगुण में और अधिक विकार आने से बुद्धि तथा प्राण के साथ ही श्रवण, त्वचा, नाक, आँख, जीभ, मुँह, हाथ, जननेन्द्रिय, पाँव तथा मल विसर्जन की इन्द्रियाँ सभी उत्पन्न होती हैं।

तात्पर्य : भौतिक जगत में जीवन न्यूनाधिक रूप में बुद्धि तथा प्राणशक्ति पर निर्भर करता है। कठिन जीवन-संघर्ष का सामना करने के लिए ज्ञानेन्द्रियाँ बुद्धि की सहायता करती हैं और प्राणशक्ति की धारणा हाथ तथा पाँव जैसी सक्रिय इन्द्रियों के संचालन से होती है। अतएव कुल मिलाकर यह जीवन-संघर्ष रजोगुण का कार्यान्वयन होता है। अतएव बुद्धि तथा प्राण समेत सारी इन्द्रियाँ प्रकृति के द्वितीय गुण, रजोगुण, के विविध उत्पाद तथा उपोत्पाद हैं। किन्तु यह रजोगुण वायु तत्त्व से उत्पन्न है जैसाकि पहले कहा जा चुका है।

यदैतेऽसङ्गता भावा भूतेन्द्रिय-मनो-गुणाः ।
यदायतन-निर्माणे न शेकुर्ब्रह्म-वित्तम ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब तक; एते—ये सब; असङ्गताः—एकत्र हुए बिना; भावाः—इस तरह स्थित होकर; भूत—तत्त्व; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; मनः—मन; गुणाः—प्रकृति के गुण; यदा—जब तक; आयतन—शरीर; निर्माणे—निर्मित होता रहता है; न शेकुः—सम्भव नहीं था; ब्रह्म-वित्-तम—हे दिव्य ज्ञान के दाता नारद।

हे योगियों में श्रेष्ठ नारद, जब तक ये सृजित अंग यथा तत्त्व, इन्द्रियाँ, मन तथा प्रकृति के गुण जुड़ नही जाते, तब तक शरीर स्वरूप धारण नहीं कर सकता।

तात्पर्य : जीवों की विविध प्रकार की शरीर-संरचनाएँ उन विभिन्न प्रकार की मोटर-कारों जैसी हैं, जिन्हें विभिन्न पूर्जों को जोड़ करके निर्मित किया जाता है। जब मोटरकार तैयार हो जाती है, तो

चालक उसमें बैठकर अपनी इच्छानुसार उसे चलाता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१८.६१) में भी हुई है—जीव मानो शरीर रूपी यंत्र पर आरूढ़ है और शरीर रूपी मोटरकार प्रकृति के वश में रहकर चलती-फिरती है, ठीक उसी तरह जिस तरह रेलगाड़ियाँ नियन्त्रक के मार्ग-निर्देशन में रहकर चलती हैं। लेकिन ये जीव शरीर नहीं हैं, वे तो शरीर रूपी यान से पृथक् होते हैं। लेकिन अल्पज्ञ भौतिक विज्ञानी शरीर के अंगों के जोड़े जाने की विधि को नहीं जान पाता जो इन्द्रिय, मन तथा गुण के रूप में होते हैं। प्रत्येक जीव आध्यात्मिक स्फुलिंग है, परम पुरुष का अंश है और जिस तरह पिता पुत्र के प्रति दयालु होता है उसी तरह भगवत्कृपा से प्रत्येक जीव को स्वल्प स्वतन्त्रता दी गई है कि वह प्रकृति के गुणों पर प्रभुता जता कर स्वेच्छा से कर्म करे। जिस प्रकार पिता रोते हुए बालक को चुप करने के लिए खिलौने थमा देता है उसी तरह, भगवान् की इच्छा से, मोहग्रस्त जीवों को भगवान् के प्रतिनिधि के नियंत्रण में अपनी-अपनी इच्छित वस्तुओं पर प्रभुता जताने की छूट देने के लिए सारी भौतिक सृष्टि बनी हुई है। सारे जीव उन छोटे छोटे बालकों की भाँति भौतिक क्रीड़ा-क्षेत्र में खेल रहे हैं जिनकी निगरानी भगवान् की दासी (प्रकृति) कर रही है। वे इस दासी या माया को सर्वेसर्वा मानकर परम सत्य को स्त्री (दुर्गादेवी आदि) मान बैठते हैं। मूर्ख बाल-तुल्य भौतिकतावादी दासी प्रकृति की अवधारणा से ऊपर नहीं उठ पाते, किन्तु भगवान् के बुद्धिमान सयाने पुत्र भलीभाँति जानते हैं कि प्रकृति के सारे कार्य भगवान् द्वारा उसी प्रकार नियन्त्रित होते हैं जिस तरह दासी अविकसित बालकों के पिता-रूप अपने मालिक के अधीन रहती है।

शरीर के अंग, यथा इन्द्रियाँ महत्तत्त्व द्वारा निर्मित हैं और जब भगवान् की इच्छा से ये अंग एक साथ जुड़ जाते हैं, तो भौतिक शरीर अस्तित्व में आता है और जीव को इसे अपने आगे के कार्यों के लिए उपयोग में लाने दिया जाता है। इसकी व्याख्या आगे दी गई है।

तदा संहत्य चान्योन्यं भगवच्छक्ति-चोदिताः ।
सदसत्त्वमुपादाय चोभयं ससृजुर्ह्यदः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तदा—वे सब; संहत्य—समवेत होकर; च—भी; अन्योन्यम्—एक दूसरे को; भगवत्—भगवान् द्वारा; शक्ति—शक्ति; चोदिताः—प्रयुक्त होकर; सत्-असत्त्वम्—मूलतः तथा गौणतः; उपादाय—स्वीकार करके; च—भी; उभयम्—दोनों; ससृजुः—उत्पन्न हुआ; हि—निश्चय ही; अदः—यह संसार।

जब पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शक्ति के बल से ये सब एकत्र हो गये तो सृष्टि से मूल तथा गौण कारणों को स्वीकार करते हुए यह ब्रह्माण्ड अस्तित्व में आया।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि सृष्टि के लिए भगवान् अपनी विभिन्न शक्तियाँ प्रयुक्त करते हैं। ऐसा नहीं है कि वे स्वयं भौतिक जगत में रूपान्तरित हो जाते हैं। वे अपनी विभिन्न शक्तियों द्वारा तथा अपने पूर्ण अंशों द्वारा अपना विस्तार करते हैं। कभी-कभी ब्रह्मज्योति के आध्यात्मिक आकाश के एक कोने में आध्यात्मिक बादल प्रकट होता है और इस तरह आच्छादित भाग महत् तत्त्व कहलाता है। तब भगवान् अपने महाविष्णु अंश द्वारा इस महत्तत्व के जल में शयन करते हैं और इस जल को कारणार्णव अर्थात् कारण-जल कहा जाता है। जब महाविष्णु इस कारण-जल में सोते रहते हैं, तो उनकी श्वास के साथ असंख्य ब्रह्माण्ड जन्म लेते रहते हैं। ये ब्रह्माण्ड तैरते रहते हैं और समस्त कारण-जल में चारों ओर बिखर जाते हैं। वे महाविष्णु की श्वास के समय तक ही टिके रहते हैं। यही महाविष्णु पुन: गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश करते हैं और वहाँ यह नाग जैसे शेष-अवतार पर लेटे रहते हैं। उनकी नाभि से कमलनाल फूट निकलता है और इस कमल के ऊपर ब्रह्माण्ड के स्वामी ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। तब वे इस ब्रह्माण्ड के भीतर सभी प्रकार के जीवों को अपनी इच्छानुसार विभिन्न प्रकार का आकार प्रदान करते हैं। वे सूर्य, चन्द्रमा तथा अन्य देवताओं को भी उत्पन्न करते हैं।

अतएव इस भौतिक सृष्टि के मुख्य शिल्पी स्वयं भगवान् हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (९.१०) में पुष्टि हुई है। वे ही प्रकृति को सारे चर तथा अचर प्राणियों को उत्पन्न करने के लिए निर्देश करते हैं।

भौतिक सृष्टि दो प्रकार की है—महाविष्णु द्वारा सामूहिक ब्रह्माण्डों की सृष्टि, जैसा ऊपर बताया गया है तथा एकाकी ब्रह्माण्ड की सृष्टि। इन दोनों का सृजन भगवान् द्वारा होता है और इस तरह ब्रह्माण्ड अपना स्वरूप धारण करता है जैसा हम देख सकते हैं।

वर्ष-पूग-सहस्रान्ते तदण्डमुदकेशयम् ।
काल-कर्म-स्वभाव-स्थो जीवोऽजीवमजीवयत् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

वर्ष-पूग—अनेक वर्ष; सहस्र-अन्ते—हजारों वर्षों का; तत्—वह; अण्डम्—ब्रह्माण्ड; उदके—कारण-जल में; शयम्—डूबकर; काल—नित्य समय; कर्म—कर्म; स्वभाव-स्थ:—प्रकृति के गुणों के अनुसार; जीव:—जीवों के स्वामी; अजीवम्—अचर; अजीवयत्—जीवित किया।

इस प्रकार सारे ब्रह्माण्ड हजारों युगों तक जल के भीतर (कारण-जल में) पड़े रहे। समस्त जीवों के स्वामी ने उन सबमें प्रवेश करके उन्हें पूरी तरह सजीव बनाया।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् को *जीव* कहा गया है, क्योंकि वे अन्य सारे जीवों के नायक हैं। वेदों में उन्हें नित्य, समस्त नित्यों का नायक कहा गया है। जीवों के साथ भगवान् का सम्बन्ध वैसा ही है जैसा पिता का पुत्रों के साथ। गुणात्मक रूप में पुत्र तथा पिता समान होते हैं, किन्तु पिता न तो पुत्र होता है, न पुत्र कभी उत्पन्न करनेवाला पिता होता है। इस तरह, जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, गर्भोदकशायी विष्णु या हिरण्यगर्भ परमात्मा प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश कर जाते हैं और प्रकृति के गर्भ से जीवों को उत्पन्न करके उसे सजीव बनाते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.३) में पुष्टि हुई है। भौतिक सृष्टि के प्रत्येक प्रलय के बाद, सारे जीव भगवान् के शरीर में लीन हो जाते हैं और सृष्टि की समाप्ति पर वे पुन: भौतिक शक्ति के रूप में गर्भस्थ होते हैं। अतएव भौतिक जगत में भौतिक शक्ति ही जीवों की माता और भगवान् उनके पिता प्रतीत होते हैं। तथापि जब जीवन प्रदान किया जाता है, तो सारे जीव काल तथा शक्ति के वशीभूत होकर अपना स्वाभाविक कार्य पुन: करने लगते हैं और इस तरह नाना प्रकार के जीव प्रकट होते हैं। अतएव भगवान् ही इस जगत को सजीव बनाने के कारणस्वरूप हैं।

स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गत: ।
सहस्रोर्वङ्घ्रि-बाह्वक्ष: सहस्रानन-शीर्षवान् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

स:—वह (भगवान्); एव—साक्षात्; पुरुष:—भगवान्; तस्मात्—ब्रह्माण्ड के भीतर से; अण्डम्—हिरण्यगर्भ; निर्भिद्य—विभाजित करके; निर्गत:—बाहर निकल आया; सहस्र—हजारों; ऊरु—जाँघें; अङ्घ्रि—पाँव; बाहु—भुजाएँ; अक्ष:—आँखें; सहस्र—हजारों; आनन—मुँह; शीर्षवान्—सिर सहित।

यद्यपि भगवान् (महाविष्णु) कारणार्णव में शयन करते रहते हैं, किन्तु वे उससे बाहर निकल कर और अपने को हिरण्यगर्भ के रूप में विभाजित करके प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट हो गये और उन्होंने हजारों-हजारों पाँव, भुजा, मुँह, सिर वाला विराट रूप धारण कर लिया।

तात्पर्य : प्रत्येक ब्रह्माण्ड के भीतर लोकों का विस्तार भगवान् के विराट रूप के विभिन्न अंगों के रूप में होता है, जिनका वर्णन अगले श्लोक में हुआ है।

यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः ।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; इह—इस ब्रह्माण्ड में; अवयवैः—शरीर के अंगों के द्वारा; लोकान्—सारे लोक; कल्पयन्ति—कल्पना करते हैं; मनीषिणः—बड़े-बड़े दार्शनिक; कटि-आदिभिः—कमर से नीचे; अधः—नीचे की ओर; सप्त—सात लोक; सप्त ऊर्ध्वम्—तथा सात लोक ऊपर की ओर; जघन-आदिभिः—सामने का हिस्सा।

बड़े-बड़े दार्शनिक कल्पना करते हैं कि ब्रह्माण्ड में सारे लोक भगवान् के विराट शरीर के विभिन्न ऊपरी तथा निचले अंगों के प्रदर्शन हैं।

तात्पर्य : *कल्पयन्ति* शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है 'कल्पना करते हैं।' भगवान् का विराट रूप उन दार्शनिकों की कल्पना है, जो भगवान् श्रीकृष्ण के दो भुजाओं वाले शाश्वत रूप को नहीं मानते। यद्यपि महान् दार्शनिकों द्वारा कल्पित भगवान् का विराट रूप भगवान् के स्वरूपों में से एक है, किन्तु यह न्यूनाधिक काल्पनिक ही है। कहा गया है कि सात ऊर्ध्वलोक इस विराट रूप की कटि के ऊपर स्थित हैं और सात अधोलोक उनकी कटि के नीचे स्थित हैं। कहने का भाव यह है कि भगवान् अपने शरीर के प्रत्येक अंग से अवगत हैं और सृष्टि का कोई भी भाग उनके नियन्त्रण से परे नहीं है।

पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रमेतस्य बाहवः ।
ऊर्वोर्वैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रो व्यजायत ॥ ३७॥

शब्दार्थ

पुरुषस्य—भगवान् का; मुखम्—मुँह; ब्रह्म—ब्राह्मण हैं; क्षत्रम्—क्षत्रिय; एतस्य—इसके; बाहवः—भुजाएँ; ऊर्वोः—जाँघें; वैश्यः—वणिक वर्ग; भगवतः—भगवान् के; पद्भ्याम्—पाँवों से; शूद्रः—श्रमिक वर्ग; व्यजायत—प्रकट हुआ।

ब्राह्मण वर्ग भगवान् के मुख का, क्षत्रिय उनकी भुजाओं का और वैश्य उनकी जाँघों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जबकि शूद्र वर्ग उनके पाँवों से उत्पन्न हुआ है।

तात्पर्य : सारे जीव भगवान् के अंश बताये जाते हैं। इस श्लोक में बताया गया है कि वे ऐसे किस तरह हैं। मानव समाज के चार विभाग हैं—बुद्धिमानवर्ग (ब्राह्मण), प्रशासकवर्ग (क्षत्रिय), व्यापारीवर्ग (वैश्य) तथा श्रमिकवर्ग (शूद्र)। ये सब भगवान् के शरीर के विविध अंग हैं। इस तरह कोई भी वर्ग

भगवान् से भिन्न नहीं है। मुँह तथा पाँव स्वाभाविक दृष्टि से अभिन्न हैं, किन्तु शरीर में गुण की दृष्टि से मुँह या सिर पाँवों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। लेकिन साथ ही साथ मुँह, पाँव, भुजाएँ तथा जाँघे शरीर के अवयव हैं। भगवान् के शरीर के ये अंग परम पूर्ण सेवा के निमित्त हैं। मुँह बोलने तथा खाने के लिए हैं, भुजाएँ शरीर की रक्षा के लिए हैं, पाँव शरीर को इधर-उधर ले जाने के लिए होते हैं तथा कमर शरीर को स्थित रखने के लिए होती है। अतएव समाज के बुद्धिमान वर्ग को विराट रूप का मुख होने के नाते, बोलना चाहिए और शरीर की क्षुधा-तृप्ति के लिए भोजन भी करना चाहिए। भगवान् की क्षुधा यज्ञ के फल को ग्रहण करना है। बुद्धिमान वर्ग या ब्राह्मणों को ऐसे यज्ञ सम्पन्न करने में अत्यन्त कुशल होना चाहिए और अधीन वर्गों को चाहिए कि ऐसे यज्ञों में हाथ बँटायें। परमेश्वर के लिए बोलने का अर्थ है भगवान् के असली स्वभाव का एवं सम्पूर्ण शरीर के अन्य समस्त भागों की स्थिति का प्रसार करना। इसीलिए ब्राह्मणों को ज्ञान के चरम स्रोत वेदों को जानना चाहिए। वेद का अर्थ है ज्ञान तथा अन्त का अर्थ है उसका छोर। *भगवद्गीता* के अनुसार भगवान् समस्त वस्तुओं के स्रोत हैं (*अहं सर्वस्य प्रभवः*) और इस तरह ज्ञान का अन्त (*वेदान्त*) भगवान् को जानने, भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को जानने तथा इस सम्बन्ध के अनुसार कार्य करने में है। जिस तरह शरीर के अंग शरीर से सम्बन्धित होते हैं, उसी प्रकार जीव को भगवान् के साथ अपना सम्बन्ध जानना चाहिए। मनुष्य-जीवन विशेष रूप से इसी प्रयोजन के लिए अर्थात् भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को जानने के लिए मिला है। इस सम्बन्ध को जाने बिना मनुष्य-जीवन व्यर्थ है। इसीलिए बुद्धिमान वर्ग के लोगों या ब्राह्मणों का विशेष उत्तरदायित्व है कि भगवान् के साथ हमारे इस सम्बन्ध का प्रसार करें और सामान्य जनता को सही मार्ग पर लायें। प्रशासक वर्ग जीवों की रक्षा के निमित्त है, जिससे सारे जीव इस प्रयोजन में सफल रहें। व्यापारी वर्ग अन्न उत्पन्न करने तथा उसे सारे समाज में वितरित करने के लिए है, जिससे सारी जनता को अवसर मिले कि वे सुखपूर्वक रह सकें और मनुष्य जीवन के कर्तव्यों को निभा सकें। व्यापारी वर्ग का यह भी दायित्व है कि वह गायों को सुरक्षा प्रदान करे, जिससे पर्याप्त दुग्ध तथा दुग्ध-उत्पाद प्राप्त हों। इन्हीं से समुचित स्वास्थ्य तथा बुद्धि प्राप्त हो सकती हैं, जो परम सत्य के ज्ञान के निमित्त सभ्यता को स्थापित रखने में समर्थ हैं। श्रमिक वर्ग, जो न तो बुद्धिमान होता है न शक्तिमान,

वह अन्य उच्चतर वर्गों की सेवा करके सहायता पहुँचा सकता है और उनके सहयोग से लाभान्वित हो सकता है। अतएव यह ब्रह्माण्ड भगवान् के परिप्रेक्ष्य में एक पूर्ण इकाई है। भगवान् के साथ इस सम्बन्ध के अभाव में सारा मानव समाज अस्त-व्यस्त रहता है, उसमें शान्ति तथा सम्पन्नता नहीं रहती। इसकी पुष्टि वेदों में हुई है—*ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहूराजन्यः कृतः।*

भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः ।
हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

भूः—पाताल तक सारे अधःलोक; लोकः—लोक; कल्पितः—कल्पना किया गया या कहा गया; पद्भ्याम्—पाँवों से; भुवः—ऊर्ध्व; लोकः—लोक; अस्य—उसकी (भगवान् की); नाभितः—नाभि से; हृदा—हृदय से; स्वर्लोकः—देवताओं द्वारा निवासित लोक; उरसा—वक्षस्थल से; महर्लोकः—ऋषियों मुनियों से विभूषित लोक; महा-आत्मनः—भगवान् का।

पृथ्वी-तल तक सारे अधोलोक उनके पाँवों में स्थित हैं। भुवर्लोक इत्यादि मध्य लोक उनकी नाभि में स्थित हैं और इनसे भी उच्चतर लोक, जो देवताओं तथा सुसंस्कृत ऋषियों-मुनियों द्वारा निवसित हैं, वे भगवान् के वक्षस्थल में स्थित हैं।

तात्पर्य : इस ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत चौदह लोक हैं। अधोलोक भूर्लोक कहलाते हैं, बीच के भुवर्लोक तथा ब्रह्माण्ड तक के सर्वोच्च लोक ब्रह्मलोक है, वहाँ तक के सारे ऊर्ध्वलोक स्वर्लोक कहलाते हैं। ये सभी लोक भगवान् के शरीर में स्थित हैं। दूसरे शब्दों में, इस ब्रह्माण्ड के भीतर कोई ऐसा लोक नहीं है, जिसका सम्बन्ध भगवान् के साथ न हो।

ग्रीवायां जनलोकोऽस्य तपोलोकः स्तन-द्वयात् ।
मूर्धभिः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

ग्रीवायाम्—गर्दन तक; जनलोकः—जनलोक; अस्य—उसका; तपोलोकः—तपोलोक; स्तन-द्वयात्—वक्षस्थल से प्रारम्भ होकर; मूर्धभिः—सिर से; सत्यलोकः—सत्यलोक; तु—लेकिन; ब्रह्मलोकः—आध्यात्मिक लोक; सनातनः—शाश्वत।

भगवान् के विराट रूप के वक्षस्थल से गर्दन तक के प्रदेश में जनलोक तथा तपोलोक स्थित हैं जबकि सर्वोच्च लोक, सत्यलोक, इस विराट रूप के सिर पर स्थित है। किन्तु आध्यात्मिक लोक शाश्वत हैं।

तात्पर्य : इसी ग्रंथ में हम अनेक बार बता चुके हैं कि आध्यात्मिक लोक भौतिक आकाश से परे

स्थित हैं और इस श्लोक से उस वर्णन की पुष्टि होती है। यहाँ पर सनातन शब्द महत्त्वपूर्ण है। *भगवद्गीता* (८.२०) में नित्यता का यही भाव व्यक्त हुआ है, जहाँ यह कहा गया है कि इस भौतिक जगत के परे आध्यात्मिक आकाश है, जहाँ प्रत्येक वस्तु शाश्वत है। कभी-कभी सत्यलोक, जहाँ ब्रह्मा निवास करते हैं, ब्रह्मलोक भी कहा जाता है। किन्तु यहाँ जिस ब्रह्म-लोक का उल्लेख हुआ है, वह सत्यलोक नहीं है। यह ब्रह्मलोक शाश्वत है, जबकि सत्यलोक शाश्वत नहीं होता। इन दोनों में अन्तर बताने के लिए सनातन विशेषण का प्रयोग किया गया है। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, ब्रह्मलोक ब्रह्म या परमेश्वर का लोक या आवास है। आध्यात्मिक आकाश में सारे लोक साक्षात् भगवान् जैसे हैं। भगवान् परमात्मा हैं और उनका नाम, यश, गुण, लीलाएँ इत्यादि उनसे अभिन्न हैं, क्योंकि वे परम पूर्ण हैं। इस तरह भगवान् के धाम के लोक भी उनसे अभिन्न हैं। उन लोकों में न तो शरीर तथा न आत्मा में कोई अन्तर होता है, न वहाँ इस जगत में अनुभव किये जानेवाले काल का प्रभाव ही है। वहाँ पर काल का प्रभाव न होने के अतिरिक्त ब्रह्मलोक के सारे लोक आध्यात्मिक होने के कारण, कभी विनष्ट नहीं होते। आध्यात्मिक लोकों की सारी विविधता भगवान् से तदाकार है। अतएव इस वैदिक सूक्ति *एकम् एवाद्वितीयम्* की पूरी-पूरी अनुभूति उस विविधतामय आकाश में हो जाती है। यह भौतिक जगत भगवान् के आध्यात्मिक जगत की मृगमरीचिका मात्र है। छाया होने के कारण यह कभी शाश्वत नहीं होता। इस द्वैतपूर्ण (आत्मा तथा पदार्थ) भौतिक जगत की विविधता की तुलना आध्यात्मिक जगत से नहीं की जा सकती। कभी-कभी अल्पज्ञानी व्यक्ति ज्ञान के अभाव में छाया रूपी संसार को आध्यात्मिक जगत के तुल्य मान बैठते हैं और इस तरह से वे इस संसार में भगवान् तथा उनकी लीलाओं को और बद्धजीव तथा उनके कार्यकलापों को एक समान मान लेते हैं। भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.११) में ऐसे अल्पज्ञों की भर्त्सना की है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

जब भी भगवान् अवतरित होते हैं, तो वे अपनी पूर्ण अंतरंगा शक्ति (आत्ममाया) से ऐसा करते हैं, किन्तु अल्पज्ञ उन्हें भौतिक सृष्टि में से एक समझ बैठते हैं। अतएव इस श्लोक की टीका करते हुए

श्रील श्रीधर स्वामी ठीक ही कहते हैं कि यहाँ पर उल्लिखित ब्रह्मलोक वैकुण्ठ है, जो सनातन है, अतएव वह पूर्व-वर्णित भौतिक सृष्टियों जैसा नहीं है। भगवान् का विराट स्वरूप भौतिक जगत की कल्पना है। इसका आध्यात्मिक जगत या भगवान् के धाम से कोई सरोकार नहीं है।

तत्कट्यां चातलं क्लृप्तमूरुभ्यां वितलं विभोः ।
जानुभ्यां सुतलं शुद्धं जङ्घाभ्यां तु तलातलम् ॥ ४० ॥
महातलं तु गुल्फाभ्यां प्रपदाभ्यां रसातलम् ।
पातालं पाद-तलत इति लोकमयः पुमान् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

तत्—उसकी; कट्याम्—कमर में; च—भी; अतलम्—पृथ्वी के नीचे प्रथम लोक; क्लृप्तम्—स्थित; ऊरुभ्याम्—जाँघों में; वितलम्—नीचे का द्वितीय लोक; विभोः—भगवान् का; जानुभ्याम्—घुटनों में; सुतलम्—नीचे का तृतीय लोक; शुद्धम्—शुद्ध; जङ्घाभ्याम्—जोड़ों में; तु—लेकिन; तलातलम्—नीचे का चौथा लोक; महातलम्—नीचे का पाँचवाँ लोक; तु—लेकिन; गुल्फाभ्याम्—टखने या पिण्डलियों में; प्रपदाभ्याम्—पाँवों के ऊपरी या सामने के भाग पर; रसातलम्—नीचे का छठा लोक; पातालम्—नीचे का सातवाँ लोक; पाद-तलतः—पाँवों के तलुओं में; इति—इस प्रकार; लोक-मयः—लोकों से पूर्ण; पुमान्—भगवान्।

हे पुत्र नारद, तुम मुझसे जान लो कि चौदह लोकों में से सात अधोलोक हैं। इनमें पहला लोक अतल है, जो कटि में स्थित है, दूसरा लोक वितल जाँघों में स्थित है, तीसरा लोक सुतल घुटनों में, चौथा लोक तलातल पिंडलियों में, पाचवाँ लोक महातल टखनों में, छठा लोक रसातल है, जो पाँवों के ऊपरी भाग में स्थित है तथा सातवाँ लोक पाताल लोक है, जो तलवों में स्थित है। इस प्रकार भगवान् का विराट रूप समस्त लोकों से पूर्ण है।

तात्पर्य : आधुनिक साहसिक व्यक्ति (अन्तरिक्ष यात्री) *श्रीमद्भागवत* से यह सूचना प्राप्त कर सकते हैं कि अन्तरिक्ष में चौदह लोक हैं। इनकी स्थिति पृथ्वी लोक से परिगणित की जाती है, जिसे भूर्लोक कहा जाता है। भूर्लोक के ऊपर भुवर्लोक है और सबसे ऊपरी लोक सत्यलोक है। ये सात ऊर्ध्व लोक हैं। इसी प्रकार सात अधोलोक हैं, जिनके नाम हैं—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल तथा पाताल लोक। ये सभी लोक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में बिखरे हुए हैं और इस ब्रह्माण्ड का क्षेत्रफल २०० करोड़ गुणा २०० करोड़ वर्गमील है। आधुनिक अन्तरिक्ष-यात्री पृथ्वी से कुछ हजार मील दूरी तक ही यात्रा कर सकते हैं, अतएव आकाश में यात्रा करने का उनका प्रयास, विस्तीर्ण सागर के तट पर बच्चे के खिलवाड़ जैसा है। चन्द्रमा ऊर्ध्वलोकों के तीसरे स्तर पर स्थित है और

श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध से हम अपार भौतिक आकाश में बिखरे विभिन्न लोकों की दूरी जान सकते हैं। हम जिस लोक में रह रहे हैं, उसके परे असंख्य ब्रह्माण्ड हैं और ये सभी मिलाकर उस आध्यात्मिक आकाश का, जिसे ऊपर सनातन ब्रह्मलोक कहा गया है, एक नगण्य अंश मात्र है। भगवान् *भगवद्गीता* के निम्नलिखित श्लोक (८.१६) में बुद्धिमान मनुष्यों को कृपापूर्वक अपने धाम वापस बुलाते हैं।

आब्रह्मभुवनाँल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

ब्रह्माण्ड का सर्वोच्च लोक, सत्यलोक, जो शाश्वत ब्रह्मलोक के नीचे स्थित है और जिसका वर्णन ऊपर दिया गया है तथा अन्य सारे लोक भौतिक हैं। इन भौतिक लोकों में किसी व्यक्ति का स्थान अब भी प्रकृति के नियमों अर्थात् जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के अधीन है। किन्तु जब मनुष्य नित्य ब्रह्मलोक के सनातन आकाश में, जो ईश्वर का धाम है, प्रवेश करता है, तो उसे उपर्युक्त भौतिक कष्टों से पूर्ण मुक्ति मिल जाती है। अतएव चिन्तनशील दार्शनिकों (ज्ञानियों) तथा योगियों द्वारा कल्पित मुक्ति तभी प्राप्त होती है, जब कोई भगवान् का भक्त बन जाता है। जो भगवद्भक्त नहीं है, वह भगवद्धाम में प्रविष्ट नहीं हो सकता। आध्यात्मिक स्थिति में सेवावृत्ति की प्राप्ति द्वारा ही मनुष्य भगवद्धाम में प्रवेश कर सकता है। अतएव दार्शनिकों तथा योगियों को सर्वप्रथम भक्ति-सम्प्रदाय की ओर आकृष्ट होना चाहिए, तभी वे वास्तव में मुक्ति-लाभ कर सकते हैं।

भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः ।
स्वर्लोकः कल्पितो मूर्ध्ना इति वा लोक-कल्पना ॥ ४२॥

शब्दार्थ

भूर्लोकः—**पाताल से लेकर धरालोक तक के समग्र लोक**; कल्पितः—**कल्पना पर आधारित**; पद्भ्याम्—**पाँवों पर स्थित**; भुवर्लोकः—**भुवर्लोक**; अस्य—**भगवान् के विश्व-रूप की**; नाभितः—**नाभि से**; स्वर्लोकः—**स्वर्गलोक से प्रारम्भ होने वाले ऊर्ध्व लोक**; कल्पितः—**कल्पना किये गये**; मूर्ध्ना—**वक्षस्थल से लेकर सिर तक**; इति—**इस प्रकार**; वा—**अथवा**; लोक—**लोक**; कल्पना—**कल्पना**।

अन्य लोग सम्पूर्ण लोकों को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। इनके नाम हैं—परम पुरुष के पाँवों पर अधोलोक (पृथ्वी तक), नाभि पर मध्यलोक तथा वक्षस्थल से सिर तक

ऊर्ध्व लोक (स्वर्गतक)।

तात्पर्य : यहाँ पर सम्पूर्ण लोकों के तीन विभागों का उल्लेख हुआ है, कुछ लोग लोकों की संख्या चौदह मानते हैं। यहाँ इसकी भी व्याख्या हुई है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''समस्त कारणों के कारण'' नामक पाँचवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छः

पुरुष सूक्त की पुष्टि

ब्रह्मोवाच

वाचां वह्नेर्मुखं क्षेत्रं छन्दसां सप्त धातवः ।
हव्य-कव्यामृतान्नानां जिह्वा सर्व-रसस्य च ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; वाचाम्—वाणी का; वह्नेः—अग्नि का; मुखम्—मुख; क्षेत्रम्—जनन-विन्दु; छन्दसाम्—वैदिक मन्त्रों का, यथा गायत्री का; सप्त—सात; धातवः—त्वचा तथा अन्य छः स्तर; हव्य-कव्य—देवताओं तथा पितरों को दी गई भेंट; अमृत—मनुष्यों का भोजन; अन्नानाम्—सभी प्रकार के खाद्य पदार्थों का; जिह्वा—जीभ; सर्व—समस्त; रसस्य—समस्त व्यंजनों का; च—भी।

ब्रह्माजी ने कहा : विराट पुरुष का मुख वाणी का उद्गम-विन्दु है और उसका नियामक देव अग्नि है। उनकी त्वचा तथा अन्य छह स्तर (आवरण) वैदिक मन्त्रों के उद्गम-विन्दु हैं और उनकी जीभ देवताओं, पितरों तथा सामान्यजनों को अर्पित करनेवाले विभिन्न खाद्यों तथा व्यंजनों (रसों) का उद्गम है।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् के विराट रूप के ऐश्वर्यों का वर्णन हुआ है। यह कहा गया है कि उनका मुख सभी प्रकार की वाणी का उद्गम-केन्द्र है और इसका अधिष्ठाता देव अग्निदेव है। उनकी त्वचा तथा शारीरिक रचना के अन्य छः स्तर, गायत्री जैसे सात प्रकार के वैदिक मन्त्रों के सृजन-केन्द्र हैं। गायत्री समस्त मन्त्रों का शुभारम्भ है और *श्रीमद्भागवत* के प्रथम खण्ड में इसकी व्याख्या हुई है। चूँकि जितने जनन-केन्द्र हैं, वे भगवान् के विराट रूप के विभिन्न अंग हैं और चूँकि भगवान् का रूप भौतिक सृष्टि से परे है, अतएव यह समझना चाहिए कि वाणी, जीभ, त्वचा आदि से यह बोध होता है कि भगवान् का दिव्य रूप इनसे रहित नहीं होता। भौतिक वाणी या भोजन ग्रहण करने की शक्ति मूलतः भगवान् से उत्पन्न होती है। ऐसी क्रियाएँ मूल आगारों के विकृत प्रतिबिम्ब हैं—दिव्य अवस्था भी आध्यात्मिक विविधता से रहित नहीं होती। आध्यात्मिक जगत में भौतिक विविधता के विकृत स्वरूप अपने दिव्य मूल स्वरूप में पूरी तरह दिखते हैं। अन्तर केवल इतना ही होता है कि भौतिक कार्य-कलाप प्रकृति के तीन गुणों से कलुषित हो जाते हैं, जबकि आध्यात्मिक जगत में सारी शक्तियाँ

शुद्ध होती हैं, क्योंकि वे भगवान् की अनन्य दिव्य भक्ति में लगी रहती हैं। आध्यात्मिक जगत में भगवान् प्रत्येक वस्तु के भव्य भोक्ता हैं और सारे जीव भौतिक प्रकृति के गुणों के कल्मष से रहित भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहते हैं। आध्यात्मिक जगत के कार्यकलाप भौतिक जगत के किसी भी उन्माद से रहित होते हैं, किन्तु आध्यात्मिक पद पर निर्विशेषवादी जिस निर्विशेष शून्यता की बात करते हैं वहाँ वह नहीं पाई जाती। नारद पञ्चरात्र में भक्तिमय सेवा की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।

हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥

चूँकि मूलत: सारी इन्द्रियाँ भगवान् के इन्द्रिय-आगार से उत्पन्न होती हैं, अतएव भौतिक जगत के कामोद्दीपक कार्यों को भक्ति की विधि से शुद्ध करना होता है और इस तरह हम अपने भौतिक कार्यों की वर्तमान अवस्था को शुद्ध करके जीवन की सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। शुद्धिकरण की यह प्रक्रिया विभिन्न उपाधियों की धारणा से मुक्त होने की अवस्था से प्रारम्भ होती है। प्रत्येक जीव किसी न किसी सेवा में लगा है, चाहे वह अपनी सेवा हो या अपने परिवार, समाज या देश की सेवा हो, लेकिन दुर्भाग्यवश ऐसी सारी सेवाएँ भौतिक आसक्ति के कारण ही सम्पन्न की जाती हैं। भौतिक आसक्तियों को मात्र भगवान् की सेवा में बदल देना चाहिए और इस प्रकार इस भौतिक आसक्ति से मुक्त होने का उपचार स्वत: प्रारम्भ हो जाता है। इस तरह मुक्ति की विधि अन्य सभी विधियों की अपेक्षा भक्तिमय सेवा के माध्यम से सरल है, क्योंकि *भगवद्गीता* (१२.५) में कहा गया है कि यदि कोई निर्विशेष रूप में आसक्त होता है, तो उसे नाना प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं— *क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।*

सर्वासूनां च वायोश्च तन्नासे परमायणे ।
अश्विनोरोषधीनां च घ्राणो मोद-प्रमोदयो: ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सर्व—सभी; असूनाम्—विभिन्न प्रकार की प्राणवायु; च—तथा; वायो:—वायु का; च—भी; तत्—उसकी; नासे—नाक में; परम-आयणे—दिव्य जनन-बिन्दु में; अश्विनो:—अश्विनीकुमार देवताओं का; ओषधीनाम्—समस्त जड़ी-बूटियों का; च—भी; घ्राण:—घ्राण-शक्ति; मोद—आनन्द; प्रमोदयो:—विशिष्ट खेल।

उनके दोनों नथुने हमारे श्वास के तथा अन्य सभी प्रकार के वायु के जनन-केन्द्र हैं; उनकी

घ्राण शक्ति से अश्विनीकुमार तथा समस्त प्रकार की जड़ी-बूटियाँ उत्पन्न होती हैं और उनकी श्वास-शक्ति से विभिन्न प्रकार की सुगन्धियाँ उत्पन्न होती हैं।

रूपाणां तेजसां चक्षुर्दिवः सूर्यस्य चाक्षिणी ।
कर्णौ दिशां च तीर्थानां श्रोत्रमाकाश-शब्दयोः ॥ ३॥

शब्दार्थ

रूपाणाम्—सभी प्रकार के रूपों के लिए; तेजसाम्—सभी प्रकाशमानों का; चक्षुः—आँखें; दिवः—चमकने वाला; सूर्यस्य—सूर्य के; च—भी; अक्षिणी—नेत्र-गोलक; कर्णौ—दो कान; दिशाम्—समस्त दिशाओं का; च—तथा; तीर्थानाम्—समस्त वेदों का; श्रोत्रम्—श्रवणेन्द्रिय; आकाश—आकाश; शब्दयोः—सारी ध्वनियों का।

उनके नेत्र सभी प्रकार के रूपों के उत्पत्ति-केन्द्र हैं। वे चमकते हैं तथा प्रकाशित करते हैं। उनकी पुतलियाँ (नेत्र-गोलक) सूर्य तथा दैवी नक्षत्रों की भाँति हैं। उनके कान सभी दिशाओं में सुनते हैं और समस्त वेदों को ग्रहण करनेवाले हैं। उनकी श्रवणेन्द्रिय आकाश तथा समस्त प्रकार की ध्वनियों की उद्‌गम है।

तात्पर्य : कभी-कभी तीर्थानाम् शब्द की व्याख्या तीर्थस्थलों के रूप में की जाती है, किन्तु श्रील जीव गोस्वामी का कहना है कि यह वैदिक दिव्य ज्ञान के ग्रहण करने के लिए प्रयुक्त है। वैदिक ज्ञान के समर्थकों को तीर्थ कहा भी जाता है।

तद्‌गात्रं वस्तु-साराणां सौभगस्य च भाजनम् ।
त्वगस्य स्पर्श-वायोश्च सर्व-मेधस्य चैव हि ॥ ४॥

शब्दार्थ

तत्—उसका; गात्रम्—शरीर; वस्तु-साराणाम्—सभी वस्तुओं के सार का; सौभगस्य—समस्त शुभ अवसरों का; च—तथा; भाजनम्—उत्पादन-क्षेत्र; त्वक्—त्वचा; अस्य—उसकी; स्पर्श—स्पर्श; वायोः—गतिशील वायु का; च—भी; सर्व—सभी प्रकार के; मेधस्य—यज्ञों का; च—भी; एव—निश्चय ही; हि—सही-सही।

उनके शरीर की ऊपरी सतह सभी वस्तुओं के सार एवं समस्त शुभ अवसरों की जन्म-स्थली है। उनकी त्वचा गतिशील वायु की भाँति सभी प्रकार के स्पर्श का उद्‌गम तथा समस्त प्रकार के यज्ञों को सम्पन्न करने का स्थान है।

तात्पर्य : वायु सारे लोकों का गतिशील तत्त्व है, अतएव इच्छित लोकों को जाने के जनन-केन्द्र हैं, ये यज्ञ उनके शरीर का ऊपरी सतह हैं और समस्त शुभ अवसरों के उद्‌गम हैं।

रोमाण्युद्भिज्ज-जातीनां यैर्वा यज्ञस्तु सम्भृतः ।
केश-श्मश्रु-नखान्यस्य शिला-लोहाभ्र-विद्युताम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

रोमाणि—देह के रोम; उद्भिज्ज—वनस्पति; जातीनाम्—जातियों का; यैः—जिसके द्वारा; वा—या; यज्ञः—यज्ञ; तु—लेकिन; सम्भृतः—विशेष रूप से सेवित; केश—बाल; श्मश्रु—मूछें; नखानि—नाखून; अस्य—उसका; शिला—पत्थर; लोह—लौह अयस्कों; अभ्र—बादल; विद्युताम्—बिजली ।

उनके शरीर के रोम समस्त प्रकार की वनस्पति के कारण हैं, विशेष रूप से उन वृक्षों के, जो यज्ञ की सामग्री (अवयव) के रूप में काम आते हैं। उनके सिर तथा मुख के बाल बादलों के आगार हैं और उनके नाखून बिजली, पत्थरों तथा लौह अयस्कों के उद्गम-स्थल हैं।

तात्पर्य : भगवान् के चमकदार नाखून बिजली उत्पन्न करते हैं और सारे बादल उनके सिर के बालों पर टिके रहते हैं। अतएव भगवान् के शरीर से जीवन की सभी प्रकार की आवश्यक वस्तुएँ एकत्र की जा सकती हैं। इसीलिए वेद इसकी पुष्टि करते हैं कि भगवान् समस्त उत्पन्न वस्तुओं के कारण हैं। भगवान् समस्त कारणों के परम कारण हैं।

बाहवो लोक-पालानां प्रायशः क्षेम-कर्मणाम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

बाहवः—भुजाएँ; लोक-पालानाम्—लोकों के अधिपति या देवताओं के; प्रायशः—प्रायः; क्षेम-कर्मणाम्—जन-सामान्य के नेताओं तथा रक्षकों के ।

भगवान् की भुजाएँ बड़े-बड़े देवताओं तथा जनसामान्य की रक्षा करनेवाले अन्य नायकों के उद्गम-स्थल हैं।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के इस महत्त्वपूर्ण श्लोक की *भगवद्गीता* (१०.४१-४२) में निम्नलिखित प्रकार से पुष्टि और व्याख्या हुई है—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।

तद् तद् एवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशंसम्भवम् ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।

विष्टभ्याहम् इदं कृत्स्नम् एकांशेन स्थितो जगत् ॥

तमाम शक्तिशाली राजा, नेता, वैज्ञानिक, कलाकार, शिल्पी, अन्वेषक, पुरातत्त्वविद्, उद्योगपति,

राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री, श्रेष्ठ व्यापारी तथा अनेक शक्तिशाली देव यथा ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, वरुण तथा मरुत जैसे देवता, जो अपने-अपने पदों पर विश्व के कार्यों की देख-रेख कर रहे हैं, सभी परमेश्वर के विभिन्न शक्तिशाली अंश हैं। परमेश्वर श्रीकृष्ण उन समस्त जीवों के पिता हैं, जो अपनी-अपनी इच्छाओं-आकांक्षाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न उच्च तथा निम्न पदों पर आसीन हैं। उनमें से कुछ, जैसाकि विशेष रूप से ऊपर कहा जा चुका है, भगवान् की इच्छानुसार विशिष्ट शक्ति से सम्पन्न हैं। बुद्धिमान मनुष्य को यह निश्चित रूप से समझ लेना होगा कि जीव, चाहे कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, न तो पूर्ण होता है, न स्वतन्त्र। सारे प्राणियों को इस श्लोक में लिखे अनुसार अपनी विशिष्ट शक्ति का मूल उद्‌गम स्वीकार करना चाहिए। यदि वे इसके अनुसार कर्म करते हैं, तो वे अपने-अपने वृत्तिपरक कर्मों को करने मात्र से जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं और यह सिद्धि है शाश्वत जीवन, पूर्ण ज्ञान तथा अक्षय आशीष। जब तक विश्व के शक्तिशाली व्यक्ति अपनी-अपनी शक्तियों के उद्‌गम को अर्थात् भगवान् को स्वीकार नहीं करते, तब तक माया के सारे कार्यकलाप चलते रहेंगे। माया के कार्य ऐसे होते हैं कि शक्तिशाली व्यक्ति भ्रामक भौतिक शक्ति द्वारा दिग्भ्रमित होकर अपने को इस विश्व में सर्वेसर्वा मान बैठता है और ईश-चेतना का विकास नहीं कर पाता। फलस्वरूप संसार में मिथ्या अहंकार-भाव मैं (तथा मेरा) का प्राधान्य हो गया है और अस्तित्व के लिए मानव समाज में कठिन जीवन-स्पर्धा चल रही है। अतएव बुद्धिमान वर्ग के लोगों को चाहिए कि भगवान् को समस्त शक्तियों का चरम स्रोत स्वीकार करें और उनका आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए उनको सम्मान प्रदर्शित करें। भगवान् को प्रत्येक वस्तु का परम स्वामी स्वीकार कर लेने से, मनुष्य को जीवन की सर्वोच्च सिद्धि मिल सकती है क्योंकि वे वास्तव में ऐसे हैं। समाज की दृष्टि में मनुष्य का चाहे जो भी स्थान हो, किन्तु यदि वह भगवान् से प्रेम भाव का आदान-प्रदान करने का प्रयत्न करता है और भगवान् के आशीर्वादों से तुष्ट रहता है, तो उसे सर्वाधिक मानसिक शान्ति का अनुभव होता है, जिसके लिए वह जन्म-जन्मान्तर से लालायित रहता है। मानसिक शान्ति तभी प्राप्त की जा सकती है जब मन भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति में स्थित हो। भगवान् के अंशों को भगवान् की सेवा करने की विशिष्ट शक्ति प्रदत्त है ठीक उसी तरह जिस तरह श्रेष्ठ व्यापारी के पुत्रों को प्रशासन की विशिष्ट शक्ति

प्राप्त रहती है। आज्ञाकारी पुत्र कभी भी अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध कार्य नहीं करता, अतएव वह परिवार के अध्यक्ष अर्थात् पिता की सहमति से अत्यन्त शान्तिपूर्ण जीवन बिताता है। इसी प्रकार चूँकि भगवान् पिता हैं, अतएव सारे जीवों को आज्ञाकारी पुत्रों की भाँति अपना कर्तव्य पूर्ण-रूपेण और सन्तोषजनक तरीके से निभाना चाहिए और पिता की इच्छा पूरी करनी चाहिए। इस प्रवृत्ति से ही मानव समाज में तुरन्त शान्ति तथा सम्पन्नता आ सकेगी।

विक्रमो भूर्भुवः स्वश्च क्षेमस्य शरणस्य च ।
सर्व-काम-वरस्यापि हरेश्चरण आस्पदम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

विक्रमः—अगले चरण; भूः भुवः—अधो तथा ऊर्ध्व लोकों के; स्वः—तथा स्वर्ग का; च—भी; क्षेमस्य—हमारे पास जो कुछ है, उसकी सुरक्षा का; शरणस्य—निर्भयता का; च—भी; सर्व-काम—वह सब, जिसकी हमें आवश्यकता पड़ती है; वरस्य—समस्त वरदानों का; अपि—ठीक-ठीक; हरेः—भगवान् के; चरणः—चरणकमल; आस्पदम्—शरण।

भगवान् के अगले डग ऊर्ध्व, अधो तथा स्वर्गलोकों के एवं हमें जो भी चाहिए, उसके आश्रय हैं। उनके चरणकमल सभी प्रकार के भय के लिए सुरक्षा का काम करते हैं।

तात्पर्य : सभी प्रकार के भय से पूर्ण सुरक्षा के लिए तथा जीवन की हमारी जितनी आवश्यकताएँ हैं, उनके लिए हमको न केवल इस लोक में अपितु ऊर्ध्व, अधो तथा स्वर्गलोक में भी भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए। भगवान् के चरणकमलों पर इस पूर्ण निर्भरता को ही शुद्ध भक्ति-मय सेवा कहते हैं और इस श्लोक में इसका प्रत्यक्ष संकेत किया गया है। इसके विषय में न तो कोई सन्देह होना चाहिए, न किसी को किसी अन्य देवता की शरण ग्रहण करने के लिए उन्मुख होना चाहिए, क्योंकि वे सब भगवान् पर ही आश्रित हैं। भगवान् के अतिरिक्त प्रत्येक जीव भगवान् की दया पर आश्रित है, यहाँ तक कि सर्वव्यापी परमात्मा तक भगवान् के परम स्वरूप पर आश्रित हैं।

अपां वीर्यस्य सर्गस्य पर्जन्यस्य प्रजापतेः ।
पुंसः शिश्न उपस्थस्तु प्रजात्यानन्द-निर्वृतेः ॥ ८॥

शब्दार्थ

अपाम्—जल का; वीर्यस्य—वीर्य का; सर्गस्य—सृष्टि का; पर्जन्यस्य—वर्षा का; प्रजापतेः—स्रष्टा का; पुंसः—भगवान् का; शिश्नः—जननांग; उपस्थः तु—गुदा-भाग; प्रजाति—जन्म देने के कारण; आनन्द—आनन्द के; निर्वृतेः—कारण।

भगवान् के जननांगों से जल, वीर्य, सृष्टि, वर्षा तथा प्रजापतियों का जन्म होता है। उनके

जननांग उस आनन्द के कारण-स्वरूप हैं, जिससे जनन के कष्ट का प्रतिकार किया जा सकता है।

तात्पर्य : जननांग तथा जनन का सुख पारिवारिक भार के कष्टों को संतुलित करता रहता है। यदि भगवत्कृपा से जननांगों के ऊपर एक आनन्द-प्रदायक वस्तु का आवरण न हो, तो जनन-क्रिया बन्द हो जाय। यह वस्तु इतना प्रखर आनन्द प्रदान करती है कि इससे पारिवारिक भार का कष्ट भूल जाता है। पुरुष इस आनन्दायक वस्तु से इतना मोहित हो जाता है कि वह एक ही सन्तान को जन्म देकर सन्तुष्ट नहीं होता, अपितु सन्तानों की संख्या बढ़ाता जाता है और इस आनन्दादायक वस्तु के कारण ही उनके पालन-पोषण में कठिनाई उठाने की झंझट अपने सिर पर ले लेता है। किन्तु यह आनन्ददायक वस्तु मिथ्या नहीं होती, क्योंकि यह भगवान् के दिव्य शरीर से निकलती है। दूसरे शब्दों में, आनन्दप्रदायक वस्तु वास्तविकता है, लेकिन भौतिक संसर्ग के कारण इसने भौतिक कल्मष ग्रहण कर लीया है। भौतिक जगत में, भौतिक संसर्ग के कारण विषयी जीवन अनेक दुखों का कारण बनता है। अतएव भौतिक जगत में ऐसे जीवन को आवश्यकता से अधिक प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए। भौतिक जगत में भी सन्तान उत्पन्न करने की आवश्यकता है, लेकिन सन्तानोत्पत्ति का कार्य आध्यात्मिक मूल्यों का पूर्ण उत्तरदायित्व निभाते हुए करना होगा। जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों को भौतिक जगत में मानव रूप में ही साकार बनाया जा सकता है और मनुष्य को आध्यात्मिक मूल्यों के प्रसंग में ही परिवार-नियोजन करना चाहिए, अन्यथा नहीं। संतति-निरोधक के उपयोग के द्वारा परिवार-नियोजन अत्यन्त घृणित है और भौतिक संदूषण का अत्यन्त स्थूल रूप है। जो भौतिकतावादी इन उपायों का उपयोग करते हैं, वे कृत्रिम विधियों द्वारा जननांग के ऊपर आवरण की आनन्द-शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग करना चाहते हैं और इसके आध्यात्मिक महत्त्व को नहीं जानते। और आध्यात्मिक मूल्यों के ज्ञान के बिना, कम बुद्धिमान व्यक्ति जननांगों का उपयोग केवल भौतिक इन्द्रिय आनन्द के लिए करना चाहता है।

पायुर्यमस्य मित्रस्य परिमोक्षस्य नारद ।
हिंसाया निर्ऋतेर्मृत्योर्निरयस्य गुदं स्मृतः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

पायुः—गुदा; यमस्य—मृत्यु का नियामक देव; मित्रस्य—मित्र का; परिमोक्षस्य—मलद्वार का; नारद—हे नारद; हिंसायाः—ईर्ष्या का; निर्ऋतेः—दुर्भाग्य का; मृत्योः—मृत्यु का; निरयस्य—नरक का; गुदम्—गुदा; स्मृतः—समझा जाता है।

हे नारद, भगवान् के विराट रूप का गुदाद्वार मृत्यु के नियामक देव, मित्र, का धाम है और भगवान् की बड़ी आँत का छोर ईर्ष्या, दुर्भाग्य, मृत्यु, नरक आदि का स्थान माना जाता है।

पराभूतेरधर्मस्य तमसश्चापि पश्चिमः ।
नाड्यो नद-नदीनां च गोत्राणामस्थि-संहतिः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

पराभूतेः—उद्विग्नता का; अधर्मस्य—अनैतिकता का; तमसः—अज्ञान का; च—तथा; अपि—भी; पश्चिमः—पीठ; नाड्यः—नसों का; नद—बड़ी नदियों का; नदीनाम्—नालों का; च—भी; गोत्राणाम्—पर्वतों की; अस्थि—हड्डियाँ; संहतिः—संकलन।

भगवान् की पीठ समस्त प्रकार की उद्विग्नता तथा अज्ञान एवं अनैतिकता का स्थान है। उनकी नसों से नदियाँ तथा नाले प्रवाहित होते हैं और उनकी हड्डियों पर बड़े-बड़े पहाड़ बने हैं।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की निराकार अवधारणा को खंडन करने के लिए यहाँ पर भगवान् के दिव्य शरीर की संरचना का क्रमबद्ध विश्लेषण दिया गया है। भगवान् के शरीर (विराट रूप) के प्राप्य वर्णन से स्पष्ट है कि भगवान् का स्वरूप सामान्य संसारी अवधारणा से भिन्न है। किसी भी दशा में वे निराकार नहीं हैं। चूँकि अज्ञान भगवान् का पृष्ठ भाग (पीठ) है, अतएव अल्पज्ञों का अज्ञान भी भगवान् की शारीरिक अवधारणा से पृथक् नहीं होता। चूँकि उनका शरीर प्रत्येक वस्तु का समग्र रूप है, अतएव कोई यह डींग नहीं हाँक सकता कि वे केवल निर्विशेष हैं। इसके विपरीत, भगवान् के पूर्ण वर्णन से सिद्ध होता है कि वे एकसाथ साकार तथा निर्विशेष दोनों हैं। भगवान् का साकार रूप उनका मूल रूप है और उनका निर्विशेष प्रकाश उनके दिव्य शरीर का प्रतिबिम्ब मात्र है। जो लोग सामने से भगवान् का दर्शन करने का अवसर पाते हैं, वे ही भगवान् के साकार रूप का साक्षात्कार कर सकते हैं। किन्तु जो कुण्ठित हैं और इसलिए भगवान् के अज्ञान पक्ष की ओर रखे जाते हैं, अथवा जो भगवान् का दर्शन पीछे की ओर से करते हैं, वे उनके निर्विशेष रूप का ही साक्षात्कार कर सकते हैं।

अव्यक्त-रस-सिन्धूनां भूतानां निधनस्य च ।
उदरं विदितं पुंसो हृदयं मनसः पदम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अव्यक्त—निर्विशेष स्वरूप; रस-सिन्धूनाम्—जल के सागरों का; भूतानाम्—भौतिक जगत में जन्म लेने वालों का; निधनस्य—संहार का; च—भी; उदरम्—उसका पेट; विदितम्—बुद्धिमान लोगों द्वारा ज्ञेय; पुंसः—महापुरुष का; हृदयम्—हृदय; मनसः—सूक्ष्म शरीर का; पदम्—स्थान, पद।

भगवान् का निराकार स्वरूप महासागरों का धाम है और उनका उदर भौतिक दृष्टि से विनष्ट जीवों का आश्रय है। उनका हृदय जीवों के सूक्ष्म भौतिक शरीरों का धाम है। बुद्धिमान लोग इसे इस प्रकार से जानते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (८.१७-१८) में कहा गया है कि मनुष्यों की गणना के अनुसार ब्रह्मा का एक दिन चारों युगों के एक हजार युगों के तुल्य (प्रत्येक ४३०००००० वर्ष) होता है और ब्रह्मा की रात भी इतनी ही बड़ी होती है। ब्रह्मा ऐसे सौ वर्षों तक जीवित रहते हैं और तब उनकी मृत्यु हो जाती है। ब्रह्मा, जो सामान्यतया भगवान् के बहुत बड़े भक्त हैं, अपनी मृत्यु के बाद ही मुक्ति प्राप्त करते हैं। इस प्रकार ब्रह्माण्ड (ब्रह्माजी द्वारा नियंत्रित फुटबाल जैसा गोलाकार पिण्ड) का संहार हो जाता है और किसी लोक-विशेष के या कि पूरे ब्रह्माण्ड के निवासी भी विनष्ट हो जाते हैं। इस श्लोक में उल्लिखित अव्यक्त शब्द का अर्थ ब्रह्मा की रात है जब आंशिक प्रलय होती है और उस विशेष ब्रह्माण्ड के जीव, यहाँ तक कि ब्रह्मलोक बड़े-बड़े समुद्रों आदि सहित, विराट पुरुष के उदर में आश्रय ग्रहण करते हैं। ब्रह्मा की रात बीतने पर पुनः सृष्टि होती है और भगवान् के उदर में स्थित सारे जीव अपनी-अपनी भूमिका निभाने के लिए छोड़ दिए जाते हैं मानो वे गहरी निद्रा से जगे हों। चूँकि जीव कभी नष्ट नहीं होते, अतएव भौतिक जगत का संहार होने पर जीवों का अस्तित्व नहीं मिटता, लेकिन जब तक मुक्ति प्राप्त नहीं होती, तब तक जीव को एक शरीर त्याग कर पुनः पुनः दूसरा शरीर धारण करना होता है। यह मनुष्य-जीवन शरीर के बारम्बार परिवर्तन का समाधान निकालने के लिए होता है, जिसके फलस्वरूप चिदाकाश में स्थान प्राप्त हो सके जहाँ प्रत्येक वस्तु सच्चिदानन्द स्वरूप है। दूसरे शब्दों में, जीवों के सूक्ष्म रूप परम पुरुष के हृदय में रहते हैं और सृष्टि के समय वे आकार ग्रहण कर लेते हैं।

धर्मस्य मम तुभ्यं च कुमाराणां भवस्य च ।
विज्ञानस्य च सत्त्वस्य परस्यात्मा परायणम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

धर्मस्य—धार्मिक नियमों का या यमराज का; मम—मेरा; तुभ्यम्—तुम्हारा; च—तथा; कुमाराणाम्—चारों कुमारों का; भवस्य—शिवजी का; च—तथा; विज्ञानस्य—दिव्य ज्ञान का; च—भी; सत्त्वस्य—सत्य का; परस्य—महापुरुष की; आत्मा—चेतना; परायणम्—आश्रित।

तथापि उस महापुरुष की चेतना धार्मिक सिद्धान्तों का, मेरा, तुम्हारा तथा चारों कुमारों—सनक, सनातन, सनत्कुमार तथा सनन्दन—का निवास-स्थान है। यही चेतना सत्य तथा दिव्य ज्ञान का वास-स्थान है।

अहं भवान् भवश्चैव त इमे मुनयोऽग्रजाः ।
सुरासुर-नरा नागाः खगा मृग-सरीसृपाः ॥ १३ ॥
गन्धर्वाप्सरसो यक्षा रक्षो-भूत-गणोरगाः ।
पशवः पितरः सिद्धा विद्याध्राश्चारणा द्रुमाः ॥ १४ ॥
अन्ये च विविधा जीवा जल-स्थल-नभौकसः ।
ग्रहर्क्ष-केतवस्तारास्तडितः स्तनयित्नवः ॥ १५ ॥
सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत् ।
तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; भवान्—आप; भवः—शिवजी; च—भी; एव—निश्चय ही; ते—वे; इमे—सभी; मुनयः—मुनिगण; अग्र-जाः—तुमसे बड़े; सुर—देवता; असुर—असुर; नराः—मनुष्य; नागाः—नागलोक के निवासी; खगाः—पक्षी; मृग—पशु; सरीसृपाः—रेंगनेवाले जीव; गन्धर्व-अप्सरसः, यक्षाः, रक्षः-भूत-गण-उरगाः, पशवः, पितरः, सिद्धाः, विद्याध्राः, चारणाः—विभिन्न लोकों के सारे वासी; द्रुमाः—वनस्पति जगत; अन्ये—अन्य अनेक; च—भी; विविधाः—विभिन्न प्रकार के; जीवाः—जीव; जल—जल; स्थल—भूमि; नभ-ओकसः—आकाश के वासी या पक्षी; ग्रह—ग्रह-नक्षत्र; ऋक्ष—प्रभावशाली नक्षत्र; केतवः—पुच्छलतारा; ताराः—सितारे; तडितः—बिजली; स्तनयित्नवः—बादलों का गर्जन; सर्वम्—हर वस्तु; पुरुषः—भगवान्; एव इदम्—निश्चय ही ये सब; भूतम्—सृष्ट; भव्यम्—जो रचा जायेगा; भवत्—जो रचा जा चुका है; च—भी; यत्—जो कुछ; तेन इदम्—वह सब उनके कारण है; आवृतम्—ढका हुआ; विश्वम्—विश्व; वितस्तिम्—एक बालिश्त; अधितिष्ठति—स्थित।

मुझसे (ब्रह्मा से) लेकर तुम तथा भव (शिव) तक जितने भी बड़े-बड़े ऋषि-मुनि तुमसे पूर्व हुए हैं, वे, देवतागण, असुरगण, नाग, मनुष्य, पक्षी, पशु, सरीसृप आदि तथा समस्त ब्रह्माण्डों की सारी दृश्य-अभिव्यक्तियाँ यथा ग्रह, नक्षत्र, पुच्छलतारे, सितारे, विद्युत, गर्जन तथा विभिन्न लोकों के वासी यथा गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, भूतगण, उरग, पशु, पितर, सिद्ध, विद्याधर, चारण एवं अन्य विविध प्रकार के जीव जिनमें पक्षी, पशु तथा वृक्ष एवं अन्य जो कुछ

हो सकता है, सभी सम्मिलित हैं—वे सभी भूत, वर्तमान तथा भविष्य सभी कालों में भगवान् के विराट रूप द्वारा आच्छादित हैं यद्यपि वे इन सबों से परे रहते हैं और सदैव एक बालिश्त आकार के रूप में रहते हैं।

तात्पर्य : भगवान् अपनी आंशिक अभिव्यक्ति द्वारा परमात्मा के रूप में नौ इंच से अधिक माप के नहीं होते। वे अपनी योगमाया से विराट रूप में विस्तार करते हैं, जिसमें चराचर जीवों की विभिन्न किस्मों के रूप में व्यक्त जैविक तथा अजैविक सारी वस्तुएँ आ जाती हैं। अतएव ब्रह्माण्ड की व्यक्त किस्में भगवान् से भिन्न नहीं होतीं, जिस प्रकार विभिन्न रूप-रंग के सुनहले आभूषण स्वर्ण की मूल राशि से भिन्न नहीं होते। दूसरे शब्दों में, भगवान् वह परम पुरुष है, जो सृष्टि के भीतर प्रत्येक वस्तु पर नियन्त्रण रखता है और फिर भी वह समस्त व्यक्त भौतिक सृष्टि से भिन्न पृथक् परम सत्ता बना रहता है। इसीलिए *भगवद्गीता* (९.४-५) में उन्हें योगेश्वर कहा गया है। प्रत्येक वस्तु भगवान् श्रीकृष्ण की शक्ति पर निर्भर है, फिर भी वे ऐसे रूपों से पृथक् और परे रहते हैं। ऋग मन्त्र के वैदिक *पुरुष-सूक्त* में भी इसकी पुष्टि हुई है। एक ही साथ एकात्म तथा वैभिन्य के इस दार्शनिक सत्य का प्रतिपादन भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने किया था और यह *अचिन्त्य भेदाभेद तत्त्व* कहलाता है। ब्रह्मा, नारद तथा अन्य सभी एक ही समय भगवान् के साथ एक तथा उनसे पृथक् हैं। हम सभी उनके साथ उसी तरह हैं जिस तरह सोने के आभूषण गुण में स्वर्णराशि के समान हैं, लेकिन सोने का कोई भी एक आभूषण मात्रा में स्वर्ण-राशि के तुल्य नहीं होता। यह स्वर्ण-राशि कभी समाप्त नहीं होती, चाहे उससे असंख्य आभूषण क्यों न बनाये जाँय, क्योंकि यह राशि *पूर्णम्* है; यदि *पूर्णम्* में से पूर्णम् निकाल लिया जाय तो भी *परम पूर्णम्, पूर्णम्* ही बना रहता है। यह तथ्य हमारी वर्तमान अपूर्ण इन्द्रियों द्वारा अचिन्त्य है। इसीलिए भगवान् चैतन्य अपने दार्शनिक सिद्धान्त को *अचिन्त्य* कहते हैं और जैसाकि *भगवद्गीता* तथा *भागवत* से भी पुष्टि होती है, भगवान् चैतन्य का *अचिन्त्य भेदाभेद* तत्त्व परम सत्य विषयक पूर्ण दर्शन है।

स्व-धिष्ण्यं प्रतपन् प्राणो बहिश्च प्रतपत्यसौ ।
एवं विराजं प्रतपंस्तपत्यन्तर्बहिः पुमान् ॥ १७॥

शब्दार्थ

स्व-धिष्ण्यम्—विकिरण, प्रकाश; प्रतपन्—विस्तार से; प्राणः—प्राण; बहिः—बाहर; च—भी; प्रतपति—प्रकाशित करता है; असौ—सूर्य; एवम्—इस तरह से; विराजम्—विराट स्वरूप; प्रतपन्—के विस्तार से; तपति—जीवन प्रदान करता है; अन्तः—भीतर से; बहिः—बाहर से; पुमान्—परम पुरुष।.

सूर्य अपने विकिरणों का विस्तार करके भीतर तथा बाहर प्रकाश वितरित करता है। इसी प्रकार से भगवान् अपने विराट रूप का विस्तार करके इस सृष्टि में प्रत्येक वस्तु का भीतर से तथा बाहर से पालन करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् के विराट रूप का, या उनके निर्विशेष स्वरूप का जो ब्रह्मज्योति कहलाता है, स्पष्ट विवेचन हुआ है और उसकी तुलना सूर्य-प्रकाश के वितरण से की गई है। सूर्य-प्रकाश सारे ब्रह्माण्ड में फैल सकता है, लेकिन सूर्यलोक या सूर्य नारायण, जो कि उसका स्रोत है, वही ऐसे प्रकाश का मूलाधार है। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण ब्रह्मज्योति या भगवान् के निर्विशेष स्वरूप के आधार हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.२७) में हुई है। अतएव भगवान् का विराट रूप उनके निर्विशेष स्वरूप की गौण कल्पना है किन्तु मूल स्वरूप तो दो हाथोंवाला अपनी शाश्वत बंशी बजाता श्यामसुन्दर स्वरूप है। भगवान् के वितरित प्रकाश का पचहत्तर प्रतिशत आध्यात्मिक आकाश (*त्रिपाद् विभूति*) में व्यक्त होता है और शेष पचीस प्रतिशत भौतिक ब्रह्माण्डों के समग्र विस्तार को आलोकित करता है। इसकी विवेचना तथा उल्लेख *भगवद्गीता* (१०.४२) में मिलते हैं। इस तरह भगवान् के प्रकाश का पचहत्तर प्रतिशत विस्तार उनकी अन्तरंगा शक्ति कहलाती है और शेष पचीस प्रतिशत बहिरंगा शक्ति कहलाती है। सारे जीव आध्यात्मिक तथा भौतिक विस्तारों के निवासी हैं, वे उनकी *तटस्था शक्ति* कहलाते हैं और उन्हें छूट मिलती है कि चाहे वे बहिरंगा शक्ति में रहें या अन्तरंगा शक्ति में। जो लोग भगवान् के आध्यात्मिक विस्तार की परिधि में रहते हैं, वे मुक्तात्मा कहलाते हैं और जो बाह्य विस्तार में रहते हैं, वे बद्धजीव हैं। हम इन दोनों विस्तारों के निवासियों की संख्या का अनुमान लगा सकते हैं और आसानी से इस तरह इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि मुक्तात्माओं की संख्या बद्धजीवों की तुलना में कहीं अधिक है।

सोऽमृतस्याभयस्येशो मर्त्यमन्नं यदत्यगात् ।
महिमैष ततो ब्रह्मन् पुरुषस्य दुरत्ययः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (भगवान्); अमृतस्य—अमरता का; अभयस्य—निर्भयता का; ईशः—नियन्ता; मर्त्यम्—मरणशील; अन्नम्—सकाम कर्म; यत्—जो; अत्यगात्—पार कर गया है; महिमा—यश; एषः—उसका; ततः—अतएव; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण नारद; पुरुषस्य—परम पुरुष का; दुरत्ययः—अमाप्य।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अमरता तथा निर्भयता के नियन्त्रक हैं और वे मृत्यु तथा भौतिक जगत के सकाम कर्मों से परे हैं। हे नारद, हे ब्राह्मण, इसलिए परम पुरुष के यश का अनुमान लगा पाना कठिन है।

तात्पर्य : भगवान् की अन्तरंगा शक्ति का दिव्य पचहत्तर प्रतिशत भगवान् का यश है, जिसका वर्णन *पद्म पुराण* (उत्तर खण्ड) में हुआ है। उसमें यह बताया गया है कि आध्यात्मिक आकाश भगवान् की अन्तरंगा शक्ति का पचहत्तर प्रतिशत है, जिसमें स्थित लोक भगवान् की बहिरंगा शक्ति से संरचित सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों के लोकों से कहीं अधिक विशाल हैं। *चैतन्य-चरितामृत* में भगवान् की बहिरंगा शक्ति के समस्त ब्रह्माण्डों की तुलना बाल्टी भर सरसों के बीजों से की गई है। सरसों का प्रत्येक बीज अपने में एक ब्रह्माण्ड जैसा है। इनमें से एक ब्रह्माण्ड में, जिसमें हम अब रह रहे हैं, लोकों की संख्या की गणना कर पाना मनुष्य की शक्ति के परे है, तो भला हम उन सारे ब्रह्माण्डों के विषय में कैसे सोच सकते हैं, जो बाल्टी भर सरसों के बीजों के तुल्य हैं? यही नहीं, आध्यात्मिक आकाश में लोकों की संख्या भौतिक आकाश की तुलना में कम से कम तीन गुनी अधिक है। ऐसे लोक आध्यात्मिक होने के कारण भौतिक गुणों से परे होते हैं, अतएव वे केवल विशुद्ध सतोगुण से बने हुए होते हैं। इन लोकों में *ब्रह्मानन्द* का बोलबाला रहता है। इनमें से प्रत्येक शाश्वत, अविनाशी तथा भौतिक जगत में अनुभव किये जाने वाले सभी प्रकार के उन्माद से रहित होता है। इनमें से प्रत्येक लोक स्वत:प्रकाशित है और लाखों भौतिक सूर्यों के प्रकाश से (यदि हम अनुमान लगा सकें)—कहीं अधिक चकाचौंध वाला है। उन लोकों के निवासी जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग से मुक्त होते हैं और उन्हें हर वस्तु का पूर्ण ज्ञान होता है। वे सभी भगवद्भावना से युक्त होते हैं और भौतिक तृष्णाओं से रहित होते हैं। उन्हें उन परमेश्वर नारायण की दिव्य प्रेममयी सेवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं करना होता, जो ऐसे वैकुण्ठ लोक के प्रमुख श्रीविग्रह हैं। वे मुक्तात्माएँ सामवेद के गीतों के गायन में निरन्तर व्यस्त रहती हैं (*वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः*)। वे सब पाँचों उपनिषदों के साक्षात् रूप हैं। *त्रिपाद-विभूति,* जो भगवान् की अन्तरंगा शक्ति का ७५ प्रतिशत है, भगवान् का वह धाम है, जो भौतिक आकाश से

बहुत परे है, किन्तु जब हम *पाद-विभूति* की बात करते हैं, जो भगवान् की बहिरंगा शक्ति का २५ प्रतिशत होता है, भौतिक जगत के गोलक को द्योतित करता है। *पद्म पुराण* में कहा गया है कि त्रिपाद-विभूति का साम्राज्य शाश्वत है, किन्तु *पाद-विभूति* अनित्य है। इस दिव्य साम्राज्य (धाम) में भगवान् तथा उनके शाश्वत सेवकों के स्वरूप शाश्वत होते हैं और वे शुभ, अच्युत, आध्यात्मिक तथा चिर युवा रहते हैं। दूसरे शब्दों में, वहाँ पर जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग नहीं होते। यह शाश्वत स्थान दिव्य आनन्द, सौन्दर्य तथा सुख से पूर्ण रहता है। इसी तथ्य का समर्थन *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक से भी होता है और इसमें दिव्य प्रकृति को अमृत कहा गया है। जैसाकि वेदों में वर्णित है *उतामृतत्त्वस्येशानः*— परमेश्वर अमरत्व के स्वामी हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् अमर हैं और चूँकि वे अमरत्व के स्वामी हैं, अतएव वे अपने भक्तों को अमरत्व प्रदान कर सकते हैं। *भगवद्गीता* (८.१६) में भगवान् यह भी विश्वास दिलाते हैं कि जो भी उनके इस अमरत्व धाम को जाता है, वह फिर कभी तापमय मर्त्यलोक में नहीं लौटता। भगवान् उस संसारी स्वामी की तरह नहीं हैं, जो न तो कभी अपने अधीनस्थों के साथ समभाव से भोग करता है, न अमर होता है, न अपने अधीनस्थों को वह अमरत्वप्रदान कर सकता है। समस्त जीवों के नायक परमेश्वर अपने भक्तों को सारे गुण प्रदान कर सकते हैं, जिनमें अमरत्व तथा आध्यात्मिक आनन्द भी सम्मिलित हैं। भौतिक जगत में समस्त जीवों के हृदयों में सदैव चिन्ता या भय सवार रहता है, किन्तु भगवान् स्वयं परम निर्भय होने के कारण निर्भयता का यह गुण अपने शुद्ध भक्तों को भी प्रदान करते हैं। संसारी अस्तित्व स्वयं में एक प्रकार का भय होता है, क्योंकि सारे जीव जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग से सदा भयभीत रहते हैं। इस जगत में सदैव काल का प्रभाव बना रहता है, जिससे वस्तुएँ एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त होती हैं और जो जीव मूलतः *अविकार* होता है, वह समय के प्रभाव से काफी परिवर्तित हो जाता है। किन्तु शाश्वत काल के परिवर्तनशील प्रभाव भगवद्धाम में अनुपस्थित रहते हैं, अतएव यह समझना चाहिए कि उस पर काल का प्रभाव नहीं पड़ता, जिसके कारण वहाँ किसी प्रकार का भय नहीं रहता। भौतिक जगत में तथाकथित सुख मनुष्य के स्वकर्म का फल होता है। कोई मनुष्य अपने कठोर श्रम के बल पर धनवान बन सकता है और ऐसे अर्जित सुख की अवधि के विषय में सदैव भय तथा आशंका बनी रहती है। किन्तु भगवद्धाम में किसी को सुख

प्राप्त करने के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। सुख तो आत्मा का स्वभाव है, जैसाकि *वेदान्त सूत्र* में कहा गया है *आनन्दमयोऽभ्यासात्*—आत्मा स्वभाव से सुखमय है। आत्मा का यह सुख सदैव वर्धित होता रहता है, इस आनन्द के क्षीण होने का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसा अनन्य आध्यात्मिक आनन्द भौतिक ब्रह्माण्ड की परिधि में कहीं प्राप्य नहीं है, यहाँ तक कि जनलोक में या कि महर्लोक या सत्यलोक में भी नहीं, क्योंकि ब्रह्माजी भी सकाम कर्म तथा जन्म-मृत्यु के नियमों से बँधे हैं। इसीलिए यहाँ पर कहा गया है *दुरत्यय:* या दूसरे शब्दों में, भगवद्धाम के आध्यात्मिक सुख की कल्पना बड़े से बड़े ब्रह्मचारी या संन्यासी भी नहीं कर पाते, जो स्वर्ग से परे लोकों को प्राप्त करने के पात्र हैं। अथवा परमेश्वर इतने महान् हैं कि उनकी महानता की कल्पना बड़े-बड़े ब्रह्मचारी या संन्यासी तक नहीं कर पाते, किन्तु भगवत्कृपा से भगवान् के अनन्य भक्त इस सुख को सचमुच प्राप्त करते हैं।

पादेषु सर्व-भूतानि पुंसः स्थिति-पदो विदुः ।
अमृतं क्षेममभयं त्रि-मूर्ध्नोऽधायि मूर्धसु ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

पादेषु—एक चौथाई में; सर्व—सभी; भूतानि—जीव; पुंसः—परम पुरुष का; स्थिति-पदः—समस्त भौतिक ऐश्वर्य का आगार; विदुः—तुम जानो; अमृतम्—अमरत्व; क्षेमम्—सुख, जरा, रोग आदि की चिन्ता से मुक्त.; अभयम्—निर्भयता; त्रि-मूर्ध्नः—तीन उच्चतर लोकों से परे; अधायि—विद्यमान हैं; मूर्धसु—भौतिक आवरणों के पार।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अपनी एक चौथाई शक्ति के द्वारा समस्त भौतिक ऐश्वर्य के परम आगार के रूप में जाने जाते हैं, जिसमें सारे जीव रह रहे हैं। भगवान का धाम जो तीन उच्चतर लोकों से तथा भौतिक आवरणों से परे स्थित है उस में अमरता, निर्भयता तथा जरा और व्याधि से चिन्तामुक्ति का नित्य निवास है।

तात्पर्य : भगवान् की *सन्धिनी* शक्ति की समग्र अभिव्यक्ति का एक चौथाई भौतिक जगत में प्रदर्शित होता है और तीन चौथाई आध्यात्मिक जगत में। भगवान् की शक्ति के तीन अंग है—*सन्धिनी, संवित्* तथा *ह्लादिनी*। दूसरे शब्दों में, वे पूर्णतया सचिच्दानन्द-स्वरूप हैं। भौतिक जगत में ऐसे स्वरूप का प्राकट्य कम ही हो पाता है और सारे जीव, जो भगवान् के क्षुद्रांश हैं, सच्चिदानन्द स्वरूप का रंचमात्र आस्वाद केवल मुक्त अवस्था में कर पाते हैं, जबकि बद्ध अवस्था में वे बहुत कठिनाई से यह समझ पाते हैं कि जीवन का वास्तविक ज्ञातव्य तथा शुद्ध सुख क्या है। मुक्तात्माएँ भौतिक जगत में

वास करनेवाली आत्माओं से संख्या में अधिक हैं और वे ही अमरता, निर्भयता एवं जरा एवं व्याधि से मुक्ति के मामले में भगवान् की उपर्युक्त *संधिनी, संवित्* तथा *ह्लादिनी* शक्तियों के महत्त्व को समझ सकती हैं।

भौतिक जगत में सारे लोक तीन गोलकों में व्यवस्थित हैं, जिन्हें *त्रिलोक* कहा जाता है। ये हैं स्वर्ग, मर्त्य तथा पाताल। ये सब मिलाकर भगवान् की कुल *संधिनी* शक्ति के एक चौथाई भाग के बराबर हैं। इसके परे आध्यात्मिक आकाश है, जिसमें वैकुण्ठ लोक है, जो सप्तावरणों के परे है। त्रिलोक के किसी भी लोक में अमरता, पूर्ण ज्ञान तथा पूर्ण आनन्द की स्थिति का अनुभव नहीं किया जा सकता। ऊपर के तीन लोक *सात्त्विक* लोक कहलाते हैं, क्योंकि वे दीर्घायु, जरा तथा व्याधि से मुक्ति एवं निर्भयता की प्रासंगिक सुविधा प्रदान करानेवाले हैं। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि स्वर्गलोक से आगे स्थित महर्लोक को प्राप्त करते हैं, किन्तु यह भी पूर्ण निर्भयता का स्थान नहीं है, क्योंकि कल्पान्त होने पर महर्लोक का संहार हो जाता है और उसके निवासियों को उच्चतर लोकों में स्थानान्तरण करना होता है। इन लोकों में भी मृत्यु से छुटकारा नहीं मिल पाता। भले ही इनमें अपेक्षतया जीवन, ज्ञान और आनन्द का विस्तार अधिक हो, किन्तु वास्तविक अमरता, निर्भयता तथा जरा और व्याधि से मुक्ति तो सप्तावरणों से परे ही सम्भव है। ऐसी वस्तुएँ सिर में स्थित हैं (*अधायि मूर्धसु*)।

पादास्त्रयो बहिश्चासन्नप्रजानां य आश्रमाः ।
अन्तस्त्रि-लोक्यास्त्वपरो गृह-मेधोऽबृहद्व्रतः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

पादाः त्रयः—भगवान् की शक्ति के तीन चौथाई का जगत; बहिः—इस प्रकार बाहर स्थित; च—तथा; आसन्—थे; अप्रजानाम्—जिनका पुनर्जन्म नहीं होता; ये—जो; आश्रमाः—जीवन के स्तर; अन्तः—भीतर; त्रि-लोक्याः—तीनों जगतों का; तु—लेकिन; अपरः—अन्य; गृह-मेधः—गृहस्थी में आसक्त; अबृहत्-व्रतः—कठोर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किये बिना।

आध्यात्मिक जगत, जो भगवान् की तीन चौथाई शक्ति से बना है, इस भौतिक जगत से परे स्थित है और यह उन लोगों के निमित्त है, जिनका पुनर्जन्म नहीं होता। अन्य लोगों को जो गृहस्थ जीवन के प्रति आसक्त हैं और ब्रह्मचर्य व्रत का कठोरता से पालन नहीं करते, तीन लोकों के अन्तर्गत रहना ही होता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक में वर्णाश्रम धर्म या सनातन धर्म की सर्वोच्चता का स्पष्ट

उल्लेख है। मनुष्य को जो सबसे बड़ा लाभ प्रदान किया जा सकता है, वह उसे विषयी जीवन से विरक्त होने की शिक्षा का दान है, क्योंकि विषय-वासना में लिप्त रहने के कारण ही बद्धजीवन जन्म-जन्मातर चलता रहता है। जिस मानवीय सभ्यता में विषयी जीवन पर कोई नियन्त्रण नहीं होता, वह चतुर्थ कोटि की सभ्यता है, क्योंकि ऐसे वातावरण में भौतिक शरीर में बन्दी आत्मा की मुक्ति सम्भव नहीं है। जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग भौतिक शरीर से जुड़े हैं; उन्हें आत्मा से कुछ भी लेना-देना नहीं होता। किन्तु जब तक ऐन्द्रिय भोग के लिए शारीरिक आसक्ति को प्रोत्साहन मिलता रहता है, तब तक भौतिक शरीर के कारण आत्मा को बाध्य होकर जन्म तथा मृत्यु के चक्कर में आना पड़ता है, जिसकी तुलना वस्त्रों की जीर्णता से की जा सकती है।

मनुष्य जीवन का सर्वोच्च लाभ प्रदान करने के लिए वर्णाश्रम-प्रणाली में अनुयायी को ब्रह्मचारी आश्रम से ही ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने की शिक्षा दी जाती है। ब्रह्मचारी-जीवन उन विद्यार्थियों के लिए हैं, जिन्हें ब्रह्मचर्य का कठोरता से पालन करने की शिक्षा दी जाती है। जिन किशोरों ने विषयी जीवन का आस्वाद नहीं किया, वे सरलतापूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर सकते हैं और एक बार इस आश्रम में स्थिर हो जाने पर वे सर्वोच्च सिद्धावस्था तक पहुँचकर भगवान् की तीन चौथाई शक्तिवाले लोक को प्राप्त कर सकते हैं। यह पहले बताया जा चुका है कि भगवान् की तीन चौथाई शक्तिवाले लोक में न तो मृत्यु है, न भय और वहाँ मनुष्य-जीवन आनन्द तथा ज्ञान से ओतप्रोत रहता है। यदि गृहस्थ ब्रह्मचारी जीवन के नियमों में प्रशिक्षित किया जाता है, तो वह सरलता से विषयी जीवन का परित्याग कर सकता है। गृहस्थ को पचास वर्ष की आयु में गृहत्याग करने (*पञ्चशोर्ध्वं वनं व्रजेत्*) और जंगल में जीवन व्यतीत करने की संस्तुति की जाती है। इससे वह पारिवारिक स्नेह से पूर्णतया विरक्त होकर, संन्यासी बनकर पूरी तरह से भगवान् की सेवा में लग सकता है। धार्मिक सिद्धान्तों का कोई भी रूप जिसमें अनुयायियों को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना सिखलाया जाता है, मानवसमाज के लिए कल्याणकर है, क्योंकि जिन्हें इस प्रकार का प्रशिक्षण मिला है, केवल वे ही संसार के दुखमय जीवन का अन्त कर सकते हैं। भगवान् बुद्ध द्वारा बताये गये निर्वाण के नियम भी दुखमय जीवन का अन्त करने के लिए हैं। और यही विधि यहाँ पर अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में *श्रीमद्भागवत* में संस्तुत की

जा रही है, यद्यपि बौद्ध, शंकरवादी तथा वैष्णव विधियों में कोई अन्तर नहीं है। जीवन की सर्वोच्च सिद्धावस्था, जिसमें जन्म, मृत्यु, चिन्ता तथा भय से मिलती है, प्राप्त करने के लिए इनमें से किसी भी विधि में अनुयायी द्वारा ब्रह्मचर्य-व्रत को खण्डित नहीं होने दिया जाता।

जो गृहस्थ तथा व्यक्ति जानबूझ कर ब्रह्मचर्य-व्रत भंग करते हैं, उन्हें अमर लोक में प्रविष्ट होने नहीं दिया जाता। पवित्र गृहस्थ या भ्रष्ट योगी को इसी भौतिक जगत के भीतर उच्चतर लोकों में भेजा जाता है (जो भगवान् की चतुर्थांश शक्ति हैं), किन्तु वे अमरलोक में प्रविष्ट नहीं हो पाते। *अबृहद्-व्रत* वे हैं, जो ब्रह्मचर्य व्रत का खंडन करते हैं। वानप्रस्थ तथा संन्यासी यदि वे इस विधि में सफलता चाहते हैं, इस ब्रह्मचर्य-व्रत को खंडित नहीं कर सकते। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संन्यासी न तो पुनर्जन्म चाहते हैं (अप्रज), न ही वे लुक-छिप कर विषयी जीवन में लिप्त होते हैं। ऐसे अध्यात्मवादी भ्रष्ट होने पर विद्वान ब्राह्मणों या धनी व्यापारियों के परिवार में पुनः मनुष्य-जन्म धारण करते हैं, जिससे वे पुनः ऊपर उठ सकें, किन्तु सबसे अच्छी बात यह होगी कि ज्योंही मनुष्य योनि प्राप्त हो त्योंही अमरता की चरम सिद्धि प्राप्त कर ली जाय, अन्यथा मनुष्य जीवन की सारी नीतिकुशलता असफल हो जायेगी। भगवान् चैतन्य अपने अनुयायियों को ब्रह्मचर्य पालन करने की शिक्षा देने में अत्यन्त कट्टर थे। उन्होंने अपने एक निजी सेवक छोटे हरिदास को ब्रह्मचर्य व्रत पालन न कर सकने के लिए कठोर सजा दी थी। अतएव जो योगी भौतिक दुखों से परे के लोक में जाने का इच्छुक हो उसके लिए जान-बूझकर विषयी जीवन में लिप्त होना आत्मघात के तुल्य होगा और संन्यासी के लिए तो विशेष रूप से। संन्यास आश्रम में विषयी जीवन धार्मिक जीवन का सर्वाधिक विकृत रूप है और ऐसे पथभ्रष्ट व्यक्ति की रक्षा तभी हो सकती है, जब भाग्यवश उसकी भेंट किसी शुद्ध भक्त से हो सके।

सृती विचक्रमे विश्वङ् साशनानशने उभे ।
यदविद्या च विद्या च पुरुषस्तूभयाश्रयः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सृती—जीवों की गति; विचक्रमे—होती है; विश्वङ्—सर्वव्यापी भगवान्; साशन—प्रभुता जतानेवाले कार्यकलाप; अनशने—भक्ति के कार्यकलाप; उभे—दोनों; यत्—जो है; अविद्या—अज्ञान; च—भी; विद्या—वास्तविक ज्ञान; च—तथा; पुरुषः—परम पुरुष; तु—लेकिन; उभय—दोनों के लिए; आश्रयः—स्वामी।

सर्व-व्यापी भगवान् अपनी शक्तियों के कारण व्यापक अर्थों में नियन्त्रण-कार्यों के तथा

भक्तिमय सेवा के स्वामी हैं। वे समस्त परिस्थितियों में अविद्या तथा विद्या दोनों के परम स्वामी हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *विश्वङ्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जो व्यक्ति कार्य के प्रत्येक क्षेत्र में कुशलतापूर्वक विचरण कर सके, वह *पुरुष* या *क्षेत्रज्ञ* कहलाता है। ये दोनों शब्द आत्मा तथा परमात्मा अर्थात् भगवान् दोनों के लिए समान रूप से लागू होते हैं। *भगवद्गीता* (१३.३) में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥

क्षेत्र का अर्थ है स्थान और जो उस स्थान को जानता है, वह *क्षेत्रज्ञ* कहलाता है। आत्मा अपने सीमित कार्यक्षेत्र के बारे में जानता रहता है, लेकिन परमात्मा असीमित कार्य-क्षेत्र के बारे में जानता है। आत्मा अपने ही चिन्तन, अनुभूति तथा आकांक्षाओं के विषय में जानता है, लेकिन परमात्मा परम नियन्ता होने तथा सर्वत्र उपस्थित रहने के कारण हर एक के चिन्तन, अनुभूति तथा आकांक्षाओं को जानते रहते हैं और इस तरह प्रत्येक जीव अपने निजी व्यापारों का सूक्ष्म स्वामी होता है, जबकि भगवान् सबों के भूत, वर्तमान तथा भविष्य के व्यापारों के स्वामी हैं (*वेदाहं समतीतानि*)। जो अज्ञानी है, वही भगवान् तथा जीवों के इस अन्तर को नहीं जानता। जीव संज्ञानहीन जड़ पदार्थ से भिन्न होते हुए गुणात्मक रूप से भगवान् के तुल्य होता है, किन्तु भूत, वर्तमान तथा भविष्य की पूर्ण जानकारी के मामले में, वह कभी भगवान् के समकक्ष नहीं हो सकता।

तथा चूँकि जीव आंशिक रूप से ज्ञाता है, अतएव वह कभी-कभी अपनी पहचान भूल जाता है। यह विस्मृति भगवान् की *एकपाद विभूति* के क्षेत्र में या भौतिक जगत में विशेष रूप से व्यक्त होती है, किन्तु *त्रिपाद विभूति* के कार्य-क्षेत्र में या आध्यात्मिक जगत में जीव में यह विस्मृति नहीं पाई जाती, क्योंकि वे विस्मृति से उत्पन्न होने वाले सभी प्रकार के कल्मषों से मुक्त होते हैं। भौतिक शरीर विस्मृति के स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों का प्रतीक है; इसलिए भौतिक जगत का सम्पूर्ण वातावरण अविद्या कहलाता है, जबकि आध्यात्मिक जगत का सारा वातावरण विद्या कहलाता है। इस अविद्या की विभिन्न

अवस्थाएँ हैं और वे धर्म, अर्थ तथा मोक्ष के नाम से जानी जाती हैं। मोक्ष का जो भाव अद्वैतवादियों द्वारा मान्य है और जीव का भगवान् में तदाकार होना बताता है, वह भी भौतिकतावाद या विस्मृति की अन्तिम अवस्था है। आत्मा तथा परमात्मा के गुणात्मक तादात्म्य का ज्ञान अधूरा ज्ञान है तथा अज्ञान है, क्योंकि इससे मात्रात्मक अन्तर का ज्ञान नहीं हो पाता, जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है। जीवात्मा कभी भी ज्ञान में भगवान् के तुल्य नहीं हो सकता, अन्यथा वह विस्मृति की अवस्था को प्राप्त न होता। इस तरह, चूँकि जीवात्मा में विस्मृति की अवस्था पाई जाती है, अतएव जीव तथा भगवान् में वैसा ही अन्तर होता है जैसाकि एक अंश तथा पूर्ण में होता है। अंश कभी पूर्ण के बराबर नहीं हो सकता। अतएव भगवान् के साथ जीव की शत-प्रतिशत समता की अवधारणा भी अविद्या है।

अविद्या के क्षेत्र में सारे कार्य प्रकृति पर प्रभुता जताने की दिशा में निर्देशित रहते हैं। अतएव भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति प्रभुता जताने के लिए भौतिक ऐश्वर्य अर्जित करने में जुटा रहता है। अतएव सदैव कलह या हताशा व्याप्त रहती है, जो अविद्या के लक्षण हैं। किन्तु ज्ञान के क्षेत्र में भगवान् की भक्तिमय सेवा की जाती है। अतएव भक्ति कार्यों को मुक्त अवस्था में *अविद्या* के द्वारा दूषित होने का अवसर ही नहीं मिल पाता। इस तरह भगवान् अविद्या तथा विद्या, दोनों ही क्षेत्रों के स्वामी (क्षेत्रज्ञ) हैं और यह तो जीव की रुचि पर निर्भर करता है कि वह इन क्षेत्रों में से किसमें रहे।

यस्मादण्डं विराड् जज्ञे भूतेन्द्रिय-गुणात्मकः ।
तद् द्रव्यमत्यगाद् विश्वं गोभिः सूर्य इवातपन् ॥ २२॥

शब्दार्थ

यस्मात्—जिससे; अण्डम्—ब्रह्माण्ड; विराट्—तथा विराट रूप; जज्ञे—प्रकट हुआ; भूत—तत्त्व; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; गुण-आत्मकः—गुणात्मक; तत् द्रव्यम्—ब्रह्माण्ड तथा विराट रूप आदि.; अत्यगात्—पार कर गया; विश्वम्—समस्त ब्रह्माण्डों को; गोभिः—किरणों से; सूर्यः—सूर्य; इव—सदृश; आतपन्—किरणों तथा ताप को वितरित किया।

भगवान् से सारे ब्रह्माण्ड तथा समस्त भौतिक तत्त्वों, गुणों एवं इन्द्रियों से युक्त विराट रूप उत्पन्न होते हैं। फिर भी वे ऐसे भौतिक प्राकट्यों से उसी तरह पृथक् रहते हैं जिस तरह सूर्य अपनी किरणों तथा ताप से पृथक् रहता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में परम सत्य को *पुरुष* या पुरुषोत्तम कहा गया है। परम पुरुष तो अपनी विभिन्न शक्तियों के कारण ईश्वर या परम नियंता होता है। भगवान् की भौतिक शक्ति का *एकपाद*

विभूति प्राकट्य भगवान् की अनेक दासियों में से एक दासी की तरह है, जिसके प्रति भगवान् अधिक आकृष्ट नहीं होते, जिसे *गीता* में भिन्ना प्रकृतिः कहा गया है। किन्तु *त्रिपाद विभूति* क्षेत्र भगवान् की शक्ति का शुद्ध आध्यात्मिक प्राकट्य होने के कारण एक प्रकार से उन्हें अधिक आकृष्ट करने वाला है। अतएव भगवान् भौतिक शक्ति को गर्भस्थ करके, भौतिक प्राकट्यों को उत्पन्न करते हैं और इस प्राकट्य में अपने को विश्व-रूप में विस्तारित करते हैं। अर्जुन को दिखाया गया विश्वरूप भगवान् का मूल रूप नहीं है। भगवान् का मूल रूप तो पुरुषोत्तम या साक्षात् कृष्ण का दिव्य रूप है। यहाँ पर बड़े सुन्दर ढंग से बताया गया है कि भगवान् सूर्य की भाँति प्रसार करते हैं। सूर्य अपने असह्य ताप तथा किरणों के द्वारा अपना विस्तार करता है फिर भी सूर्य ऐसी किरणों एवं ताप से सदा पृथक् रहता है। निर्विशेषवादी भगवान् की किरणों पर तो विचार करता है, लेकिन उसे भगवान् के यथार्थ दिव्य नित्य रूप के विषय में कोई जानकारी नहीं होती, जो कृष्ण के नाम से जाना जाता है। अतएव, अपने परम साकार रूप में दो भुजाओं एवं बाँसुरी से युक्त कृष्ण निर्विशेषवादियों को भ्रमित करनेवाले हैं, क्योंकि वे भगवान् के विराट विश्व-रूप को ही देखने के आदी हैं। उन्हें ज्ञान होना चाहिए कि सूर्य की किरणें सूर्य के लिए गौण हैं, उसी तरह भगवान् का निर्विशेष विराट रूप भी साकार पुरुषोत्तम रूप से गौण है। *ब्रह्म-संहिता* (५.३७) द्वारा इस कथन की पुष्टि निम्न प्रकार से होती है—

आनन्द चिन्मयरसप्रतिभाविताभिस्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"भगवान् गोविन्द, जो अपनी शारीरिक किरणों के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की इन्द्रियों को सजीव बनाते हैं, अपने दिव्य धाम गोलोक में निवास करते हैं। तो भी वे अपनी ह्लादिनी शक्ति के तुल्य प्रसन्न आध्यात्मिक किरणों के प्रसार से अपनी सृष्टि के कोने-कोने में उपस्थित रहते हैं। अतएव वे अपनी अचिन्त्य शक्ति के द्वारा एकसाथ साकार तथा निर्विशेष हैं, अथवा वे अद्वितीय हैं और भौतिक तथा आध्यात्मिक प्राकट्यों की विभिन्नता में पूर्ण एकता प्रदर्शित करते हैं। यद्यपि वे हर वस्तु से पृथक् हैं, फिर भी कोई वस्तु उनसे पृथक् नहीं है।"

यदास्य नाभ्यान्नलिनादहमासं महात्मनः ।
नाविदं यज्ञ-सम्भारान् पुरुषावयवानृते ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; अस्य—उसकी; नाभ्यात्—नाभि से; नलिनात्—कमल के फूल से; अहम्—मैंने; आसम्—जन्म लिया; महा-आत्मनः—महापुरुष की; न अविदम्—नहीं जाना; यज्ञ—यज्ञ की; सम्भारान्—सामग्री; पुरुष—भगवान् के; अवयवान्—शरीर के अंग; ऋते—के बिना।

जब मैं महापुरुष भगवान् (महा-विष्णु) के नाभि-कमल पुष्प से उत्पन्न हुआ था, तो मेरे पास यज्ञ-अनुष्ठानों के लिए उस महापुरुष के शारीरिक अंगों के अतिरिक्त अन्य कोई सामग्री न थी।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्माजी स्वयम्भू कहे जाते हैं, जिसका अर्थ है, वह जो माता-पिता के बिना उत्पन्न हुआ हो। सृष्टि का सामान्य नियम यह है कि माता (मादा) तथा पिता (नर) के संसर्ग के फलस्वरूप ही जीव उत्पन्न होता है। किन्तु आदि-जीव ब्रह्मा भगवान् कृष्ण के पूर्ण अंश महाविष्णु के नाभि-कमल से उत्पन्न होते हैं। यह नाभि-कमल भगवान् के शरीर का एक अंग है और ब्रह्माजी इसी कमल से उत्पन्न होते हैं। अतएव ब्रह्माजी भी भगवान् के शरीर के अंग हैं। प्रकट होने के बाद ब्रह्माजी को ब्रह्माण्ड के विराट शून्य में अन्धकार के अतिरिक्त कुछ नहीं दिखा। उन्हें बेचैनी हुई और उनके हृदय में से भगवान् ने उन्हें प्रेरित किया कि वे तपस्या करें, जिससे यज्ञ-अनुष्ठान के लिए सामग्री प्राप्त हो सके। लेकिन, इन दोनों अर्थात् महाविष्णु तथा ब्रह्मा के अलावा वहाँ अन्य कुछ भी न था। यज्ञ अनुष्ठान के लिए अनेक सामग्रियों की, विशेष रूप से पशुओं की, आवश्यकता थी। पशु-यज्ञ कभी भी पशु-हत्या के निमित्त नहीं किया जाता, अपितु यज्ञ को सफल बनाने के लिए किया जाता है। यद्यपि यज्ञ-अग्नि में भेंट किया गया पशु नष्ट हो जाता है, किन्तु पटु पुरोहित द्वारा उच्चारित वैदिक मन्त्रों से अगले क्षण उसे नवीन जीवन प्रदान कर दिया जाता है। जब ऐसा पटु पुरोहित उपलब्ध नहीं होता, तो यज्ञ की बलि-वेदी में पशु-यज्ञ करना वर्जित है। इस तरह ब्रह्मा ने यज्ञ की सामग्री भी गर्भोदकशायी विष्णु के अंगों से ही तैयार की, जिसका अर्थ यह हुआ कि ब्रह्मा ने इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि की। यद्यपि कुछ नहीं से कुछ नहीं उत्पन्न होता है, किन्तु भगवान् के शरीर से प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है। *भगवद्गीता* (१०.८) में भगवान् कहते हैं—*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते*—प्रत्येक वस्तु मेरे शारीरिक अंगों से निर्मित है, अतएव मैं ही समस्त सृष्टि का मूल स्रोत हूँ।

निर्विशेषवादियों का तर्क है कि जब प्रत्येक वस्तु साक्षात् भगवान् के अतिरिक्त कुछ नहीं है, तो भगवान् की पूजा करने से क्या लाभ है? किन्तु सगुणवादी बड़ी ही कृतज्ञता के साथ भगवान् की पूजा भगवान् के शारीरिक अंगों से उत्पन्न सामग्री का उपयोग करते हुए करता है। फल तथा फूल पृथ्वी के शरीर से प्राप्त होते हैं, फिर भी बुद्धिमान भक्त पृथ्वी से ही उत्पन्न सामग्री से माता पृथ्वी की पूजा करते हैं। इसी प्रकार माता गंगा की पूजा गंगा-जल से की जाती है, फिर भी पूजक को ऐसी पूजा का फल भोगने को मिलता है। भगवान् की भी पूजा भगवान् के शारीरिक अंगों से उत्पन्न सामग्री द्वारा की जाती है, तो भी पूजक जो स्वयं भगवान् का अंश है भगवान् की भक्ति का फल प्राप्त करता है। एक ओर जहाँ निर्विशेषवादी त्रुटिवश इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि वह साक्षात् भगवान् है, वहीं सगुणवादी कृतज्ञता-पूर्वक भक्ति से भगवान् की पूजा करता है और जानता रहता है कि भगवान् से भिन्न कुछ भी नहीं है। अतएव भक्त प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सेवा में लगाना चाहता है, क्योंकि वह यह जानता है कि प्रत्येक वस्तु तो भगवान् की सम्पत्ति है, उसे कोई अपनी नहीं कह सकता। यह एकात्म की पूर्ण धारणा पूजक को भगवान् की प्रेमाभक्ति में रत रहने में सहायक होती है, लेकिन निर्विशेषवादी झूठे ही गर्वित होकर सदा अभक्त बना रहता है और भगवान् कभी उसे मान्यता प्रदान नहीं करते।

तेषु यज्ञस्य पशवः सवनस्पतयः कुशाः ।
इदं च देव-यजनं कालश्चोरु-गुणान्वितः ॥ २४॥

शब्दार्थ

तेषु—ऐसे यज्ञों में; यज्ञस्य—यज्ञ की सम्पन्नता का; पशवः—पशु या यज्ञ की सामग्री; स-वनस्पतयः—फल-फूल सहित; कुशाः—कुश; इदम्—ये सब; च—भी; देव-यजनम्—यज्ञ की वेदी; कालः—उपुयक्त समय; च—भी; उरु—अत्यधिक; गुण-अन्वितः—योग्य।

यज्ञोत्सवों को सम्पन्न करने के लिए फूल, पत्ती, कुश जैसी यज्ञ-सामग्रियों के साथ-साथ यज्ञ-वेदी तथा उपयुक्त समय (वसन्त) की भी आवश्यकता होती है।

वस्तून्योषधयः स्नेहा रस-लोह-मृदो जलम् ।
ऋचो यजूंषि सामानि चातुर्होत्रं च सत्तम ॥ २५॥

शब्दार्थ

वस्तूनि—पात्र; ओषधयः—अन्न; स्नेहाः—घी; रस-लोह-मृदः—शहद, सोना तथा मिट्टी; जलम्—जल; ऋचः—ऋग्वेद; यजूंषि—यजुर्वेद; सामानि—सामवेद; चातुः-होत्रम्—यज्ञ सम्पन्न करनेवाले चार व्यक्ति; च—ये सब; सत्तम—हे परम पवित्र।

यज्ञ की अन्य आवश्यकताएँ हैं—पात्र, अन्न, घी, शहद, सोना, मिट्टी, जल, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा यज्ञ सम्पन्न करानेवाले चार पुरोहित।

तात्पर्य : यज्ञ को विधिवत् सम्पन्न करने के लिए कम से कम चार पटु पुरोहितों की आवश्यकता होती है—एक आहुति करनेवाला (*होता*), एक उच्चारण करने वाला (*उद्गाता*), एक अग्नि को पृथक् अग्नि की सहायता के बिना जलानेवाला (*अध्वर्यु*) तथा एक निरीक्षण करनेवाला (*ब्रह्मा*)। ऐसे यज्ञ प्रथम जीव ब्रह्मा के जन्म-काल से ही होते आये हैं और महाराज युधिष्ठिर के शासन-काल तक चलते रहे। किन्तु आज के कलह तथा भ्रष्टाचार के युग में ऐसे पटु ब्राह्मण पुरोहित अत्यन्त दुर्लभ हैं, अतएव इस युग में केवल भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन-यज्ञ की संस्तुति की गई है।

शास्त्रों का आदेश है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

नाम-धेयानि मन्त्राश्च दक्षिणाश्च व्रतानि च ।
देवतानुक्रमः कल्पः सङ्कल्पस्तन्त्रमेव च ॥ २६॥

शब्दार्थ

नाम-धेयानि—देवाताओं के नामों का आवाहन; मन्त्राः—देवता-विशेष को अर्पित किये जानेवाले विशिष्ट मन्त्र; च—भी; दक्षिणाः—पुरस्कार; च—तथा; व्रतानि—व्रत; च—तथा; देवता-अनुक्रमः—एक-एक करके सारे देवता; कल्पः—विशिष्ट शास्त्र; सङ्कल्पः—विशिष्ट प्रयोजन; तन्त्रम्—विशिष्ट विधि; एव—वे जैसी हैं; च—भी।

यज्ञ की अन्य आवश्यकताओं में देवताओं का विभिन्न नामों से विशिष्ट मंत्रों तथा दक्षिणा के व्रतों द्वारा आवाहन सम्मिलित हैं। ये आवाहन विशिष्ट प्रयोजनों से तथा विशिष्ट विधियों द्वारा विशेष शास्त्र के अनुसार होने चाहिए।

तात्पर्य : यज्ञ करने की पूरी विधि सकाम कर्म के अन्तर्गत आती है और ऐसे कार्य-कलाप अत्यन्त वैज्ञानिक होते हैं। इनमें विशेष स्वर के साथ शब्दोच्चारण करना होता है। यह एक महान् विज्ञान है, किन्तु चार हजार वर्षों से काम में न लाये जाने तथा योग्य ब्राह्मणों के अभाव के कारण ऐसे कृत्य अब प्रभावपूर्ण नहीं रह गये। न ही इस पतित काल में इनकी संस्तुति की जाती है। इस युग में प्रदर्शन के रूप में किया जानेवाला ऐसा यज्ञ चालक पुरोहितों द्वारा मात्र ठगी का कार्य है। अतएव यज्ञों

का ऐसा दिखावा कभी भी प्रभावशाली नहीं हो सकता। सकाम कर्म भौतिक विज्ञान द्वारा और कुछ हद तक स्थूल भौतिक सहायता द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं, किन्तु भौतिकतावादी लोग शब्दोच्चारण की विधि में सूक्ष्मतर प्रगति चाहते हैं, जिस पर वैदिक मन्त्रों की स्थापना हुई है। स्थूल भौतिक विज्ञान मानव जीवन के वास्तविक उद्देश्य को नहीं बदल सकता। हाँ, वे जीवन की समस्याओं को हल किये बिना कृत्रिम आवश्यकताओं में वृद्धि अवश्य कर सकते हैं, फलत: भौतिकतावादी जीवन-शैली त्रुटिपूर्ण मानव सभ्यता की ओर ले जाती है। चूँकि जीवन का परम उद्देश्य आध्यात्मिक अनुभूति है, अतएव जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, भगवान् चैतन्य ने भगवान् के पवित्र नाम के आवाहन की प्रत्यक्ष विधि की संस्तुति की है। आधुनिक युग के लोग इस सरल विधि का लाभ उठा सकते हैं, क्योंकि यह जटिल सामाजिक संरचना की परिस्थिति में अपनाए जाने योग्य है।

गतयो मतयश्चैव प्रायश्चित्तं समर्पणम् ।
पुरुषावयवैरेते सम्भारा: सम्भृता मया ॥ २७॥

शब्दार्थ

गतय:—चरम लक्ष्य (विष्णु) की प्राप्ति; मतय:—देवताओं की पूजा; च—भी; एव—निश्चय ही; प्रायश्चित्तम्—पश्चात्ताप; समर्पणम्—अन्तिम रूप से भेंट; पुरुष—भगवान्; अवयवै:—भगवान् के शरीर के अंगों से; एते—ये; सम्भारा:—अवयव, सामग्री; सम्भृता:—आयोजित; मया—मेरे द्वारा।

इस प्रकार मुझे भगवान् के शारीरिक अंगों से ही यज्ञ के लिए इन आवश्यक सामग्रियों की तथा साज-सामान की व्यवस्था करनी पड़ी। देवताओं के नामों के आवाहन से चरम लक्ष्य विष्णु की क्रमश: प्राप्ति हुई और इस प्रकार प्रायश्चित्त तथा पूर्णाहुति पूरी हुई।

तात्पर्य : इस श्लोक में समस्त सामग्रियों के स्रोत के रूप में, भगवान् के व्यक्तिगत स्वरूप पर अधिक बल दिया है, न कि निर्विशेष ब्रह्मज्योति पर। भगवान् नारायण समस्त यज्ञ-फलों के लक्ष्य हैं, अतएव वैदिक मन्त्र अन्ततोगत्वा इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए होते हैं। इस तरह नारायण को प्रसन्न करके तथा वैकुण्ठधाम में नारायण के प्रत्यक्ष सान्निध्य द्वारा समाधिस्थ होकर जीवन को सफल बनाया जा सकता है।

इति सम्भृत-सम्भारः पुरुषावयवैरहम् ।
तमेव पुरुषं यज्ञं तेनैवायजमीश्वरम् ॥ २८॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; सम्भृत—सम्पन्न किया गया; सम्भारः—अपने को अच्छी तरह तत्पर किया; पुरुष—भगवान्; अवयवैः—अंशों द्वारा; अहम्—मैं; तम् एव—उनके; पुरुषम्—भगवान् को; यज्ञम्—समस्त यज्ञों के भोक्ता को; तेन एव—उन सबके द्वारा ही; अयजम्—पूजा की; ईश्वरम्—परम नियन्ता की।

इस प्रकार मैंने यज्ञ के भोक्ता परमेश्वर के शरीर के अंगों से यज्ञ के लिए सारी सामग्री तथा साज-समान उत्पन्न किये और भगवान् को प्रसन्न करने के लिए मैंने यज्ञ सम्पन्न किया।

तात्पर्य : सामान्य लोग सदैव मन:शान्ति या विश्वशान्ति के लिए चिन्तित रहते हैं, किन्तु वे यह नहीं जान पाते कि विश्व-शान्ति का ऐसा कोई मानक किस तरह प्राप्त किया जाय। ऐसी विश्वशान्ति यज्ञ तथा तप द्वारा प्राप्त की जा सकती है। *भगवद्गीता* (५.२९) में निम्नलिखित सूत्र दिया गया है :

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

"कर्मयोगी जानते हैं कि परमेश्वर समस्त यज्ञों के तथा संयमी जीवन के असली भोक्ता तथा पालक हैं। वे यह भी जानते हैं कि भगवान् समस्त लोकों के परम स्वामी हैं तथा समस्त जीवों के वास्तविक मित्र हैं। ऐसा ज्ञान अनन्य भक्तों की संगति के माध्यम से कर्मयोगी को भगवान् धीरे धीरे शुद्ध भक्त बना देते हैं और इस तरह वे भवबन्धन से मुक्त होने में समर्थ होते हैं।"

इस भौतिक जगत के आदि-जीव ब्रह्मा ने हमें यज्ञ की विधि बतलाई। यज्ञ शब्द अन्य पुरुष की तुष्टि के लिए अपने स्वार्थों के समर्पण का द्योतक है। समस्त कार्यों की यही विधि है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के लिए अपने हितों की बलि चढ़ाता रहता है, चाहे वह परिवार के रूप में हो, या समाज या जाति अथवा देश या सम्पूर्ण मानव समाज हो। किन्तु ऐसे यज्ञों को पूर्णता तभी प्राप्त होती है, जब वे परम पुरुष भगवान् के निमित्त किये जाते हैं। चूँकि भगवान् प्रत्येक वस्तु के स्वामी, समस्त प्राणियों के सखा, यज्ञकर्ता के पालक एवं यज्ञ-सामग्री के दाता हैं, अतएव समस्त यज्ञों द्वारा केवल उन्हीं को तुष्ट करना चाहिए, अन्य किस को नहीं।

सारा संसार विद्या, सामाजिक उत्थान, आर्थिक विकास तथा मानव दशा को पूर्णतः सुधारने की योजनाओं को समुन्नत बनाने में अपनी शक्ति की आहुति करने में लगा है, किन्तु कोई भी व्यक्ति

भगवान् के निमित्त यज्ञ करने में रुचि नहीं रखता, जिसका उपदेश *भगवद्गीता* में किया गया है। अतएव संसार में शान्ति नहीं है। यदि सारे लोग सचमुच विश्व शान्ति चाहते हैं, तो उन्हें परम स्वामी तथा सबों के सखा के निमित्त यज्ञ सम्पन्न करना चाहिए।

ततस्ते भ्रातर इमे प्रजानां पतयो नव ।
अयजन् व्यक्तमव्यक्तं पुरुषं सु-समाहिताः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; ते—तुम्हारे; भ्रातरः—भाई; इमे—ये; प्रजानाम्—प्राणियों के; पतयः—स्वामी; नव—नौ; अयजन्—यज्ञ किया; व्यक्तम्—प्रकट; अव्यक्तम्—अप्रकट; पुरुषम्—पुरुष को; सु-समाहिताः—उचित अनुष्ठानों से।

हे पुत्र, तत्पश्चात् तुम्हारे नौ भाइयों ने, जो प्रजापति हैं, व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों प्रकार के पुरुषों को प्रसन्न करने के लिए समुचित अनुष्ठानों सहित यज्ञ सम्पन्न किया।

तात्पर्य : व्यक्त पुरुषों में स्वर्ग के राजा इन्द्र तथा देवता जैसे उनके पार्षद आते हैं और अव्यक्त पुरुष में साक्षात् भगवान् आते हैं। व्यक्त पुरुष भौतिक कार्यों के नियन्त्रक हैं, जबकि अव्यक्त भगवान् दिव्य हैं और भौतिक व्योम की सीमा के परे हैं। इस कलियुग में व्यक्त देवता भी नहीं दिखते, क्योंकि अन्तरिक्ष-यात्रा पूर्ण रूप से बन्द है। अतएव आधुनिक मनुष्य की ढकी हुई आँखों के लिए शक्तिशाली देवता तथा भगवान् दोनों ही अव्यक्त बने हुए हैं। आधुनिक व्यक्ति प्रत्येक वस्तु को अपनी आँखों से देखना चाहते हैं, भले ही वे पर्याप्त रुप से दक्ष न हों। फलस्वरूप वे देवताओं में या परमेश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। उन्हें चाहिए कि प्रामाणिक शास्त्रों के पृष्ठों को पलटें और मात्र अपनी अक्षम आँखों पर ही विश्वास न करें। आज भी, ईश्वर-प्रेम रूपी अंजन लगा कर दक्ष आँखों से ईश्वर के दर्शन किये जा सकते हैं।

ततश्च मनवः काले ईजिरे ऋषयोऽपरे ।
पितरो विबुधा दैत्या मनुष्याः क्रतुभिर्विभुम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; च—भी; मनवः—मानव जाति के पूर्वज, सारे मनु; काले—कालान्तर में; ईजिरे—पूजा की; ऋषयः—ऋषिगण; अपरे—अन्य; पितरः—पुरखे; विबुधाः—विद्वान पंडित; दैत्याः—देवताओं के महान् भक्त; मनुष्याः—मानव जाति; क्रतुभिः विभुम्—परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए यज्ञों के द्वारा।

तत्पश्चात्, मनुष्यों के पिताओं यानी मनुओं, महर्षियों, पितरों, विद्वान् पंडितों, दैत्यों तथा

मनुष्यों ने परमेश्वर को प्रसन्न करने के निमित्त यज्ञ सम्पन्न किये।

तात्पर्य : *दैत्य* देवताओं के भक्त होते हैं, क्योंकि वे उनसे अधिकाधिक भौतिक सुविधाएँ हासिल करना चाहते हैं। किन्तु भगवान् के भक्त *एकनिष्ठ* होते हैं, अर्थात् वे भगवान् की भक्तिमय सेवा में तल्लीन रहते हैं, अतएव उनके पास भौतिक सुविधाएँ माँगने के लिए थोड़ा-सा समय भी नहीं रहता। क्योंकि आध्यात्मिक सत्ता की अनुभूति होने के कारण वे भौतिक सुविधाओं की तुलना में आध्यात्मिक उत्थान की अधिक चिन्ता करते हैं।

नारायणे भगवति तदिदं विश्वमाहितम् ।
गृहीत-मायोरु-गुणः सर्गादावगुणः स्वतः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

नारायणे—नारायण में; भगवति—भगवान्; तत् इदम्—ये समस्त भौतिक अभिव्यक्तियाँ; विश्वम्—सारे ब्रह्माण्ड; आहितम्—स्थित; गृहीत—स्वीकार; माया—भौतिक शक्तियाँ; उरु-गुणः—अत्यन्त शक्तिमान; सर्ग-आदौ—सृजन, पालन तथा संहार में; अगुणः—गुणों के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति से रहित; स्वतः—स्वयमेव, आत्म-निर्भरतापूर्वक।

अतएव सारे ब्रह्माण्डों की भौतिक अभिव्यक्तियाँ उनकी शक्तिशाली भौतिक शक्तियों में स्थित हैं, जिन्हें वे स्वतः स्वीकार करते हैं, यद्यपि वे भौतिक गुणों से नित्य निर्लिप्त रहते हैं।

तात्पर्य : इस तरह नारद ने ब्रह्माजी से भौतिक सृष्टि के विषय में जो प्रश्न पूछा था, उसका उत्तर मिल जाता है। भौतिक विज्ञानी जिस रूप में ऊपर से भौतिक क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं का अवलोकन कर सकता है वे वास्तव में सृजन, पालन तथा संहार के सम्बन्ध में अन्तिम सत्य नहीं होतीं। भौतिक शक्ति भगवान् की शक्ति है, जो यथासमय पर सतो, रजो तथा तमो गुणों को स्वीकार करते हुए विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव के रूप में प्रदर्शित की जाती है। इस तरह भौतिक शक्ति भगवान् के पूर्ण नियन्त्रण में कार्य करती है, यद्यपि वे ऐसे भौतिक कार्यकलापों से सदा परे रहनेवाले हैं। कोई धनी व्यक्ति एक बड़े मकान का निर्माण अपने संसाधनों के रूप में अपनी शक्ति व्यय करके करता है। इसी प्रकार, वह अपने संसाधनों से ही एक बड़े मकान को विनष्ट भी कर देता है, किन्तु उसका रख-रखाव सदैव उसकी देखरेख में होता है। भगवान् धनियों में सबसे धनी हैं, क्योंकि वे छहों बड़े ऐश्वर्यों से सदा ओतप्रोत रहते हैं। अतएव उन्हें कुछ करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, लेकिन संसार की प्रत्येक घटना उनकी इच्छा तथा उनके निर्देश से स्वयं घटती है, अतएव सम्पूर्ण भौतिक अभिव्यक्ति भगवान्

नारायण में स्थित है। परम सत्य विषयक निर्विशेष धारणा ज्ञान के अभाव के कारण है और इस तथ्य को ब्रह्माजी ने स्पष्ट बताया है, क्योंकि वे ब्रह्माण्ड के कार्यकलापों के स्रष्टा हैं। ब्रह्माजी वैदिक वाङ्मय के सर्वोच्च अधिकारी (प्रमाण) हैं, अतएव इस विषय में उनका कथन परम सूचना के रूप में है।

सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः ।
विश्वं पुरुष-रूपेण परिपाति त्रि-शक्ति-धृक् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

सृजामि—सृजन करता हूँ; तत्—उसके द्वारा; नियुक्तः—नियुक्त होकर; अहम्—मैं; हरः—शिवजी; हरति—नाश करता है; तत्-वशः—उनके अधीन; विश्वम्—सम्पूर्ण विश्व का; पुरुष—भगवान्; रूपेण—अपने नित्य रूप से; परिपाति—पालन करता है; त्रि-शक्ति-धृक्—तीन शक्तियों का नियन्त्रक।

उनकी इच्छा से मैं सृजन करता हूँ, शिवजी विनाश करते हैं और स्वयं वे अपने नित्य भगवान् रूप से सबों का पालन करते हैं। वे इन तीनों शक्तियों के शक्तिमान नियामक हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर अद्वितीय की धारणा की स्पष्ट पुष्टि होती है। वे वासुदेव भगवान् ही हैं और उनकी विभिन्न शक्तियों एवं अंशों के द्वारा ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ—भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों में—पालित होती हैं। भौतिक जगत में भी भगवान् वासुदेव ही सब कुछ हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है। *वासुदेवः सर्वम् इति*—सब कुछ वासुदेव ही हैं। वैदिक मंत्रों में भी इन्हीं वासुदेव को सर्वोच्च माना गया है। वेदों का कथन है—*वासुदेवात् परो ब्रह्मन्न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः*—वास्तव में वासुदेव से बढ़कर कोई सत्य नहीं है। और *भगवद्गीता* (७.७) में भगवान् कृष्ण उसी सत्य की पुष्टि करते हैं—*मत्तः परतरं नान्यत्*—मुझसे (कृष्ण से) बढ़कर अन्य कोई नहीं है। इस तरह एकात्म की धारणा, जिस पर निर्विशेषवादी अत्यधिक बल देता है, भगवान् के सगुणवादी भक्त द्वारा भी मान्य है। अन्तर इतना ही है कि निर्विशेषवादी पुरुष स्वरूप को नहीं मानता, जबकि भक्त भगवान् के पुरुष रूप को अधिक महत्त्व प्रदान करता है। *श्रीमद्भागवत* में यह सत्य इसी श्लोक में बताया गया है—भगवान् वासुदेव अद्वितीय हैं, किन्तु सर्व-शक्तिमान होने के कारण वे अपना विस्तार कर सकते हैं और अपनी शक्तियों का प्रदर्शन कर सकते हैं। यहाँ पर भगवान् को तीन शक्तियों द्वारा (*त्रिशक्ति-धृक्*) सर्वशक्तिमान बताया गया है। अतः उनकी तीन शक्तियाँ हैं—अन्तरंगा, तटस्था तथा बहिरंगा। इनमें से बहिरंगा शक्ति सतो, रजो तथा तमो, इन तीन गुणों द्वारा प्रदर्शित होती है। इसी प्रकार

अन्तरंगा शक्ति भी तीन आध्यात्मिक गुणों द्वारा प्रदर्शित होती है। ये हैं—*संवित्, संधिनी* तथा *ह्लादिनी।* तटस्था शक्ति या जीव भी आध्यात्मिक है (*प्रकृति विद्धि मे पराम्*), लेकिन जीव कभी भगवान् के तुल्य नहीं होते। भगवान् *निरस्त-साम्य-अतिशय* हैं। दूसरे शब्दों में, न कोई भगवान् के तुल्य है, न उनसे बढ़कर। अतएव, सारे जीव जिनमें ब्रह्माजी तथा शिवजी जैसे महापुरुष सम्मिलित हैं, सभी भगवान् के अधीन हैं। भौतिक जगत में भी भगवान् अपने विष्णु-रूप में ब्रह्मा तथा शिव समेत सारे देवताओं का पालन करते हैं तथा उनके सारे कार्यों का नियन्त्रण करते है।

इति तेऽभिहितं तात यथेदमनुपृच्छसि ।
नान्यद्भगवतः किञ्चिद्भाव्यं सदसदात्मकम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ते—तुमको; अभिहितम्—बताया; तात—हे पुत्र; यथा—जिस प्रकार; इदम्—ये सब; अनुपृच्छसि—तुमने पूछा है; न—कभी नहीं; अन्यत्—अन्य कुछ; भगवतः—भगवान् से परे; किञ्चित्—कुछ भी; भाव्यम्—कभी सोचने योग्य; सत्—कारण; असत्—कार्य; आत्मकम्—के विषय में।

प्रिय पुत्र, तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था, उसको मैंने इस तरह तुम्हें बतला दिया। तुम यह निश्चय जानो कि जो कुछ भी यहाँ है (चाहे वह कारण हो या कार्य, दोनों ही—आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों में) वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् पर आश्रित है।

तात्पर्य : भगवान् की शक्तियों का प्राकट्य, चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक, पहले तो कारण-रूप में कार्यशील होता है और गतिमान बनता है और फिर कार्य-रूप में सामने आता है। किन्तु मूल कारण तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। मूल कारण के कार्य (प्रभाव) ही अन्य कार्यों के कारण बनते है और इस तरह प्रत्येक वस्तु, चाहे वह स्थायी हो या अस्थायी, कारण-कार्य के रूप में कार्य करती है। और चूँकि भगवान् सभी पुरुषों तथा शक्तियों के आदि कारण हैं, अतएव वे समस्त कारणों के कारण कहलाते हैं जिसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* तथा *भगवद्गीता* दोनों में हुई है।

ब्रह्म-संहिता (५.१) पुष्टि करती है कि—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।

अनादिराआदिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

तथा *भगवद्गीता* (१०.८) में भी कहा गया है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

अतएव आदि कारण *विग्रह* साकार हैं और निर्विशेष आध्यात्मिक तेज, ब्रह्मज्योति, भी परब्रह्म भगवान् कृष्ण का प्रभाव है (*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*)।

न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते
न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः ।
न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे
यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; भारती—कथन; मे—मन; अङ्ग—हे नारद; मृषा—असत्य; उपलक्ष्यते—प्रमाणित होता है; न—कभी नहीं; वै—निश्चय ही; क्वचित्—कभी; मे—मेरा; मनसः—मन को; मृषा—असत्य; गतिः—प्रगति; न—न तो; मे—मेरी; हृषीकाणि—इन्द्रियाँ; पतन्ति—पतित होती हैं; असत्-पथे—अस्थायी पदार्थ में; यत्—क्योंकि; मे—मेरे; हृदा—हृदय में; औत्कण्ठ्यवता—महान् उत्कण्ठा के द्वारा; धृतः—धारण किया; हरिः—भगवान्।

हे नारद, चूँकि मैंने भगवान् हरि के चरणकमलों को अत्यन्त उत्कण्ठा के साथ पकड़ रखा है, अतएव मैं जो कुछ कहता हूँ, वह कभी असत्य नहीं होता। न तो मेरे मन की प्रगति कभी अवरुद्ध होती है, न ही मेरी इन्द्रियाँ कभी भी पदार्थ की क्षणिक आसक्ति से पतित होती हैं।

तात्पर्य : नारद को दी गई वैदिक विद्या के प्रथम वक्ता ब्रह्माजी हैं और नारद अपने विभिन्न शिष्यों सहित व्यासदेव तथा अन्यों के द्वारा इस दिव्य ज्ञान को पूरे विश्व में वितरित करनेवाले हैं। वैदिक ज्ञान के अनुयायी ब्रह्माजी के कथनों को अकाट्य सत्य मानते हैं। इस तरह यह दिव्य ज्ञान सारे संसार में सृष्टि के प्रारम्भ से अनादि काल से शिष्य-परम्परा द्वारा वितरित होता रहा है। ब्रह्माजी इस भौतिक जगत के पूर्ण मुक्त जीव हैं और अध्यात्मज्ञान के किसी भी निष्ठावान जिज्ञासु को ब्रह्माजी के वचनों को अच्युत मानना पड़ेगा। वैदिक ज्ञान अच्युत है, क्योंकि यह परमेश्वर से सीधे ब्रह्मा के हृदय में जाता है और चूँकि ब्रह्माजी सर्वोच्च पूर्ण जीव हैं, अतएव उनके कथन अक्षरशः सत्य होते हैं। ऐसा इसलिए है, क्योंकि वे भगवान् के परम भक्त हैं और उन्होंने भगवान् के चरणकमलों को परम सत्य के रूप में उत्कंठा पूर्वक स्वीकार किया है। वे अपने ही द्वारा संकलित *ब्रह्म-संहिता* में इस सूक्ति को दोहराते हैं—गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि—मैं आदि भगवान् गोविन्द का पूजक हूँ। अतएव वे जो कुछ

कहते हैं, जो भी सोचते हैं और जो भी करते हैं, उसे सत्य मानकर ग्रहण करना चाहिए क्योंकि आदि भगवान् गोविन्द के साथ उनका प्रत्यक्ष एवं अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्रीगोविन्द, जो अपने भक्तों की प्रेममयी सेवा को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करते हैं, अपने भक्तों के वचनों तथा कार्यों का प्रतिपालन करते हैं। भगवान् *भगवद्गीता* (९.३१) में कहते हैं—*कौन्तेय प्रतिजानीहि*—हे कुन्तीपुत्र! तुम यह घोषित कर दो। भगवान् अर्जुन से घोषणा करने को कहते हैं, तो क्यों? क्योंकि कभी-कभी साक्षात् गोविन्द की घोषणा संसारी जीवों को विरोधात्मक लग सकती है, किन्तु संसारी व्यक्ति कभी भी भगवद्भक्त के वचनों में कोई विरोधाभास नहीं पायेगा। भगवान् भक्तों की विशेष रूप से इसीलिए रक्षा करते हैं, जिससे वे अच्युत रहें। अतएव भक्तियोग उस भक्त की सेवा से प्रारम्भ होता है, जो शिष्य-परम्परा में होता है। भक्तगण सदैव मुक्त हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि वे निर्विशेष हैं। भगवान् शाश्वत पुरुष हैं और भगवद्भक्त भी शाश्वत पुरुष है। चूँकि मुक्त अवस्था में भी भक्त की इन्द्रियाँ रहती हैं, अतएव वह सदैव पुरुष रहता है। चूँकि भक्त की सेवा भगवान् द्वारा पूर्ण आदान-प्रदान के रूप में स्वीकार की जाती है, अतएव भगवान् भी अपने पूर्ण आध्यात्मिक शरीर में पुरुष हैं। भक्त की इन्द्रियाँ भगवान् की सेवा में लगी रहने के कारण मिथ्या भौतिक भोग के आकर्षण द्वारा विपथ नहीं होतीं। भक्त की योजनाएँ कभी व्यर्थ नहीं जातीं। इसका कारण है भक्त की भगवान् की सेवा में श्रद्धापूर्ण आसक्ति। सिद्धि तथा मुक्ति का यही मानदण्ड है। ब्रह्माजी से लेकर मनुष्य तक सारे जीव तुरन्त ही मुक्ति के पथ पर अग्रसर होते हैं, यदि उनकी आसक्ति आदि भगवान् श्रीकृष्ण में अपार निष्ठा के साथ होती है। भगवान् *भगवद्गीता* (१४.२६) में इसकी पुष्टि करते हैं :

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

अतएव, जो कोई हृदय तथा आत्मा से दिव्य प्रेमाभक्ति के माध्यम से भगवान् के घनिष्ठ सम्पर्क में आने का इच्छुक है, उसके वचन तथा कर्म सदैव अच्युत होंगे। इसका कारण यह है कि परमेश्वर परम सत्य हैं तथा जो भी वस्तु सच्ची निष्ठा से परम सत्य से जोड़ दी जाती है, वह उसी दिव्य गुण को प्राप्त कर लेती है। इसके विपरीत, भौतिक विज्ञान तथा ज्ञान पर आधारित कितना ही मानसिक चिन्तन क्यों

न हो, वह परम सत्य के प्रामाणिक संसर्ग के बिना संसारी असत्य होने से असफल होता है, केवल इसलिए कि उसका संसर्ग परम सत्य के साथ नहीं होता। ऐसे ईश्वर-विहीन अश्रद्धापूर्ण वचन तथा कर्म भौतिक दृष्टि से कितने ही समृद्ध क्यों न हों विश्वास के योग्य नहीं होते। इस महत्त्वपूर्ण श्लोक का यही तात्पर्य है। भक्ति का एक कण भी अश्रद्धा के कई टन से अधिक मूल्यवान है।

सोऽहं समाम्नायमयस्तपोमयः
प्रजापतीनामभिवन्दितः पतिः ।
आस्थाय योगं निपुणं समाहित-
स्तं नाध्यगच्छं यत आत्म-सम्भवः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सः अहम्—मैं स्वयं (महान् ब्रह्मा); समाम्नाय-मयः—वैदिक ज्ञान की शिष्य-परम्परा की श्रेणी में; तपः-मयः—समस्त तपस्याओं से युक्त; प्रजापतीनाम्—जीवों के समस्त पुरखों का; अभिवन्दितः—पूज्य; पतिः—स्वामी; आस्थाय—सफलतापूर्वक अभ्यास किया हुआ; योगम्—योगशक्ति; निपुणम्—अत्यन्त पटु; समाहितः—स्वरूप-सिद्ध; तम्—परमेश्वर को; न—नहीं; अध्यगच्छम्—ठीक से समझा; यतः—जिससे; आत्म—स्वयं; सम्भवः—उत्पन्न।

यद्यपि मैं वैदिक ज्ञान की शिष्य-परम्परा में दक्ष महान् ब्रह्मा के रूप में विख्यात हूँ और यद्यपि मैंने सारी तपस्याएँ की हैं तथा यद्यपि मैं योगशक्ति एवं आत्म-साक्षात्कार में पटु हूँ और मुझे सादर प्रणाम करनेवाले जीवों के महान् प्रजापति मुझे इसी रूप में मानते हैं, तो भी मैं उन भगवान् को नहीं समझ सकता, जो मेरे जन्म के मूल उद्गम हैं।

तात्पर्य : इस ब्रह्माण्ड में समस्त जीवों में श्रेष्ठ ब्रह्माजी स्वीकार कर रहे हैं कि वे वैदिक ज्ञान में अपने पाण्डित्य, अपनी तपस्या, योगशक्ति तथा आत्म-साक्षात्कार के बावजूद एवं जीवों के पुरखों, महान् प्रजापतियों द्वारा पूजित होने पर भी, परमेश्वर को जान पाने में अक्षम हैं। अतएव परमेश्वर को जानने के लिए इतनी योग्यताएँ पर्याप्त नहीं हैं। ब्रह्माजी भगवान् को थोड़ा-थोड़ा तब समझ पाये जब वे अपने हृदय की उत्कण्ठा से (*हृदौत्कण्ठ्यवता*) उनकी सेवा करने का प्रयत्न कर रहे थे, जो भक्तियोग है। अतएव भगवान् को सेवा की निष्ठापूर्ण उत्कण्ठा द्वारा ही जाना जा सकता है, वैज्ञानिक या ज्ञानी होने या योगशक्ति की प्राप्ति की भौतिक योग्यता द्वारा नहीं। इस तथ्य की पुष्टि *भगवद्गीता* (१८.५४-५५) में स्पष्ट रूप से हुई है :

ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

वैदिक ज्ञान, तपस्या आदि उपर्युक्त उच्च योग्यताओं को प्राप्त करके भक्ति-मार्ग में केवल आत्म-साक्षात्कार सहायक बन सकता है। किन्तु भक्ति-मय सेवा के अभाव में मनुष्य अपूर्ण बना रहता है, क्योंकि उस आत्म-साक्षात्कार की स्थिति में भी वह परमेश्वर को ठीक से नहीं जान पाता। आत्म-साक्षात्कार द्वारा मनुष्य भक्त बनने का पात्र हो जाता है और भक्त सेवा-भाव से (*भक्त्या*) ही क्रमशः भगवान् को जान सकता है, किन्तु *विशते* (में प्रवेश करता है) का यह गलत आशय नहीं लेना चाहिए कि इससे परमेश्वर के अस्तित्व में लीन होने का निर्देश मिलता है। इस भौतिक जगत में भी मनुष्य भगवान् के अस्तित्व में लीन हो सकता है। कोई भी भौतिकतावादी आत्मा को पदार्थ से विलग नहीं कर सकता, जिस प्रकार कोई अबूझ व्यक्ति दूध से मक्खन विलग नहीं कर सकता, क्योंकि आत्मा भगवान् की बहिरंगा शक्ति में लीन रहता है। भक्ति से (*भक्त्या*) इस *विशते* का अर्थ है साक्षात् भगवान् का सान्निध्य करने में समर्थ होना। *भक्ति* का अर्थ है भवबन्धन से मुक्त होना और भगवान् की तरह बनकर उनके धाम में प्रवेश करना। *भक्तियोग* या भक्तों का लक्ष्य अपनी सत्ता खोना नहीं है। मुक्ति के पाँच प्रकार हैं, जिनमें सायुज्य भक्ति भगवान् के अस्तित्व या शरीर में लीन होना है। मुक्ति के अन्य प्रकारों में सूक्ष्म आत्मा की सत्ता बनी रहती है और वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगी रहती है। *भगवद्गीता* के श्लोक में *विशते* शब्द उन भक्तों के लिए आया है, जो किसी प्रकार की मुक्ति के लिए इच्छुक नहीं रहते। भक्तगण अपनी स्थिति की परवाह न करते हुए भगवान् की सेवा में संलग्न रहने मात्र से तुष्ट रहते हैं।

ब्रह्माजी प्रथम जीव हैं, जिन्होंने सीधे भगवान् से वैदिक ज्ञान सीखा (*तेने ब्रह्म हृदा य आदि-कवये*)। अतः ब्रह्माजी से बढ़कर वेदान्ती कौन विद्वान हो सकता है? किन्तु वे स्वीकार करते हैं कि वेदों का पूर्ण ज्ञान होने पर भी वे भगवान् की महिमाओं को समझने में अक्षम हैं। चूँकि ब्रह्मा से बढ़कर कोई नहीं हो सकता, अतएव तथाकथित वेदान्ती परम सत्य के विषय में कैसे जान सकते हैं?

अतएव तथाकथित वेदान्ती *भक्ति* के साथ *वेदांत* (*भक्तिवेदांत*) में प्रशिक्षित हुए बिना भगवान् के अस्तित्व में प्रवेश नहीं कर सकते। *वेदांत* का अर्थ है आत्म-साक्षात्कार और *भक्ति* का अर्थ है कुछ हद तक भगवान् का साक्षात्कार। भगवान् को कोई भी पूर्णत: नहीं जान सकता लेकिन आत्म-समर्पण तथा भक्ति-भाव से उन्हें कुछ कुछ जाना जा सकता है, अन्य किसी भी विधि से नहीं। *ब्रह्म-संहिता* में भी कहा गया है—*वेदेषु दुर्लभम्* अर्थात् वेदान्त के अध्ययन से शायद ही भगवान् के अस्तित्व को जाना जा सके किन्तु भगवान् *अदुर्लभम् आत्म-भक्तौ*—अपने भक्तों के लिए सहज सुलभ हैं। अतएव श्रील व्यासदेव को वेदान्त सूत्र के संकलन से सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने इसके बाद अपने गुरु नारद के उपदेश से *श्रीमद्भागवत* का संकलन किया, जिससे वेदान्त के असली आशय को समझा जा सकता है।

नतोऽस्म्यहं तच्चरणं समीयुषां
भवच्छिदं स्वस्त्ययनं सुमङ्गलम् ।
यो ह्यात्म-माया-विभवं स्म पर्यगाद्
यथा नभः स्वान्तमथापरे कुतः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

नतः—नमस्कार करता हूँ; अस्मि—हूँ; अहम्—मैं; तत्—उस भगवान् के; चरणम्—चरणों पर; समीयुषाम्—शरणागत का; भवत्-छिदम्—जन्म-मरण के चक्र को रोकनेवाला; स्वस्ति-अयनम्—समस्त सुख की अनुभूति; सु-मङ्गलम्—शुभ कल्याणप्रद; यः—जो; हि—निश्चय ही; आत्म-माया—व्यक्तिगत शक्ति; विभवम्—शक्ति; स्म—निश्चय ही; पर्यगात्—अनुमान नहीं लगा सकता; यथा—जिस तरह; नभः—आकाश; स्व-अन्तम्—अपनी सीमा; अथ—अतएव; अपरे—अन्य; कुतः—किस तरह।

अतएव मेरे लिए श्रेयस्कर होगा कि मैं उनके चरणों में आत्म-समर्पण कर दूँ, क्योंकि केवल वे ही मनुष्य को जन्म-मृत्यु के चक्र से उबार सकते हैं। ऐसा आत्म-समर्पण कल्याणप्रद है और इससे समस्त सुख की अनुभूति होती है। आकाश भी अपने विस्तार की सीमाओं का अनुमान नहीं लगा सकता। अतएव जब भगवान् ही अपनी सीमाओं का अनुमान लगाने में अक्षम रहते हैं, तो भला दूसरे क्या कर सकते हैं?

तात्पर्य : जीवों में सर्वाधिक विद्वान, सर्वोच्च यज्ञकर्ता, सर्वोच्च तपस्वी तथा सर्वोच्च स्वरूपसिद्ध योगी ब्रह्माजी हमें समस्त जीवों के परम गुरु के रूप में उपदेश देते हैं कि सारी सफलता प्राप्त करने के लिए, यहाँ तक कि भौतिक जीवन के कष्टों से मुक्ति पाने तथा कल्याणमय आध्यात्मिक जीवन के लिए भी, हमें भगवान् के चरणकमलों में आत्म-समर्पण करना ही चाहिए। ब्रह्माजी *पितामह* कहलाते हैं,

अर्थात् वे पिता के भी पिता हैं। एक नवयुवक अपना कर्तव्य पालन करने के लिए अपने अनुभवी पिता से सलाह लेता है, अतएव पिता श्रेष्ठ उपदेशक (सलाहकार) होता है। किन्तु ब्रह्मा सभी के पिताओं के पिता हैं। वे उस मनु के पिता के पिता हैं, जो सारे ब्रह्माण्डों के मनुष्यों के पिता हैं। अतएव इस क्षुद्र लोक के लोगों को ब्रह्मा का आदेश कृपापूर्वक मानना चाहिए और अच्छा यही होगा कि वे भगवान् की शक्तियों की नाप-जोख न करके, उनके चरणकमलों पर आत्म-समर्पण कर दें। उनकी शक्तियाँ असीम हैं, जैसी कि वेदों द्वारा पुष्टि होती है— *परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च* (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.८)। वे सबों से बड़े हैं और अन्य लोग, यहाँ तक कि समस्त जीवों में श्रेष्ठ ब्रह्माजी भी, स्वीकार करते हैं कि हमारे लिए सर्वोत्तम यही होगा कि उनकी शरण ग्रहण की जाय। अतएव जो अल्पज्ञ हैं, वे ही अपने को सर्वेसर्वा होने का दावा करते हैं, लेकिन उनकी पहुँच कितनी है? वे एक छोटे से ब्रह्माण्ड के क्षुद्र आकाश की भी लम्बाई-चौड़ाई नहीं माप सकते। तथाकथित भौतिक विज्ञानी कहता है कि उसे ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोक तक पहुँचने में चालीस हजार वर्ष लगेंगे, यदि वह यह यात्रा अन्तरिक्ष-यान से करे। यह भी काल्पनिक आदर्श है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति चालीस हजार वर्ष तक जीवित नहीं रह सकता। इसके अतिरिक्त, जब अन्तरिक्ष-यात्री वापस लौटेगा तो जैसाकि आज के मोहग्रस्त विज्ञानियों में फैशन बन चुका है, सर्वश्रेष्ठ अन्तरिक्ष-यात्री के रूप में उसका स्वागत करने के लिए कोई नहीं होगा। एक विज्ञानी, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता था, अपने भौतिक जीवन की योजनाएँ बनाने के लिए अत्यन्त उत्सुक था, अतएव उसने जीवित व्यक्तियों को बचाने के लिए एक बहुत बड़ा अस्पताल खोला। किन्तु अस्पताल खोलने के छह मास के भीतर ही वह स्वयं मर गया। अतएव मनुष्य को चाहिए कि चौरासी लाख योनियों में शरीर के बारबार बदलने के बाद प्राप्त अपने उस मनुष्य जीवन को, आर्थिक उन्नति तथा वैज्ञानिक ज्ञान के विकास के नाम पर कृत्रिम आवश्यकताएँ बढ़ाकर मनगढ़ंत भौतिक जीवन-सुख के हेतु व्यर्थ न गँवाये। प्रत्युत जीवन के समस्त दुखों को हल करने के लिए भगवान् के चरणों की शरण ग्रहण करे। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण का यही आदेश है और *श्रीमद्भागवत* में समस्त जीवों के परम पिता ब्रह्माजी का भी यही आदेश है।

जो व्यक्ति *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत,* इन दोनों द्वारा संस्तुत आत्म-समर्पण (शरणागति) की इस विधि से इनकार करता है और इस तरह वह समस्त वैध शास्त्रों को नकारता है, तो उसे प्रकृति के नियमों के समक्ष आत्म-समर्पण के लिए बाध्य होना पड़ेगा। अपनी स्वाभाविक स्थिति के अनुसार जीव स्वतन्त्र नहीं है। उसे या तो भगवान् को या प्रकृति को आत्म-समर्पण करना पड़ेगा। प्रकृति भी भगवान् से स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि स्वयं भगवान् ने प्रकृति को मम माया अर्थात् मेरी माया (*भगवद्गीता* ७.१४ में) तथा *मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा* (*भगवद्गीता* ७.४) अर्थात् आठ विभागों वाली मेरी भिन्ना शक्ति कहकर सम्बोधित किया है। अतएव प्रकृति भी भगवान् के वश में है, जैसाकि उन्होंने (*भगवद्गीता* ९.१०) दावा किया है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयतेसचराचरम्*—मेरी अध्यक्षता में, यह प्रकृति कार्य करती है और इस तरह सारी वस्तुएँ गतिशील हैं। जीव पदार्थ की तुलना में श्रेष्ठ (परा) शक्ति होने के कारण, चाहे तो भगवान् को आत्म-समर्पण करे, चाहे प्रकृति को। भगवान् को आत्म-समर्पण करने पर मनुष्य सुखी तथा मुक्त बन जाता है, किन्तु प्रकृति को आत्म-समर्पण करने पर जीव दुख ही दुख उठाता है। अतएव समस्त दुखों के अन्त का अर्थ है भगवान् को आत्म-समर्पण करना, क्योंकि यह आत्म-समर्पण की प्रक्रिया स्वयं ही *भवच्छिदम्* (समस्त भौतिक कष्टों से मुक्ति), *स्वस्त्ययनम्* (समस्त सुख की अनुभूति) तथा *सुमङ्गलम्* (समस्त कल्याण का स्रोत) है।

अतएव भगवान् को आत्म-समर्पण करके ही स्वतन्त्रता, सुख तथा सौभाग्य की प्राप्ति की जा सकती है, क्योंकि वे पूर्ण स्वतन्त्रता, पूर्ण सुख-मय तथा पूर्ण कल्याण-मय हैं। ऐसी मुक्ति तथा सुख असीम भी होते हैं और इनकी तुलना आकाश से की गई है, यद्यपि वे आकाश से भी बढ़कर हैं। हम अपनी वर्तमान स्थिति में इस विशालता को आकाश की तुलना द्वारा समझ जाते हैं। हम आकाश को मापने में असमर्थ हैं, किन्तु भगवान् के सान्निध्य से जो सुख तथा मुक्ति प्राप्त होती है, वह आकाश की तुलना में वृहत्तर है। यह आध्यात्मिक सुख इतना विशाल है कि स्वयं भगवान् भी इसे नहीं माप पाते, अन्यों की तो कोई बात ही नहीं है।

शास्त्रों में कहा गया है—*ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम्*—आध्यात्मिक आनन्द असीम है। यहाँ पर कहा गया है कि भगवान् भी ऐसे सुख को नहीं माप पाते। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि चूँकि भगवान् इसे

माप नहीं सकते, अतएव वे इस दिशा में अपूर्ण हैं। वास्तविक स्थिति यह है कि भगवान् इसे माप सकते हैं, लेकिन भगवान् में जो सुख है, वह परम ज्ञान के कारण भगवान् से अभिन्न भी है। अतएव भगवान् से प्राप्त होनेवाला सुख भगवान् द्वारा मापा जा सकता है, लेकिन यह सुख पुनः बढ़ जाता है और जब भगवान् इसे दुबारा मापते हैं, तो यह सुख और बढ़ता जाता है। इस प्रकार वृद्धि तथा माप में लगातार स्पर्धा चलती है, यहाँ तक कि यह कभी रुकती नहीं और अनन्त रूप से चलती रहती है। आध्यात्मिक सुख *आनन्दाम्बुधि-वर्धनम्* है, अर्थात् सुख का सागर है, जो बढ़ता जाता है। भौतिक समुद्र तो रुका हुआ रहता है, लेकिन आध्यात्मिक समुद्र गतिशील है। कविराज गोस्वामी ने *चैतन्य-चरितामृत* (*आदि-लीला,* चतुर्थ अध्याय) में भगवान् कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति, श्रीमती राधारानी, के दिव्य शरीर में इस आध्यात्मिक सुख के सिन्धु की गतिशील वृद्धि का सुन्दर वर्णन किया है।

नाहं न यूयं यदृतां गतिं विदु-
र्न वामदेवः किमुतापरे सुराः ।
तन्मायया मोहित-बुद्धयस्त्विदं
विनिर्मितं चात्म-समं विचक्ष्महे ॥ ३७॥

शब्दार्थ

न—न तो; अहम्—मैं; न—न तो; यूयम्—तुम सब मेरे पुत्र; यत्—जिसका; ऋताम्—वास्तविक; गतिम्—गति; विदुः—जानते हैं; न—न तो; वामदेवः—शिवजी; किम्—क्या; उत—और कुछ; अपरे—अन्य; सुराः—देवता; तत्—उसकी; मायया—माया से; मोहित—मुग्ध; बुद्धयः—ऐसी बुद्धि से; तु—लेकिन; इदम्—यह; विनिर्मितम्—जो उत्पन्न किया जाता है; च—भी; आत्म-समम्—अपनी शक्ति के बल पर; विचक्ष्महे—देखते हैं।

जब न शिवजी, न तुम और न मैं ही आध्यात्मिक आनन्द की सीमाएँ तय कर सके हैं, तो अन्य देवता इसे कैसे जान सकते हैं? चूँकि हम सभी भगवान् की माया से मोहित हैं, अतएव हम अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही इस व्यक्त विश्व को देख सकते हैं।

तात्पर्य : हमने अनेक बार बारह चुने हुए प्रामाणिक पुरुषों (द्वादश महाजन) के नामों का उल्लेख किया है, जिनमें ब्रह्मा, नारद तथा शिवजी के नाम उस सूची में क्रमानुसार प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय स्थान पर आते हैं, जो परमेश्वर के विषय में काफी-कुछ जानते हैं। अन्य देवता, उपदेवता, गन्धर्व, चारण, विद्याधर, मनुष्य या असुर सम्भवतः भगवान् श्रीकृष्ण की शक्तियों के विषय में पूरी तरह कभी नहीं जान सकते। इनमें से देवता, उपदेवता, गन्धर्व आदि उच्चतर लोकों के उच्च कोटि के बुद्धिमान

व्यक्ति हैं, मनुष्य मध्य लोक के वासी हैं और असुर अधोलोकों के वासी हैं। इनमें से सबों की परम सत्य-विषयक अपनी-अपनी अवधारणाएँ हैं, जिस प्रकार कि मानव समाज में विज्ञानी या ज्ञानमार्गी दार्शनिकों की होती हैं। ये सारे जीव भौतिक प्रकृति के प्राणी हैं, अत: ये सब प्रकृति के तीन गुणों के चमत्कारिक प्रदर्शन से मोहित होते रहते हैं। ऐसे मोह का उल्लेख *भगवद्गीता* (७.१३) में हुआ है—*त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्*—प्रत्येक जीव, ब्रह्मा से लेकर चींटी तक प्रकृति के गुणों—सतो, रजो तथा तमो—के द्वारा अपनी-अपनी तरह से मोहित है। हर कोई अपनी व्यक्तिगत क्षमता के अनुसार सोचता है कि हमारे समक्ष व्यक्त यह ब्रह्माण्ड ही सब कुछ है। इसी तरह बीसवीं सदी के मानव समाज का विज्ञानी ब्रह्माण्ड के इति-अथ की गणना अपने ढंग से करता है। लेकिन ऐसे विज्ञानी क्या जान सकेंगे? एक बार ब्रह्मा भी अपने आपको भगवान् का एकमात्र कृपा-पात्र ब्रह्मा मानकर मोहग्रस्त हुए थे, लेकिन बाद में भगवत्कृपा से उन्हें ज्ञात हो सका कि ऐसे असंख्य अधिक शक्तिशाली ब्रह्मा हैं, जो इससे भी बड़े ब्रह्माण्डों में रहते हैं और ये सारे ब्रह्माण्ड मिलकर *एकपाद विभूति* या भगवान् की सृजनात्मक शक्ति का एक चतुर्थांश बनते हैं। उनकी शक्ति का शेष तीन चौथाई अंश आध्यात्मिक जगत में प्रदर्शित होता है, अतएव छोटे से मस्तिष्क वाला एक क्षुद्र विज्ञानी भगवान् श्रीकृष्ण के विषय में क्या जान पायेगा? अतएव भगवान् कहते हैं *मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्*—प्रकृति के गुणों से मोहित होने के कारण वे यह नहीं समझ पाते कि इन अभिव्यक्तियों के परे एक ऐसा परम पुरुष है, जो सबों का परम नियंता है। चूँकि ब्रह्मा, नारद तथा शिव भगवान् के विषय में काफी जानते हैं, अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह इन महापुरुषों के उपदेशों का अनुगमन करे, न कि क्षुद्र मस्तिष्क के खिलवाड़पूर्ण अनुसन्धानों से—यथा अन्तरिक्ष यान तथा विज्ञान की अन्य वस्तुओं—से सन्तुष्ट हो। जिस प्रकार माता ही बालक के पिता की पहचान करने में एकमात्र प्रमाण-स्वरूप है, उसी प्रकार ब्रह्मा, नारद या शिव जैसे मान्य अधिकारियों द्वारा प्रस्तुत वेदरूपी माता परम सत्य के विषय में सूचित करने की एकमात्र अधिकारिणी है।

यस्यावतार-कर्माणि गायन्ति ह्यस्मदादयः ।
न यं विदन्ति तत्त्वेन तस्मै भगवते नमः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; अवतार—अवतार; कर्माणि—कार्यकलाप; गायन्ति—महिमा का गायन करते हैं; हि—निस्सन्देह; अस्मत्-आदय: —हम जैसे व्यक्ति; न—नहीं; यम्—जिसको; विदन्ति—जानते हैं; तत्त्वेन—शत-प्रतिशत उसी रूप में; तस्मै—उन; भगवते—भगवान् श्रीकृष्ण को; नम: —नमस्कार करता हूँ।.

हम उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को सादर प्रणाम करते हैं, जिनके अवतारों तथा कार्य-कलापों का गायन हमारे द्वारा उनके महिमा-मण्डन के लिए किया जाता है, यद्यपि वे अपने यथार्थ रूप में बड़ी कठिनाई से ही जाने जा सकते हैं।

तात्पर्य : यह कहा जाता है कि भगवान् के दिव्य नाम, रूप, गुण, लीलाओं, साज-समान, व्यक्तित्व आदि की अनुभूति संभवत: स्थूल भौतिकतावादी इन्द्रियों द्वारा नहीं की जा सकती। किन्तु जब इन्द्रियों को श्रवण, कीर्तन, स्मरण तथा श्रीविग्रह के चरणकमलों की पूजा आदि की प्रक्रिया के द्वारा शुद्ध कर लिया जाता है, तो भगवान् भक्तिमय सेवा की गुणता के अनुसार अपने आपको प्रकट करते हैं (*ये यथा मां प्रपद्यन्ते*)। मनुष्य को भगवान् से यह उम्मीद नहीं करनी चाहिए कि वे हमारे आदेश पूरक एजेण्ट की भाँति हैं, जो हमारे चाहते ही हमारे समक्ष उपस्थित हो जायेगा। हमें ब्रह्मा, नारद तथा अन्य अधिकारिक शिष्य परम्परा के हमारे पूर्वगामियों द्वारा दिखलाए गये पथ का अनुगमन करते हुए निर्दिष्ट भक्ति-कार्यों को सम्पन्न करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। ज्यों-ज्यों प्रामाणिक भक्ति से इन्द्रियाँ क्रमश: शुद्ध होती जाती हैं, त्यों-त्यों भगवान् भक्त की आध्यात्मिक प्रगति के अनुसार अपनी सत्ता का उद्घाटन करते चलते हैं। किन्तु जो भक्ति सम्प्रदाय में नहीं आया है, वह केवल आकलनों और दार्शनिक अनुमानों से उनकी अनुभूति नहीं कर सकता है। ऐसा कठोर-कर्मी भले ही श्रोताओं के समक्ष शब्दजाल प्रस्तुत कर दे, किन्तु वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को उनके साकार रूप में कभी नहीं जान सकता। भगवान् ने *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा है कि कोई भी उन्हें केवल भक्ति के द्वारा जान सकता है। कोई भी व्यक्ति किसी आड़बर पूर्ण भौतिक चुनौती के द्वारा भगवान को नहीं जान सकता, लेकिन विनीत भक्त अपने सच्चे भक्ति-कार्यों से भगवान् को प्रसन्न कर सकता है। इस तरह भगवान् भक्त के समक्ष, एक अनुपात में ही प्रगट होते हैं। अतएव ब्रह्माजी प्रामाणिक गुरु के रूप में सादर नमस्कार करते हैं और हमें भी *श्रवण* तथा *कीर्तन* की विधि का अनुसरण करने का उपदेश देते हैं। केवल इसी विधि से या भगवान् के अवतार के कार्यकलापों की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन से मनुष्य

अपने अन्त:करण में भगवान् की सत्ता का दर्शन कर सकता है। इस विषय पर *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कन्ध में निम्नलिखित श्लोक के प्रसंग पर हम पहले ही व्याख्या कर चुके हैं—

तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया।

पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया॥

(भागवत१.२.१२)

निष्कर्ष यह है कि भगवान् को किसी भी विधि से पूरी तरह नहीं जाना जा सकता, किन्तु वे श्रवण, कीर्तन आदि की भक्ति-विधि द्वारा अंशत: देखे तथा अनुभव किये जा सकते हैं।

स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः ।
आत्मात्मन्यात्मनात्मानं स संयच्छति पाति च ॥ ३९॥

शब्दार्थ

सः—वह; **एषः**—वही; **आद्यः**—आदि भगवान्; **पुरुषः**—महाविष्णु अवतार, गोविन्द, श्रीकृष्ण के पूर्णांश; **कल्पे कल्पे**—प्रत्येक कल्प में; **सृजति**—सृष्टि करता है; **अजः**—अजन्मा; **आत्मा**—स्वयं; **आत्मनि**—स्वयं में; **आत्मना**—स्वयं से; **आत्मानम्**—स्वयं को; **सः**—वह; **संयच्छति**—लीन कर लेता है; **पाति**—पालन करता है; **च**—भी।

वे परम आदि भगवान् श्रीकृष्ण, प्रथम अवतार महाविष्णु के रूप में अपना विस्तार करके इस व्यक्त जगत की सृष्टि करते हैं, किन्तु वे अजन्मा रहते हैं। फिर भी सृष्टि उन्हीं से है, भौतिक पदार्थ तथा अभिव्यक्ति भी वे ही हैं। वे कुछ काल तक उनका पालन करते हैं और फिर उन्हें अपने में समाहित कर लेते हैं।

तात्पर्य : यह सृष्टि भगवान् से अभिन्न है, फिर भी वे सृष्टि में नहीं हैं। *भगवद्गीता* (९.४) में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थित:॥

परम सत्य की निर्विशेष अवधारणा भी भगवान् का एक रूप है, जिसे *अव्यक्त-मूर्ति* कहते हैं। *मूर्ति* का अर्थ है 'रूप', लेकिन चूँकि हमारी सीमित इन्द्रियाँ उनके निर्विशेष स्वरूप का वर्णन नहीं कर पातीं, अतएव वे *अव्यक्तमूर्ति* हैं और इसी अव्यक्त रूप में सारी सृष्टि स्थित है। अथवा दूसरे शब्दों में, सारी सृष्टि ही साक्षात् भगवान् है और यह सृष्टि उनसे अभिन्न भी है, किन्तु साथ ही आदि भगवान्

श्रीकृष्ण के रूप में वे सृजित जगत से पृथक् हैं। निर्विशेषवादी भगवान् के निर्विशेष रूप पर बल देते हैं और भगवान् के आदि व्यक्तित्व पर विश्वास नहीं करते, किन्तु वैष्णवजन भगवान् के आदि रूप को स्वीकार करते हैं, जिनका निर्विशेष रूप अनेक स्वरूपों में से केवल एक है। भगवान् की साकार तथा निर्विशेष अवधारणाएँ साथ-साथ पाई जाती हैं और *भगवद्‌गीता* तथा *श्रीमद्‌भागवत* में तथा अन्य वैदिक शास्त्रों में इस तथ्य का स्पष्ट वर्णन हुआ है। यह विचार मानवबुद्धि के लिए अकल्पनीय है, अतएव इसे शास्त्रों के प्रमाण के आधार पर स्वीकार कर लेना चाहिए। इसकी व्यावहारिक अनुभूति तो भक्ति की प्रगति होने पर ही सम्भव है, किसी मानसिक चिन्तन या शुष्क तर्क के आधार पर नहीं। निर्विशेषवादी अधिकतर शुष्क तर्क पर आश्रित रहते हैं, अतएव वे आदि भगवान् श्रीकृष्ण के विषय में सदैव अन्धकार में रहते हैं। उनकी कृष्ण-विषयक अवधारणा स्पष्ट नहीं हो पाती, यद्यपि यह सारे वैदिक शास्त्रों में स्पष्ट मिलती है। अल्पज्ञान से भगवान् के आदि साकार रूप का अस्तित्व समझ में नहीं आ सकता, क्योंकि भगवान् का सभी वस्तुओं में विस्तार है। यह अर्पूणता न्यूनाधिक इस भौतिक धारणा के कारण है कि जो वस्तु अपने अंशों में वितरित हो जाती है, वह अपने आदि (मूल) रूप में विद्यमान नहीं रह सकती।

आदि भगवान् (*आद्यः*) गोविन्द, महाविष्णु अवतार के रूप में, अपना विस्तार करते हैं और अपने ही द्वारा उत्पन्न किये गये कारणार्णव में विश्राम करते हैं। *ब्रह्म-संहिता* (५.४७) में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—

यः कारणार्णवजले भजति स्म योग-

निद्रामनन्तजगदण्डसरोमकूपः

आधारशक्तिमवलम्ब्य परां स्वमूर्तिं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

ब्रह्म-संहिता में ब्रह्माजी कहते हैं ''मैं आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अपने पूर्णांश महाविष्णु के रुप में कारणार्णव में शयन करते हैं और जिनके दिव्य शरीर के रोम-कूपों से समस्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं और जो शाश्वत योगनिद्रा ग्रहण किये रहते हैं।''

अतएव ये महाविष्णु इस सृष्टि के प्रथम अवतार हैं और उन्हीं से सारे ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं तथा एक-एक करके सारी भौतिक अभिव्यक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। कारणार्णव की उत्पत्ति भगवान् द्वारा महत् तत्त्व के रूप में की जाती है, जो आध्यात्मिक आकाश में बादल के रूप में होता है और उनकी विभिन्न अभिव्यक्तियों में से केवल एक भाग है। आध्यात्मिक आकाश उनकी व्यक्तिगत किरणों का विस्तार है और वे महत् तत्त्व बादल भी हैं। वे लेटे रहते हैं और अपनी श्वास से ब्रह्माण्डों को उत्पन्न करते हैं और फिर गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में, प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश करके, उसके पालन हेतु ब्रह्मा, शिव तथा अन्य अनेक देवताओं की सृष्टि करते हैं तथा अन्त में इन सबों को अपने शरीर में समाहित कर लेते हैं, जैसी कि *भगवद्गीता* (९.७) में पुष्टि हुई है—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।

कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥

''हे कुन्ती-पुत्र! जब कल्प अर्थात् ब्रह्मा की आयु समाप्त होती है, तो सारी सृजित अभिव्यक्तियाँ मेरी प्रकृति अर्थात् शक्ति में प्रवेश कर जाती हैं और जब मैं पुन: इच्छा करता हूँ तो पुन: वही सृष्टि मेरी आत्म-शक्ति से प्रकट होती है।''

निष्कर्ष यह है कि यह सब भगवान् की अचिन्त्य आत्मशक्तियों का प्रदर्शन मात्र है, जिसके विषय में किसी को भी पूरी जानकारी नहीं हो सकती। हम इस बात को पहले भी बता चुके हैं।

विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यगवस्थितम् ।
सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम् ॥ ४० ॥
ऋषे विदन्ति मुनय: प्रशान्तात्मेन्द्रियाशया: ।
यदा तदेवासत्तर्कैस्तिरोधीयेत विप्लुतम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

विशुद्धम्—भौतिक कल्मष के बिना; केवलम्—शुद्ध तथा पूर्ण; ज्ञानम्—ज्ञान; प्रत्यक्—सर्वव्यापी; सम्यक्—पूर्ण रूप से; अवस्थितम्—स्थित; सत्यम्—सत्य; पूर्णम्—पूर्ण; अनादि—जिसका आदि न हो; अन्तम्—जिसका अन्त न हो; निर्गुणम्—गुणों से रहित; नित्यम्—शाश्वत; अद्वयम्—अद्वितीय; ऋषे—हे ऋषि नारद; विदन्ति—समझ सकते हैं; मुनय:—बड़े-बड़े विचारक; प्रशान्त—शान्त-चित्त; आत्म—स्वयं; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आशया:—शरणागत; यदा—जब; तत्—वह; एव—निश्चय ही; असत्—न लागू होनेवाला; तर्कै:—तर्कों द्वारा; तिर:-धीयेत—विलुप्त हो जाता है; विप्लुतम्—विकृत।

भगवान् पवित्र हैं और भौतिक क्लेश के समस्त कल्मष से रहित हैं। वे परम सत्य हैं और साक्षात् पूर्ण ज्ञान हैं। वे सर्वव्यापी, अनादि, अनन्त तथा अद्वय हैं। हे नारद, हे ऋषि, बड़े-बड़े

मुनि उन्हें तभी जान सकते हैं, जब वे समस्त भौतिक लालसाओं से मुक्त हो जाते हैं और अविचलित इन्द्रियों की शरण ग्रहण कर लेते हैं। अन्यथा व्यर्थ के तर्कों से सब कुछ विकृत हो जाता है और भगवान् हमारी दृष्टि से ओझल हो जाते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर क्षणिक भौतिक सृष्टियों में भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के अतिरिक्त भगवान् का मूल्यांकन किया गया है। मायावादी दर्शन भगवान् को, जब वे अवतरित होते हैं, भौतिक शरीर से कलुषित हुआ बताता है। यहाँ पर भगवान् की स्थिति को सभी परिस्थितियों में शुद्ध तथा विशुद्ध कहकर इस प्रकार की व्याख्या को पूर्णतया अस्वीकार किया गया है। मायावाद दर्शन के अनुसार, अज्ञान से आच्छादित आत्मा को *जीव* की संज्ञा प्रदान की जाती है, किन्तु जब वह इस अज्ञान या अविद्या से मुक्त हो जाता है, तो परम सत्य के निर्विशेष स्वरूप में लीन हो जाता है। किन्तु यहाँ पर यह कहा गया है कि भगवान् पूर्णज्ञान के शाश्वत प्रतीक हैं। यह तो उनकी विशिष्टता है कि वे समस्त भौतिक कल्मष से पूर्ण रूप से मुक्त हैं। यह विशेषता सामान्य जीवों से भगवान् को पृथक् करती है, क्योंकि जीवों में अज्ञान के वशीभूत होने की प्रवृत्ति पाई जाती है और इस तरह वे भौतिक उपाधियाँ ग्रहण करते हैं। वेदों में कहा गया है कि भगवान् *विज्ञानम् आनन्दम्* हैं अर्थात् ज्ञान तथा आनन्द से पूर्ण हैं। बद्धजीवों की तुलना उनसे नहीं की जा सकती, क्योंकि जीवों में *कल्मष-ग्रस्त* होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। यद्यपि मुक्ति के बाद जीव भी भगवान् जैसा गुण ग्रहण कर सकता है, किन्तु कल्मषग्रस्त होने की प्रवृत्ति के कारण ही जो प्रवृत्ति भगवान् में नहीं होती जीव भगवान् से भिन्न है। वेदों में कहा गया है: *शुद्धम् अपापविद्धम्*—जीवात्मा पाप से दूषित हो जाता है, लेकिन भगवान् पापों से कभी दूषित नहीं होते। भगवान् की उपमा शक्तिशाली सूर्य से दी गई है। सूर्य शक्तिमान होने कारण किसी प्रकार संक्रमणसे-ग्रस्त नहीं होता। इसके विपरीत, सूर्य की किरणों से संदूषित वस्तुएँ विसंक्रमित हो जाती हैं। इसी तरह भगवान् पापों से कल्मषग्रस्त नहीं होते, अपितु पापी जीव उनके संसर्ग में आकर पवित्र हो जाते हैं। इसका अर्थ हुआ कि भगवान् भी सूर्य के समान सर्वव्यापी हैं। फलस्वरूप इस श्लोक में *प्रत्यक्* शब्द व्यवहृत हुआ है। भगवान् की शक्ति के विस्तारों में किसी वस्तु को बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। भगवान् सबके भीतर हैं और व्यक्तिगत जीव के कार्यकलापों से प्रभावित हुए बिना वे

सबको आच्छादित करनेवाले हैं। अतएव वे असीम हैं और जीव अतिसूक्ष्म हैं। वेदों में कहा गया है कि अकेले भगवान् का ही अस्तित्व है और अन्य सबका अस्तित्व उन पर निर्भर है। वे हर एक की अस्तित्व-क्षमता के जनन-आगार हैं, वे समस्त निरपेक्ष सत्यों के परम सत्य हैं। वे प्रत्येक जीव के ऐश्वर्य के स्रोत हैं, अतएव ऐश्वर्य में कोई उनकी समता नहीं कर सकता। समस्त ऐश्वर्यों—धन, यश, बल, सौन्दर्य, ज्ञान तथा त्याग—से पूर्ण होने के कारण निश्चित ही वे परम पुरुष हैं। चूँकि वे पुरुष हैं, अतएव उनमें अनेक व्यक्तिगत गुण हैं, भले ही वे भौतिक गुणों से परे होते हैं। हम पहले ही *इत्थंभूतगुणो हरिः* (*भागवत* १.७.१०) इस कथन की व्याख्या कर चुके हैं। उनके दिव्य गुण इतने आकर्षक हैं कि आत्माराम तक उनसे आकृष्ट होते हैं। यद्यपि वे समस्त निजी गुणों से युक्त हैं, तो भी वे सर्वशक्तिमान हैं। अतएव उन्हें कुछ करना नहीं पड़ता, क्योंकि उनकी सर्वशक्तिसम्पन्न शक्तियों से सब कुछ सम्पन्न हो जाता है। इसकी भी पुष्टि वैदिक मन्त्र द्वारा हुई है—*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।* इससे भगवान् के विशिष्ट आध्यात्मिक रूप का संकेत मिलता है, जो भौतिक इन्द्रियों द्वारा कभी अनुभूत नहीं होता। उनका दर्शन तभी किया जा सकता है, जब इन्द्रियाँ भक्तिमय सेवा द्वारा शुद्ध हो जाती हैं (*यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः*)। इस तरह भगवान् तथा जीवों में कई बातों में अन्तर है। किसी की तुलना भगवान् से नहीं की जा सकती, जैसाकि वेदों की घोषणा है (*एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, द्वैताद्वै भयं भवति*)। भगवान् का कोई प्रतियोगी नहीं है, अतएव उन्हें किसी से न तो भय है, न कोई उनके समान हो सकता है। यद्यपि वे समस्त जीवों के मूल कारण हैं, किन्तु उनमें तथा अन्य जीवों में मूलभूत अन्तर है। अन्यथा पिछले श्लोक में यह कहने की आवश्यकता न होती कि कोई उन्हें शत-प्रतिशत यथार्थ रूप में नहीं जान सकता (*न यं विदन्ति तत्त्वेन*)। इस श्लोक में यह भी बताया गया है कि उन्हें कोई भी पूर्ण रूप से नहीं जान सकता, लेकिन कुछ हद तक उन्हें समझ पाने के लिए योग्यताओं का उल्लेख किया गया है। केवल *प्रशान्त* अर्थात् भगवान् के विशुद्ध भक्त ही उन्हें काफी हद तक जान पाने में समर्थ हो पाते हैं। इसका कारण यह है कि भक्तों को किसी वस्तु की कामना नहीं होती। वे तो उनके आज्ञाकारी दास बने रहना चाहते हैं, लेकिन अन्य लोगों को—ज्ञानमार्गी दार्शनिक, योगी तथा सकाम-कर्मी—कुछ न कुछ माँग रहती है, अतएव वे प्रशान्त नहीं हो सकते।

सकाम–कर्मी अपने कर्म का पुरस्कार चाहते हैं, योगी जीवन की कोई सिद्धि चाहते हैं और ज्ञानमार्गी दार्शनिक भगवान् के अस्तित्व में लीन होना चाहते हैं। किन्तु जब तक इन्द्रियतृप्ति की माँग बनी रहती है, तब तक प्रशान्त होने का अवसर नहीं आ पाता। इसके विपरीत, अनावश्यक शुष्क तर्कों से सारा मामला बिगड़ जाता है और इस तरह भगवान् हमारी समझ से और भी दूर होते जाते हैं। किन्तु शुष्क चिन्तक तपस्या के सिद्धान्तों का पालन करते रहने से भगवान् के निर्विशेष स्वरूप को कुछ हद तक जान सकते हैं, फिर भी वे उनके परम गोविन्द स्वरूप को नहीं समझ सकते, क्योंकि जो पूर्ण रूप से निष्पाप हैं या *अमलात्मन* हैं, वे ही भगवान् की शुद्ध भक्ति को अंगीकार करते हैं, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.२८) में हुई है :

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य
कालः स्वभावः सदसन्मनश्च ।
द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि
विराट् स्वराट् स्थास्नु चरिष्णु भूम्नः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

आद्यः—प्रथम; अवतारः—अवतार; पुरुषः—कारणार्णवशायी विष्णु; परस्य—भगवान् का; कालः—काल, समय; स्वभावः—आकाश; सत्—फल; असत्—कारण; मनः—मन; च—भी; द्रव्यम्—तत्त्व; विकारः—भौतिक अहंकार; गुणः—प्रकृति के गुण; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; विराट्—पूर्ण शरीर; स्वराट्—गर्भोदकशायी विष्णु; स्थास्नु—अचर; चरिष्णु—चर; भूम्नः—भगवान् का।

कारणार्णवशायी विष्णु ही परमेश्वर के प्रथम अवतार हैं। वे नित्य काल, आकाश, कार्य-कारण, मन, तत्त्वों, भौतिक अहंकार, प्रकृति के गुणों, इन्द्रियों, भगवान् के विराट रूप, गर्भोदकशायी विष्णु तथा समस्त चर एवं अचर जीवों के स्वामी हैं।

तात्पर्य : इसके पूर्व हम कई बार बता चुके हैं कि यह भौतिक सृष्टि स्थायी नहीं है। यह सर्वशक्तिमान ईश्वर की भौतिक शक्ति का अस्थायी प्रदर्शन मात्र है। यह भौतिक सृष्टि उन बद्धजीवों के लिए सुअवसर प्रदान करने के लिए आवश्यक है, जो दिव्य प्रेमाभक्ति द्वारा भगवान् के साथ सम्बन्ध बनाने के इच्छुक नहीं होते। ऐसे बद्धजीवों को दिव्य लोक के मुक्त जीवन में प्रविष्ट होने नहीं दिया

जाता, क्योंकि वे हृदय से भगवान् की सेवा नहीं करना चाहते। बजाय इसके वे छद्म ईश्वर के रूप में भोग करना चाहते हैं। सारे जीव स्वभावत: भगवान् के नित्य सेवक हैं, किन्तु उनमें से कुछ, अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करने के कारण सेवा नहीं करना चाहते, अतएव उन्हें भौतिक प्रकृति अर्थात् माया या भ्रम का भोग करने दिया जाता है। यह भ्रम इसलिए कहलाता है, क्योंकि माया के चंगुल में फँसे जीव वास्तविक भोक्ता नहीं होते, यद्यपि माया द्वारा मोहग्रस्त होने के कारण वे अपने को ही भोक्ता समझते हैं। ऐसे मोहग्रस्त लोगों को रह-रह कर अवसर प्रदान किया जाता है कि वे प्रकृति के मिथ्या स्वामी बनने की अपनी विकृत प्रवृत्ति को सुधार लें। उन्हें भगवान् कृष्ण के साथ शाश्वत सम्बन्ध के विषय में वेदों की शिक्षा दी जाती है (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:*)। अतएव इस अस्थायी भौतिक सृष्टि की अभिव्यक्ति भगवान् की बहिरंगा भौतिक शक्ति का प्रदर्शन है और सम्पूर्ण खेल की व्यवस्था करने के लिए भगवान् कारणार्णवशायी विष्णु के रूप में उसी तरह अवतरित होते हैं, जिस तरह सरकारी कार्यों की अस्थायी देखरेख के लिए एक मैजिस्ट्रेट की नियुक्ति सरकार द्वारा की जाती है। ये कारणार्णवशायी विष्णु अपनी भौतिक शक्ति के ऊपर दृष्टिपात करके (*स ऐक्षत*) भौतिक सृष्टि करते हैं। श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में *जगृहे पौरुषं रूपम्* श्लोक की व्याख्या हम कुछ हद तक पहले ही दे चुके हैं। भौतिक सृष्टि की माया के खेल की अवधि कल्प कहलाती है और हम एक कल्प के बाद दूसरे कल्प में सृष्टि की चर्चा पहले ही कर चुके हैं। उनके अवतार तथा शक्तिमय कार्यकलापों से, सृष्टि के सम्पूर्ण अवयव प्रगट होते हैं। ये अवयव हैं काल, आकाश, कारण, फल, मन, स्थूल तथा सूक्ष्म तत्त्व तथा उनके साथ अन्त:क्रिया करनेवाले गुण—सतो, रजो तथा तमो—फिर इन्द्रियाँ तथा उनका आगार स्रोत, विराट विश्वरूप जो गर्भोदकशायी विष्णु के रुप में द्वितीय अवतार है तथा समस्त सचराचर जीव जो द्वितीय अवतार से उत्पन्न होते हैं, ये सारे प्रकट हो जाते हैं। अन्ततोगत्वा ये सारे सृष्टिकारी तत्त्व तथा स्वयं सृष्टि, भगवान् की शक्ति की अभिव्यक्तियाँ ही हैं, उनके नियन्त्रण से स्वतन्त्र कुछ भी नहीं है। सृष्टि में यह पहला अवतार कारणार्णवशायी विष्णु के रूप में है, जो आदि भगवान् कृष्ण का पूर्णांश है, जिसका वर्णन *ब्रह्म-संहिता* (५.४८) में इस प्रकार हुआ है :

यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य

जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः।

विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

सारे अनन्त ब्रह्माण्ड महाविष्णु या कारणार्णवशायी विष्णु के श्वासोच्छ्वास की अवधि तक ही रहते हैं, ये आदि भगवान् कृष्ण या गोविन्द के केवल पूर्णांश हैं।

अहं भवो यज्ञ इमे प्रजेशा
दक्षादयो ये भवदादयश्च ।
स्वर्लोक-पालाः खगलोक-पाला
नृलोक-पालास्तललोक-पालाः ॥ ४३॥
गन्धर्व-विद्याधर-चारणेशा
ये यक्ष-रक्षोरग-नाग-नाथाः ।
ये वा ऋषीणामृषभाः पितृणां
दैत्येन्द्र-सिद्धेश्वर-दानवेन्द्राः ।
अन्ये च ये प्रेत-पिशाच-भूत--
कूष्माण्ड-यादो-मृग-पक्ष्यधीशाः ॥ ४४॥
यत्किञ्च लोके भगवन्महस्व-
दोजः-सहस्वद् बलवत् क्षमावत् ।
श्री-ह्री-विभूत्यात्मवदद्भुतार्णं
तत्त्वं परं रूपवदस्व-रूपम् ॥ ४५॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं (ब्रह्मा); भवः—शिवजी; यज्ञः—भगवान् विष्णु; इमे—ये सब; प्रजा-ईशाः—जीवों के पिता; दक्ष-आदयः—दक्ष, मरीचि, मनु, आदि.; ये—जो; भवत्—आप; आदयः च—तथा कुमारगण (सनत्कुमार तथा उनके भाई); स्वर्लोक-पालाः—स्वर्ग लोक के नायक; खगलोक-पालाः—अन्तरिक्ष यात्रियों के नायक; नृलोक-पालाः—मनुष्यों के नेता; तललोक-पालाः—निम्नलोकों के नायक; गन्धर्व—गन्धर्वलोक-वासी; विद्याधर—विद्याधर लोक के वासी; चारण-ईशाः—चारणों के नेता; ये—तथा अन्य; यक्ष—यक्षों के नेता; रक्ष—राक्षस; उरग—सर्प; नाग-नाथाः—नागलोक (पृथ्वी के नीचे) के नायक; ये—अन्य; वा—भी; ऋषीणाम्—ऋषियों के; ऋषभाः—प्रमुख; पितृणाम्—पितरों के; दैत्य-इन्द्र—नास्तिकों के नायक; सिद्ध-ईश्वर—सिद्धलोक के नायक (अन्तरिक्ष पुरुष); दानव-इन्द्राः—अनार्यों के नायक; अन्ये—उनके अतिरिक्त; च—भी; ये—जो; प्रेत—मृतक; पिशाच—दुष्टात्माएँ; भूत—जिन्न; कूष्माण्ड—विशेष प्रकार का पिशाच; यादः—जलचर; मृग—पशु; पक्षि-अधीशाः—विशाल चील्ह; यत्—कुछ भी; किम् च—तथा प्रत्येक वस्तु; लोके—संसार में; भगवत्—भगयुक्त या अद्वितीय शक्तिसम्पन्न; महस्वत्—विशेष मात्रा का; ओजः-सहस्वत्—विशिष्ट मानसिक तथा ऐंद्रिय कौशल; बलवत्—बल से सम्पन्न; क्षमावत्—क्षमा से युक्त; श्री—सौन्दर्य; ह्री—पाप कृत्य से लज्जित; विभूति—धन; आत्मवत्—बुद्धि-सम्पन्न; अद्भुत—आश्चर्यजनक; अर्णम्—जाति; तत्त्वम्—विशिष्ट सत्य; परम्—दिव्य; रूपवत्—रूपवाला; अस्व-रूपम्—भगवत्स्वरूप का नहीं।

मैं स्वयं (ब्रह्मा), शिवजी, भगवान् विष्णु, दक्ष आदि प्रजापति, तुम (नारद तथा

कुमारगण), इन्द्र तथा चन्द्र जैसे देवता, भूर्लोक के नायक, भूलोक के नायक, अधोलोक के नायक, गन्धर्वलोक के नायक, विद्याधरलोक के नायक, चारणलोक के नायक, यक्षों, राक्षसों तथा उरगों के नेता, ऋषि, बड़े-बड़े दैत्य, बड़े-बड़े नास्तिक तथा अन्तरिक्ष पुरुष तथा मृतक, प्रेत, शैतान, जिन्न, कूष्माण्ड, बड़े-बड़े जलचर, बड़े-बड़े पशु तथा पक्षी आदि या अन्य शब्दों में ऐसी कोई भी वस्तु जो बल, ऐश्वर्य, मानसिक तथा ऐन्द्रिय कौशल, शक्ति, क्षमा, सौन्दर्य, विनम्रता, ऐश्वर्य तथा प्रजनन से युक्त हो, चाहे रूपवान या रूप-विहीन, वे सब भले ही विशिष्ट सत्य तथा भगवान् के रूप प्रतीत हों, लेकिन वास्तव में वे वैसे हैं नहीं। वे सभी भगवान् की दिव्य शक्ति के अंशमात्र हैं।

तात्पर्य : ऊपर की सूची में जिनके नाम हैं, उनमें ब्रह्माण्ड के प्रथम प्राणी ब्रह्माजी से लेकर शिवजी, विष्णु, नारद तथा अन्य शक्तिशाली देवता, मनुष्य, अतिमानव, मुनि, ऋषि तथा अद्वितीय शक्ति एवं ऐश्वर्यवाले निम्न प्राणी जिसमें भूत, शैतान, प्रेत, जिन्न, जलचर, पक्षी तथा पशु सम्मिलित हैं, ये सब परमेश्वर प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तव में इनमें से एक भी परमेश्वर नहीं है। इनमें से हर एक में परमेश्वर की महान् शक्ति का एक अंश ही रहता है। अल्पज्ञ मनुष्य भौतिक घटनाओं के आश्चर्यजनक कार्यों को देखकर उसी तरह विस्मित रह जाते हैं, जिस प्रकार आदिवासी वज्रपात, विशाल वटवृक्ष या जंगल में उत्तुंग पर्वत देखकर विस्मित होते हैं। ऐसे अविकसित मानवों के लिए भगवान् की शक्ति का रंचमात्र प्रदर्शन भी मोहनेवाला है। इससे आगे सभ्य मनुष्य देवी-देवताओं की शक्ति से मोहित होते हैं। अतएव जो लोग भगवान् के विषय में कोई वास्तविक सूचना के बिना भगवान् की सृष्टि की किसी भी वस्तु की शक्ति से चकित होते हैं, वे शाक्त या महान् शक्तियों के पूजक कहलाते हैं। आधुनिक विज्ञानी भी प्राकृतिक घटनाओं की आश्चर्यजनक क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं से मोहित हो जाते हैं, अतएव वे भी *शाक्त* हैं। ये निम्नकोटि के व्यक्ति, धीरे-धीरे उठकर, *सौरीय* (सूर्य देवता के उपासक) या *गाणपत्य* (गणपति के रूप में *जनताजनार्दन* या *दरिद्र नारायण*—अर्थात् जनता के पूजक) बन जाते हैं और फिर अमर आत्मा की खोज में शिवजी की उपासना करने वालों के स्तर तक उठ जाते हैं; फिर वे भगवान् विष्णु, परमात्मा आदि की पूजा करने वालों के स्तर तक पहुँच जाते हैं, किन्तु उन्हें आदि भगवान् विष्णु-रूप

गोविन्द या कृष्ण की कोई जानकारी नहीं होती। अन्य विधियों में, कुछ लोग जाति, राष्ट्रीयता, पक्षी, पशु, प्रेत, शैतान आदि के पूजक होते हैं। जनता में, कष्टों के स्वामी शनिदेव तथा चेचक की देवी शीतलादेवी की पूजा सामान्य है और ऐसे अनेक मूर्ख हैं, जो जनता के दरिद्रों की पूजा करते हैं। अतएव विभिन्न व्यक्ति, समाज तथा परिवार भगवान् की किसी न किसी शक्तिमयी अभिव्यक्ति की पूजा करते हैं और उसे त्रुटिवश ईश्वर समझ लेते हैं। लेकिन इस श्लोक में ब्रह्माजी ने उपदेश दिया है कि इनमें से कोई भी परमेश्वर नहीं हैं; वे आदि शक्तिमान भगवान् श्रीकृष्ण के मूल-मोरपंख से उधार लिए हुए पंख जैसे हैं। जब *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण केवल अपनी पूजा करने का उपदेश देते हैं, तो यह समझना चाहिए कि भगवान् कृष्ण की पूजा में उपर्युक्त सब या सभी की पूजा सम्मिलित है, क्योंकि भगवान् कृष्ण में सभी सम्मिलित हैं।

जब वैदिक साहित्य में भगवान् को रूपविहीन बताया जाता है, तो यह समझना चाहिए कि ऊपर जितने रूप बताये गये हैं, वे सब विश्वज्ञान के अनुभव के अन्तर्गत भगवान् की दिव्य शक्तियों के ही विभिन्न प्रदर्शन हैं; इनमें से कोई भी भगवान् के दिव्य रूप का यथार्थ प्रतिनिधित्व नहीं करता। किन्तु जब भगवान् पृथ्वी पर या ब्रह्माण्ड के भीतर कहीं भी अवतरित होते हैं, तो अल्पज्ञानी लोग उन्हें भी अपने-जैसा समझने की भूल करते हैं और इस तरह वे ब्रह्म को रूपविहीन या निर्विशेष मानते हैं। वास्तव में, भगवान् न तो रूपविहीन हैं, न ही वे विराट रूपों के भीतर अनुभव किये जानेवाले बहुरूपों में से किसी से सम्बद्ध होते हैं। मनुष्य को चाहिए कि ब्रह्माजी के उपदेश का पालन करते हुए भगवान् विषयक सत्य को जानने का प्रयास करे।

प्राधान्यतो यानृष आमनन्ति
लीलावतारान् पुरुषस्य भूम्नः ।
आपीयतां कर्ण-कषाय-शोषा-
ननुक्रमिष्ये त इमान् सुपेशान् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

प्राधान्यतः—मुख्यतया; **यान्**—वे सब; **ऋषे**—हे नारद; **आमनन्ति**—पूजते हैं; **लीला**—लीलाएँ; **अवतारान्**—सभी अवतार; **पुरुषस्य**—भगवान् के; **भूम्नः**—सर्वश्रेष्ठ, परम; **आपीयताम्**—तुम्हारे द्वारा आस्वादन के लिए; **कर्ण**—कान; **कषाय**—मैल; **शोषान्**—भाप बन जानेवाला; **अनुक्रमिष्ये**—एक के बाद एक वर्णन करेंगे; **ते**—वे; **इमान्**—जिस रूप में वे मेरे हृदय में हैं; **सु-पेशान्**—सुनने में मधुर।

हे नारद, अब मैं एक-एक करके भगवान् के दिव्य अवतारों का वर्णन करूँगा, जो लीला अवतार कहलाते हैं। उनके कार्यकलापों के सुनने से कान में संचित सारा मैल हट जाता है। ये लीलाएँ सुनने में मधुर हैं और आस्वाद्य हैं, अतएव ये मेरे हृदय में सदैव बनी रहती हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.५.८) के प्रारम्भ में कहा गया था कि मनुष्य श्रवण करके तब तक पूर्ण संतुष्ट नहीं हो पाता, जब तक उसे भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के श्रवण करने का अवसर प्राप्त न हो। अतएव इस श्लोक में ब्रह्माजी भी भगवान् की दिव्य लीलाओं के बताने की महत्ता पर बल देना चाहते हैं कि किस प्रकार भगवान् इस भौतिक लोक पर आते हैं और स्वयं को प्रकट करते हैं। प्रत्येक जीव में सुहावने समाचार सुनने की प्रवृत्ति होती है, अतएव हममें से प्रत्येक व्यक्ति को रेडियोस्टेशनों द्वारा प्रसारित समाचार तथा वार्ताएँ सुननी अच्छी लगती हैं। लेकिन कठिनाई तो यह है कि इन सारे समाचारों को सुनकर कोई भी व्यक्ति हृदय में तुष्टि का अनुभव नहीं करता। इस असंतुष्टि का कारण यह है कि हमारे अन्तरतम के साथ इन संवादों का कोई मेल नहीं हो पाता। इस दिव्य ग्रंथ का सृजन श्रील व्यासदेव ने भगवान् के कार्यकलापों को सुनाकर सामान्य लोगों को अधिकाधिक संतुष्टि प्रदान करने के उद्देश्य से किया, क्योंकि नारद मुनि ने उन्हें इसके लिए आदेश दिया था। भगवान् के ऐसे कार्यकलाप मुख्यत: दो प्रकार के हैं। पहला भौतिक सृजनात्मक शक्ति की संसारी अभिव्यक्ति से सम्बन्धित है और दूसरा देश-काल के अनुसार विभिन्न अवतारी रूपों में उनकी लीलाओं से सम्बद्ध है। भगवान् के असंख्य अवतार हैं, जिस तरह नदी में निरन्तर तरंगें आती जाती रहती हैं। अल्प-ज्ञानी व्यक्ति भौतिक जगत में भगवान् की सृजनात्मक शक्तियों में अधिक रुचि लेते हैं और भगवान् से सम्बन्ध-विच्छेद रहने के कारण वे वैज्ञानिक शोध के नाम पर सृष्टि-सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। किन्तु भगवान् के भक्त यह भलीभाँति जानते हैं कि किस तरह भगवान् की भौतिक शक्तियों के घात-प्रतिघात से सृजनात्मक शक्तियाँ कार्य करती हैं। अतएव जब भगवान् इस भौतिक जगत पर स्वयं अवतरित होते हैं, तो वे भगवान् के दिव्य कार्यकलापों में अधिक रुचि लेते हैं। *श्रीमद्भागवत* भगवान् के ऐसे कार्यकलापों का इतिहास है और जो लोग *श्रीमद्भागवत* को सुनने में रुचि लेते हैं, उनके हृदयों पर संचित संसारी धूल साफ हो जाती है। बाजार में हजारों रद्दी ग्रंथ हैं, किन्तु जो व्यक्ति

श्रीमद्‌भागवत में रुचि उत्पन्न कर लेता है, वह ऐसे गन्दे साहित्य में रुचि खो देता है। इस प्रकार श्रीब्रह्माजी भगवान् के प्रमुख अवतारों का वर्णन करने का प्रयास कर रहे हैं, जिससे नारद उन्हें दिव्य अमृत की भाँति पी सकें।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के द्वितीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''पुरुष-सूक्त की पुष्टि'' नामक छठे अध्याय के भक्ति वेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सात

विशिष्ट कार्यों के लिए निर्दिष्ट अवतार

ब्रह्मोवाच

यत्रोद्यतः क्षिति-तलोद्धरणाय बिभ्रत्
क्रौडीं तनुं सकल-यज्ञ-मयीमनन्तः ।
अन्तर्महार्णव उपागतमादि-दैत्यं
तं दंष्ट्रयाद्रिमिव वज्र-धरो ददार ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; यत्र—उस समय (जब); उद्यतः—तत्पर; क्षिति-तल—पृथ्वीलोक के; उद्धरणाय—उठाने के लिए; बिभ्रत्—धारण किया; क्रौडीम्—लीलाएँ; तनुम्—रूप; सकल—समग्र; यज्ञ-मयीम्—यज्ञों से युक्त; अनन्तः—असीम; अन्तर्—ब्रह्माण्ड के भीतर; महा-अर्णवे—विशाल गर्भ सागर में; उपागतम्—पहुँचकर; आदि—प्रथम; दैत्यम्—असुर को; तम्—उस; दंष्ट्रया—दाढ़ से; अद्रिम्—उड़ते पर्वत; इव—सदृश; वज्र-धरः—वज्रों को धारण करने वाला; ददार—छेद दिया।

ब्रह्माजी ने कहा : जब अनन्त शक्तिशाली भगवान् ने लीला के रूप में ब्रह्माण्ड के गर्भोदक नामक महासागर में डूबी हुई पृथ्वी को ऊपर उठाने के लिए वराह का रूप धारण किया, तो सबसे पहले एक असुर (हिरण्याक्ष) प्रकट हुआ। भगवान् ने उसे अपने अगले दाँत से विदीर्ण कर दिया।

तात्पर्य : सृष्टि के प्रारम्भ से ही ब्रह्माण्डों के लोकों में, प्रमुख रूप से असुर तथा देवता अर्थात् वैष्णव—जीवों की ये दो श्रेणियाँ रही हैं। इस ब्रह्माण्ड के प्रथम देवता ब्रह्माजी हैं और हिरण्याक्ष इसका प्रथम असुर है। कतिपय निश्चित परिस्थितियों के अन्तर्गत ही सभी लोक वायु में भारहीन गेंद के समान तैरते हैं और ज्योंही ये परिस्थितियाँ विचलित होती हैं, ये लोक आधे ब्रह्माण्ड में व्याप्त गर्भोदक सागर में गिर पड़ते हैं। दूसरे आधे गोलार्द्ध में जो गोल गुंबद के रूप में है असंख्य लोकान्तर प्रणाली स्थित हैं। भारहीन वायु में लोकों का तैरना गोलकों की भीतरी संरचना के कारण है। आजकल तेल प्राप्त करने के लिए जिस प्रकार पृथ्वी के गर्भ का वेधन किया जाता है, वह आधुनिक असुरों द्वारा एक प्रकार का उत्पात है, जिससे पृथ्वी का तैरना (संतरण) अत्यन्त हानिकारक रूप में विचलित हो सकता है। ऐसा ही उत्पात पहले हिरण्याक्ष (जो स्वर्णदस्यु था) के समय उत्पन्न हुआ था जिससे पृथ्वी

भारहीन स्थिति से निकल गई थीं और गर्भोदक सागर में गिर गई थी। फलतः समग्र भौतिक सृष्टि के पालनहार के रुप में भगवान् ने उपयुक्त थूथनी वाले विशाल शूकर का रूप धारण करके पृथ्वी को गर्भोदक सागर से बाहर निकाला। परम वैष्णव कवि श्रीजयदेव गोस्वामी का गीत है—

वसति दशनशिखरे धरणी तव लग्ना,

शशिनि कलंककलेव निमग्ना।

केशव धृतशूकररूप,

जय जगदीश हरे॥

‘‘हे केशव! हे शूकर रूप धारण करने वाले परमेश्वर! हे भगवान्! पृथ्वी आपकी दाढ़ों पर स्थित थी और वह कलंक युक्त चन्द्रमा की भाँति प्रतीत हो रही थी।’’

भगवान् के अवतार का ऐसा लक्षण होता है। भगवान् का अवतार कुछ मनचले लोगों का मनगढ़ंत विचार नहीं, जो अपनी कल्पना से ही कोई अवतार उत्पन्न कर लेते है। भगवान् का अवतार कुछ असाधारण परिस्थितियों में होता है, जैसे ऊपर उल्लेख हुआ है और अवतार ऐसे-ऐसे कार्य सम्पन्न करता है, जिसकी कल्पना कर पाना लघु मानव मस्तिष्क के लिए सम्भव नहीं है। आजकल के सस्ते अवतार स्रष्टाओं को भगवान् के वास्तविक विराट शूकर अवतार से, जिसमें पृथ्वी लोक को उठाने के लिए उपयुक्त थूथन थी, शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

जब भगवान् पृथ्वी उठाने के लिए प्रकट हुए तो हिरण्याक्ष ने उनके इस योजनाबद्ध कार्य में बाधा डालनी चाही, फलतः भगवान् ने उसे अपने लम्बे दांढ़ से बेध कर मार डाला। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार हिरण्याक्ष का वध भगवान् के हाथों से हुआ। उनका कथन है कि पहले हाथों से मारने के बाद भगवान् ने उसे अपने लम्बे दांढ़ से बेध डाला। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस कथन की पुष्टि की है।

जातो रुचेरजनयत् सुयमान् सुयज्ञ
आकूति-सूनुरमरानथ दक्षिणायाम् ।
लोक-त्रयस्य महतीमहरद् यदार्तिं
स्वायम्भुवेन मनुना हरिरित्यनूक्तः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

जातः—उत्पन्न हुआ; रुचेः—प्रजापति की पत्नी के; अजनयत्—जन्म हुआ; सुयमान्—सुयम इत्यादि; सुयज्ञः—सुयज्ञ; आकूति-सूनुः—आकूति का पुत्र; अमरान्—देवता; अथ—इस प्रकार; दक्षिणायाम्—दक्षिणा नामक पत्नी से; लोक—लोक; त्रयस्य—तीनों का; महतीम्—अति विशाल; अहरत्—कम किया; यत्—वे सब; आर्तिम्—क्लेश; स्वायम्भुवेन—स्वायंभुव मनु द्वारा; मनुना—मनुष्यों के पिता द्वारा; हरिः—हरि; इति—इस प्रकार; अनूक्तः—नाम रखा।

सर्वप्रथम प्रजापति की पत्नी आकूति के गर्भ से सुयज्ञ उत्पन्न हुआ; फिर सुयज्ञ ने अपनी पत्नी दक्षिणा से सुयम इत्यादि देवताओं को उत्पन्न किया। सुयज्ञ ने इन्द्रदेव के रूप में तीनों लोकों के महान् क्लेश कम कर दिए थे, फलतः मानवमात्र के परम पिता स्वायंभुव मनु ने उसे हरि नाम से पुकारा।

तात्पर्य : मनमौजी अल्पज्ञ पुरुष नये-नये अवैधानिक अवतारों की खोज करते रहते हैं। इनसे बचने के लिए धर्मग्रन्थों में प्रामाणिक अवतार के पिता का नाम भी दिया रहता है। फलतः यदि शास्त्रों में किसी अवतार के पिता का तथा प्रकट होने वाले ग्राम या स्थान का उल्लेख नहीं है, तो उसे भगवान् का अवतार नहीं माना जा सकता। *भागवत-पुराण* में कल्कि अवतार के पिता तथा जहाँ अवतार होगा उस ग्राम का नाम निर्देशित है। फलतः कोई भी बुद्धिमान पुरुष किसी सस्ते अवतार को शास्त्रों को देखे बिना स्वीकार नहीं करेगा।

जज्ञे च कर्दम-गृहे द्विज देवहूत्यां
स्त्रीभिः समं नवभिरात्म-गतिं स्व-मात्रे ।
ऊचे ययात्म-शमलं गुण-सङ्ग-पङ्क-
मस्मिन् विधूय कपिलस्य गतिं प्रपेदे ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

जज्ञे—जन्म लिया; च—भी; कर्दम—कर्दम नामक प्रजापति के; गृहे—घर में; द्विज—हे ब्राह्मण; देवहूत्याम्—देवहूति के गर्भ में; स्त्रीभिः—स्त्रियों द्वारा; समम्—के साथ में; नवभिः—नौ; आत्म-गतिम्—आत्मबोध; स्व-मात्रे—अपनी माता से; ऊचे—कहा; यया—जिससे; आत्म-शमलम्—आत्मा का आवरण; गुण-सङ्ग—गुणों के साथ; पङ्कम्—कीचड़; अस्मिन्—इस जीवन में; विधूय—धुल कर; कपिलस्य—भगवान् कपिल की; गतिम्—मुक्ति; प्रपेदे—प्राप्त किया।

इसके पश्चात् भगवान् कपिल रूप में अवतरित हुए और प्रजापति ब्राह्मण कर्दम तथा उनकी पत्नी देवहूति के पुत्र रूप में अन्य नौ स्त्रियों (बहनों) के साथ जन्म लिया। उन्होंने अपनी माता

को आत्म-साक्षात्कार के विषय में शिक्षा दी, जिससे वे उसी जीवन काल में सांसारिक गुण रूपी कीचड़ से विमल हो गईं और उन्होंने मुक्ति प्राप्त की जो कपिल का मार्ग है।

तात्पर्य : भगवान् कपिल ने अपनी माता देवहूति को जो उपदेश दिये, वे *श्रीमद्भागवत* के तृतीय स्कंध (अध्याय २५-३२) में दिये गये हैं और जो भी उनका पालन करता है उसे देवहूति के समान मुक्ति प्राप्त हो सकती है। भगवान् ने अुर्जन को *भगवद्गीता* सुनाई जिससे उसे आत्म-साक्षात्कार प्राप्त हुआ। आज भी जो कोई अर्जुन के पथ का अनुसरण करता है, वह अर्जुन के ही समान लाभ प्राप्त कर सकता है। शास्त्र इसीलिए हैं। मूर्ख तथा अल्पज्ञानी मनुष्य अपनी कल्पना से उनकी विवेचना करके अपने अनुयायियों को गुमराह करते हैं और उन्हें संसार के गर्त में पड़े रहने देते हैं। किन्तु आज भी यदि कोई भगवान् श्रीकृष्ण या कपिल के उपदेशों का पालन करे, तो उसे परम लाभ हो सकता है।

आत्म-गतिम् शब्द परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के प्रसंग में महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य को भगवान् तथा जीव के केवल गुणों की समता को जान लेने भर से सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। उसे चाहिए कि अपने सीमित ज्ञान से जितना तक सम्भव हो भगवान् के विषय में जानने का प्रयास करे। भगवान् को पूरी तरह जान पाना शिव या ब्रह्मा जैसे मुक्त पुरुषों के लिए भी कठिन है, तो भला उन्हें अन्य देवता या संसारी पुरुष कैसे जान सकते हैं? तो भी महान् भक्तों तथा शास्त्रों में उपलब्ध आदेशों का पालन करते हुए भगवान् के विषय में बहुत कुछ जाना जा सकता है। भगवान् के अवतार, महामुनि कपिल, ने अपनी माता को भगवान् के स्वरूप के विषय में पूरी तरह उपदेश दिया जिससे उन्हें भगवान् का साक्षात्कार हो सका और वे वैकुण्ठ लोक में स्थान प्राप्त कर सकीं जहाँ पर कपिल का आधिपत्य है। भगवान् के प्रत्येक अवतार का परव्योम में अपना-अपना धाम होता है, अत: श्रीकपिल का भी अपना पृथक् वैकुण्ठ लोक है। परव्योम शून्य नहीं है। इसमें अनेक वैकुण्ठ लोक हैं और प्रत्येक में भगवान् अपने असंख्य विस्तारों के द्वारा शासन करते हैं और वहाँ पर रहने वाले शुद्ध भक्त भी भगवान् तथा उनके पार्षदों के समान जीवन-यापन करते हैं।

जब भगवान् स्वयं या अपने अंश रूप में अवतरित होते हैं, तो इन अवतारों को *अंश, कला, गुण, युग* तथा *मन्वन्तर* अवतार कहा जाता है और जब भगवान् के आदेश से उनका कोई पार्षद अवतार

लेता है, तो ऐसे अवतार को *शक्त्यावेश* अवतार कहा जाता है। किन्तु प्रत्येक दशा में इन सभी अवतारों की पुष्टि प्रामाणिक शास्त्रों के निर्विवाद कथनों द्वारा की जाती है, न कि अपना विज्ञापन करने वाले की किसी कल्पना से। उपर्युक्त दोनों प्रकार के सभी अवतार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को ही परम सत्य घोषित करते हैं। परम सत्य की निर्विशेष अवधारणा भगवान् के उस स्वरूप का निषेध मात्र ही है, जो परम सत्य की सांसारिक धारणा से उत्पन्न है।

जीवात्माएँ आध्यात्मिकता में स्वभाविक रूप से भगवान् के समान ही उत्तम हैं—दोनों में केवल इतना ही अन्तर है कि भगवान् सदा परम तथा शुद्ध हैं और प्रकृति के गुणों से दूषित नहीं होते, जबकि जीवात्माएँ सत्त्व, रज तथा तम के भौतिक गुणों की संगति से दूषित होती रहती हैं। तीनों गुणों से उत्पन्न यह दूषण ज्ञान, त्याग तथा भक्ति के द्वारा पूर्ण रुप से धोया जा सकता है। जीवन का अन्तिम लक्ष्य तो भगवद्‌भक्ति है, अत: जो सीधे ही भगवान् की भक्ति में लगे हैं, वे आत्मज्ञान तो प्राप्त करते ही हैं, साथ ही सांसारिकता से विरक्ति भी प्राप्त कर लेते हैं और इस तरह परम मुक्त होकर भगवान् के धाम जाते हैं जैसाकि *भगवद्‌गीता* (१४.२६) में कहा गया है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

जीवात्मा अ-मुक्त अवस्था में भी, भगवान् श्रीकृष्ण या उनके अंशरूप राम तथा नृसिंह की दिव्य प्रेमाभक्ति कर सकता है। इस प्रकार दिव्य भक्ति-मय सेवा द्वारा भक्त क्रमश: *ब्रह्मगतिम्* या *आत्मगतिम्* की ओर अग्रसर होता रहता है और अन्त में बिना किसी कठिनाई के *कपिलस्य गतिम्* अर्थात् भगवान् के धाम को प्राप्त करता है। भगवद्‌भक्ति की निर्विश-शक्ति इतनी अधिक है कि वह भक्त के वर्तमान जीवन के भौतिक संदूषण को भी निष्प्रभावित कर सकती है। पूर्णमुक्ति के लिए भक्त को अगले जन्म की प्रतीक्षा नहीं करनी होती।

अत्रेरपत्यमभिकाङ्क्षत आह तुष्टो
दत्तो मयाहमिति यद् भगवान् स दत्तः ।
यत्पाद-पङ्कज-पराग-पवित्र-देहा
योगर्द्धिमापुरुभयीं यदु-हैहयाद्याः ॥ ४॥

शब्दार्थ

अत्रेः—अत्रि मुनि की; अपत्यम्—सन्तान; अभिकाङ्क्षतः—आकांक्षा करते हुए; आह—यह कहा; तुष्टः—प्रसन्न; दत्तः—दिया गया; मया—मेरे द्वारा; अहम्—अपने आपको; इति—इस प्रकार; यत्—क्योंकि; भगवान्—श्रीभगवान्; सः—वह; दत्तः—दत्तात्रेय; यत्-पाद—जिसके पाँव; पङ्कज—कमल; पराग—धूलि; पवित्र—पवित्र; देहाः—शरीर; योग—योग की; ऋद्धिम्—ऐश्वर्य; आपुः—प्राप्त किया; उभयीम्—दोनों लोकों के लिए; यदु—यदुवंश के पिता; हैहय-आद्याः—राजा हैहय इत्यादि।

अत्रि मुनि ने भगवान् से सन्तान के लिए प्रार्थना की और उन्होंने प्रसन्न होकर स्वयं ही अत्रि के पुत्र दत्तात्रेय (दत्त, अत्रि का पुत्र) के रूप में अवतार ग्रहण करने का वचन दिया। और भगवान् के चरणकमलों की कृपा से अनेक यदु, हैहय इत्यादि पवित्र हुए और उन्होंने भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही वर प्राप्त किये।

तात्पर्य : भगवान् तथा जीवात्माओं के मध्य पाँच प्रकार से आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य। अत्रि मुनि भगवान् से वात्सल्य भाव से जुड़े थे, अत: वे अपनी भक्ति की सिद्धि में भगवान् को पुत्र रूप में चाह रहे थे। भगवान् ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और उनके पुत्र रूप में स्वयं जन्म लिया। भगवान् तथा शुद्ध भक्त के बीच इस प्रकार के पुत्रत्व (वात्सल्य भाव) के सम्बन्ध के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। चूँकि भगवान् असीम हैं अत: उनके पिता-भक्तों की संख्या अनन्त है। वास्तव में भगवान् समस्त जीवात्माओं के पिता हैं, किन्तु भक्तों के आध्यात्मिक प्रेमवश वे पिता बनने की अपेक्षा किसी भक्त का पुत्र बनना अधिक पसन्द करते हैं। वस्तुत: पिता पुत्र की सेवा करता है, जबकि पुत्र पिता से सभी प्रकार की सेवाओं की माँग करता रहता है, अत: जो शुद्ध भक्त भगवान् की सेवा करना चाहता है, वह उन्हें पुत्र रूप में चाहता है, पिता रूप में नहीं। भगवान् भी भक्त की ऐसी सेवा स्वीकार करते हैं और इस प्रकार भक्त भगवान् से बढ़कर हो जाता है। निर्विशेषवादी भगवान् से एकाकार होना चाहता है, किन्तु भक्त तो भगवान् से बढ़कर होता है और बड़े से बड़े एकेश्वरवादी से आगे होता है। इस गूढ़ सम्बन्ध के कारण भगवान् के माता-पिता तथा अन्य सम्बन्धी योग की सभी ऋद्धियों को स्वत: प्राप्त कर लेते हैं। ऐसी ऋद्धियों में सभी प्रकार का भौतिक सुख, मुक्ति तथा सिद्धियाँ सम्मिलित रहती हैं। अत: भगवद्भक्त अलग से इनकी खोज करने में

वृथा अपना समय नहीं गँवाता। मनुष्य को चाहिए कि जीवन के बहुमूल्य समय को भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में पूरी तरह लगाए। तब अन्य वांछित वस्तुएँ स्वत: प्राप्त हो जायेंगी। किन्तु इन सब उपलब्धियों के होते हुए भी मनुष्य को चाहिए कि भक्तों के चरणों पर अपराध करके गड्ढे में गिरने से अपनी सुरक्षा करे। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैहय है, जिसने भक्ति के द्वारा सारी सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं, किन्तु भक्त के चरणों पर अपराध करने के कारण परशुराम ने उसका वध कर दिया। भगवान् अत्रि मुनि के पुत्र बने और दत्तात्रेय कहलाये।

तप्तं तपो विविध-लोक-सिसृक्षया मे
आदौ सनात् स्व-तपस: स चतु:-सनोऽभूत् ।
प्राक्कल्प-सम्प्लव-विनष्टमिहात्म-तत्त्वं
सम्यग् जगाद मुनयो यदचक्षतात्मन् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तप्तम्—तपस्या करके; तप:—तपस्या; विविध-लोक—विभिन्न लोक; सिसृक्षया—सृष्टि करने की इच्छा से; मे—मेरा; आदौ—सर्वप्रथम; सनात्—श्रीभगवान् से; स्व-तपस:—अपनी तपस्या के बल से; स:—वह (भगवान्); चतु:-सन:—चारों कुमार जिनके नाम हैं, सनत्कुमार, सनक, सनन्दन तथा सनातन; अभूत्—प्रकट हुए; प्राक्—पूर्व; कल्प—सृष्टि; सम्प्लव—बाढ़ में; विनष्टम्—नष्ट; इह—इस संसार में; आत्म—आत्मा; तत्त्वम्—सत्य; सम्यक्—पूर्णत:; जगाद—प्रकट हुआ; मुनय:—मुनिगण; यत्—जिन्होंने; अचक्षत—स्पष्ट देखा; आत्मन्—आत्मा।

विभिन्न लोकों की उत्पत्ति करने के लिए मुझे तपस्या करनी पड़ी और तब भगवान् ने मुझसे प्रसन्न होकर चारों कुमारों (सनक, सनत्कुमार, सनन्दन तथा सनातन) के रूप में अवतार लिया। पिछली सृष्टि में आध्यात्मिक सत्य (आत्मज्ञान) का विनाश हो चुका था, किन्तु इन चारों कुमारों ने इतने स्पष्ट ढंग से उसकी व्याख्या की कि मुनियों को तुरन्त सत्य का साक्षात्कार हो गया।

तात्पर्य : *विष्णुसहस्रनाम* स्तोत्रों में भगवान् का नाम *सनात* तथा *सनातनतम* है। यद्यपि भगवान् तथा जीवात्मा गुणात्मक दृष्टि से *सनातन* अर्थात् शाश्वत हैं, किन्तु भगवान् *सनातनतम* अर्थात् सनातनों में सर्वश्रेष्ठ हैं। जीवात्माएँ निस्सन्देह *सनातन* हैं किन्तु सनातनतम नहीं, क्योंकि ये अ-शाश्वत जगत में पतित हो सकती हैं। अत: जीवात्माएँ *सनातनतम* भगवान् से मात्रा की दृष्टि से भिन्न हैं।

सन् शब्द दान के अर्थ में भी आया है, अत: जब भक्त भगवान् को अपना सर्वस्व दान-रूप में सौंप देता है, तो बदले में भगवान् अपने आपको भक्त को सौंप देते हैं। *भगवद्गीता* (४.११) में भी इसकी पुष्टि हुई है—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते।* ब्रह्माजी ने पूर्व कल्प की भाँति फिर से सृष्टि की उत्पत्ति

करनी चाही और चूँकि पिछले प्रलय में, ब्रह्माण्ड से ब्रह्म-ज्ञान विलुप्त हो चुका था, इसीलिए वे उसे पुन: जीवित करना चाह रहे थे। चूँकि दिव्य ज्ञान मूलभूत आवश्यकता है, अत: सृष्टि के प्रत्येक कल्प में नित्य बद्धजीवों को मुक्ति का अवसर प्रदान किया जाता है। ब्रह्माजी की इस इच्छा की पूर्ति भगवान् ने चारों कुमारों अर्थात् सनक, सनत्कुमार, सनन्दन तथा *सनातन* को उनके पुत्र रूप में उत्पन्न करके की। ये चारों कुमार परमेश्वर के ज्ञानावतार थे, अत: उन्होंने दिव्य ज्ञान की ऐसी स्पष्ट व्याख्या की कि सभी मुनि बिना किसी कठिनाई के उस ज्ञान को प्राप्त कर सके। इन चारों कुमारों के पदचिह्नों पर चल कर कोई भी अपने अंत:करण में भगवान् का दर्शन कर सकता है।

धर्मस्य दक्ष-दुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां
नारायणो नर इति स्व-तप:-प्रभाव: ।
दृष्ट्वात्मनो भगवतो नियमावलोपं
देव्यस्त्वनङ्ग-पृतना घटितुं न शेकु: ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

धर्मस्य—धर्म की; दक्ष—दक्ष प्रजापति; दुहितरि—पुत्री से; अजनिष्ट—जन्म लिया; मूर्त्याम्—मूर्ति नाम की; नारायण:—नारायण; नर:—नर; इति—इस प्रकार; स्व-तप:—अपनी तपस्या की; प्रभाव:—शक्ति; दृष्ट्वा—देखकर; आत्मन:—अपना; भगवत:—श्रीभगवान् का; नियम-अवलोपम्—व्रत को भंग करके; देव्य:—नैसर्गिक सुन्दरियाँ; तु—लेकिन; अनङ्ग-पृतना:—कामदेव के सखा; घटितुम्—होने के लिए; न—कभी नहीं; शेकु:—सम्भव हो सका।

उन्होंने अपनी तपस्या की विधि प्रदर्शित करने के लिए धर्म की पत्नी तथा दक्ष की पुत्री मूर्ति के गर्भ से नर तथा नारायण युगल-रूपों में जन्म लिया। कामदेव की सखियाँ, स्वर्ग की सुन्दरियाँ, उनका व्रत भंग करने आईं, किन्तु वे असफल रहीं, क्योंकि उन्हें भगवान् के शरीर से अपने समान अनेक सुन्दरियाँ उत्पन्न होती दिखाई पड़ीं।

तात्पर्य : भगवान् सभी वस्तुओं के स्रोत तो हैं ही, वे समस्त प्रकार की तपस्याओं के भी उद्गम हैं। आत्म-साक्षात्कार में सफलता प्राप्त करने के लिए मुनि तपस्या का महान् व्रत लेते हैं। मानव जीवन ब्रह्मचर्य के व्रत के साथ-साथ ऐसी तपस्या के लिए ही मिला है। तपस्या में स्त्रियों की संगति के लिए कोई स्थान नहीं है। और चूँकि मनुष्य जीवन तपस्या के निमित्त है, इसीलिए *सनातन धर्म* अथवा वर्णाश्रम धर्म पद्धति में जीवन के तीनों स्तरों पर स्त्री से दूर रहने की कठोर सलाह दी गई है। सांस्कृतिक विकास क्रम के अनुसार, जीवन के चार विभाग किये जा सकते हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ,

वानप्रस्थ तथा संन्यास। जीवन की प्रथम अवस्था में, जो प्रथम पच्चीस वर्षों तक रहती है, मनुष्य को प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में ब्रह्मचारी के रूप में शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे वह यह समझ सके कि स्त्री ही इस संसार की वास्तविक बन्धक शक्ति है। यदि कोई बद्ध जीवन के बन्धन से मुक्ति चाहता है, तो उसे स्त्री के आकर्षण से मुक्त होना चाहिए। जीवात्माओं के लिए स्त्री ही सम्मोहक तत्त्व है, किन्तु नर-रूप विशेष रूप से मनुष्य जीवन में तो आत्म-साक्षात्कार के लिए है। सारा संसार स्त्री-आकर्षण के जादू से गतिशील है और मनुष्य स्त्री से जुड़ा नहीं कि वह भव-बन्धन की कठोर ग्रन्थि से जकड़ जाता है। स्त्री के साथ जुड़ाव हो जाने पर स्वामित्व की झूठी प्रतिष्ठा के नशे के अन्तर्गत भौतिक जगत पर अपना प्रभुत्व जताने की लालसा उत्पन्न होती है। घर, भूमि तथा सन्तान प्राप्त करने, समाज में महत्त्वपूर्ण बनने, जाति तथा जन्मभूमि के लिए प्रेम, धन के लिए लोलुपता ये सब जो मायाजाल अथवा स्वप्न के तुल्य हैं, मनुष्य को घेर लेते हैं और मनुष्य अपने जीवन के असली उद्देश्य को भूल जाता है और आत्म-साक्षात्कार की दिशा में उसकी प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। ब्रह्मचारी जो प्राय: उच्चजाति का अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य जाति का बालक होता है, प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में पाँच वर्ष की अवस्था से पच्चीस वर्ष की अवस्था तक शिक्षा प्राप्त करता है और जीवन के मूल्यों तथा जीविका के लिए विशिष्ट शिक्षण प्राप्त करने का अनुभव प्राप्त करता है। तत्पश्चात् ब्रह्मचारी को घर जाने दिया जाता है, जहाँ वह गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने के लिए किसी अनुकूल स्त्री के साथ विवाह करता है। किन्तु ऐसे अनेक ब्रह्मचारी हैं, जो गृहस्थ बनने के लिए घर नहीं जाते किन्तु वे स्त्रियों से किसी प्रकार का सम्पर्क न करके नैष्ठिक ब्रह्मचारी का जीवन बिताते हैं। वे संन्यास आश्रम स्वीकार करते हैं। वे यह भलीभाँति जानते हैं कि स्त्री की संगति एक झंझट है, जिससे आत्म-साक्षात्कार में बाधा पड़ती है। चूँकि आयु विशेष में कामेच्छा अत्यन्त प्रबल हो उठती है इसलिए गुरु ब्रह्मचारी को विवाह करने की अनुमति दे सकता है; यह छूट केवल उन्हें दी जाती है, जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी नहीं रह सकते। और ऐसा भेद करपाना प्रामाणिक गुरु के लिए ही सम्भव है, इस प्रकार तथाकथित परिवार-नियोजन का कार्यक्रम आवश्यक है। जो गृहस्थ ब्रह्मचर्य की सम्यक शिक्षा के बाद शास्त्रानुमोदित रीति से स्त्री की संगति करता है, वह गृहस्थ कुत्ते-बिल्लियों की तरह का नहीं होता। ऐसा गृहस्थ पचास

वर्ष की आयु के पश्चात् स्त्री की संगति त्याग कर वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करके स्त्री के बिना रहने का अभ्यास करता है। जब अभ्यास पूरा हो जाता है, तो वानप्रस्थी संन्यास ग्रहण करता है तथा स्त्री से, यहाँ तक कि अपनी विवाहिता पत्नी से भी, अपने को अलग कर लेता है। स्त्री से वियुक्त होने की पूरी योजना के अध्ययन से प्रतीत होता है कि आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में स्त्री बाधक है और भगवान् नारायण रूप में स्त्री से वियुक्त होने की शिक्षा देने के लिए ही प्रकट हुए। दृढ़ ब्रह्मचारी के तपस्वी जीवन से ईर्ष्यालु होकर उसका व्रत भंग करने के उद्देश्य से देवता काम देव के सैनिकों को भेजते हैं। किन्तु भगवान् के समक्ष उनकी एक भी नहीं चली, क्योंकि जब दैवी सुन्दरियों ने देखा कि उनकी योगमाया से असंख्य सुन्दरियाँ प्रकट हो सकती हैं और उन्हें बाह्य रूप से आकृष्ट होने की आवश्यकता नहीं है। आम कहावत है कि हलवाई कभी मिठाइयों से ललचाता नहीं। हलवाई जो सदा ही मिठाइयाँ बनाता है, उन्हें खाने की कोई इच्छा नहीं रखता; इसी प्रकार भगवान् अपनी ह्लादिनी शक्ति से असंख्य दैवी सुन्दरियाँ उत्पन्न कर सकते हैं, अत: वे भौतिक संसार की छद्म सुन्दरियों से लेशमात्र भी आकृष्ट नहीं होते। जो यह नहीं जानता, वह मूर्खतावश दोष देता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने वृन्दावन की रास लीला में स्त्रियों के साथ या कि द्वारका में अपनी सोलह हजार पत्नियों के साथ रमण किया।

कामं दहन्ति कृतिनो ननु रोष-दृष्ट्या
रोषं दहन्तमुत ते न दहन्त्यसह्यम् ।
सोऽयं यदन्तरमलं प्रविशन् बिभेति
काम: कथं नु पुनरस्य मन: श्रयेत ॥ ७॥

शब्दार्थ

कामम्—वासना; दहन्ति—दण्ड देते हैं; कृतिनः—बड़े-बड़े अग्रणी; ननु—लेकिन; रोष-दृष्ट्या—क्रोधपूर्ण चितवन से; रोषम्—क्रोध; दहन्तम्—अभिभूत; उत—यद्यपि; ते—वे; न—नहीं; दहन्ति—वश में करते हैं; असह्यम्—दु:सह; सः—वह; अयम्—उसको; यत्—क्योंकि; अन्तरम्—भीतर; अलम्—फिर भी; प्रविशन्—भीतर जाकर; बिभेति—भयभीत होता है; कामः—वासना से; कथम्—कैसे; नु—वस्तुतः; पुनः—फिर; अस्य—उसका; मनः—मन; श्रयेत—शरण ग्रहण करता है।

शिव जैसे महापुरुष अपनी रोषपूर्ण चितवन से वासना (काम) को जीतकर उसे दण्डित तो कर सकते हैं, किन्तु वे स्वयं अपने क्रोध के अत्यधिक प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकते। ऐसा क्रोध कभी भी उनके (भगवान् के) हृदय में प्रवेश नहीं पाता, क्योंकि वे इससे ऊपर हैं। तो फिर भला उनके मन में वासना को आश्रय कैसे प्राप्त हो सकता है?

तात्पर्य : जब शिवजी कठिन तपस्या में तल्लीन थे तो कामदेव ने अपना काम-बाण उन पर छोड़ा। शिव ने घोर कुपित दृष्टि से कामदेव की ओर देखा तो उसका शरीर तुरन्त भस्म हो गया। शिव इतने शक्तिशाली होते हुए भी क्रोध के प्रभाव से मुक्त न थे। किन्तु भगवान् विष्णु के आचरण में कभी भी क्रोध करने की कोई घटना नहीं पाई जाती। इसके विपरीत, जब भृगु मुनि ने जान बूझकर उनके वक्षस्थल पर चरण-प्रहार किया, तो मुनि पर क्रुद्ध होने के बजाय भगवान् ने यह कहकर क्षमा माँगी कि उनका वक्षस्थल अत्यधिक कठोर है, कहीं मुनि के पाँव में ज्यादा चोट तो नहीं लगी। भगवान् के वक्षस्थल पर अंकित भृगुपाद चिह्न उनकी सहिष्णुता का प्रतीक है। अत: जब भगवान् क्रोध से किसी प्रकार प्रभावित नहीं होते, तो फिर क्रोध से कम शक्तिशाली कामेच्छा के लिए वहाँ किस तरह कोई स्थान हो सकता है? जब काम या इच्छा की पूर्ति नहीं होती तो क्रोध उत्पन्न होता है; अत: जब क्रोध अनुपस्थित हो तो फिर काम कैसे उत्पन्न हो सकता है? भगवान् को आप्तकाम कहा जाता है, क्योंकि वे अपनी इच्छाओं की तुष्टि स्वयं करते हैं। उन्हें अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए किसी की सहायता नहीं चाहिए। भगवान् असीम हैं अत: उनकी इच्छाएँ भी असीम हैं। भगवान् के अतिरिक्त समस्त जीवात्माएँ हर तरह से ससीम हैं, अत: जो ससीम हैं, वे असीम की इच्छाओं की तुष्टि कैसे कर सकते हैं? निष्कर्ष यह निकला कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् में न तो काम है, न क्रोध और यदि कभी उनमें इनका दर्शन हो भी तो इसे परम आशीर्वाद (वरदान) समझना चाहिए।

विद्धः सपत्न्युदित-पत्रिभिरन्ति राज्ञो
बालोऽपि सन्नुपगतस्तपसे वनानि ।
तस्मा अदाद् ध्रुव-गतिं गृणते प्रसन्नो
दिव्याः स्तुवन्ति मुनयो यदुपर्यधस्तात् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

विद्धः—बिंध कर; सपत्नि—सौतेली माता; उदित—कहे गये; पत्रिभिः—तीखे वचनों से; अन्ति—समक्ष; राज्ञः—राजा के; बालः—बालक; अपि—यद्यपि; सन्—ऐसा होते हुए; उपगतः—ग्रहण कर लिया; तपसे—कठोर तपस्या; वनानि—वन में; तस्मै—अतः; अदात्—पुरस्कार रूप में दिया; ध्रुव-गतिम्—ध्रुवलोक का मार्ग; गृणते—प्रार्थना किये जाने पर; प्रसन्नः—प्रसन्न होकर; दिव्याः—उच्चलोक के वासी; स्तुवन्ति—प्रार्थना करते हैं; मुनयः—बड़े-बड़े साधु; यत्—जिससे; उपरि—ऊपर; अधस्तात्—नीचे।

राजा की उपस्थिति में सौतली माता के कटु वचनों से अपमानित होकर राजकुमार ध्रुव, बालक होते हुए भी, वन में कठिन तपस्या करने लगे और भगवान् ने उनकी प्रार्थना से प्रसन्न

होकर उन्हें ध्रुवलोक प्रदान किया जिसकी पूजा ऊपर तथा नीचे के लोकों के सभी मुनि करते हैं।

तात्पर्य : महाराज उत्तानपाद के पुत्र तथा परम भक्त राजकुमार ध्रुव, जब पाँच वर्ष के थे तो वे अपने पिता की गोद में बैठे थे, किन्तु उनकी सौतेली माँ को राजा द्वारा अपने सौतेले पुत्र को इस प्रकार प्यार किया जाना अच्छा नहीं लगा। उसने उन्हें यह कहते हुए खींचकर उतार दिया कि चूँकि वह उसकी कोख से उत्पन्न नहीं है, अत: राजा की गोद में बैठने का अधिकार नहीं है। वह नन्हा बालक अपनी सौतेली माँ के इस व्यवहार से अत्यन्त अपमानित हुआ। उसके पिता ने कोई भी प्रतिवाद नहीं किया, क्योंकि वह अपनी इस दूसरी पत्नी के प्रति अत्यधिक आसक्त था। इस घटना के बाद राजकुमार ध्रुव अपनी माँ के पास गये और शिकायत की। उनकी सगी माँ भी इस अपमानजनक आचरण के प्रति कोई कदम नहीं उठा सकती थीं, इसीलिए वह रोने लगीं। बालक ने माँ से पूछा कि वह किस प्रकार अपने पिता के सिंहासन पर बैठ सकता है। बेचारी माँ ने कहा कि भगवान् ही एकमात्र उसके सहायक हो सकते हैं। बालक ने पूछा कि भगवान् कहाँ मिलेंगे, तो माँ ने कहा कि लोग कहते हैं कि भगवान् मुनियों को कभी-कभी घने वन में दिखते हैं। बालक राजकुमार ने निश्चय किया कि वह अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए जंगल जाकर कठोर तपस्या करेगा।

राजकुमार ध्रुव ने अपने गुरु नारद के आदेशानुसार, जिन्हें भगवान् ने इस कार्य के लिए विशेष तौर पर नियुक्त किया था, कठिन तपस्या की। नारद ने उन्हें अठारह अक्षरों वाले मंत्र के जपने की दीक्षा दी। यह मंत्र है—*ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।* भगवान् वासुदेव ने स्वयं पृश्निगर्भ नामक चतुर्भुज भगवान् के रूप में अवतरित होकर, राजकुमार को सप्त नक्षत्रों से ऊपर विशिष्ट लोक प्रदान किया। अपनी तपस्या में सफलता प्राप्त कर लेने के बाद राजकुमार ध्रुव को भगवान् के साक्षात् दर्शन हुए। इस प्रकार उनकी सारी कामनाएँ पूरी हो गईं और वे संतुष्ट हो गए।

राजुकमार ध्रुव महाराज को जो लोक मिला वह भगवान् वासुदेव की इच्छा से भौतिक आकाश में स्थित अचल वैकुण्ठ लोक है। इस लोक का, भौतिक संसार में होने के बावजूद भी, प्रलय के समय विनाश नहीं होगा प्रत्युत वह अपने स्थान पर अचल रहेगा। क्योंकि यह कभी न नष्ट होने वाला वैकुण्ठ

लोक है, इसलिए न केवल उसके नीचे स्थित सप्त नक्षत्रों के वासी उसकी पूजा करते हैं वरन् जो लोक उससे ऊपर हैं उनके वासी भी वैसा ही करते हैं। महर्षि भृगु का लोक ध्रुव लोक से ऊपर स्थित है।

अत: भगवान् ने अपने भक्त की इच्छापूर्ति के लिए पृश्निगर्भ के रूप में अवतार लिया और राजकुमार ध्रुव ने भगवान् के अन्य शुद्ध भक्त नारद से दीक्षा लेकर केवल मंत्र के जप से सिद्धि प्राप्त की। अत: एक शुद्ध भक्त से पथ-प्रदर्शन प्राप्त करके गम्भीर महापुरुष अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। ऐसा पथ-प्रदर्शक हर सम्भव प्रकार से भगवान् से मिलने की दृढ़ इच्छा होने पर स्वत: मिल जाता है।

राजकुमार ध्रुव के कार्यकलापों का वर्णन *श्रीमद्भागवत* के चतुर्थ स्कंध में पढ़ने को मिलेगा।

यद्वेनमुत्पथ-गतं द्विज-वाक्य-वज्र--
निष्प्लुष्ट-पौरुष-भगं निरये पतन्तम् ।
त्रात्वार्थितो जगति पुत्र-पदं च लेभे
दुग्धा वसूनि वसुधा सकलानि येन ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यत्—जब; वेनम्—राजा वेन को; उत्पथ-गतम्—पथभ्रष्ट; द्विज—ब्राह्मणों के; वाक्य—शाप के वचन; वज्र—वज्र; निष्प्लुष्ट—भस्म किया जाकर; पौरुष—महान् कार्य; भगम्—ऐश्वर्य; निरये—नरक में; पतन्तम्—गिरते हुए; त्रात्वा—उद्धार करके; अर्थित:—प्रार्थित; जगति—संसार में; पुत्र-पदम्—पुत्र का स्थान; च—भी; लेभे—प्राप्त किया; दुग्धा—दोहन किया; वसूनि—उपज; वसुधा—पृथ्वी; सकलानि—सभी प्रकार की; येन—जिसके द्वारा।

महाराज वेन कुमार्गगामी हो गया, अत: ब्राह्मणों ने वज्रशाप से उसे दण्डित किया। इस प्रकार राजा वेन अपने सत्कर्मों तथा ऐश्वर्य के सहित भस्म हो गया और नरक के पथ पर जाने लगा। किन्तु भगवान् ने, अपनी अहैतुकी कृपा से, उसके पुत्र पृथु के रूप में जन्म लेकर शापित राजा वेन को नरक से उबारा और पृथ्वी का दोहन करके उससे सभी प्रकार की उपजें प्राप्त कीं।

तात्पर्य : वर्णाश्रम धर्म-पद्धति के अनुसार पवित्र तथा विद्वान ब्राह्मण समाज के स्वाभाविक संरक्षक होते थे। ब्राह्मणजन प्रशासकों-राजाओं को अपने विद्वत्तापूर्ण प्रेम से अनुदेश देते थे कि किस प्रकार पूर्ण सत्यनिष्ठा से देश का शासन सँभाला जाय। इस प्रकार पूर्ण कल्याणकारी राज्य के रुप में यह प्रक्रिया चलती थी। राजा अथवा क्षत्रिय प्रशासक सदैव विद्वान ब्राह्मणों की परिषद से सलाह लेते थे। वे कभी भी तानाशाह नहीं होते थे। प्रजा पर शासन करने के लिए *मनुसंहिता* तथा महान् मुनियों द्वारा

लिखित अन्य प्रामाणिक कृतियाँ निर्देशक नियम प्रदान करने वाली होती थीं। अल्पबुद्धि वाले मनुष्यों को प्रजातन्त्र के नाम पर विधि संहिता बनाने की कोई आवश्यकता नहीं होती थी। जिस प्रकार शिशु को अपने भावी कल्याण का कोई ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार अल्पबुद्धि मनुष्यों को अपने ही कल्याण के विषय में बहुत कम ज्ञान होता है। जिस प्रकार अनुभवी पिता अबोध शिशु को उन्नति के पथ की ओर ले जाता है उसी प्रकार शिश-रूप जनता को भी वैसे ही पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता होती है। मनुसंहिता तथा अन्य वैदिक साहित्य में मानक कल्याण संहिता पहले से विद्यमान है। विद्वान ब्राह्मण राजा को ज्ञान के इन मानक ग्रन्थों के अनुसार तथा देश-काल की विशेष स्थिति के अनुसार सलाह देते रहते थे। ऐसे ब्राह्मण राजा के वेतनभोगी सेवक नहीं होते थे, फलत: वे धर्मग्रन्थों के नियमों के लिए राजा को आदेश देने का सामर्थ्य रखते थे। यह पद्धति महाराज चन्द्रगुप्त के काल तक भी चली और ब्राह्मण चाणक्य उसका अवैतनिक प्रधानमन्त्री था।

महाराज वेन ने शासन के नियमों का पालन नहीं किया। उसने विद्वान ब्राह्मणों की अवज्ञा की। ये ब्राह्मण अत्यन्त विशाल-हृदय थे और अपने हित की परवाह न करके समस्त प्रजा के पूर्ण कल्याण को ही सर्वोपरि मानते थे। उन्होंने राजा वेन को उसके दुराचरण के लिए दण्डित करना चाहा। अत: उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की और राजा को शाप भी दिया।

महापुरुष की अवज्ञा मात्र से दीर्घायु, आज्ञापालन, ख्याति, सत्यता, उच्चलोक जाने का अवसर तथा महापुरुषों के आशीष—ये सभी विनष्ट हो जाते हैं। मनुष्य को चाहिए कि महापुरुषों के पदचिह्नों पर दृढ़ता से चले। निस्सन्देह अपने पूर्व पुण्यों से महाराज वेन राजा बना था, किन्तु जान बूझकर महापुरुषों की अवज्ञा से उसे उपरोक्त सभी गुणों से वंचित होकर दण्डित होना पड़ा। *वामन पुराण* में महाराज वेन के इतिहास तथा उसके पतन का पूर्ण वर्णन मिलता है। जब महाराज पृथु को अपने पिता वेन की इस नारकीय दशा का पता चला कि वे एक म्लेच्छ परिवार में कुष्ट रोगी के रूप में पीड़ित हैं, तो वे शुद्धि के लिए उन्हें तुरन्त कुरुक्षेत्र ले आये और उन्होंने उन्हें समस्त कष्टों से छुटकारा दिलाया।

महाराज पृथु भगवान् के अवतार थे, जो पृथ्वी की अव्यवस्था को दूर करने के लिए ब्राह्मणों की प्रार्थना से अवतरित हुए थे। उन्होंने सभी प्रकार की फसलें उत्पन्न कीं, किन्तु उसके साथ ही एक पुत्र

के धर्म का निर्वाह भी किया जो पिता को नारकीय स्थिति से उबारता है। पुत्र का अर्थ है पुत नामक नरक से उद्धार करने वाला। ऐसा ही पुत्र योग्य है।

नाभेरसावृषभ आस सुदेवि-सूनु-
र्यो वै चचार सम-दृग् जड-योग-चर्याम् ।
यत् पारमहंस्यमृषयः पदमामनन्ति
स्वस्थः प्रशान्त-करणः परिमुक्त-सङ्गः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

नाभेः—महाराज नाभि के द्वारा; असौ—श्रीभगवान्; ऋषभः—ऋषभ; आस—हुआ; सुदेवि—सुदेवी का; सूनुः—पुत्र; यः—जिसने; वै—निश्चय ही; चचार—सम्पन्न किया; सम-दृक्—समदर्शी; जड—भौतिक; योग-चर्याम्—योग अभ्यास; यत्—जो; पारमहंस्यम्—सिद्धि की परम अवस्था; ऋषयः—ऋषिगण; पदम्—पद; आमनन्ति—स्वीकार करते हैं; स्वस्थः—अपने में स्थित; प्रशान्त—स्थिर; करणः—इन्द्रियाँ; परिमुक्त—पूर्णतया मुक्त; सङ्गः—भौतिक कल्मष।

राजा नाभि की पत्नी सुदेवी के पुत्र के रूप में भगवान् प्रकट हुए और ऋषभ-देव कहलाये। अपने मन को समदर्शी बनाने के लिए उन्होंने जड़-योग साधना की। इस अवस्था को मुक्ति का सर्वोच्च सिद्ध पद भी माना जाता है, जिसमें मनुष्य अपने में ही स्थित रहकर पूर्ण रूप से सन्तुष्ट रहता है।

तात्पर्य : आत्म-साक्षात्कार के लिए जितनी प्रकार की योग-साधनाएँ की जाती हैं उनमें जड़-योग को भी विशेषज्ञों द्वारा मान्यता प्राप्त है। इस जड़-योग में पत्थर के समान मूक बनकर किसी प्रकार के भौतिक फल से अप्रभावित रहने का प्रयास करना पड़ता है। जिस प्रकार पत्थर सभी प्रकार के बाह्य घात-प्रतिघात के प्रति उदासीन रहता है, उसी प्रकार जड़-योग की साधना करने वाला भौतिक देह को स्वेच्छा से पहुँचाये जाने वाले समस्त कष्टों को सहन करता है। ऐसे योगी बाल नहीं बनाते और अपने सिर के बालों को किसी मशीनी साधन की सहायता लिए बिना हाथ से उखाड़ कर अपने आपको पीड़ा पहुँचाते हैं, जो स्वेच्छा से अपने आप को कष्ट पहुँचाने की बहुत सी विधियों में से एक है। किन्तु ऐसे जड़-योग का असली उद्देश्य समस्त भौतिक मोह से छुटकारा पाना और पूर्ण रूप से अपने में स्थित होना है। अपने जीवन की अन्तिम अवस्था में महाराज ऋषभदेव मूक, पागल पुरुष की भाँति विचरण करते रहे—उन पर किसी भी शारीरिक दुर्व्यवहार का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। उन्हें पागल की भाँति जटा बढ़ाये तथा नंगा घूमते देख कर, गली-कूचों के अल्पबुद्धि बालक तथा मनुष्य उन पर

थूकते और उन पर पेशाब करते थे। वे अपनी ही विष्टा पर लेटे रहते थे और हटते नहीं थे। किन्तु उनका मल सुगंधित पुष्पों की भाँति दूर-दूर तक सुगन्धि फैलाता था और साधु पुरुष उन्हें परमहंस अर्थात् मानव सिद्धी की सर्वोच्च अवस्था में मानते थे। जो अपने मल को सुगन्धित न बना सके उसे सम्राट ऋषभदेव की नकल नहीं करनी चाहिए। जड़-योग का अभ्यास ऋषभदेव तथा उसी स्तर के सिद्ध लोगों के लिए सम्भव है, सामान्य लोगों के लिए यह असाधारण अभ्यास दुष्कर है।

जड़-योग का असली उद्देश्य *प्रशान्त-करण:* अर्थात् इन्द्रियों को वश में करना है, जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है। योग की समूची प्रक्रिया, चाहे इसे जो भी नाम दें, असंयमित इन्द्रियों को वश में करने तथा आत्म-साक्षात्कार के लिए तैयारी करने के लिए होती है। इस युग में विशेषत: जड़-योग का कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं है। इसके विपरीत भक्तियोग इस युग के लिए व्यावहारिक है, जो सर्वथा उपयुक्त है। उपयुक्त स्रोत से श्रवण करने की सहज विधि अर्थात् *श्रीमद्भागवत* को सुनकर योग की परम सिद्ध अवस्था प्राप्त की जा सकती है। ऋषभदेव राजा नाभि के पुत्र तथा राजा आग्नीध्र के पौत्र थे। वे राजा भरत के पिता थे जिनके नाम से इस पृथ्वीलोक का नाम भारतवर्ष पड़ा। ऋषभदेव की माता का नाम मेरुदेवी भी था, जिसे यहाँ पर सुदेवी कहा गया है। कभी-कभी लोग सुझाव देते हैं कि सुदेवी राजा नाभि की दूसरी पत्नी थी, किन्तु क्योंकि अन्यत्र ऋषभदेव को मेरुदेवी का पुत्र कहा गया है, अत: यह स्पष्ट है कि मेरुदेवी तथा सुदेवी एक ही व्यक्ति (स्त्री) के भिन्न-भिन्न नाम हैं।

सत्रे ममास भगवान् हय-शीरषाथो
साक्षात् स यज्ञ-पुरुषस्तपनीय-वर्ण: ।
छन्दोमयो मखमयोऽखिल-देवतात्मा
वाचो बभूवुरुशती: श्वसतोऽस्य नस्त: ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सत्रे—यज्ञोत्सव में; मम—मेरे; आस—प्रकट हुए; भगवान्—श्रीभगवान्; हय-शीरषा—घोड़े का सिर धारण करके; अथ—इस प्रकार; साक्षात्—प्रत्यक्ष; स:—वह; यज्ञ-पुरुष:—ऐसा पुरुष जो यज्ञ सम्पन्न करने से प्रसन्न होता है; तपनीय—सुनहले; वर्ण:—रंग; छन्द:-मय:—साक्षात् वैदिक स्तोत्र; मख-मय:—साक्षात् यज्ञ; अखिल—जो कुछ सम्भव है, वह सब; देवता-आत्मा—देवताओं की आत्मा; वाच:—वाणी; बभूवु:—सुने जाते हैं; उशती:—कानों को अत्यन्त मधुर लगने वाले; श्वसत:—साँस लेते हुए; अस्य—इसके; नस्त:—नथुनों से।

मेरे (ब्रह्मा) द्वारा सम्पन्न यज्ञ में भगवान् हयग्रीव अवतार के रूप में प्रकट हुए। वे साक्षात् यज्ञ हैं और उनके शरीर का रंग सुनहला है। वे साक्षात् वेद भी हैं और समस्त देवताओं के

परमात्मा हैं। जब उन्होंने श्वास ली, तो उनके नथुनों से समस्त मधुरवैदिक स्तोत्रों की ध्वनियाँ प्रकट हुईं।

तात्पर्य : वैदिक स्तोत्र प्राय: उन कर्मियों के लिए हैं, जो यज्ञ करते हैं और फल प्राप्ति की अभिलाषा से देवताओं को भी प्रसन्न करना चाहते हैं। किन्तु भगवान् साक्षात् यज्ञ तथा वैदिक स्तोत्र हैं। अत: जो भगवान् का प्रत्यक्ष भक्त होता है उससे यज्ञ सम्पन्न करने तथा देवताओं को प्रसन्न करने के कार्य स्वत: सम्पन्न हो जाते हैं। भगवान् के भक्त भले ही कोई यज्ञ न करें या वैदिक आदेशों के अनुसार किसी देवता को प्रसन्न न करें, किन्तु फिर भी वे कर्मियों अथवा विभिन्न देवों के उपासकों से उच्चतर पद पर रहते हैं।

मत्स्यो युगान्त-समये मनुनोपलब्ध:
क्षोणीमयो निखिल-जीव-निकाय-केत: ।
विस्त्रंसितानुरु-भये सलिले मुखान्मे
आदाय तत्र विजहार ह वेद-मार्गान् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

मत्स्य:—मत्स्यावतार; युग-अन्त—कल्प के अन्त में; समये—का समय; मनुना—भावी वैवस्वत मनु द्वारा; उपलब्ध:—दृश्य; क्षोणीमय:—पृथ्वी तक; निखिल—समस्त; जीव—जीवात्माएँ; निकाय-केत:—आश्रय; विस्त्रंसितान्—से उद्भूत; उरु—महान्; भये—भय से; सलिले—जल में; मुखात्—मुख से; मे—मेरा; आदाय—लाकर; तत्र—वहाँ; विजहार—उपभोग किया; ह—निश्चय ही; वेद-मार्गान्—समस्त वेदों का।

कल्प के अन्त में भावी वैवस्वत मनु, सत्यव्रत, देखेंगे कि मत्स्य अवतार के रूप में श्रीभगवान् पृथ्वी पर्यन्त सभी प्रकार की जीवात्माओं के आश्रय हैं। तब कल्प के अन्त में, जल में मेरे भय से, सभी वेद मेरे (ब्रह्मा) मुँह से निकलते हैं तथा भगवान् उस प्रवाह जल का राशि आनन्द उठाते हुए वेदों की रक्षा करते हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा का एक दिन चौदह मनुओं के तुल्य है और प्रत्येक मनु के अन्त में पृथ्वी-पर्यन्त सब कुछ नष्ट हो जाता है और तब ब्रह्मा को भी वह जल भयानक लगता है। अत: भावी वैवस्वत मनु के आरम्भ में वह ऐसे संहार को देखेगा। ऐसी अन्य अनेक घटनाएँ होंगी—यथा प्रसिद्ध शंखासुर का वध। ऐसी भविष्यवाणी ब्रह्मा के गत अनुभव पर आधारित है, क्योंकि उन्हें पता था कि उस प्रलयंकारी दृश्य में उनके मुख से वेद प्रकट होंगे, किन्तु मत्स्यावतार रूप में श्रीभगवान् न केवल समस्त

जीवात्माओं—यथा देवताओं, पशुओं, मनुष्यों तथा मुनियों—की रक्षा करेंगे वरन् वेदों को भी बचाएँगे।

क्षीरोदधावमर-दानव-यूथपाना-
मुन्मथ्नताममृत-लब्धय आदि-देवः ।
पृष्ठेन कच्छप-वपुर्विदधार गोत्रं
निद्राक्षणोऽद्रि-परिवर्त-कषाण-कण्डूः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

क्षीर—दूध; उदधौ—समुद्र में; अमर—देवता; दानव—असुर; यूथ-पानाम्—दोनों दलों के नायकों का; उन्मथ्नताम्—मन्थन करते हुए; अमृत—अमृत; लब्धय—प्राप्त करने हेतु; आदि-देवः—आदि परमेश्वर; पृष्ठेन—पीठ से; कच्छप—कछुवे का; वपुः—शरीर; विदधार—धारण किया; गोत्रम्—मन्दर पर्वत; निद्राक्षणः—निद्रा में; अद्रि-परिवर्त—पर्वत के घूमने से; कषाण—रगड़ से; कण्डूः—खुजली।

तब आदि भगवान् मथानी की तरह उपयोग में लाऐ जा रहे मन्दराचल पर्वत के लिए धुरी (आश्रय स्थल) के रूप में कच्छप रूप में अवतरित हुए। देवता तथा असुर अमृत निकालने के उद्देश्य से मन्दराचल को मथानी बनाकर क्षीर सागर का मंथन कर रहे थे। यह पर्वत आगे-पीछे घूम रहा था जिससे भगवान् कच्छप की पीठ पर रगड़ पड़ रही थी,तब वे अघजगी निद्रा में थे और खुजलाहट का अनुभव कर रहे थे, उनकी पीठ रगड़ी जाने लगी।

तात्पर्य : यद्यपि हमें अनुभव नहीं हैं, किन्तु इस ब्रह्माण्ड में क्षीर सागर विद्यमान है। यहाँ तक कि आज के विज्ञानी भी स्वीकार करते हैं कि हमारे सिर के ऊपर सैकड़ों-लाखों लोक मँडरा रहे हैं और हर एक लोक की जलवायु भी भिन्न है। *श्रीमद्भागवत* ऐसी अनेक सूचनाएँ प्रदान करता है, जो हमारे वर्तमान अनुभव से मेल नहीं खातीं। किन्तु जहाँ तक भारतीय मुनियों का प्रश्न है, वे बिना हिचक के स्वीकार करते हैं कि हम प्रामाणिक ज्ञान ग्रन्थों (*शास्त्र-चक्षुर्वत्*) का अवलोकन करें क्योंकि ज्ञान वैदिक ग्रन्थों से ही प्राप्त होता है। अतः हम *श्रीमद्भागवत* में वर्णित क्षीर सागर की उपस्थिति को तब तक नहीं नकार सकते जब तक हम अन्तरिक्ष में मँडराने वाले समस्त लोकों का प्रायोगिक परीक्षण न कर लें। चूँकि ऐसा प्रयोग सम्भव नहीं है, अतः हमें *श्रीमद्भागवत* के कथन को यथावत् रूप में स्वीकार करना होगा क्योंकि श्रीधर स्वामी, जीव गोस्वामी, विश्वनाथ चक्रवर्ती तथा अन्य आध्यात्मिक अग्रगण्य जनों ने इसे स्वीकार किया है। वैदिक विधि यही है कि परम अधिकारियों के पदचिह्नों का अनुसरण किया जाय और जो हमारी कल्पना के परे है उसे जानने की यही एकमात्र विधि है।

आदि भगवान् सर्व-शक्तिमान होने के कारण, चाहे जो भी कर सकते हैं, अत: किसी विशेष उद्देश्य से कच्छप या मत्स्य का अवतार ग्रहण करना तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं है। हमें *श्रीमद्भागवत* जैसे प्रामाणिक शास्त्रों के कथनों को स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए।

देवों तथा असुरों के सामूहिक प्रयास से क्षीर सागर के मन्थन के गुरुतर कार्य के लिए विशाल मन्दराचल पर्वत के लिए गुरुतर आधार की आवश्यकता थी। फलत: आदि भगवान् देवताओं की सहायता के उद्देश्य से विशाल कच्छप के रूप में अवतरित हुए और क्षीर सागर में तैरने लगे। इस पर्वत की रगड़ से उनकी पीठ पर खुजली हो रही थी, किन्तु कुछ-कुछ सोये रहने से उन्हें इसका आभास नहीं हुआ।

त्रै-पिष्टपोरु-भय-हा स नृसिंह-रूपं
कृत्वा भ्रमद्भ्रुकुटि-दंष्ट्र-कराल-वक्त्रम् ।
दैत्येन्द्रमाशु गदयाभिपतन्तमारा-
दूरौ निपात्य विददार नखैः स्फुरन्तम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

त्रै-पिष्टप—देवता; उरु-भय-हा—महान् भय को मिटाने वाला; सः—उसने (श्रीभगवान् ने); नृसिंह-रूपम्—नृसिंह अवतार; कृत्वा—करके; भ्रमत्—घूमती हुई; भ्रु-कुटि—भौंहे; दंष्ट्र—दाँत; कराल—अत्यन्त भयानक; वक्त्रम्—मुँह; दैत्य-इन्द्रम्—असुरों के राजा को; आशु—तुरन्त; गदया—गदा से; अभिपतन्तम्—गिरते हुए; आरात्—पास ही; ऊरौ—जाँघों पर; निपात्य—रखकर; विददार—विदीर्ण कर दिया; नखैः—नाखूनों से; स्फुरन्तम्—ललकारते हुए।

श्रीभगवान् ने देवताओं के अदम्य भय को मिटाने के लिए नृसिंह-देव का अवतार ग्रहण किया। उन्होंने असुरों के उस राजा (हिरण्यकशिपु) को अपनी जाँघों में रखकर अपने नाखूनों से विदीर्ण कर डाला, जो हाथ में गदा लेकर भगवान् को ललकार रहा था। उस समय उनकी भौंहें क्रोध से फड़क रही थीं और दाँतों के कारण उनका मुख भयावना लग रहा था।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु तथा उसके पुत्र महान् भगवद्भक्त प्रह्लाद महाराज का जीवन चरित्र *श्रीमद्भागवत* के सप्तम स्कन्ध में वर्णित है। भौतिक उपलब्धियों के कारण हिरण्यकशिपु अत्यन्त बलशाली बन गया था और ब्रह्माजी की कृपा से वह अपने को अमर मानने लगा था। ब्रह्माजी ने उसे अमरत्व का वर नहीं दिया, क्योंकि वे स्वयं अमर जीव नहीं हैं। किन्तु उसे ब्रह्माजी से जो वर प्राप्त हुआ था वह गोल-मोल था, जो लगभग अमर होने के तुल्य था। उसे विश्वास था कि वह न तो किसी

मनुष्य या देवता द्वारा और न किसी ज्ञात हथियार से मारा जा सकता है; न ही वह दिन में अथवा रात में मारा जा सकता है। फिर भी भगवान् ने आधा नर तथा आधा सिंह रूप में अवतार ग्रहण किया जो हिरण्यकशिपु जैसे भौतिक असुर के लिए अकल्पनीय था। इस प्रकार उन्होंने ब्रह्मा के वर को ध्यान में रखते हुए उसका वध कर दिया। उन्होंने उसे अपनी गोद में रखकर मारा जिससे उसका वध न तो पृथ्वी पर हुआ, न जल या आकाश में हुआ। भगवान् नृसिंह ने अपने नाखूनों से हिरण्यकशिपु को विदीर्ण किया, जो उसकी बुद्धि से परे मानवीय हथियार था। हिरण्यकशिपु का शाब्दिक अर्थ है—वह जो स्वर्ण तथा मृदु शय्या के चक्कर में रहे, जो भौतिकतावादी मनुष्यों का परम लक्ष्य है। ऐसे आसुरी पुरुष, जिनका भगवान् से कोई वास्ता नहीं रहता, भौतिक समृद्धि से प्राय: इतराने लगते हैं और भगवान् की सत्ता को ललकारते हुए उनके भक्तों का उत्पीड़न प्रारम्भ कर देते हैं। प्रह्लाद महाराज हिरण्यकशिपु के ही पुत्र थे और चूँकि वे परम भक्त थे, इसलिए पिता उन्हें भरसक कष्ट पहुँचाता था। इस परिस्थिति में भगवान् नृसिंहदेव के रूप में अवतरित हुए और देवों के शत्रु हिरण्यकशिपु को इस प्रकार मारा जो उसकी बुद्धि के लिए अकल्पनीय था। सर्वशक्तिमान भगवान् सदा ही ईश्वरहीन असुरों की भौतिकतावादी योजनाओं को विफल करने वाले हैं।

अन्तः-सरस्युरु-बलेन पदे गृहीतो
ग्राहेण यूथ-पतिरम्बुज-हस्त आर्तः ।
आहेदमादि-पुरुषाखिल-लोक-नाथ
तीर्थ-श्रवः श्रवण-मङ्गल-नामधेय ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अन्तः-सरसि—नदी के भीतर; उरु-बलेन—श्रेष्ठ शक्ति से; पदे—पाँव; गृहीतः—पकड़ा गया; ग्राहेण—मगर द्वारा; यूथ-पतिः—हाथियों के नायक का; अम्बुज-हस्तः—हाथ में कमल का पुष्प लेकर; आर्तः—अत्यधिक पीड़ित; आह—सम्बोधन किया; इदम्—इस प्रकार; आदि-पुरुष—आदि भोक्ता; अखिल-लोक-नाथ—ब्रह्माण्ड के स्वामी; तीर्थ-श्रवः—तीर्थस्थल की भाँति विख्यात; श्रवण-मङ्गल—जिसके नाम के सुनने मात्र से सारा कल्याण हो; नाम-धेय—जिसका पवित्र नाम जप के योग्य है।

अत्यन्त बलशाली मगर के द्वारा नदी के भीतर पाँव पकड़ लिये जाने से हाथियों का नायक अत्यन्त पीड़ित था, उसने अपनी सूँड़ में कमल का फूल लेकर भगवान् को इस प्रकार सम्बोधित किया, ''हे आदि भोक्ता, ब्रह्माण्ड के स्वामी, हे उद्धारक, हे तीर्थ के समान विख्यात, आपके पवित्र नाम जो जपे जाने के योग्य है, उनके श्रवण मात्र से ही सभी लोग पवित्र हो जाते हैं।''

तात्पर्य : नदी के भीतर बलशाली मगर (ग्राह) द्वारा हाथियों के नायक (गजेन्द्र) का पैर पकड़ लिये जाने की कथा *श्रीमद्भागवत* के अष्टम स्कंध में वर्णित है। चूँकि भगवान् ही परम ज्ञान हैं, अत: उनके पवित्र नाम तथा भगवान् में कोई भेद नहीं है। मगर द्वारा आक्रमण किये जाने पर गजेन्द्र अत्यधिक विपत्ति में था। यद्यपि हाथी मगर से बलवान होता है, किन्तु जल में होने पर मगर हाथी से कहीं अधिक बलशाली बन जाता है। चूँकि हाथी अपने पूर्वजन्म में भगवान् का परम भक्त था, अत: अपने पुण्य कर्मों के कारण वह भगवान् का नाम उच्चारण करने में समर्थ था। इस जगत में प्रत्येक जीवात्मा सदैव कष्ट में रहता है, क्योंकि यह जगत ही ऐसा है कि पग-पग पर विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। किन्तु जिसने पूर्वजन्म में पुण्य किये हैं वह अपने आप को भगवान् की भक्तिमय सेवा में लगाए रखता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१६) में हुई है। किन्तु जो पापकर्म करते हैं, वे भले ही पीड़ित रहें, किन्तु भगवद्भक्ति में नहीं लगते। इसकी भी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१५) में की गई है। भगवान् हरि तुरन्त अपने शाश्वत वाहन गरुड़ पर आसीन होकर प्रकट हुए और हाथी को उबार लिया।

हाथी को भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध का ज्ञान था। उसने भगवान् को आदि पुरुष कह कर सम्बोधित किया। भगवान् तथा जीवात्माएँ दोनों चेतन हैं, फलत: भोक्ता हैं, किन्तु समस्त वस्तुओं का स्रष्टा होने के कारण भगवान् आदि भोक्ता (पुरुष) हैं। परिवार में पिता तथा उसके पुत्र निश्चित रूप से भोक्ता होते हैं, किन्तु पिता आदि-भोक्ता होता है और पुत्र परवर्ती भोक्ता। शुद्ध भक्त यह भली-भाँति जानता है कि इस ब्रह्माण्ड की सारी वस्तुएँ भगवान् की सम्पत्ति स्वरूप हैं और जीवात्मा किसी भी वस्तु का उपभोग उनकी आज्ञा के अनुसार ही कर सकता है। यदि उनकी आज्ञा न रहे, तो मनुष्य निर्दिष्ट वस्तु का स्पर्श तक नहीं कर सकता। आदि-भोक्ता की विशद व्याख्या *ईशोपनिषद्* में की गई है। जो भगवान् तथा अपने में अन्तर को समझता है, वह भगवान् को पहले अर्पित किये बिना कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं करता।

हाथी ने भगवान् को *अखिल-लोकनाथ* कहकर सम्बोधित किया, अत: वे हाथी के भी स्वामी हुए। हाथी भगवान् का शुद्ध भक्त होने के कारण ग्राह के आक्रमण से रक्षा किए जाने का अधिकारी था ही और चूँकि भगवान् का व्रत है कि उनके भक्त कभी भी नष्ट नहीं होंगे, अत: यह उचित ही था कि

हाथी ने भगवान् को अपनी रक्षा के लिए बुलाया और दयालु भगवान् तुरन्त आये। यों तो भगवान् सबके रक्षक हैं, किन्तु जो उनकी श्रेष्ठता को स्वीकार करता है और वृथा गर्व नहीं करता या उनकी समता का दम नहीं भरता उसको वे वरीयता प्रदान करते हैं। वे सदैव श्रेष्ठ हैं। शुद्ध भक्त अपने तथा भगवान् के इस अन्तर को जानता है, अत: शुद्ध भक्त को पूर्णत: आश्रित होने के कारण वरीयता प्राप्त होती है, किन्तु जो भगवान् के अस्तित्व को नकारता है और अपने को भगवान् घोषित करता है, वह असुर है। अत: उसे सीमित संरक्षण प्राप्त होता है और वह भी उतना ही जितना भगवान् चाहते हैं। चूँकि भगवान् सर्वश्रेष्ठ हैं, अत: उनकी सिद्धि भी श्रेष्ठतम है। इसकी कोई कल्पना तक नहीं कर सकता।

हाथी ने भगवान् को *तीर्थश्रव:* कहकर सम्बोधित किया है, जिसका अर्थ है, ''तीर्थस्थान के समान विख्यात।'' लोग तीर्थ स्थान में अपने अज्ञात पापों के फलों से निवृत्त होने के लिए जाते हैं। किन्तु मनुष्य केवल भगवान् का पवित्र नाम लेने से ही अपने पापकर्मों से निवृत्त हो सकता है। अत: भगवान् तीर्थस्थान के समान ही उत्तम हैं। मनुष्य तीर्थस्थान में जाने पर पापमुक्त हो सकता है, किन्तु भगवान् का पवित्र नाम लेकर वह घर बैठे या अन्यत्र रहते हुए भी पापों से छुटकारा पा लेता है। शुद्ध भक्त के लिए तीर्थस्थानों में जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि वह श्रद्धा से भगवान् के नाम का स्मरण करे तो समस्त पापकर्मों से उबर सकता है। भगवान् का शुद्ध भक्त कभी कोई पापकर्म नहीं करता, किन्तु यह सारा जगत पापमय वातावरण से पूरित है, अत: अनजाने में शुद्ध भक्त से भी पाप हो सकते हैं। जो जान बूझकर पापकर्म करता है, वह भगवान् का भक्त होने के योग्य नहीं है, किन्तु यदि शुद्ध भक्त अनजाने में कोई पापकर्म कर बैठता है, तो भगवान् उसका उद्धार कर देते हैं, क्योंकि वह सदैव उनका स्मरण करता रहता है।

भगवान् का पवित्र नाम *श्रवण-मंगल* कहलाता है। इसका भावार्थ यह है कि केवल पवित्र नाम के सुनने मात्र से मनुष्य को समस्त शुभ वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं। *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र भगवन्नाम को *पुण्य-श्रवण-कीर्तन* कहा गया है। भगवान् के विषय में जप तथा श्रवण करना ही पुण्य है। भगवान् इस पृथ्वी पर अवतरित होकर सामान्य मनुष्यों की भाँति आचरण करते हैं जिससे लोगों के सुनने के लिए कुछ कार्यकलापों की सृष्टि हो, अन्यथा भगवान् का इस जगत से कोई सरोकार नहीं है और न उन्हें

कुछ करने की ही आवश्यकता है। वे अपनी अहैतुकी कृपा से प्रकट होते हैं और इच्छानुसार कार्य करते हैं। समस्त वेद तथा पुराण उनके विविध कार्यकलापों के विवरणों से भरे हैं, ताकि सामान्य लोग उनके विषय में सुनने तथा पढ़ने के इच्छुक रहें। तो भी सामान्य रूप से आधुनिक कथाएँ तथा उपन्यास लोगों का अधिकांश मूल्यवान समय ले लेते हैं। ऐसा साहित्य कभी कोई भलाई नहीं कर सकता, उल्टे वह नवयुवकों के मन को आन्दोलित करने वाला होता है, जिसमें रजो तथा तमो गुणों की वृद्धि होती है, जिससे भव-बन्धन प्रगाढ़ होता जाता है। सुनने तथा पढ़ने की इस प्रवृत्ति का सदुपयोग भगवान् के कार्यकलापों को सुनने और पढ़ने में किया जा सकता है। इससे चतुर्दिक् लाभ होगा।

अत: निष्कर्ष यह निकलता है कि भगवन्नाम तथा उनके आख्यान श्रवणीय हैं, इसीलिए उन्हें यहाँ पर *नाम-धेय* कहा गया है।

श्रुत्वा हरिस्तमरणार्थिनमप्रमेय-
श्चक्रायुधः पतगराज-भुजाधिरूढः ।
चक्रेण नक्र-वदनं विनिपाट्य तस्मा-
द्धस्ते प्रगृह्य भगवान् कृपयोज्जहार ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुनकर; हरिः—श्रीभगवान् ने; तम्—उसको; अरण-अर्थिनम्—सहायता चाहने वाला; अप्रमेयः—अनन्त शक्तिशाली भगवान्; चक्र—चक्र; आयुधः—अपने अस्त्र से सज्जित; पतग-राज—पक्षियों के राजा (गरुड़) के; भुज-अधिरूढः—पंखों पर आसीन; चक्रेण—चक्र से; नक्र-वदनम्—मगर के मुख को; विनिपाट्य—दो खंड करके; तस्मात्—मगर के मुख से; हस्ते—हाथ में; प्रगृह्य—सूँड़ पकड़ कर; भगवान्—श्रीभगवान् ने; कृपया—अहैतुकी कृपा से; उज्जहार—उद्धार किया।

हाथी की पुकार सुनकर श्रीभगवान् को लगा कि उसे उनकी अविलम्ब सहायता की आवश्यकता है, क्योंकि वह घोर संकट में था। तब पक्षिराज गरुड़ के पंखों पर आसीन होकर भगवान् अपने आयुध चक्र से सज्जित होकर वहाँ पर तुरन्त प्रकट हुए। उन्होंने हाथी की रक्षा करने के लिए अपने चक्र से मगर के मुँह के खण्ड-खण्ड कर दिये और हाथी के सूँड़से पकड़ कर उसे बाहर निकाल दिया।

तात्पर्य : श्रीभगवान् वैकुण्ठ लोक में रहते हैं। कोई यह नहीं अनुमान कर सकता कि यह लोक कितनी दूर स्थित है। किन्तु ऐसा कहा जाता है कि यदि कोई वायुयान से या मन से उस लोक पर पहुँचना चाहे तो लाखों वर्षों तक यात्रा करने पर भी वहाँ नहीं पहुँच सकेगा। आधुनिक विज्ञानियों ने

वायुयानों का आविष्कार किया है, किन्तु वे भौतिक हैं जबकि योगी मन रूपी यान से यात्रा करने का प्रयास करते हैं। ये योगी अपने मन-यान से तुरन्त ही कितनी भी दूर पहुँच सकते हैं। किन्तु ईश्वर के राज्य वैकुण्ठ लोक तक न तो वायुयान की, न मन-यान की ही पहुँच है, क्योंकि वह भौतिक आकाश से बहुत परे स्थित है। ऐसी स्थिति में भला हाथी की प्रार्थना उतनी दूर तक कैसे सुन पड़ी और भगवान् तत्क्षण उस स्थान पर कैसे पहुँच गये? मानव कल्पना से इन बातों की गणना सम्भव नहीं। यह सब भगवान् की अनन्त शक्ति से ही सम्भव हो सका, इसीलिए भगवान् को यहाँ अप्रमेय कहा गया है, क्योंकि सर्वाधिक बुद्धिमान मनुष्य का मस्तिष्क भी गणित की गणना से उनकी शक्तियों की कल्पना नहीं कर सकता। भगवान् इतनी दूरी से भी सुन सकते हैं, खा सकते हैं और एक पल के अन्तराल में सभी स्थानों में एकसाथ प्रकट हो सकते हैं। ऐसी है भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता।

ज्यायान् गुणैरवरजोऽप्यदितेः सुतानां
लोकान् विचक्रम इमान् यदथाधियज्ञः ।
क्ष्मां वामनेन जगृहे त्रिपद-च्छलेन
याच्ञामृते पथि चरन् प्रभुभिर्न चाल्यः ॥ १७॥

शब्दार्थ

ज्यायान्—सबसे बड़ा; गुणैः—गुणों में; अवरजः—दिव्य; अपि—यद्यपि वह ऐसा है; अदितेः—अदिति के; सुतानाम्—सभी पुत्रों का (जो आदित्य कहे जाते हैं); लोकान्—सभी लोक; विचक्रमे—बढ़कर; इमान्—इस ब्रह्माण्ड में; यत्—जो; अथ—अतः; अधियज्ञः—श्रीभगवान्; क्ष्माम्—समस्त पृथ्वी; वामनेन—वामन अवतार से; जगृहे—स्वीकार किया; त्रिपद—तीन पग; छलेन—छल से; याच्ञाम्—भिक्षा; ऋते—बिना; पथि चरन्—सत्य मार्ग पर चलते हुए; प्रभुभिः—अधिकारियों द्वारा; न—कभी नहीं; चाल्यः—से रहित होना, च्युत।

भगवान् समस्त भौतिक गुणों से परे होते हुए भी अदिति के पुत्रों (आदित्यों) के गुणों से कहीं बढ़ कर थे। वे अदिति के सबसे कनिष्ठ पुत्र के रूप में प्रकट हुए। और क्योंकि उन्होंने ब्रह्माण्ड के समस्त ग्रहों को पार किया, अतः वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। उन्होंने तीन पग भूमि माँगने के बहाने से बलि महाराज की सारी भूमि ले ली। उन्होंने याचना इसीलिए की क्योंकि बिना याचना के, सन्मार्ग पर चलने वाले से कोई उसकी अधिकृत सम्पत्ति नहीं ले सकता।

तात्पर्य : बलि महाराज तथा उनके द्वारा वामनदेव को दान दिये जाने की कथा *श्रीमद्भागवत* के अष्टम स्कन्ध में वर्णित है। बलि महाराज ने अपने बल से ब्रह्माण्ड के समस्त लोकों को जीत लिया था। कोई भी राजा अपने पराक्रम से अन्य राजाओं को जीत सकता है और ऐसा आधिपत्य अधिकृत

समझा जाता है। अत: बलि महाराज के पास ब्रह्माण्ड की सारी भूमि आ गई और वे ब्राह्मणों को उदारतापूर्वक दान देने लगे। फलत: भगवान् ने ब्राह्मण भिक्षुक का वेष धारण किया और बलि महाराज से तीन पग भूमि माँगी। भगवान् तो सभी वस्तुओं के स्वामी हैं, अत: वे चाहते तो बलि महाराज की सारी भूमि ले सकते थे, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया, क्योंकि बलि ने यह सारी भूमि राजा के अधिकारों के अनुसार प्राप्त की थी। जब भगवान् ने बलि महाराज से इतना तुच्छ दान माँगा, तो बलि के गुरु शुक्राचार्य ने इस प्रस्ताव का विरोध किया, क्योंकि उन्हें पता था कि भिक्षुक के रूप में वामन विष्णु ही थे। जब बलि महाराज को पता चल गया कि भिक्षुक विष्णु ही हैं, तो उन्होंने अपने गुरु की आज्ञा की परवाह न करते हुए माँगी गई भूमि तुरन्त ही दान में देना स्वीकार कर लिया। इस समझौते के अनुसार भगवान् वामन ने ब्रह्माण्ड की सारी भूमि पहले दो पगों में ही नाप ली और बलि महाराज से अपना तीसरा पग रखने के लिए भूमि माँगी। बलि महाराज ने अपने मस्तक पर उनका तीसरा पग रखे जाने में प्रसन्नता व्यक्त की। इस प्रकार अपने पास जो कुछ था, उसे बलि महाराज ने खोया नहीं, वरन् भगवान् से आशीर्वाद प्राप्त किया कि वह उनका नित्य साथी और द्वारपाल बनकर उनके साथ रहे। अत: भगवान् के लिए सर्वस्व अर्पित करके मनुष्य कुछ भी खोता नहीं, वरन् सब कुछ प्राप्त करता है, जिसकी अन्यथा उसे कोई आशा नहीं रहती।

नार्थो बलेरयमुरुक्रम-पाद-शौच-
मापः शिखा-धृतवतो विबुधाधिपत्यम् ।
यो वै प्रतिश्रुतमृते न चिकीर्षदन्य-
दात्मानमङ्ग मनसा हरयेऽभिमेने ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; अर्थ:—की तुलना में किसी महत्त्व का; बले:—शक्ति का; अयम्—यह; उरुक्रम-पाद-शौचम्—श्रीभगवान् के पादप्रक्षालन से प्राप्त; आप:—जल; शिखा-धृतवत:—सिर के ऊपर धारण करने वाले का; विबुध-अधिपत्यम्—देवों के साम्राज्य के ऊपर प्रमुखता; य:—जो; वै—निश्चय ही; प्रतिश्रुतम्—दिया गया वचन; ऋते न—उसके अतिरिक्त; चिकीर्षत्—प्रयास किया गया; अन्यत्—अन्य कुछ; आत्मानम्—अपना शरीर भी; अङ्ग—हे नारद; मनसा—मन से; हरये—हरि के प्रति; अभिमेने—समर्पित।

अपने सिर पर भगवान् के कमल-पाद प्रक्षालित जल को धारण करने वाले बलि महाराज ने अपने गुरु द्वारा मना किये जाने पर भी अपने वचन के अतिरिक्त मन में अन्य कुछ धारण नहीं किया। राजा ने भगवान् के तीसरे पग को पूरा करने के लिए अपना शरीर समर्पित कर दिया।

ऐसे महापुरुष के लिए अपने बाहुबल से जीते गये स्वर्ग के साम्राज्य का भी कोई महत्व नहीं था।

तात्पर्य : बलि महाराज को इतना बड़ा भौतिक त्याग करने के बदले में भगवान् की दिव्य कृपा प्राप्त करने से वैकुण्ठ लोक में स्थान प्राप्त हुआ था जहाँ शाश्वत भोग की उतनी ही अथवा उससे भी अधिक सुविधाएँ उपलब्ध थीं। अत: बाहुबल से जीते गये स्वर्ग के साम्राज्य को त्याग करके, उन्होंने कुछ खोया नहीं था। दूसरे शब्दों में, जब भगवान् किसी की गाढ़ी कमाई को छीन कर बदले में शाश्वत जीवन के लिए अपनी दिव्य भक्ति, आनन्द तथा ज्ञान प्रदान करते हैं, तो इसे ऐसे शुद्ध भक्त पर भगवान् की विशेष कृपा समझनी चाहिए।

भौतिक सम्पत्ति, चाहे कितनी ही मोहक क्यों न हो, कभी स्थायी नहीं हो सकती। अत: मनुष्य को चाहिए कि स्वेच्छा से ऐसी सम्पत्ति का परित्याग कर दे, अन्यथा इस शरीर का त्याग करते समय इस सारी सम्पत्ति को छोड़ना ही पड़ता है। बुद्धिमान मनुष्य जानता है कि समस्त भौतिक सम्पत्ति नाशवान है और इसका सर्वोत्तम उपयोग है कि इसे भगवान् की सेवा में अर्पित कर दिया जाय जिससे भगवान् प्रसन्न होकर उसे अपने परम धाम में स्थायी निवास दे सकें।

भगवद्गीता (१५.५-६) में परम धाम की व्याख्या भगवान् ने इस प्रकार की है—

निर्माणमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

जिस मनुष्य के पास इस जगत में घर, भूमि, सन्तान, समाज, मित्रता तथा सम्पत्ति के रूप में आवश्यकता से अधिक जितना होता है, वह सब थोड़े समय के लिए उसके पास रहता है। कोई भी माया द्वारा उत्पन्न इस भ्रामक सामग्री को स्थायी रूप में नहीं रख सकता। ऐसा मालिक आत्म-साक्षात्कार के विषय में अत्यधिक मोहग्रस्त रहता है, अत: मनुष्य के पास या तो बिल्कुल कम हो या कुछ न हो जिससे वह बनावटी प्रतिष्ठा से दूर रह सके। हम इस जगत में तीनों गुणों से संसर्ग के कारण कलुषित रहते हैं। अत: जो कोई जितना ही इस क्षणिक सम्पत्ति के बजाय भगवद्भक्ति के द्वारा

आध्यात्मिक उन्नति करता है, वह उतना ही भौतिक मोहासक्ति से मुक्त रहता है। जीवन की इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अपने आध्यात्मिक अस्तित्व तथा इसके स्थायी प्रभावों के विषय में पूरा विश्वास होना चाहिए। स्व–अस्तित्व के स्थायित्व के विषय में सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए स्वेच्छा से कम रखने या जीवन निर्वाह की आवश्यकता पूरी करने के लिए रखना चाहिए। मनुष्य को कृत्रिम आवश्यकताएँ न उत्पन्न करके न्यूनतम से संतुष्ट रहना चाहिए। कृत्रिम आवश्यकताएँ इन्द्रियों के कार्यकलाप हैं। आधुनिक सभ्यता की प्रगति इन्हीं इन्द्रियों के कार्यकलापों पर आधारित है अथवा दूसरे शब्दों में, यह सभ्यता इन्द्रिय–तृप्ति की सभ्यता है। पूर्ण सभ्यता तो आत्मा की सभ्यता है। इन्द्रिय–तुष्टि चाहने वाला सुसंस्कृत मनुष्य पशुओं के तुल्य है, क्योंकि पशु इन्द्रियों के कार्यकलापों से ऊपर नहीं उठ सकते।

इन्द्रियों से ऊपर मन है। मानसिक चिन्तन की सभ्यता भी पूर्ण नहीं, क्योंकि मन के ऊपर बुद्धि है और *भगवद्गीता* हमें बौद्धिक सभ्यता की जानकारी देती है। वैदिक साहित्य में मानवीय सभ्यता की अनेक दिशाएँ बताई गई हैं जिसमें इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा आत्मा की सभ्यताएँ सम्मिलित हैं। *भगवद्गीता* में मूलत: मनुष्य की बुद्धि का विवरण मिलता है, जिससे वह क्रमश: आत्मा की सभ्यता की ओर अग्रसर होता है। *श्रीमद्भागवत* तो आत्मा से सम्बद्ध विषय की पूर्ण मानवीय सभ्यता है। जैसे ही मनुष्य आत्मा की सभ्यता के पद तक उठ जाता है, वह ईश्वर के राज्य में जाने के योग्य बन जाता है, जिसका वर्णन *भगवद्गीता* के उपर्युक्त श्लोकों में मिलता है।

ईश्वर के साम्राज्य की प्रारम्भिक जानकारी से हमें पता लगता है कि वहाँ सूर्य, चन्द्र या बिजली की आवश्यकता नहीं होती, लेकिन अंधकार से युक्त भौतिक जगत में इनकी आवश्यकता पड़ती है। दूसरे यह कि जो भी आत्मा की सभ्यता अर्थात् भक्तियोग की विधि से उस साम्राज्य तक पहुँचता है उसको जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त हो जाती है। तब मनुष्य आत्मा में स्थायी रूप से स्थित हो जाता है और उसे भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति का पूरा–पूरा ज्ञान हो जाता है। बलि महाराज ने अपनी सारी भौतिक सम्पत्ति देकर बदले में आत्मा की सभ्यता स्वीकार की और इस प्रकार वे भगवान् के साम्राज्य में पहुँचने के योग्य हो सके। स्वर्ग का साम्राज्य, जिसे उन्होंने अपनी भौतिक शक्ति के बल से प्राप्त किया

था, ईश्वर के साम्राज्य के समक्ष तुच्छ था।

जो लोग इन्द्रिय-तुष्टि के लिए बनी भौतिक सभ्यता के सुख-साधनों को प्राप्त कर चुके हैं, उन्हें बलि महाराज के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए भगवद्धाम प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए जिन्होंने अपने अर्जित भौतिक समृद्धि के बदले में भक्तियोग की विधि स्वीकार की जिसकी संस्तुति *भगवद्गीता* में है और विस्तृत व्याख्या *श्रीमद्भागवत* में है।

तुभ्यं च नारद भृशं भगवान् विवृद्ध-
भावेन साधुपरितुष्ट उवाच योगम् ।
ज्ञानं च भागवतमात्म-सतत्त्व-दीपं
यद्वासुदेव-शरणा विदुरञ्जसैव ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तुभ्यम्—तुमको; च—भी; नारद—हे नारद; भृशम्—अत्यन्त सुन्दर ढंग से; भगवान्—श्रीभगवान्; विवृद्ध—विकसित; भावेन—दिव्य प्रेम से; साधु—साधु रूप आप; परितुष्टः—भली-भाँति संतुष्ट; उवाच—कहा; योगम्—सेवा; ज्ञानम्—ज्ञान; च—भी; भागवतम्—भगवान् तथा उनकी भक्ति का विज्ञान; आत्म—स्व; स-तत्त्व—समस्त विवरणों सहित; दीपम्—अंधकार में प्रकाश की भाँति; यत्—जो; वासुदेव-शरणाः—भगवान् वासुदेव के शरणागत; विदुः—उन्हें जानते हैं; अञ्जसा—भली-भाँति; एव—उसी रूप में।

हे नारद, तुम्हें श्रीभगवान् ने अपने हंसावतार में ईश्वर के विज्ञान तथा दिव्य प्रेमभाव के विषय में शिक्षा दी थी। वे तुम्हारी अगाध भक्ति से अत्यधिक प्रसन्न हुए थे। उन्होंने तुम्हें भक्ति का पूरा विज्ञान भी अत्यन्त सुबोध ढंग से समझाया था, जिसे केवल भगवान् वासुदेव के प्रति पूर्ण समर्पित व्यक्ति ही समझ सकते हैं।

तात्पर्य : भक्त तथा भक्ति दो परस्पर सम्बद्ध पद हैं। जब तक कोई भगवान् का भक्त नहीं होना चाहता तब तक वह भक्तिमय सेवा के गूढ़ रहस्यों को नहीं जान सकता। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को *भगवद्गीता* अर्थात् भक्ति का विज्ञान समझाना चाहा, क्योंकि वह उनका न केवल मित्र वरन् परम भक्त भी था। बात यह है कि सभी जीवात्माएँ, स्वभावत: परम व्यक्तित्व, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अंश रूप होने के कारण, कर्म करने के लिए अपेक्षतया कुछ सीमा तक स्वतन्त्र भी हैं। अत: भगवान् की भक्ति प्राप्त करने के लिए स्वेच्छ-सहयोगी बनना है और पहले से भक्ति में लगे लोगों के साथ स्वेच्छा से सहयोग करना पहली योग्यता है। ऐसे व्यक्तियों को सहयोग प्रदान करने से प्रत्याशित भक्त क्रमश: भक्ति की प्रविधियाँ सीख सकेगा और धीरे-धीरे ज्ञान प्राप्त करके भौतिक संगति के कल्मष से मुक्त हो

सकेगा। ऐसी शुद्धि-प्रक्रिया से प्रत्याशित भक्त में श्रद्धा उत्पन्न होगी और वह उसे भक्ति की दिव्य आस्वाद्य स्थिति तक ऊपर ले जाएगी। इससे उसमें भगवद्भक्ति के प्रति शुद्ध आसक्ति उत्पन्न होगी और उसे दिव्य प्रेम की अवस्था के निकट तक पहुँचाने से पहले आह्लाद के बिन्दु तक ले जाएगी।

भक्ति सम्बन्धी ऐसे ज्ञान के दो उपविभाग किये जा सकते हैं—भक्ति के स्वभाव से सम्बन्धित प्रारम्भिक ज्ञान तथा इसके अनुपालन का गौण ज्ञान। *भागवत* में श्रीभगवान् का, उनकी सुन्दरता का, उनके यश, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, आकर्षण तथा प्रेम के बदले अपनी ओर आकर्षित करने वाले दिव्य गुणों का वर्णन हुआ है। जीवात्मा में भगवान् की प्रेमाभक्ति करने का सहज आकर्षण होता है। भौतिक संगति के प्रभाव से यह आकर्षण कृत्रिम रूप से आच्छादित होता है और *श्रीमद्भागवत* इस कृत्रिम आवरण को सही तौर पर हटाने में सहायक है। अत: इस श्लोक में विशेष उल्लेख है कि *श्रीमद्भागवत* दिव्य ज्ञान के दीप के तुल्य है। भक्ति में दिव्य ज्ञान के ये दोनों उपविभाग उन व्यक्तियों में प्रकट होते हैं, जो वासुदेव की शरण में जा चुके हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है—वासुदेव के चरणकमलों में पूर्ण रूप से समर्पित महापुरुष अत्यन्त दुर्लभ हैं।

चक्रं च दिक्ष्वविहतं दशसु स्व-तेजो
मन्वन्तरेषु मनु-वंश-धरो बिभर्ति ।
दुष्टेषु राजसु दमं व्यदधात् स्व-कीर्तिं
सत्ये त्रि-पृष्ठ उशतीं प्रथयंश्चरित्रैः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

चक्रम्—भगवान् का सुदर्शन चक्र; च—भी; दिक्षु—समस्त दिशाओं में; अविहतम्—किसी रोकटोक के बिना; दशसु—दसों दिशाएँ; स्व-तेजः—व्यक्तिगत पराक्रम; मन्वन्तरेषु—मनु के विभिन्न अवतारों में; मनु-वंश-धरः—मनु-वंश के वंशज रूप में; बिभर्ति—शासन करता है; दुष्टेषु—दुष्टों पर; राजसु—उस प्रकार के राजाओं पर; दमम्—उत्पीड़न; व्यदधात्—सम्पन्न किया; स्व-कीर्तिम्—अपना यश; सत्ये—सत्यलोक में; त्रि-पृष्ठे—तीनों लोकों में; उशतीम्—महिमामय; प्रथयन्—स्थापित; चरित्रैः—गुणों द्वारा।

भगवान् ने मनु-अवतार लिया और वे मनुवंश के वंशज बन गये। उन्होंने अपने शक्तिशाली सुदर्शन चक्र से दुष्ट राजाओं का दमन करके उन पर शासन किया। समस्त परिस्थितियों में अबाध रहते हुए, उनका शासन तीनों लोकों तथा ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च सत्यलोक तक फैला था और उनकी महिमामयी कीर्ति से मंडित था।

तात्पर्य : प्रथम स्कंध में मनु के अवतारों की व्याख्या की जा चुकी है। ब्रह्मा के एक दिन में एक-

एक करके चौदह मनु बदलते हैं। इस प्रकार से ब्रह्मा के एक मास में ४२० मनु और एक वर्ष में ५,०४० मनु होते हैं। अपनी गणना के अनुसार, ब्रह्माजी १०० वर्ष तक जीवित रहते हैं, अत: एक ब्रह्मा की जीवन अवधि में ५,०४,००० मनु होते हैं। ऐसे ब्रह्मा असंख्य हैं और वे महाविष्णु के एक उच्छ्वास की अवधि तक जीवित रहते हैं। इस प्रकार हम कल्पना कर सकते हैं कि समस्त संसारों में, जो भगवान् के चतुर्थांश शक्ति के ही बराबर होते हैं, भगवान् के अवतार कैसे कार्य करते हैं।

मन्वन्तर अवतार चक्रधारी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के ही समान शक्ति से विभिन्न लोकों के दुष्ट शासकों को दण्डित करता है। *मन्वन्तर* अवतार भगवान् की दिव्य महिमाओं का प्रसार करते हैं।

धन्वन्तरिश्च भगवान् स्वयमेव कीर्ति-
र्नाम्ना नृणां पुरु-रुजां रुज आशु हन्ति ।
यज्ञे च भागममृतायुरवावरुन्ध
आयुष्य-वेदमनुशास्त्यवतीर्य लोके ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

धन्वन्तरि:—धन्वन्तरि नामक अवतार; च—तथा; भगवान्—श्रीभगवान्; स्वयम् एव—स्वत:; कीर्ति:—साक्षात् कीर्ति; नाम्ना—नाम से; नृणाम् पुरु-रुजाम्—रुग्ण जीवात्माओं के; रुज:—रोग; आशु—तुरन्त; हन्ति—अच्छा करता है; यज्ञे—यज्ञ में; च—भी; भागम्—भाग, हिस्सा; अमृत—अमृत; आयु:—उम्र; अव—से; अवरुन्धे—प्राप्त करता है; आयुष्य—जीवन काल का; वेदम्—ज्ञान; अनुशास्ति—निर्देश करता है; अवतीर्य—अवतार लेकर; लोके—ब्रह्माण्ड में।

अपने धन्वन्तरि अवतार में भगवान् अपने साक्षात् यश के द्वारा निरन्तर रुग्ण रहने वाली जीवात्माओं के रोगों का तुरन्त उपचार कर देते हैं और उनके कारण ही सभी देवता दीर्घायु प्राप्त करते हैं। इस प्रकार भगवान् सदा के लिए महिमामण्डित हो जाते हैं। उन्होंने यज्ञों में से भी एक अंश निकाल लिया और उन्होंने ही विश्व में ओषधि विज्ञान (आयुर्वेद) का प्रवर्तन किया।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा जा चुका है, प्रत्येक वस्तु श्रीभगवान् रूपी परम स्रोत से ही उद्भूत है, अत: इस श्लोक से यही ध्वनित होता है कि श्रीभगवान् ने अपने धन्वन्तरि अवतार में आयुर्वेद का भी प्रवर्तन किया और इस प्रकार यह ज्ञान वेदों में वर्णित है। वेद समस्त ज्ञान के स्रोत हैं, अत: जीवों के रोगों को पूर्ण रूप से ठीक करने की सारी जानकारी भी उनमें वर्णित है। देहधारी जीवात्माएँ शरीर की रचना के कारण रुग्ण होती रहती हैं। यह शरीर व्याधि का प्रतीक है। रोग तरह-तरह के हो सकते हैं, किन्तु वे शरीर में उसी तरह रहते हैं जैसे प्रत्येक के साथ जन्म तथा मृत्यु।

अत: भगवत्कृपा से न केवल शरीर तथा मन के रोग अच्छे होते हैं, वरन् आत्मा को भी निरन्तर आवागमन से मुक्ति मिल जाती है। भगवान् का एक नाम *भवौषधि* भी है, जिसका अर्थ है भव रोगों से बचाव का स्रोत।

क्षत्रं क्षयाय विधिनोपभृतं महात्मा
ब्रह्म-ध्रुगुज्झित-पथं नरकार्ति-लिप्सु ।
उद्धन्त्यसाववनिकण्टकमुग्र-वीर्य-
स्त्रिः-सप्त-कृत्व उरुधार-परश्वधेन ॥ २२॥

शब्दार्थ

क्षत्रम्—राजवंश; क्षयाय—घटाने के लिए; विधिना—दैववश; उपभृतम्—बढ़े हुए; महात्मा—परम साधु परशुराम के रूप में भगवान्; ब्रह्म-ध्रुक्—ब्रह्मा का परम सत्य; उज्झित-पथम्—जिन्होंने परम सत्य मार्ग को त्याग दिया है; नरक-आर्ति-लिप्सु—नरक की यातना के इच्छुक; उद्धन्ति—बाध्य करते हैं; असौ—वे सब; अवनिकण्टकम्—संसार के काँटे; उग्र-वीर्यः—महापराक्रमी; त्रिः-सप्त—इक्कीस बार; कृत्वः—सम्पन्न; उरुधार—अत्यन्त तीक्ष्ण; परश्वधेन—विशाल फरसे से।

जब शासक वर्ग जो क्षत्रिय नाम से जाने जाते थे, परम सत्य के पथ से भ्रष्ट हो गये और नरक भोगने के इच्छुक हो उठे, तो भगवान् ने परशुराम मुनि का अवतार लेकर उन अवांछित राजाओं का उच्छेद किया जो पृथ्वी के लिए कंटक बने हुए थे। इस तरह उन्होंने अपने तीक्ष्ण फरसे के द्वारा क्षत्रियों का इक्कीस बार उच्छेदन किया।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के किसी भी भाग में, चाहे वह इस लोक में हो या अन्य लोकों में, शासन करने वाले क्षत्रिय वास्तव में सर्वशक्तिमान भगवान् के प्रतिनिधि होते हैं और वे प्रजा को भगवत्साक्षात्कार की ओर अभिमुख कराने के निमित्त होते हैं। प्रत्येक राज्य तथा इसके प्रशासक का, चाहे प्रशासन जैसा भी हो—राज्यतंत्र, तानाशाही लोकतंत्र इत्यादि—मुख्य कर्तव्य प्रजा को भगवत्साक्षात्कार की ओर अभिमुख करना है। यह सभी मनुष्यों के लिए अनिवार्य है और पिता, गुरु तथा अन्ततः राज्य का यह कर्तव्य है कि वे प्रजा को इस ओर ले जाँए। भौतिक संसार की सृष्टि इसी उद्देश्य से हुई है कि उन पतित आत्माओं को अवसर प्राप्त हो सके जो भगवान् की इच्छाओं के विरुद्ध कार्य करके प्रकृति द्वारा बद्ध हो गई है। भौतिक प्रकृति की शक्ति मनुष्य को धीरे-धीरे नित्य दुखों तथा कष्टों की नारकीय अवस्था की ओर ले जाती है। जो बद्ध जीवन के निर्धारित विधानों के विपरीत कार्य करते हैं, वे *ब्रह्मोज्झित-पथ* कहलाते हैं जिसका अर्थ है कि वे परम सत्य के मार्ग का विरोध कर रहे

हैं, अत: वे दण्ड के भागी होते हैं। भगवान् परशुराम, जो श्रीभगवान् के अवतार हैं, ऐसी ही सांसारिक परिस्थिति में प्रकट हुए और उन्होंने सभी उत्पाती राजाओं का इक्कीस बार संहार किया। उस समय अनेक क्षत्रिय राजा भाग कर भारतवर्ष से बाहर चले गये और *महाभारत* साक्षी है कि मिस्र के राजा परशुराम के उत्पीड़न से ही शुरु-शुरु में भारत से प्रवासी बने। जब भी राजा या प्रशासकगण ईश्वरविहीन बन कर ईश्वरविहीन सभ्यता की व्यवस्था करते हैं तब उन्हें इसी प्रकार सभी परिस्थितियों में दण्डित होना पड़ता है। यही सर्वशक्तिमान की व्यवस्था है।

अस्मत्प्रसाद-सुमुखः कलया कलेश
इक्ष्वाकु-वंश अवतीर्य गुरोर्निदेशे ।
तिष्ठन् वनं स-दयितानुज आविवेश
यस्मिन् विरुध्य दश-कन्धर आर्तिमार्च्छत् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अस्मत्—हम सब पर, ब्रह्मा से लेकर क्षुद्र चीटीं तक; प्रसाद—अहैतुकी कृपा; सुमुखः—अत्यन्त उन्मुख; कलया—अपने अंशों सहित; कलेशः—समस्त शक्तियों के स्वामी; इक्ष्वाकु—महाराज इक्ष्वाकु जो सूर्यवंशी थे; वंशे—कुल में; अवतीर्य—जन्म लेकर; गुरोः—पिता अथवा गुरु की; निदेशे—आज्ञा से; तिष्ठन्—स्थित होकर; वनम्—वन में; स-दयिता-अनुजः—अपनी पत्नी तथा अनुज सहित; आविवेश—प्रवेश किया; यस्मिन्—जिसको; विरुध्य—विरोध करके; दश-कन्धरः—दस सिरों वाले, रावण ने; आर्तिम्—महान् कष्ट; आर्च्छत्—प्राप्त किया।

इस ब्रह्माण्ड के समस्त जीवों पर अहैतुकी कृपा के कारण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अपने अंशों सहित महाराज इक्ष्वाकु के कुल में अपनी अन्तरंगा शक्ति, सीताजी, के स्वामी के रूप में प्रकट हुए। वे अपने पिता महाराज दशरथ की आज्ञा से वन गये और अपनी पत्नी तथा छोटे भाई के साथ कई वर्षों तक वहाँ रहे। अत्यन्त शक्तिशाली दस सिरों वाले रावण ने उनके प्रति कई वर्षों तक अपराध किया और जिससे अन्ततः वह विनष्ट हो गया।

तात्पर्य : भगवान् श्री राम पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं और उनके भाई भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न उनके अंश हैं। चारों भाई विष्णुतत्त्व हैं। वे कभी भी सामान्य मानव प्राणी नहीं रहे। *रामायण* के अनेक अनैतिक और अज्ञानी टीकाकार भगवान् रामचन्द्रजी के छोटे भाइयों को सामान्य जीवात्माएँ बताते हैं। किन्तु ईश्वरी-विज्ञान (भगवत्तत्व) के सर्वाधिक प्रामाणिक शास्त्र, इस *श्रीमद्भागवत,* में यह स्पष्ट उल्लेख है कि उनके भाई उनके स्वांश थे। मूल रूप में भगवान् रामचन्द्र वासुदेव के अवतार हैं, लक्ष्मण संकर्षण के, भरत प्रद्युम्न के तथा शत्रुघ्न अनिरुद्ध के अवतार हैं, जो भगवान् के ही अंश हैं। लक्ष्मीजी

सीता के रुप में भगवान् की अन्तरंगा शक्ति हैं; वे न तो सामान्य स्त्री हैं और न ही दुर्गा की बहिरंगा शक्ति की अवतार हैं। दुर्गा जी भगवान् की बहिरंगा शक्ति हैं और वे शिवजी की संगिनी हैं।

जैसाकि *भगवद्गीता* (४.७) में कहा गया है, जब-जब धर्म पालन में कमी आती है तब-तब भगवान् प्रकट होते हैं। भगवान् रामचन्द्र भी ऐसी ही परिस्थितियों में प्रकट हुए; उनके साथ उनकी अंतरंगा शक्ति के ही अंश-रूप भ्राता और लक्ष्मीजी सीता देवी थीं।

भगवान् रामचन्द्र को उनके पिता, महाराज दशरथ, ने अत्यन्त अटपटी परिस्थितियों में वन जाने का आदेश दिया था। भगवान् ने, आदर्श पुत्र की भाँति, उनकी आज्ञा का पालन किया, यद्यपि उन्हें उस समय अयोध्या का राजा घोषित किया गया था। उनके छोटे भाई लक्ष्मण ने उनके साथ जाने की इच्छा व्यक्त की और उनकी शाश्वत पत्नी सीता ने भी वैसी ही इच्छा व्यक्त की। भगवान् ने इन दोनों का आग्रह स्वीकार किया और इन्हें साथ लेकर दण्डकारण्य वन में चौदह वर्षों तक रहने के लिए उन्होंने वन में प्रवेश किया। वन में रहते हुए राम तथा रावण में संघर्ष हुआ और रावण ने राम की पत्नी सीताजी का अपहरण कर लिया। इस संघर्ष का अन्त महान् शक्तिशाली रावण का उसके राज्य तथा परिवार समेत विनाश के साथ हुआ।

सीता जी ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मी जी हैं, किन्तु वे किसी अन्य जीव के द्वारा भोग्या नहीं हैं। वे समस्त जीवों द्वारा, अपने पति रामचन्द्रजी के साथ पूजनीय हैं। रावण जैसा भौतिकतावादी व्यक्ति इस महान् सत्य को नहीं समझ पाता; उल्टे वह, राम से सीता देवी को छीनकर कष्टों का आह्वान करता है। जो भौतिकतावादी व्यक्ति ऐश्वर्य तथा सम्पत्ति के पीछे पड़े रहते हैं, वे *रामायण* से शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं कि परमेश्वर की श्रेष्ठता को स्वीकार किये बिना भगवान् की प्रकृति का अपहरण (शोषण) रावण की नीति है। रावण अत्यन्त समृद्ध था, यहाँ तक कि उसने अपनी राजधानी लंका को शुद्ध सोने से बनवाया था। चूँकि उसे भगवान् रामचन्द्र की श्रेष्ठता मान्य न थी और उसने उनकी पत्नी सीता का अपहरण किया था, फलत: वह मारा गया और उसके साथ उसका ऐश्वर्य तथा पराक्रम नष्ट हो गया।

भगवान् रामचन्द्र छहों पूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त अवतार हैं, इसीलिए उन्हें इस श्लोक में *कलेश:* अर्थात् समस्त ऐश्वर्यों का स्वामी कहा गया है।

यस्मा अदादुदधिरूढ-भयाङ्ग-वेपो
मार्गं सपद्यरि-पुरं हरवद् दिधक्षोः ।
दूरे सुहृन्मथित-रोष-सुशोण-दृष्ट्या
तातप्यमान-मकरोरग-नक्र-चक्रः ॥ २४॥

शब्दार्थ

यस्मै—जिसको; अदात्—प्रदान किया; उदधिः—हिन्द महासागर ने; ऊढ-भय—भयभीत; अङ्ग-वेपः—काँपते हुए शरीर से; मार्गम्—मार्ग; सपदि—तुरन्त; अरि-पुरम्—शत्रु की नगरी; हर-वत्—हर (महादेव) के समान; दिधक्षोः—भस्म करने के लिए उद्यत; दूरे—दूरी पर; सु-हृत्—घनिष्ठ मित्र; मथित—पीड़ित; रोष—क्रोध में; सु-शोण—लाल-लाल; दृष्ट्या—ऐसी दृष्टि से; तातप्यमान—ज्वलित; मकर—मगरमच्छ; उरग—साँप; नक्र—घड़ियाल; चक्रः—वृत्त, गोला।.

दूरस्थ अपनी घनिष्ठ संगिनी (सीता) के वियोग से दुखी श्रीरामचन्द्र ने अपने शत्रु रावण की नगरी पर हर (शिव जो स्वर्ग के राज्य को भस्म कर देना चाहते थे) के जैसे ज्वलित लाल-लाल नेत्रों से दृष्टि डाली। अपार समुद्र ने उन्हें भय से काँपते हुए मार्ग दे दिया, क्योंकि उसके परिवार के सभी जलचर सदस्य यथा मगरमच्छ, सर्प तथा घड़ियाल भगवान् के रक्त नेत्रों की क्रोधाग्नि से जले जा रहे थे।

तात्पर्य : भगवान् में भी अन्य संवेदनशील जीवों की भाँति अनुभूति होती है, क्योंकि वे प्रधान एवं आदि व्यक्ति हैं और अन्य समस्त जीवों के परम स्रोत हैं। वे नित्य हैं, प्रमुख हैं अर्थात् अन्य सभी शाश्वत जिवात्माओं में प्रधान हैं। ये अनेक अधीनस्थ नित्य एक-नित्य पर आश्रित हैं, अतः गुणात्मक रूप से ये दोनों एक ही हैं। इसी एकरूपता के कारण इन दोनों नित्यों में सभी रसानुभूतियाँ तो हैं, किन्तु प्रमुख नित्य और अधीनस्थ नित्यों की महानता में मात्रा का अन्तर रहता है। जब रामचन्द्रजी क्रुद्ध होकर लाल लाल जलती हुई आँखें दिखाने लगे तो सारा समुद्र उस शक्ति से इतना तप्त हो उठा कि उसके सारे जलचर जलने लगे और साक्षात् समुद्र भय के मारे काँपने लगा। उसने उन्हें शत्रु की नगरी में पहुँचने का सरल मार्ग दे दिया। निर्विशेषवादियों को भगवान् के इस उग्रभाव पर आपत्ति हो सकती है, क्योंकि वे पूर्णता में नकारात्मकता देखना चाहते हैं। भगवान् के परम होने से निर्विशेषवादी सोचते हैं कि भगवान् में सांसारिक क्रोधभाव नहीं प्रकट होना चाहिए। अल्पज्ञान के कारण ये लोग यह नहीं समझ पाते कि परम पुरुष की भावना गुण और मात्रा की समस्त सांसारिक कल्पना से परे है। यदि भगवान् रामचन्द्र की भावना संसारी होती तो सारा समुद्र तथा उसके जलचर क्यों विचलित होते? क्या

किसी सांसारिक व्यक्ति की लाल-लाल आँखें विशाल सागर को गर्म कर सकती हैं? ये ऐसे कारण हैं जिनके द्वारा, सगुण तथा निर्गुण विचारधाराओं के अनुसार, परम सत्य में अन्तर किया जाना चाहिए। जैसाकि *श्रीमद्‌भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है, परम सत्य ही प्रत्येक वस्तु का मूल है, अत: परम पुरुष नश्वर संसार में प्रतिबिम्बित भावनाओं से विहीन नहीं हो सकता। अपितु, परमेश्वर में पाई जाने वाली विभिन्न रसानुभूतियाँ, चाहे क्रोध की हों या करुणा की, गुणात्मक दृष्टिकोण से समान प्रभाव डालती हैं। दूसरे शब्दों में, इन अनुभूतियों के गुणों में कोई सांसारिक अन्तर नहीं होता। भले ही ये सभी परम पद पर होती हैं। ऐसी अनुभूतियाँ परमेश्वर में निश्चय ही अनुपस्थित नहीं रहतीं जैसाकि निर्विशेषवादी सोचते हैं और दिव्य जगत के विषय में संसारी अनुमान लगाते हैं।

वक्षः-स्थल-स्पर्श-रुग्न-महेन्द्र-वाह--
दन्तैर्विडम्बित-ककुब्जुष ऊढ-हासम् ।
सद्योऽसुभिः सह विनेष्यति दार-हर्तु-
र्विस्फूर्जितैर्धनुष उच्चरतोऽधिसैन्ये ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

वक्षः-स्थल—छाती; स्पर्श—छूने से; रुग्न—खंडित; महा-इन्द्र—स्वर्ग के राजा के; वाह—वाहन की; दन्तैः—सूँड़ से; विडम्बित—प्रकाशित; ककुप्-जुषः—सभी दिशाएँ; ऊढ-हासम्—अट्टहास; सद्यः—तुरन्त; असुभिः—प्राण; सह—सहित; विनेष्यति—मार डाला गया; दार-हर्तुः—स्त्री को चुराने वाला; विस्फूर्जितैः—सिहरन उत्पन्न करने वाले; धनुषः—धनुष के द्वारा; उच्चरतः—तेजी से विचरण करते हुए; अधिसैन्ये—दोनों पक्षों के सैनिकों के बीच।

जब रावण युद्ध कर रहा था, तो उसकी छाती से टकराकर स्वर्ग के राजा इन्द्र के हाथी की सूँड़ खण्ड-खण्ड हो गई और ये खण्ड बिखरकर चारों दिशाओं को चकाचौंध करने लगे। अतः रावण को अपने शौर्य पर गर्व होने लगा और वह अपने को समस्त दिशाओं का विजेता समझ कर सैनिकों के बीच इतराने लगा। किन्तु भगवान् श्री रामचन्द्र द्वारा अपने धनुष पर टंकार करने पर उसकी वह प्रसन्नता की हँसी उसकी प्राणवायु के साथ ही सहसा बन्द हो गई।

तात्पर्य : कोई कितना ही प्रभावशाली क्यों न हो, जब उससे भगवान् रूठ जाते हैं, तो उसे कोई नहीं बचा सकता। इसी प्रकार, कोई कितना ही निर्बल क्यों न हो, यदि भगवान् उसके रक्षक हैं, तो उसको कोई मार नहीं सकता।

भूमेः सुरेतर-वरूथ-विमर्दितायाः
क्लेश-व्ययाय कलया सित-कृष्ण-केशः ।
जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्य-मार्गः
कर्माणि चात्म-महिमोपनिबन्धनानि ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

भूमेः—सारे संसार का; सुर-इतर—देवताओं के अतिरिक्त अन्य; वरूथ—सैनिक; विमर्दितायाः—भार से पीड़ित; क्लेश—कष्ट; व्ययाय—कम करने के लिए; कलया—अपने अंश समेत; सित-कृष्ण—न केवल सुन्दर किन्तु कृष्ण भी; केशः—केशों से युक्त; जातः—प्रकट होकर; करिष्यति—करेगा; जन—सामान्य लोग; अनुपलक्ष्य—कम दिखने वाला; मार्गः—पथ; कर्माणि—कार्य; च—भी; आत्म-महिमा—स्वयं भगवान् की महिमा के; उपनिबन्धनानि—प्रसंग में।

जब पृथ्वी पर, ईश्वर में श्रद्धा न रखने वाले, परस्पर लड़ने वाले राजाओं का भार बढ़ जाता है, तो भगवान् संसार का कष्ट कम करने के लिए अपने अंश समेत अवतरित होते हैं। वे सुन्दर काले-काले केशों से युक्त अपने आदि रूप में आते हैं और अपनी दिव्य महिमा के विस्तार के लिए ही अलौकिक कार्य करते हैं। कोई उनकी महानता का अनुमान नहीं लगा सकता।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण और उनके निकटतम अंश, भगवान् बलदेव, के प्राकट्य का वर्णन हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलदेव दोनों एक ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं और अनेक रूपों तथा शक्तियों के रूप में अपना विस्तार करते हैं और यह सम्पूर्ण इकाई परब्रह्म कहलाती है। भगवान् के ऐसे विस्तारों के दो विभाग हैं—स्वांश तथा विभिन्नांश। सारे स्वांश विस्तार विष्णु-तत्त्व कहलाते हैं और भिन्नांश विस्तार जीव-तत्त्व कहलाते हैं। ऐसे विस्तारों में भगवान् बलदेव, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के प्रथम स्वांश विस्तार हैं।

विष्णुपुराण तथा *महाभारत* दोनों में श्रीकृष्ण तथा बलदेव की वृद्धावस्था हो जाने पर भी काले-काले बाल बताये गये हैं। भगवान् को *अनुपलक्ष्य मार्गः* अथवा वैदिक पारिभाषिक शब्दावली में *अवाङ्मनसा गोचरः* कहा गया है—अर्थात् सामान्यजनों के लिए सीमित इन्द्रिय-अनुभूति से अनुभवगम्य या दृश्य नहीं हैं। *भगवद्गीता* (७.२५) में कहा गया है—*नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।* दूसरे शब्दों में, उन्हें अधिकार प्राप्त है कि वे जिसके समक्ष चाहें प्रकट हों या न हों। केवल प्रामाणिक भक्त ही उनके विशिष्ट लक्षणों से उन्हें जान सकते हैं और ऐसे अनेक लक्षणों में से इस श्लोक में एक लक्षण का वर्णन है—*सितकृष्ण केशः*—अर्थात् जिनके सुन्दर काले-काले बाल हैं। भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलदेव दोनों के सिरों पर वृद्धावस्था में भी ऐसे बाल रहते हैं। वे बुढ़ापे में

भी सोलह वर्ष के बालकों-से प्रतीत होते थे। श्रीभगवान् का यही विशिष्ट लक्षण है। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि यद्यपि वे समस्त जीवात्माओं में सबसे वृद्ध हैं, किन्तु वे सदैव तरुण लगते हैं। आध्यात्मिक देह का यही लक्षण है। भौतिक देह में जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा तथा रोग के लक्षण दिखते हैं, किन्तु आध्यात्मिक देह में इन लक्षणों का अभाव रहता है। वैकुण्ठ लोक में रहने वाले जीवात्माओं का भी ऐसा ही आध्यात्मिक शरीर होता है, जिसमें वृद्धावस्था के कोई लक्षण नहीं दिखते। *भागवत* के षष्ठम स्कंध में कहा गया है कि अजामिल को यमदूतों से छुड़ाने के लिए जो विष्णुदूत आये वे तरुण लग रहे थे। इससे भी इस श्लोक के वर्णन की पुष्टि होती है। अत: यह निश्चित हो गया है कि वैकुण्ठ-लोकों में भगवान् या अन्य निवासियों के आध्यात्मिक शरीर इस संसार के मनुष्यों के शरीरों से भिन्न होते हैं। अत: जब भगवान् उस लोक से इस संसार में अवतरित होते हैं, तो वे अपनी आत्ममाया के आध्यात्मिक शरीर समेत आते हैं जिसमें बहिरंगा माया छू तक नहीं पाती। जो यह कहते हैं कि निर्गुण ब्रह्म भौतिक देह धारण करके इस संसार में प्रकट होता है, सर्वथा अनर्गल प्रलाप है। अत: जब भगवान् यहाँ पर आते हैं, तो वे आध्यात्मिक देह में ही आते हैं, भौतिक देह में नहीं। निर्विशेष, ब्रह्मज्योति उनके शरीर से निर्गत मात्र तेज ही है, अत: भगवान् के शरीर तथा उनकी निर्विशेष ब्रह्मज्योति के गुण में कोई अन्तर नहीं होता।

प्रश्न यह है कि दुष्ट राजाओं द्वारा संसार में उत्पन्न भार को कम करने के लिए सर्वशक्तिमान भगवान् यहाँ पर क्यों आते हैं? निस्सन्देह भगवान् को ऐसे कार्यों के लिए स्वयं आने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु वे अपने शुद्ध भक्तों को प्रोत्साहित करने के लिए अपने दिव्य कार्यकलाप प्रदर्शित करने हेतु यहाँ आते हैं, क्योंकि भक्त भगवान् की महिमा का गान करके जीवन का सुख भोगना चाहते हैं। *भगवद्गीता* (९.१३-१४) में कहा गया है कि महात्मागण भगवान् के कार्यकलापों के गान में आनन्द का अनुभव करते हैं। समग्र वैदिक साहित्य का ध्येय मनुष्य के ध्यान को भगवान् तथा उनके कार्यकलापों की ओर उन्मुख करना है। सांसारिक लोगों से सम्बन्धित भगवान् के ये कार्यकलाप शुद्ध भक्तों की चर्चा के विषय बनते हैं।

तोकेन जीव-हरणं यदुलूकि-काया-
स्त्रै-मासिकस्य च पदा शकटोऽपवृत्तः ।
यद् रिङ्गतान्तर-गतेन दिवि-स्पृशोर्वा
उन्मूलनं त्वितरथार्जुनयोर्न भाव्यम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

तोकेन—बालक द्वारा; जीव-हरणम्—जीव का वध; यत्—जो; उलूकि-कायाः—असुर का विशाल शरीर धारण कर लिया; त्रै-मासिकस्य—तीन मास का; च—भी; पदा—पैर से; शकटः अपवृत्तः—छकड़े को पलट दिया; यत्—जो; रिङ्गता—घुटने के बल चलते; अन्तर-गतेन—बीच में जाकर; दिवि—आकाश में ऊँचे; स्पृशोः—छूते हुए; वा—अथवा; उन्मूलनम्—जड़ समेत उखाड़ लेना; तु—लेकिन; इतरथा—के अतिरिक्त अन्य; अर्जुनयोः—अर्जुन के दो वृक्षों का; न भाव्यम्—सम्भव न था।

भगवान् श्रीकृष्ण के परमेश्वर होने में कोई सन्देह नहीं है, अन्यथा जब वे अभी अपनी माता की गोद में थे तो पूतना जैसी राक्षसी का वध किस तरह कर सकते थे; तीन मास की आयु में ही अपने पाँव से छकड़े को कैसे पलट सकते थे और जब घुटने के बल चल रहे थे तभी गगनचुम्बी अर्जुन वृक्षों के जोड़े को समूल कैसे उखाड़ सकते थे? ये सभी कार्य स्वयं भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी के लिए असम्भव हैं।

तात्पर्य : भगवान् का निर्माण मानसिक कल्पना या वोटों की गणना से कोई भगवान को निर्मित नहीं कर सकता जैसाकि आजकल के अल्पज्ञानी लोग करने लगे हैं। ईश्वर तो सदैव ईश्वर ही रहता है और सामान्य जीवात्मा नित्य ईश्वर का एक अंश ही है। ईश्वर अद्वितीय है, किन्तु जीवात्माएँ अनगिनत हैं। इन सभी जीवात्माओं का पालन ईश्वर द्वारा होता है। वेदों का यही मत है। जब श्रीकृष्ण अभी माँ की गोद में ही थे तो पूतना राक्षसी उनकी माता के समक्ष प्रकट हुई और उसने शिशु को अपनी गोद में खिलाने के लिए याचना की। माता यशोदा राजी हो गईं और वह शिशु को सम्मानीय स्त्री वेश में आई पूतना की गोद में दे दिया गया। पूतना अपने स्तनों के अग्रभाग में विष लगाकर आई थी और इस शिशु को मारना चाह रही थी। और जब सब कुछ पूरा हो गया, तब बाल रूप भगवान् ने उसके स्तनों को इतनी जोर से चूसा कि उसके प्राण निकल गये। उसका तथाकथित छह मील लम्बा शरीर भूमि पर गिर पड़ा। भगवान् को अपने शरीर का पूतना राक्षसी के शरीर जितना विस्तार नहीं करना पड़ा यद्यपि वे चाहते तो छह मील से भी अधिक विशाल बन सकते थे। वामन अवतार में उन्होंने स्वयं को बौना ब्राह्मण बना लिया था, किन्तु जब बलि महाराज ने भूमि देने का वचन दे दिया तो उन्होंने अपने अंगों को ब्रह्माण्ड की चोटी तक लाखों मील लम्बा कर लिया। अतः अपने शरीर को विस्तृत करके

चमत्कार दिखाना श्रीकृष्ण के लिए कोई कठिन कार्य नहीं था, किन्तु उन्होंने प्रगाढ़ मातृप्रेम के कारण ऐसा नहीं किया। यशोदा यदि अपने पुत्र को पूतना की गोद में छह मील तक विस्तृत होते देख लेतीं तो उनके मातृत्व को धक्का लगता और वे जान जातीं कि उनका यह तथाकथित पुत्र श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं। तब यशोदा माई को अपने पुत्र के प्रति सहज मातृप्रेम न रह पाता। किन्तु जहाँ तक श्रीकृष्ण का सम्बन्ध है वे तो सदैव ईश्वर हैं, चाहे वे अपनी माता की गोद में शिशु रूप में हों या वामनदेव के रूप में, सारे ब्रह्माण्ड को नापने वाले हों। उन्हें कठिन तपस्या करके ईश्वर बनने की आवश्यकता नहीं रहती, यद्यपि कुछ लोग ऐसा करके ईश्वर बनने की बात सोचते हैं। कठिन तपस्या द्वारा कोई न तो ईश्वर से एकाकार हो सकता है, न उनके तुल्य बन सकता है, किन्तु वह मात्र अनेक दैवी गुण प्राप्त कर सकता है। जीवात्मा बहुत हद तक दैवी गुण प्राप्त कर सकता है, किन्तु वह ईश्वर नहीं बन सकता। श्रीकृष्ण बिना किसी तपस्या के सदैव ईश्वर हैं, चाहे वे अपनी माँ की गोद में खेल रहे हों या बड़े होने की अवस्था में हों।

इस प्रकार जब वे तीन मास के थे तो उन्होंने यशोदा माई के घर में छकड़े के पीछे छिपे शकटासुर का वध किया। जब श्रीकृष्ण घुटने के बल रेंग-रेंग कर अपनी माता के कार्यों में बाधा डाल रहे थे, तो उनकी माता ने उन्हें ऊखल में बाँध दिया था, किन्तु नटखट बालक ऊखल को घसीटते हुए यशोदा माई के आँगन में उगे बहुत ऊँचे अर्जुन वृक्षों की जोड़ी के बीच पहुँच गये और जब ऊखल उनमें फँस गया तो उनके खींचने पर दोनों वृक्ष धम्म से गिर पड़े। जब यशोदा माई ने यह घटना देखी तो उन्होंने ईश्वर को धन्यवाद दिया कि उनका बालक गिरे वृक्षों से बच गया है, उन्हें इसका कोई ज्ञान न था कि उन्हीं के बालक ने आँगन में रेंगते-रेंगते यह कृत्य किया है। भगवान् तथा उनके भक्तों के बीच प्रेम का पारस्परिक आदान-प्रदान ऐसा ही है। यशोदा माई ने भगवान् को पुत्र रूप में चाहा और भगवान् उनकी गोदी में शिशुवत् क्रीड़ा करते रहे, किन्तु साथ ही जब-जब आवश्यकता पड़ी, उन्होंने सर्वशक्तिमान भगवान् की भी भूमिका निभाई। ऐसी लीलाओं की यही विशेषता रही कि वे सबों की आकांक्षाओं को पूरा करते रहे। जुड़वाँ विशाल अर्जुन वृक्षों को गिराने के पीछे भगवान् का उद्देश्य था नारद के शाप से वृक्ष बने कुबेर के दोनों पुत्रों को शाप से उबारना और उसके साथ ही यशोदा माई के आँगन में घुटने

के बल सरक-सरक कर चलना जिसे देख कर यशोदा को दिव्य आनन्द प्राप्त हो।

भगवान् चाहे जैसी भी स्थिति में रहें, रहते तो भगवान् ही हैं, वे इच्छानुसार विराट या लघु रूप धारण कर सकते हैं।

यद् वै व्रजे व्रज-पशून् विषतोय-पीतान्
पालांस्त्वजीवयदनुग्रह-दृष्टि-वृष्ट्या ।
तच्छुद्धयेऽति-विष-वीर्य-विलोल-जिह्व-
मुच्चाटयिष्यदुरगं विहरन् ह्रदिन्याम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; वै—निश्चय ही; व्रजे—वृन्दावन में; व्रज-पशून्—वहाँ के पशु; विष-तोय—विषाक्त जल; पीतान्—पीने वालों को; पालान्—ग्वालों को; तु—भी; अजीवयत्—जीवित किया; अनुग्रह-दृष्टि—कृपापूर्ण चितवन की; वृष्ट्या—वृष्टि से; तत्—वह; शुद्धये—शुद्धि के लिए; अति—अत्यधिक; विष-वीर्य—अत्यधिक प्रभावशाली विष; विलोल—लपलपाती; जिह्वम्—जीभ वाला; उच्चाटयिष्यत्—कठोर दण्ड देगा; उरगम्—सर्प को; विहरन्—विनोद में; ह्रदिन्याम्—नदी में।

और जब ग्वालों तथा उनके पशुओं ने यमुना नदी का विषैला जल पी लिया और जब भगवान् ने (अपने बचपन में) अपनी कृपादृष्टि से ही उन्हें जीवित कर दिया। तब यमुना नदी के जल को शुद्ध करने के लिए ही वे उसमें मानो खेल-खेल में कूद पड़े। उन्होंने विषैले कालिय नाग को दण्ड दिया जो अपनी लपलपाती जीभ से विष की लहरें निकाल रहा था। भला परमेश्वर के अतिरिक्त ऐसा महान् कार्य करने में और कौन समर्थ है?

तत् कर्म दिव्यमिव यन्निशि निःशयानं
दावाग्निना शुचि-वने परिदह्यमाने ।
उन्नेष्यति व्रजमतोऽवसितान्त-कालं
नेत्रे पिधाप्य सबलोऽनधिगम्य-वीर्यः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस; कर्म—कार्य; दिव्यम्—अलौकिक; इव—सदृश; यत्—जो; निशि—रात्रि में; निःशयानम्—चिन्तामुक्त सोते हुए; दाव-अग्निना—वन की अग्नि की लपट से; शुचि-वने—शुष्क वन में; परिदह्यमाने—आग लगाये जाने पर; उन्नेष्यति—उबार लेंगे; व्रजम्—व्रज के समस्त वासी; अतः—अतः; अवसित—निश्चय ही; अन्त-कालम्—जीवन के अन्तिम क्षण; नेत्रे—आँखों में; पिधाप्य—मात्र बन्द करके; स-बलः—बलदेव सहित; अनधिगम्य—अगाध; वीर्यः—पराक्रम।

कालिय नाग को दण्डित करने के दिन ही रात्रि के समय, जब ब्रजभूमि के समस्त वासी निश्चिन्त होकर सो रहे थे तो सूखी पत्तियों के कारण जंगल में अग्नि धधक उठी और ऐसा लगा मानो उनकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। किन्तु आँखें बन्द करके बलराम जी के साथ भगवान् ने उन

सबको बचा लिया। ऐसे हैं भगवान् के अलौकिक कार्यकलाप!

तात्पर्य : यद्यपि इस श्लोक में कहा गया है कि भगवान् का यह कार्य अलौकिक है, किन्तु यह समझ लेना चाहिए भगवान् के सारे कार्यकलाप सदैव ही अलौकिक होते हैं और इस प्रकार वे सामान्य जीवों से भिन्न हैं। विशाल अर्जुन वृक्ष को उखाड़ना तथा आँखें बन्द करके वन की धधकती आग को बुझा देना, निश्चय ही मनुष्य द्वारा किसी प्रकार सम्भव नहीं हैं। न केवल ये कार्यकलाप सुनने में आश्चर्यजनक लगते हैं, किन्तु वस्तुतः भगवान् के सारे कार्यकलाप अलौकिक होते हैं जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.९) में की गई है। जो भी भगवान् के इन दिव्य एवं अलौकिक कार्यों को समझ लेता है, वह श्रीकृष्ण के धाम में प्रवेश करने का अधिकारी हो जाता है और इस वर्तमान भौतिक शरीर को त्यागने के बाद भगवान् के दिव्य कार्यकलापों का ज्ञाता भगवान् के धाम को जाता है।

गृह्णीत यद् यदुपबन्धममुष्य माता
शुल्बं सुतस्य न तु तत् तदमुष्य माति ।
यज्जृम्भतोऽस्य वदने भुवनानि गोपी
संवीक्ष्य शङ्कित-मनाः प्रतिबोधितासीत् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

गृह्णीत—ग्रहण करके; यत् यत्—जो भी; उपबन्धम्—बाँधने की रस्सियाँ; अमुष्य—उसकी; माता—माता; शुल्बम्—रस्सी; सुतस्य—अपने पुत्र का; न—नहीं; तु—तो भी; तत् तत्—क्रमशः; अमुष्य—उसका; माति—पर्याप्त था; यत्—जो; जृम्भतः—जम्हाई लेता; अस्य—उसके; वदने—मुख में; भुवनानि—समस्त लोक; गोपी—ग्वालिन, ग्वालबाला; संवीक्ष्य—अतः इसे देखकर; शङ्कित-मनाः—सन्देहपूर्ण मन; प्रतिबोधिता—भिन्न प्रकार से आश्वस्त; आसीत्—था।

जब गोपी (कृष्ण की धात्री माता यशोदा) अपने पुत्र के दोनों हाथों को रस्सियों से बाँधने का प्रयास कर रही थी तो उसने देखा कि रस्सी हमेशा छोटी पड़ जाती थी, अतः हार कर जब उसने प्रयास करना बन्द कर दिया, तब श्रीकृष्ण ने अपना मुँह खोल दिया तो माता यशोदा को मुख के भीतर सारे ब्रह्माण्ड स्थित दिखे। यह देख कर उसे सन्देह हुआ, किन्तु उसे अपने पुत्र की योग-शक्ति का पता भिन्न तरीके से लगा।

तात्पर्य : एक दिन नटखट बालक की तरह कृष्ण ने अपनी माता यशोदा को खिझाना शुरू किया, तो वह दण्ड देने के लिए बालक को रस्सी से बाँधने लगी। किन्तु वह रस्सी को जितना ही बढ़ाती, रस्सी हमेशा छोटी पड़ जाती। आखिर वह थक गई, किन्तु इसी बीच भगवान् ने अपना मुँह खोला और

ममतामयी माँ ने उसके भीतर सभी ब्रह्माण्ड उपस्थित देखे। उसे अत्यन्त आश्चर्य हुआ, किन्तु उसने सोचा कि सर्व-शक्तिमान नारायण ने उसके पुत्र की सभी प्रकार के संकटों से रक्षा करने के लिए चौकसी वश ऐसा कर रखा है। कृष्ण के लिए प्रगाढ़ प्यार होने के कारण वह कभी सोच ही नहीं पाई कि उसका पुत्र साक्षात् भगवान् नारायण ही है। यह भगवान् की अंतरंगा शक्ति योगमाया है, जिसमें विभिन्न प्रकार के भक्तों के साथ भगवान् की लीलाएँ पूरी होती हैं। ईश्वर के बिना ऐसे विचित्र खेल कौन खेल सकता है ?

नन्दं च मोक्ष्यति भयाद् वरुणस्य पाशाद्
गोपान् बिलेषु पिहितान् मय-सूनुना च ।
अह्न्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेण
लोकं विकुण्ठमुपनेष्यति गोकुलं स्म ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

नन्दम्—नन्द (कृष्ण के धर्मपिता) को; च—भी; मोक्ष्यति—बचाता है; भयात्—भय से; वरुणस्य—जल के देव वरुण के; पाशात्—चंगुल से; गोपान्—ग्वालों को; बिलेषु—पर्वत गुफा में; पिहितान्—रखे गये; मय-सूनुना—मय के पुत्र द्वारा; च—भी; अह्नि आपृतम्—दिन के समय व्यस्तता वश; निशि—रात में; शयानम्—लेटे हुए; अतिश्रमेण—कठिन श्रम के कारण; लोकम्—लोक; विकुण्ठम्—वैकुण्ठ; उपनेष्यति—प्रदान किया; गोकुलम्—सर्वोच्च लोक; स्म—निश्चय ही।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने पिता नन्द महाराज को वरुण के भय से बचाया और ग्वालबालों को पर्वत की कन्दरा में से, जहाँ मय के पुत्र ने उन्हें बन्दी कर रखा था, मुक्त किया। यही नहीं, भगवान् श्रीकृष्ण ने वृन्दावन के समस्त वासियों को, जो दिन भर काम में व्यस्त रहकर रात में थक कर निश्चिन्त सोते थे, परव्योम में सर्वोच्च लोक का भागी बना दिया। ये सारे कार्य दिव्य हैं और उनके ईश्वरत्व को सिद्ध करने वाले हैं।

तात्पर्य : एक बार भ्रमवश अर्धरात्रि में ही श्रीकृष्ण के धर्मपिता नन्द महाराज यह सोच कर कि रात समाप्त हो चुकी है, यमुना में स्नान करने गये, तो वरुण देव यह सोचकर उन्हें वरुण लोक लेते गये कि वे भगवान् कृष्ण के दर्शन कर पायेंगे। भगवान् श्रीकृष्ण अपने पिता को छुड़ाने गये। वास्तव में नन्द महाराज बन्दी नहीं थे, क्योंकि वृन्दावन के सारे निवासी अहर्निश श्रीकृष्ण का चिन्तन करते हुए भक्तियोग की समाधि में निमग्न रहते थे। उन्हें किसी भौतिक कष्ट का भय न था। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि की गई है कि दिव्य प्रेमवश पूर्णतः आत्म-समर्पण करके, भगवान् की संगति में रहने से,

मनुष्य को सांसारिक कष्टों से मुक्ति मिल जाती है। यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि वृन्दावन के वासी दिन भर कठिन परिश्रम करते थे और थक कर रात में चैन की नींद सोते थे। फलत: उन्हें पूजा करने या आध्यात्मिक कार्यों के लिए प्राय: बहुत कम समय मिल पाता था। किन्तु वास्तव में वे सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक कार्यों में ही मग्न रहते थे। उनका हर कार्य आध्यात्मिक होता था, क्योंकि वह श्रीकृष्ण के साथ उनके सम्बन्धों से ही जुड़ा होता था। उनके कार्यों के केन्द्रबिन्दु श्रीकृष्ण थे, फलत: उनके सारे तथाकथित भौतिक कार्य आध्यात्मिक शक्ति से संतृप्त होते थे। भक्तियोग पद्धति का यही लाभ है। मनुष्य को चाहिए कि वह हर कार्य भगवान् के निमित्त करे और इस प्रकार उसके सम्पूर्ण कार्य कृष्ण के विचार से संतृप्त होंगे जो आध्यात्मिक साक्षात्कार में समाधि का उच्चतम रूप है।

गोपैर्मखे प्रतिहते व्रज-विप्लवाय
देवेऽभिवर्षति पशून् कृपया रिरक्षुः ।
धर्तोच्छिलीन्ध्रमिव सप्त-दिनानि सप्त-
वर्षो महीध्रमनघैक-करे सलीलम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

गोपैः—ग्वालों के द्वारा; मखे—स्वर्ग के राजा को बलि प्रदान करने में; प्रतिहते—बाधा डाले जाने पर; व्रज-विप्लवाय—श्रीकृष्ण की लीलास्थली व्रजभूमि को तहस-नहस करने के लिए; देवे—स्वर्ग के राजा द्वारा; अभिवर्षति—मूसलाधार वर्षा करके; पशून्—पशु; कृपया—उन पर अहैतुकी कृपा द्वारा; रिरक्षुः—उन्हें बचाने की इच्छा की; धर्त—धारण किया हुआ; उच्छिलीन्ध्रम्—छाते की भाँति उठा लिया; इव—सदृश; सप्त-दिनानि—लगातार सात दिनों तक; सप्त-वर्षः—यद्यपि वे सात वर्ष के थे; महीध्रम्—गोवर्द्धन पर्वत; अनघ—बिना थके; एक-करे—केवल एक हाथ में; सलीलम्—खेल-खेल में।

जब वृन्दावन के ग्वालों ने श्रीकृष्ण के आदेश से स्वर्ग के राजा इन्द्र को आहुति देना बन्द कर दिया तो लगातार सात दिनों तक मूसलाधार वर्षा होती रही और ऐसा लग रहा था मानो सारी ब्रजभूमि बह जायेगी। तब केवल सात वर्ष की आयु के श्रीकृष्ण ने ब्रजवासियों पर अपनी अहैतुकी कृपावश अपने एक हाथ से गोवर्द्धन पर्वत को उठा लिया। ऐसा उन्होंने वर्षा से पशुओं की रक्षा करने के लिए ही किया।

तात्पर्य : बच्चे प्राय: कुकुरमुत्ता (छत्रक) से खेलते हैं। अभी श्रीकृष्ण सात वर्ष के ही थे कि उन्होंने वृन्दावन स्थित विशाल गोवर्द्धन पर्वत को पकड़ कर छत्रक की भाँति उठा लिया और व्रजवासियों द्वारा इन्द्र को यज्ञ की आहुतियाँ देने से इनकार किए जाने के कारण पशुओं तथा व्रजवासियों की इन्द्र के रोष से रक्षा करने के लिए वे उसे लगातार सात दिन तक धारण किये रहे।

वास्तव में यदि कोई परमेश्वर की सेवा में निरत रहे तो देवताओं को बलि देने की कोई आवश्यकता नहीं है। वैदिक साहित्य में देवताओं को संतुष्ट रखने के लिए यज्ञों का जो विधान है, वह याजक के लिए एक प्रकार की प्रेरणा है, जिससे उसे उच्चतर अधिकारियों की उपस्थिति का बोध हो सके। श्रीभगवान् के द्वारा भौतिक कार्यों के नियन्त्रण हेतु देवताओं की नियुक्ति की जाती है और *भगवद्गीता* के अनुसार यदि कोई देवता की पूजा करता है, तो इसे परमेश्वर-पूजन की अप्रत्यक्ष विधि माना जाता है। किन्तु जब कोई परमेश्वर की प्रत्यक्ष पूजा करता है, तो उसके लिए देवताओं के पूजने या विशेष अवस्था में यज्ञ करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। फलतः भगवान् श्रीकृष्ण ने व्रजवासियों को सलाह दी कि वे स्वर्ग के राजा इन्द्र को किसी प्रकार की बलि भेंट न करें। किन्तु यह जाने बिना कि व्रजभूमि में भगवान् कृष्ण हैं, इन्द्र व्रजवासियों पर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने इस अपराध का बदला लेना चाहा। किन्तु भगवान् होने के कारण, श्रीकृष्ण ने व्रजभूमि के निवासियों तथा पशुओं को अपनी अन्तरंगा शक्ति से बचा लिया और यह सिद्ध कर दिया कि यदि कोई परमेश्वर का भक्त बन कर उनकी सेवा करता है, तो उसे अन्य देवताओं को प्रसन्न करने की कोई आवश्यकता नहीं है, चाहे वह ब्रह्मा या शिव जैसे उच्चपद वाला देव ही क्यों न हो। इस प्रकार इस घटना से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो गया कि श्रीकृष्ण ही श्रीभगवान् हैं और वे ऐसे ही हर परिस्थिति में रहते हैं, चाहे अपनी माँ की गोद में शिशु रूप में हों या सप्तवर्षीय बालक के रूप में अथवा १२५ वर्षीय वृद्ध पुरुष हों। लेकिन प्रत्येक अवस्था में वे सामान्य मनुष्य के स्तर तक कभी नहीं पहुँचे, यहाँ तक कि वृद्धावस्था में भी वे सोलह वर्ष के युवक लगते थे। भगवान् के दिव्य शरीर के ये कुछ विशेष लक्षण हैं।

क्रीडन् वने निशि निशाकर-रश्मि-गौर्यां
रासोन्मुखः कल-पदायत-मूर्च्छितेन ।
उद्दीपित-स्मर-रुजां व्रज-भृद्वधूनां
हर्तुर्हरिष्यति शिरो धनदानुगस्य ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

क्रीडन्—खेलते हुए; वने—वृन्दावन के जंगल में; निशि—रात्रि में; निशाकर—चन्द्रमा; रश्मि-गौर्याम्—श्वेत चाँदनी का; रास-उन्मुखः—रास करने के लिए इच्छुक; कल-पदायत—मधुर गीतों; मूर्च्छितेन—तथा मूर्च्छना (मधुर संगीत) समेत; उद्दीपित—जागृत; स्मर-रुजाम्—कामेच्छा; व्रज-भृत्—व्रजवासी; वधूनाम्—पत्नियों का; हर्तुः—हरण करने वाले का; हरिष्यति—काट लेंगे; शिरः—सिर; धनद-अनुगस्य—कुबेर के अनुचर का।

जब भगवान् वृन्दावनवासियों की पत्नियों में अपने मधुर तथा सुरीले गीतों द्वारा कामोत्तेजना जागृत करते हुए वृन्दावन में रासलीला में मग्न थे तो कुबेर के एक धनी अनुचर शंखचूड़ नामक राक्षस द्वारा गोपियों का हरण किये जाने पर भगवान् ने उसका सिर धड़ से अलग कर दिया।

तात्पर्य : यहाँ पर व्यक्त कथनों पर ध्यान देने की आवश्यकता है, क्योंकि ये नारद के प्रति ब्रह्मा के वचन हैं। वे नारद से भगवान् के अवतार लेने के बाद की घटनाओं का उल्लेख कर रहे हैं। जो भूत, वर्तमान तथा भविष्य के ज्ञाता हैं उन्हें भगवान् की लीलाएँ ज्ञात हैं और ब्रह्माजी उनमें से एक हैं, अत: उन्होंने भविष्य में जो होगा उसकी भविष्यवाणी कर दी। भगवान् द्वारा शंखचूड़ का वध निकट की घटना थी, जो रासलीला के बाद घटी न कि उसके साथ साथ। पिछले श्लोकों में हम कालिया नाग को दण्ड देने की लीलाओं के साथ साथ दावाग्नि का वर्णन पढ़ चुके हैं। इसी तरह रासलीला और शंखचूड़ के वध का भी यहाँ वर्णन किया गया है। ये सारी घटनाएँ ब्रह्माजी द्वारा नारद से कही जाने के बाद भविष्य में घटित होनी हैं। भगवान् ने शंखचूड़ का वध होरिका लीला के अवसर पर फाल्गुन मास में किया और आज तक यह उत्सव सारे भारत में होली नाम से विख्यात है और भगवान् की होरिका लीला से एक दिन पूर्व यह उत्सव शंखचूड़ का पुतला जला कर मनाया जाता है।

सामान्य रूप से भगवान् अथवा उनके अवतारों के भावी प्राकट्य तथा उनके कार्यों का वर्णन धर्मग्रन्थों में भविष्यवाणी के रूप में किया जाता है, अत: छद्म अवतारी उन लोगों को धोखा नहीं दे पाते जो प्रामाणिक धर्म–ग्रन्थों के द्वारा घटनाओं से परिचित होते हैं।

ये च प्रलम्ब-खर-दर्दुर-केश्यरिष्ट--
मल्लेभ-कंस-यवना: कपि-पौण्ड्रकाद्या: ।
अन्ये च शाल्व-कुज-बल्वल-दन्तवक्र--
सप्तोक्ष-शम्बर-विदूरथ-रुक्मि-मुख्या: ॥ ३४॥
ये वा मृधे समिति-शालिन आत्त-चापा:
काम्बोज-मत्स्य-कुरु-सृञ्जय-कैकयाद्या: ।
यास्यन्त्यदर्शनमलं बल-पार्थ-भीम--
व्याजाह्वयेन हरिणा निलयं तदीयम् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

ये—ये सब; च—पूर्णतः; प्रलम्ब—प्रलम्ब नामक असुर; खर—धेनुकासुर; दर्दुर—बकासुर; केशी—केशी नामक असुर; अरिष्ट—अरिष्टासुर; मल्ल—कंस के दरबार का पहलवान; इभ—कुवलयापीड़; कंस—मथुरा का राजा तथा श्रीकृष्ण का मामा; यवनाः—फारस तथा अन्य निकटवर्ती देशों के राजा; कपि—द्विविद; पौण्ड्रक-आद्याः—पौण्ड्रक इत्यादि; अन्ये—अन्य; च—भी; शाल्व—राजा शाल्व; कुज—नरकासुर; बल्वल—राजा बल्वल; दन्तवक्र—मृत शिशुपाल का भाई, कृष्ण के प्रतिद्वन्द्वी; सप्तोक्ष—राजा सप्तोक्ष; शम्बर—राजा शम्बर; विदूरथ—राजा विदूरथ; रुक्मि-मुख्याः—श्रीकृष्ण की प्रथम रानी रुक्मिणी का भाई; ये—ये सब; वा—अथवा; मृधे—युद्ध भूमि में; समिति-शालिनः—अत्यन्त शक्तिमान; आत्त-चापाः—धनुष-बाण से सज्जित; काम्बोज—काम्बोज का राजा; मत्स्य—द्वर्भंग का राजा; कुरु—धृतराष्ट्र के पुत्र; सृञ्जय—राजा सृञ्जय; कैकय-आद्याः—केकय का राजा तथा अन्य; यास्यन्ति—प्राप्त करेंगे; अदर्शनम्—ब्रह्मज्योति से निर्विशेष मिलन; अलम्—क्या कहें, बस; बल—बलदेव, श्रीकृष्ण के अग्रज; पार्थ—अर्जुन; भीम—भीम, पाण्डवों में दूसरे; व्याज-आह्वयेन—छद्म नामों से; हरिणा—हरि के द्वारा; निलयम्—धाम; तदीयम्—उसका।

प्रलम्ब, धेनुक, बक, केशी, अरिष्ट, चाणूर, मुष्टिक, कुवलयापीड़ हाथी, कंस, यवन, नरकासुर तथा पौण्ड्रक जैसे असुर, शाल्व, द्विविद वानर तथा बल्वल, दन्तवक्र, सातों साँड़, शम्बर, विदूरथ तथा रुक्मी जैसे सिपहसालार तथा काम्बोज, मत्स्य, कुरु, सृञ्जय तथा केकय जैसे वीर योद्धा, साक्षात् हरि से अथवा बलदेव, अर्जुन, भीम आदि नामों की आड़ में स्वयं श्रीभगवान् से भीषण युद्ध करेंगे और इस प्रकार से मारे गये सभी असुर या तो निर्विशेष ब्रह्मज्योति को प्राप्त होंगे या वैकुण्ठ लोक में स्थित भगवान् के धाम को प्राप्त होंगे।

तात्पर्य : भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत दोनों में जितने ही अवतार होते हैं, वे भगवान् श्रीकृष्ण की विभिन्न शक्तियों के प्रदर्शन हैं। बलदेव तो श्रीभगवान् के निकटतम स्वांश विस्तार हैं, किन्तु अर्जुन, भीम उनके निजी पार्षद हैं। जब भगवान् अपने समस्त पार्षदों तथा शक्तियों समेत प्रकट होंगे (और जब वे प्रकट होते हैं, तो इसी तरह) तो उपद्रवी व्यक्ति तथा प्रलम्ब जैसे असुर तथा आसुरी लोग या तो स्वयं भगवान् द्वारा या उनके पार्षदों द्वारा मारे जाएंगे। इन सबका स्पष्ट वर्णन दशम स्कंध में किया जाएगा। किन्तु हमें ज्ञात होना चाहिए कि उपर्युक्त सभी जीवात्माएँ या तो ब्रह्म-ज्योति में मिल करके या भगवान् के धाम वैकुण्ठ लोक में प्रविष्ट होकर मोक्ष प्राप्त करेंगी। इसकी व्याख्या भीष्मदेव द्वारा पहले ही (प्रथम स्कंध में) हो चुकी है। जिन व्यक्तियों ने कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में या अन्यत्र भगवान् या बलदेव इत्यादि के साथ युद्ध किया है, वे मृत्यु के समय अपनी मानसिक अवस्था के अनुसार आध्यात्मिक पद प्राप्त करेंगे। जो ईश्वर को पहचान गए थे वे वैकुण्ठ में प्रविष्ट होंगे और जिन्होंने ईश्वर को परमशक्तिमान रूप में अनुभव किया है वे ब्रह्मज्योति में विलीन होकर मोक्ष प्राप्त करेंगे। लेकिन उनमें से सभी भौतिक संसार से मुक्त हो जाएँगे। जब भगवान् के साथ शत्रुता रखने का ऐसा लाभ

मिलता है, तो यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जिन्होंने भक्तिपूर्वक भगवान् की सेवा की है, उनकी स्थिति क्या होगी?

कालेन मीलित-धियामवमृश्य नृणां
स्तोकायुषां स्व-निगमो बत दूर-पारः ।
आविर्हितस्त्वनुयुगं स हि सत्यवत्यां
वेद-द्रुमं विट-पशो विभजिष्यति स्म ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

कालेन—समय के साथ; मीलित-धियाम्—कम बुद्धिमान मनुष्यों का; अवमृश्य—कठिनाई को ध्यान में रखते हुए; नृणाम्—मनुष्यों की; स्तोक-आयुषाम्—अल्पजीवी लोगों का; स्व-निगमः—अपने द्वारा संकलित वैदिक साहित्य; बत—ठीक-ठीक; दूर-पारः—अत्यन्त कठिन; आविर्हितः—के रूप में प्रकट होकर; तु—लेकिन; अनुयुगम्—युग के अनुसार; सः—वह (भगवान्); हि—निश्चय ही; सत्यवत्याम्—सत्यवती के गर्भ में; वेद-द्रुमम्—वेदरूपी कल्पवृक्ष; विट-पशः—शाखाओं के विभाजन द्वारा; विभजिष्यति—बाँट देगा; स्म—मानो।

सत्यवती के पुत्र (व्यासदेव) रूप में अवतार ग्रहण करके स्वयं भगवान् वैदिक साहित्य के संग्रह को अल्पजीवी अल्पज्ञों के लिए कठिन समझकर वैदिक ज्ञानरूपी वृक्ष को युग विशेष की परिस्थितियों के अनुसार शाखाओं में विभाजित कर देंगे।

तात्पर्य : यहाँ पर ब्रह्मा ने कलियुग के अल्पजीवी मनुष्यों के लिए *श्रीमद्भागवत* के भावी संकलन का उल्लेख किया है। जैसाकि प्रथम स्कन्ध में बताया जा चुका है कलियुग के अल्पज्ञ मनुष्य अल्पजीवी होंगे और साथ ही ईश्वरविहीन मानव समाज होने के कारण जीवन की अनेक समस्याओं से उद्विग्न होंगे। भौतिक प्रकृति के नियमों के अनुसार, शरीर की भौतिक सुविधाओं में उन्नति का होना तमोगुण का सूचक है। ज्ञान की वास्तविक उन्नति का अर्थ है आत्म-साक्षात्कार। किन्तु कलियुग के अल्पज्ञानी पुरुष भ्रमवश एक सौ वर्ष की लघुजीवन-अवधि को ही (जो अब घट कर ४० या ६० वर्ष हो चुकी है) सब कुछ मान बैठते हैं। वे अल्पज्ञानी हैं, क्योंकि उन्हें जीवन की नित्यता का ज्ञान नहीं होता; वे चालीस वर्षों तक रहने वाले क्षणिक भौतिक शरीर को जीवन का मूल तत्त्व मान लेते हैं। ऐसे मनुष्य गधों तथा बैलों के तुल्य हैं। किन्तु भगवान् समस्त जीवों को, दयालु पिता की भाँति, *भगवद्गीता* जैसे ग्रन्थों के रूप में और स्नातकों के लिए *श्रीमद्भागवत* के रूप में विपुल वैदिक ज्ञान प्रदान करते रहते हैं। इसी प्रकार विभिन्न प्राकृतिक गुणों से युक्त विभिन्न प्रकार के मनुष्यों के लिए व्यासदेव ने पुराणों तथा *महाभारत* की रचना की। किन्तु इनमें से कोई भी ग्रन्थ वैदिक सिद्धान्तों से

पृथक् नहीं है।

देव-द्विषां निगम-वर्त्मनि निष्ठितानां
पूर्भिर्मयेन विहिताभिरदृश्य-तूर्भिः ।
लोकान् घ्नतां मति-विमोहमतिप्रलोभं
वेषं विधाय बहु भाष्यत औपधर्म्यम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

देव-द्विषाम्—भगवद्भक्तों के प्रति ईर्ष्या रखने वालों का; निगम—चारों वेद; वर्त्मनि—के पथ पर; निष्ठितानाम्—भलीभाँति स्थिर हुओं का; पूर्भिः—प्रक्षेपास्त्रों (राकेटों) से; मयेन—परम विज्ञानी मय द्वारा; विहिताभिः—निर्मित; अदृश्य-तूर्भिः—आकाश में अलक्ष्य; लोकान्—विभिन्न लोक; घ्नताम्—संहार करने वालों का; मति-विमोहम्—मन का मोह; अतिप्रलोभम्—अत्यन्त आकर्षक; वेषम्—वेष, पहनावा; विधाय—ऐसा करके; बहु भाष्यते—अत्यधिक बातें करेगा; औपधर्म्यम्—उपधर्म।

जब नास्तिक लोग वैदिक विज्ञान में अत्यन्त दक्ष बनकर परम विज्ञानी मय के द्वारा निर्मित श्रेष्ठ प्रक्षेपास्त्रों में चढ़कर आकाश में अदृश्य उड़ते हुए विभिन्न लोकों के वासियों का संहार करेंगे, तो बुद्ध रूप में अत्यन्त आकर्षक वेष धारण करके भगवान् उनके मस्तिष्कों को मोह लेंगे और उन्हें उपधर्मों का उपदेश देंगे।

तात्पर्य : भगवान् बुद्ध का यह अवतार और आधुनिक मानव इतिहास के अवतारी बुद्ध एक नहीं हैं। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, इस श्लोक में वर्णित बुद्ध अवतार एक अन्य कलियुग में हुआ था। एक मनु के जीवन काल में बहत्तर से अधिक कलियुग होते हैं और इनमें से एक में यहाँ पर वर्णित बुद्ध अवतार लेंगे। भगवान् बुद्ध का अवतार तब होता है जब लोग अत्यधिक भौतिकतावादी हो जाते हैं और तब वे सामान्य धर्म का उपदेश देते हैं। ऐसी अहिंसा स्वयं में धर्म न होकर धार्मिक लोगों का महत्त्वपूर्ण गुण होती है। यह एक सामान्य बुद्धि का धर्म है, क्योंकि इसमें मनुष्य को उपदेश दिया जाता है कि वह किसी पशु या जीवित प्राणी को हानि न पहुँचाये, क्योंकि उसके हानिकारक कर्म कर्ता को भी हानि पहुँचाने वाले होते हैं। किन्तु अहिंसा के इन सिद्धान्तों को सीखने के पूर्व, उसे दो अन्य नियम भी सीखने पड़ते हैं। ये हैं—विनम्र बनना तथा निरभिमानी होना। विनम्र तथा निरभिमानी बने बिना वह निरापद तथा अहिंसक नहीं बन सकता। अहिंसक बनने के बाद उसे सहिष्णुता तथा सादगी सीखनी पड़ती है। मनुष्य को महान् धर्मोपदेशकों तथा आध्यात्मिक नेताओं का सम्मान करना चाहिए और इन्द्रियों पर संयम रखने, घर तथा परिवार के प्रति विरक्त रहने और भगवान् की सेवा करने का

अभ्यास करना चाहिए। अन्ततः उसे भगवान् को स्वीकार करके उनका भक्त बनना होता है अन्यथा यह धर्म नहीं कहलाता। धार्मिक सिद्धान्तों के केन्द्र में भगवान् होने अन्यथा सामान्य नैतिक उपदेश मात्र उपधर्म होते हैं, जो धर्म के ही निकट होते हैं।

यर्ह्यालयेष्वपि सतां न हरेः कथाः स्युः
पाषण्डिनो द्विज-जना वृषला नृदेवाः ।
स्वाहा स्वधा वषडिति स्म गिरो न यत्र
शास्ता भविष्यति कलेर्भगवान् युगान्ते ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

यर्हि—जब ऐसा होता है; आलयेषु—घर में; अपि—भी; सताम्—सभ्य व्यक्ति; न—नहीं; हरेः—श्री भगवान् की; कथाः—कथा; स्युः—होगी; पाषण्डिनः—नास्तिक; द्विज-जनाः—अपने को उच्च जाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) वाला घोषित करने वाले; वृषलाः—निम्नवर्गीय शूद्र; नृ-देवाः—राज्य के मन्त्री; स्वाहा—यज्ञ-स्तोत्र; स्वधा—यज्ञ की सामग्री; वषट्—यज्ञ वेदी; इति—ये सब; स्म—होंगे; गिरः—शब्द; न—कभी नहीं; यत्र—कहीं भी; शास्ता—दण्ड देने वाला; भविष्यति—प्रकट होगा; कलेः—कलियुग का; भगवान्—श्री भगवान्; युग-अन्ते—युग के अन्त में।

तत्पश्चात् कलियुग के अन्त में, जब तथाकथित सन्तों तथा द्विजों के घरों में भी ईश्वर की कथा नहीं होगी और जब सरकार की शक्ति निम्न कुल में उत्पन्न शूद्रों अथवा उनसे भी निम्न लोगों में से चुने गये मन्त्रियों के हाथों में चली जाएगी और जब यज्ञ विधि के विषय में कुछ भी, यहाँ तक कि उच्चारण भी, ज्ञात नहीं रहेंगे तो उस समय भगवान् परम दण्डदाता के रूप में प्रकट होंगे।

तात्पर्य : यहाँ पर इस कलियुग के अन्तिम चरण में भौतिक जगत की निकृष्ट अवस्थाओं के लक्षणों का उल्लेख हुआ है। इन अवस्थाओं का सार-समाहार ईश्वरविहीनता है। यहाँ तक कि तथाकथित सन्त व समाज के उच्च वर्ण, जिन्हें सामान्य रूप से द्विज-जन कहा जाता है, नास्तिक हो जाएँगे। फलतः वे सब ईश्वर का पवित्र नाम तक भूल जाएँगे उनके, कार्यकलाप की बात तो दूर रही। समाज के उच्च वर्ण अर्थात् समाज के भाग्य-विधायक ज्ञानी पुरुष, समाज में शान्ति तथा व्यवस्था के उत्तरदायी प्रशासक वर्ग तथा समाज की आर्थिक उन्नति के प्रदर्शक व्यवसायी वर्ग—इस सबों को परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए; उन्हें उनके नाम, गुण, लीला, पार्षद, सामग्री, व्यक्तित्व आदि से परिचित होना चाहिए। समाज के उच्च वर्गों तथा सन्तों की पहचान उनके तत्त्व-ज्ञान के अनुपात से की जाती है, उनके जन्म या शारीरिक उपाधियों से नहीं। तत्त्व-ज्ञान तथा भक्ति के व्यावहारिक ज्ञान के बिना ये उपाधियाँ शवों

के अलंकरणों के तुल्य समझी जाती हैं और जब समाज में ऐसे अलंकरणों की बाढ़ आ जाती है, तो मनुष्य के प्रगतिशील, शान्त जीवन में अनेक विषमताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। समाज के उच्च वर्गों में प्रशिक्षण या संस्कृति का अभाव होने से वे अब द्विज-जन कहलाने के अधिकारी नहीं रहते। द्विज की महत्ता की व्याख्या इन महान् ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर मिलती है, किन्तु यहाँ पुनः बता देना अभीष्ट है कि माता-पिता के सम्भोग से होने वाला जन्म पशु जन्म कहलाता है। किन्तु ऐसा पशु जन्म तथा आहार, निद्रा, भय, मैथुन पर आधारित पशु जीवन आध्यात्मिक जीवन की किसी वैज्ञानिक संस्कृति के बिना शूद्र जीवन अर्थात् निम्न श्रेणी के व्यक्तियों का असंस्कृत जीवन है। यहाँ पर उल्लेख है कि कलियुग में समाज की प्रशासन शक्ति असंस्कृत, ईश्वरविहीन श्रमजीवी वर्ग के हाथों में चली जाएगी और नृदेव (अथवा सरकारी मन्त्रीगण) वृषल अर्थात् समाज के निम्न असंस्कृत लोग होंगे। यदि मानव समाज ऐसे असंस्कृत निम्न श्रेणी के लोगों से भरा रहे तो सुख तथा शान्ति की आशा व्यर्थ है। मनुष्यों में ऐसे असंस्कृत सामाजिक पशुओं के लक्षण पहले से विद्यमान हैं। जन-नायकों का कर्तव्य है कि इस ओर ध्यान दें और तत्त्व ज्ञान में प्रशिक्षित द्विज लोगों को प्रतिष्ठित करके सामाजिक व्यवस्था में सुधार लाने का प्रयास करें। सारे विश्व में *श्रीमद्भागवत* की संस्कृति के प्रसार से ही यह सम्भव है। मानव समाज की अधोगति होने पर भगवान् कल्कि अवतार के रूप में प्रकट होते हैं और निर्दय बनकर समस्त आसुरी लोगों का बध कर देते हैं।

सर्गे तपोऽहमृषयो नव ये प्रजेशाः
स्थानेऽथ धर्म-मख-मन्वमरावनीशाः ।
अन्ते त्वधर्म-हर-मन्यु-वशासुराद्या
माया-विभूतय इमाः पुरु-शक्ति-भाजः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सर्गे—सृष्टि के प्रारम्भ में; तपः—तपस्या; अहम्—मैं; ऋषयः—ऋषिगण; नव—नौ; ये प्रजेशाः—जो उत्पन्न करने वाले हैं; स्थाने—सृष्टि का पालन करते समय मध्य में; अथ—निश्चय ही; धर्म—धर्म; मख—भगवान् विष्णु; मनु—मनुष्यों के पिता; अमर—देवता जिन पर पालन का भार है; अवनीशाः—विभिन्न लोकों के राजा; अन्ते—अन्त में; तु—लेकिन; अधर्म—अधर्म; हर—शिव; मन्यु-वश—क्रोध के वशीभूत; असुर-आद्याः—नास्तिक, भक्तों के शत्रु; माया—शक्ति; विभूतयः—शक्तिशाली प्रतिनिधि; इमाः—ये सब; पुरु-शक्ति-भाजः—परम शक्तिशाली भगवान् के।

सृष्टि के प्रारम्भ में तपस्या, मैं (ब्रह्मा) तथा जन्म देने वाले ऋषि प्रजापति रहते हैं; फिर सृष्टि के पालन के अवसर पर भगवान् विष्णु, नियामक देवता तथा विभिन्न लोकों के राजा रहते हैं।

किन्तु अन्त काल में अधर्म बचा रहता है और रहते हैं शिव तथा क्रोधी नास्तिक इत्यादि। ये सब के सब परम शक्ति रूप भगवान् की शक्ति के विभिन्न प्रतिनिधियों के रूप में रहते हैं।

तात्पर्य : यह भौतिक जगत भगवान् की शक्ति से उत्पन्न है, जिसका प्राकट्य सृष्टि के प्रारम्भ में आदि प्राणी ब्रह्मा की तपस्या से होता है। इसके बाद नौ प्रजापति आते हैं, जिन्हें महर्षि कहते हैं। जब सृष्टि के पालन की अवस्था आती है, तो भगवान् विष्णु की भक्ति या यथार्थ धर्म, विभिन्न देवता तथा विभिन्न लोकों के राजा प्रकट होते हैं, जो विश्व का भरण-पोषण करते हैं। जब इस सृष्टि का अन्त होने को होता है, तो सर्वप्रथम अधर्म प्रकट होता है, फिर क्रोधी नास्तिकों के साथ-साथ शिव रहते हैं। किन्तु ये सब परमेश्वर के विभिन्न स्वरूपों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। फलत: ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव (शिव) प्रकृति के विभिन्न गुणों के भिन्न-भिन्न अवतार हैं। विष्णु सतोगुण के, ब्रह्मा रजोगुण के तथा शिव तमोगुण के स्वामी हैं। इस प्रकार यह भौतिक सृष्टि क्षणिक अस्तित्व के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं और इसका उद्देश्य उन बद्धजीवों को, जो इस भौतिक जगत में आ फँसे हैं, मुक्ति का अवसर प्रदान करना है और इसमें जो मनुष्य भगवान् विष्णु के संरक्षण में सतोगुण प्राप्त कर लेता है, उसे वैष्णव नियमों का पालन करने के कारण, मुक्त होने का और भगवद्धाम जाने का सर्वाधिक अवसर मिलता है जहाँ से इस दुखमय जगत में फिर कभी लौटना नहीं होता।

विष्णोर्नु वीर्य-गणनां कतमोऽर्हतीह
यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि ।
चस्कम्भ यः स्व-रहसास्खलता त्रि-पृष्ठं
यस्मात् त्रि-साम्य-सदनादुरु-कम्पयानम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

विष्णोः—भगवान् विष्णु का; नु—लेकिन; वीर्य—पराक्रम; गणनाम्—गिनती में; कतमः—ऐसा कौन है; अर्हति—इसे करने में सक्षम है; इह—इस जगत में; यः—जो; पार्थिवानि—परमाणु; अपि—भी; कविः—महान् विज्ञानी; विममे—गिन पाया होगा; रजांसि—कणों को; चस्कम्भ—पकड़ सके; यः—जो; स्व-रहसा—अपने पैर से; अस्खलता—बिना रुके; त्रि-पृष्ठम्—उच्चतम अन्तरिक्ष; यस्मात्—जिससे; त्रि-साम्य—तीनों गुणों का सन्तुलन; सदनात्—उस स्थान तक; उरु-कम्पयानम्—अत्यधिक विचलित।

भला ऐसा कौन है, जो विष्णु के पराक्रम का पूरी तरह से वर्णन कर सके? यहाँ तक कि वह विज्ञानी भी, जिसने ब्रह्माण्ड के समस्त कणों के परमाणुओं की गणना की होगी, वह भी ऐसा नहीं कर सकता। वे ही एकमात्र ऐसे हैं जिन्होंने त्रिविक्रम के रूप में जब अपने पाँव को

बिना प्रयास के सर्वोच्च लोक, सत्यलोक, से भी आगे प्रकृति के तीनों गुणों की साम्यावस्था तक हिलाया था, तो सारा ब्रह्माण्ड हिलने लगा था।

तात्पर्य : भौतिक विज्ञानियों की सर्वोच्च वैज्ञानिक प्रगति परमाणु शक्ति है, किन्तु किसी भी भौतिक विज्ञानी को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के कणों में निहित परमाणुओं का कोई अनुमान नहीं है। और यदि कोई इन सूक्ष्म कणों को गिन भी ले अथवा आकाश को बिस्तर की भाँति मोड़ भी सके, तो भी वह परमेश्वर के वीर्य तथा शक्ति का अनुमान लगाने में असमर्थ होगा। वे त्रिविक्रम कहलाते हैं, क्योंकि अपने वामन अवतार में उन्होंने अपने पदचाप को सर्वोच्च सत्यलोक से भी आगे फैला दिया था और वे तीनों गुणों की साम्यावस्था तक पहुँच गये थे जिसे भौतिक जगत का छादन (कोश) कहा जाता है। भौतिक आकाश के ऊपर भौतिक छादन के सात स्तर (कोश) हैं और भगवान् ने इन सातों को भेद दिया था। उन्होंने अपने अँगूठे से छेद बना दिया जिससे होकर कारणार्णव का जल भौतिक आकाश में छन कर पहुँचता है और यह धारा पवित्र गंगा नदी कहलाती है, जो तीनों लोकों को पवित्र बनाती है। दूसरे शब्दों में, विष्णु के समान दिव्य शक्ति वाला अन्य कोई नहीं। वे सर्वशक्तिमान हैं और न तो कोई उनके समान है, न उनसे बढ़कर।

नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्र-जास्ते
माया-बलस्य पुरुषस्य कुतोऽवरा ये ।
गायन् गुणान् दश-शतानन आदि-देवः
शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; अन्तम्—अन्त, पार; विदामि—जानता हूँ; अहम्—मैं; अमी—तब ये सब; मुनयः—मुनिगण; अग्र-जाः—तुमसे पूर्व उत्पन्न; ते—तुम; माया-बलस्य—सर्वशक्तिमान का; पुरुषस्य—पुरुष (भगवान्) का; कुतः—अन्यों की क्या बात; अवराः—हमारे बाद उत्पन्न; ये—जो; गायन्—गीत के द्वारा; गुणान्—गुण; दश-शत-आननः—एक सहस्त्र मुखों वाला; आदि-देवः—भगवान् का प्रथम अवतार; शेषः—शेष नामक; अधुना—आज तक; अपि—भी; समवस्यति—पा सकता है; न—नहीं; अस्य—उसका; पारम्—पार, अन्त।

न तो मैं और न तुमसे पहले उत्पन्न हुए मुनिगण ही सर्वशक्तिमान भगवान् को भलीभाँति जानते हैं। अतः जो हमारे बाद उत्पन्न हुए हैं, वे उनके विषय में क्या जानेंगे? यहाँ तक कि भगवान् के आदि-अवतार शेष भी, जो अपने एक सहस्त्र मुखों से भगवान् के गुणों का वर्णन करते रहते हैं, ऐसे ज्ञान का अन्त नहीं पा सके हैं।

तात्पर्य : सर्वशक्तिमान भगवान् की तीन मूल शक्तियाँ हैं—अन्तरंगा, बहिरंगा तथा तटस्था और इन तीनों शक्तियों के अनन्त विस्तार हैं। अत: शक्तियों के विस्तार की गणना कर पाना किसी के लिए सम्भव नहीं है, यहाँ तक कि भगवान् स्वयं शेष अवतार में इन शक्तियों का अनुमान नहीं लगा पाते, यद्यपि वे अपने सहस्र मुखों से इनका वर्णन करते रहते हैं।

येषां स एष भगवान् दययेदनन्त:
सर्वात्मनाश्रित-पदो यदि निर्व्यलीकम् ।
ते दुस्तरामतितरन्ति च देव-मायां
नैषां ममाहमिति धी: श्व-शृगाल-भक्ष्ये ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

येषाम्—केवल उन्हीं पर; स:—भगवान्; एष:—यह; भगवान्—श्रीभगवान्; दययेत्—दया दिखाता है; अनन्त:—अनन्त शक्तियाँ; सर्व-आत्मना—सभी प्रकार से, बिना हिचक के; आश्रित-पद:—शरणागत जीव; यदि—यदि इस प्रकार शरण में आता है; निर्व्यलीकम्—बिना बनावट के; ते—केवल वे; दुस्तराम्—दुर्लंघ्य; अतितरन्ति—पार पा सकते हैं; च—तथा सामग्री; देव-मायाम्—भगवान् की चतुर्दिक् शक्तियाँ; न—नहीं; एषाम्—उनका; मम—मेरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; धी:—चेतना; श्व—कुत्ते; शृगाल—सियार; भक्ष्ये—भोजन के मामले में।

किन्तु यदि भगवान् की सेवा में निश्छल भाव से आत्मसमर्पण करने से परमेश्वर की किसी पर विशेष कृपा होती है, तो वह माया के दुर्लंघ्य सागर को पार कर सकता है और भगवान् को जान पाता है। किन्तु जिसे अन्त में कुत्तों तथा सियारों का भोजन बनना है, ऐसे इस शरीर के प्रति जो आसक्त हैं, वे ऐसा नहीं कर सकते।

तात्पर्य : भगवान् के निश्छल भक्त भगवान् की महिमा से परिचित होते हैं और वे इतना तो समझते ही हैं कि ईश्वर कितना महान् है और उनकी विविध शक्तियों का कितना विस्तार है। जो इस नश्वर शरीर के प्रति आसक्त रहते हैं, वे तत्त्व-ज्ञान के क्षेत्र में प्रविष्ट नहीं हो पाते हैं। यह सारा संसार, देहात्मबुद्धि की अवधारणा के कारण, तत्त्व ज्ञान से अपरिचित है। भौतिकतावादी व्यक्ति न केवल अपने भौतिक शरीर वरन् अपने बच्चों व सम्बन्धियों, जाति वालों, देशवासियों के शरीरों के कल्याण-कार्य में सदैव व्यस्त रहता है। ऐसे भौतिकतावादी व्यक्ति भले ही राजनैतिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से परमार्थ के कई प्रकार के कार्य करते हों, किन्तु इनका यह सारा कार्य देहात्मबुद्धि की गलत धारणा से ऊपर नहीं उठ पाता। अत: जब तक मनुष्य देहात्मबुद्धि की भ्रांत धारणा से मुक्त नहीं हो लेता, उसे तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती और इस तत्त्व-ज्ञान के बिना भौतिक सभ्यता की उन्नति की सारी

चमक-दमक व्यर्थ है।

वेदाहमङ्ग परमस्य हि योग-मायां
यूयं भवश्च भगवानथ दैत्य-वर्यः ।
पत्नी मनोः स च मनुश्च तदात्मजाश्च
प्राचीनबर्हिर्ऋभुरङ्ग उत ध्रुवश्च ॥ ४३ ॥
इक्ष्वाकुरैल-मुचुकुन्द-विदेह-गाधि--
रघ्वम्बरीष-सगरा गय-नाहुषाद्याः ।
मान्धात्रलर्क-शतधन्वनु-रन्तिदेवा
देवव्रतो बलिरमूर्त्तरयो दिलीपः ॥ ४४ ॥
सौभर्युतङ्क-शिबि-देवल-पिप्पलाद--
सारस्वतोद्धव-पराशर-भूरिषेणाः ।
येऽन्ये विभीषण-हनूमदुपेन्द्रदत्त--
पार्थार्ष्टिषेण-विदुर-श्रुतदेव-वर्याः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

वेद—इसे जानो; अहम्—मैं; अङ्ग—हे नारद; परमस्य—परमेश्वर की; हि—निश्चय ही; योग-मायाम्—शक्ति; यूयम्—तुम; भवः—शिव; च—तथा; भगवान्—परम देव; अथ—भी; दैत्य-वर्यः—नास्तिक के कुल में उत्पन्न भगवद्भक्त, प्रह्लाद महाराज; पत्नी—शतरूपा; मनोः—मनु की; सः—वह; च—भी; मनुः—स्वायंभुव; च—तथा; तत्-आत्म-जाः च—तथा उनकी सन्तानें यथा प्रियव्रत, उत्तानपाद, देवहूति इत्यादि.; प्राचीनबर्हिः—प्राचीनबर्हि; ऋभुः—ऋभु; अङ्गः—अंग; उत—भी; ध्रुवः—ध्रुव; च—तथा; इक्ष्वाकुः—इक्ष्वाकु; ऐल—ऐल; मुचुकुन्द—मुचुकुन्द; विदेह—महाराज जनक; गाधि—गाधि; रघु—रघु; अम्बरीष—अम्बरीष; सगराः—सगर; गय—गय; नाहुष—नाहुष; आद्याः—इत्यादि; मान्धातृ—मान्धाता; अलर्क—अलर्क; शतधनु—शतधनु; अनु—अनु; रन्तिदेवाः—रन्तिदेव; देवव्रतः—भीष्म; बलिः—बलि; अमूर्त्तरयः—अमूर्तरय; दिलीपः—दिलीप; सौभरि—सौभरि; उतङ्क—उतंक; शिबि—शिबि; देवल—देवल; पिप्पलाद—पिप्पलाद; सारस्वत—सारस्वत; उद्धव—उद्धव; पराशर—पराशर; भूरिषेणाः—भूरिषेण; ये—जो; अन्ये—अन्य; विभीषण—विभीषण; हनूमत्—हनुमान; उपेन्द्र-दत्त—शुकदेव गोस्वामी; पार्थ—अर्जुन; आर्ष्टिषेण—आर्ष्टिषेण; विदुर—विदुर; श्रुतदेव—श्रुतदेव; वर्याः—अग्रणी, श्रेष्ठ।

हे नारद, यद्यपि भगवान् की शक्तियाँ अज्ञेय तथा अपरिमेय हैं फिर भी शरणागत जीव होने के नाते, हम समझ सकते हैं कि वे योगमाया की शक्तियों के द्वारा किस प्रकार कार्य करते हैं। इसी प्रकार भगवान् की शक्तियाँ सर्वशक्तिमान शिव, नास्तिक कुल के महान् राजा प्रह्लाद महाराज, स्वायंभुव मनु, उनकी पत्नी शतरूपा, उनके पुत्र तथा पुत्रियाँ यथा प्रियव्रत, उत्तानपाद, आकूति, देवहूति तथा प्रसूति; प्राचीनबर्हि, ऋभु, वेन के पिता अंग, महाराज ध्रुव, इक्ष्वाकु, ऐल, मुचुकुन्द, महाराज जनक, गाधि, रघु, अम्बरीष, सगर, गय, नाहुष, मान्धाता, अलर्क, शतधनु, अनु, रन्तिदेव, भीष्म, बलि, अमूर्त्तरय, दिलीप, सौभरि, उतङ्क, शिबि, देवल, पिप्पलाद, सारस्वत, उद्धव, पराशर, भूरिषेण, विभीषण, हनुमान, शुकदेव गोस्वामी, अर्जुन, आर्ष्टिषेण,

विदुर, श्रुतदेव इत्यादि को भी ज्ञात हैं।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा गया है, भूतकाल या वर्तमान काल में भगवान् के जितने भक्त हुए हैं तथा भविष्य में जितने भी भक्त होंगे, वे सब भगवान् की विभिन्न शक्तियों के साथ-साथ उनके नाम, गुण, लीला, संगी, व्यक्तित्व इत्यादि की शक्तियों से अवगत रहते हैं। वे उन्हें किस प्रकार जानते हैं? निश्चय ही, ऐसा न तो कल्पना से और न ज्ञानेन्द्रियों की सीमित सहायता से होता है। सीमित ज्ञानेन्द्रियों द्वारा (चाहे शारीरिक इन्द्रियाँ हों या भौतिक सूक्ष्मदर्शी तथा दूरदर्शी जैसे उपकरण) हम अपनी आँखों के सामने प्रकट होने वाली भगवान् की भौतिक शक्तियों को भी ठीक से नहीं जान पाते। उदाहरणार्थ, विज्ञानियों की गणना से परे कोटि-कोटि ग्रह (लोक) विद्यमान हैं किन्तु ये भगवान् की भौतिक शक्ति के ही स्वरूप हैं। विज्ञानी ऐसे भौतिक प्रयासों द्वारा भला भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति के विषय में जानने की क्या आशा कर सकता है? "यदि" तथा "हो सकता है" जैसी दर्जनों कल्पनाओं से ज्ञान की प्रगति नहीं हो सकती—उल्टे, ऐसी कल्पना से ईश्वर का अस्तित्व न होना बताया जाएगा और निराशा ही हाथ लगेगी और बात आई गई कर दी जाएगी। अत: बुद्धिमान मनुष्य अपने लघु मस्तिष्क की सीमा से परे विषयों के सम्बन्ध में चिन्तन नहीं करता, अपितु वह परमेश्वर को आत्म-समर्पण करना सीखता है, क्योंकि वही उसे वास्तविक ज्ञान तक पहुँचा सकता है। उपनिषदों में स्पष्ट उल्लेख है कि मात्र कठिन श्रम करने तथा मस्तिष्क पर जोर लगाने से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को कभी नहीं जाना जा सकता, न ही उसे कल्पना तथा शब्दजाल द्वारा जाना जा सकता है। ईश्वर को तो वही जान पाता है, जो उनकी शरणागत है। यहाँ पर जीवों में सर्वोच्च, ब्रह्माजी, ने इस सत्य को अंगीकार किया है। अत: प्रयोगात्मक ज्ञान के मार्ग का अनुसरण करने में शक्ति का अपव्यय करना छोड़ देना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के प्रति समर्पित होकर तथा यहाँ पर वर्णित अधिकारी पुरुषों की प्रामाणिकता को स्वीकार करके ज्ञान-लाभ करे। भगवान् अनन्त होने के कारण योगमाया की कृपा से उसे स्वयं को जानने में शरणागत की क्रमश: सहायता करते हैं।

ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देव-मायां
स्त्री-शूद्र-हूण-शबरा अपि पाप-जीवा: ।
यद्यद्भुत-क्रम-परायण-शील-शिक्षा-
स्तिर्यग्जना अपि किमु श्रुत-धारणा ये ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

ते—ऐसे पुरुष; वै—निस्सन्देह; विदन्ति—जानते हैं; अतितरन्ति—आगे निकल जाते हैं; च—भी; देव-मायाम्—भगवान् की आच्छादन शक्ति; स्त्री—यथा स्त्री; शूद्र—श्रमिक वर्ग के लोग; हूण—पर्वती लोग; शबरा:—साइबेरिया वासी या शूद्रों से भी निम्न; अपि—यद्यपि; पाप-जीवा:—पापी जीव; यदि—बशर्ते कि; अद्भुत-क्रम—आश्चर्यजनक कार्य करने वाला; परायण—भक्त; शील—आचरण; शिक्षा:—के द्वारा प्रशिक्षित; तिर्यक्-जना:—वे भी जो मनुष्य नहीं हैं; अपि—भी; किम्—क्या; उ—कहा जाय; श्रुत-धारणा:—जिन्होंने भगवान् के विषय में सुनकर भगवान् का भाव ग्रहण किया है; ये—वे।

पापी जीवन बिताने वाले समुदायों में से भी शरणागत लोग, जैसे स्त्री, शूद्र, हूण तथा शबर, यहाँ तक कि पशु-पक्षी भी, तत्त्व ज्ञान के विषय में जान सकते हैं। वे भगवान् के शुद्ध भक्तों की शरण में जाकर तथा भक्तिपथ पर उनके पदचिह्नों का अनुसरण कर माया के चंगुल से छूट जाते हैं।

तात्पर्य : कभी-कभी प्रश्न पूछा जाता है कि भगवान् की शरण में किस प्रकार जाया जाय। *भगवद्गीता* (१८.६६) में भगवान् ने अर्जुन से कहा कि वह उनकी शरण में आए, अत: जो लोग ऐसा नहीं करना चाहते, वे प्रश्न करते हैं कि ईश्वर है कहाँ जिसकी शरण में वे जाँए! ऐसे प्रश्नों का यहाँ उपयुक्त उत्तर दिया गया है। श्रीभगवान् भले ही आँखों के समक्ष उपस्थित न हों, किन्तु यदि कोई सच्चे दिल से मार्ग-दर्शन का इच्छुक है, तो भगवान् कोई प्रामाणिक व्यक्ति भेज सकता है, जो उसे भगवान् के धाम का ठीक ठीक रास्ता बता सके। आत्म-साक्षात्कार के पथ पर अग्रसर होने के लिए किसी भौतिक योग्यता की आवश्यकता नहीं होती। भौतिक जगत में यदि कोई किसी विशेष सेवा (नौकरी) को अपनाता है, तो उसके पास इस के लिए विशेष योग्यता भी होनी चाहिए। इसके बिना मनुष्य नौकरी के लिए अयोग्य रहता है। किन्तु भगवद्भक्ति के लिए जिस एकमात्र योग्यता की आवश्यकता है, वह है समर्पण (शरण में जाना)। यह समर्पण अपने हाथ की बात है। यदि मनुष्य चाहे तो तुरन्त समर्पण कर दे और उसी समय से उसका आध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ हो जाता है। ईश्वर का प्रामाणिक प्रतिनिधि ईश्वर के ही समान श्रेष्ठ है अथवा दूसरे शब्दों में, ईश्वर का प्रेमी प्रतिनिधि अधिक दयालु और अधिक सरलता से प्राप्य है। पापात्मा भगवान् के पास सीधे नहीं पहुँच पाता, किन्तु ऐसा पापी मनुष्य भगवद्भक्त के पास सरलता से पहुँच सकता है। यदि कोई ऐसे भगवद्भक्त के मार्गदर्शन में चलना

स्वीकार कर ले, तो उसे तत्त्व-ज्ञान प्राप्त हो सकता है; वह भी दिव्य शुद्ध भगवद्भक्त बन सकता है और मुक्त होकर भगवान् के धाम लौट सकता है जहाँ नित्य सुख प्राप्त है।

अत: इच्छुक व्यक्ति के लिए तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति तथा संसार के अनावश्यक, वृथा-संघर्ष से मुक्ति तनिक भी कठिन नहीं हैं। हाँ, उनके लिए ये अवश्य कठिन हैं, जो शरणागत नहीं हैं, मात्र व्यर्थ के कल्पनाकारी हैं।

शश्वत् प्रशान्तमभयं प्रतिबोध-मात्रं
शुद्धं समं सदसतः परमात्म-तत्त्वम् ।
शब्दो न यत्र पुरु-कारकवान् क्रियार्थो
माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना ।
तद् वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो
ब्रह्मेति यद्विदुरजस्र-सुखं विशोकम् ॥

शब्दार्थ

शश्वत्—नित्य; प्रशान्तम्—शान्त; अभयम्—निर्भय; प्रतिबोध-मात्रम्—भौतिक चेतना के बिल्कुल विपरीत चेतना; शुद्धम्—शुद्ध, मलरहित; समम्—भेद रहित; सत्-असतः—कारण तथा कार्य का; परमात्म-तत्त्वम्—आदि कारण का नियम; शब्दः—काल्पनिक ध्वनि; न—नहीं; यत्र—जहाँ; पुरु-कारकवान्—सकाम कर्म देने वाला; क्रिया-अर्थः—यज्ञ के हेतु; माया—माया; परैति—भग जाती है; अभिमुखे—के समक्ष; च—भी; विलज्जमाना—लज्जित होकर; तत्—वह; वै—निश्चय ही; पदम्—परम अवस्था; भगवतः—श्रीभगवान् का; परमस्य—परम; पुंसः—पुरुष का; ब्रह्म—ब्रह्म; इति—इस प्रकार; यत्—जो; विदुः—विदित; अजस्र—असीम; सुखम्—सुख; विशोकम्—शोकरहित।

परब्रह्म के रूप में जिसकी अनुभूति की जाती है, वह शोकरहित असीम आनन्द से युक्त है। यह निश्चय ही परमभोक्ता भगवान् की अनन्तिम अवस्था है। वह शाश्वत रूप में सारे विघ्नों से रहित तथा निर्भय है। वह पदार्थ नहीं, अपितु परिपूर्ण चेतना है। वह संदूषण मुक्त है, भेदरहित है और समस्त कारणों तथा कार्यों का आदि कारण है, जिसमें सकाम कर्मों के लिए न तो यज्ञ करना होता है और न जिसके सामने माया ठहरती है।

तात्पर्य : परमभोक्ता भगवान् ही परब्रह्म या परम आश्रय है, क्योंकि वही समस्त कारणों का कारण है। इस भौतिक संसार की भ्रान्त धारणा से नितान्त भिन्न होने के कारण निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार पहला चरण है। दूसरे शब्दों में, निर्गुण ब्रह्म, ब्रह्म का लक्षण है, जो भौतिक विविधता से भिन्न है, ठीक वैसे ही जिस प्रकार प्रकाश अंधकार का प्रतिरूप है, किन्तु प्रकाश में विविधता है, जिसे प्रकाश की ओर अग्रसर होने वाले ही जान पाते हैं; इस तरह ब्रह्म का साक्षात्कार ब्रह्मज्योति के स्रोत, पूर्ण पुरुषोत्तम

भगवान् का अर्थात् प्रत्येक वस्तु के अनन्तिम स्रोत का परम साक्षात्कार है। इस प्रकार ब्रह्म के साक्षात्कार में, पहले भौतिक उन्माद की अपेक्षा निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार सम्मिलित रहता है। भगवान् तो ब्रह्म-साक्षात्कार की तीसरी अवस्था है। जैसाकि प्रथम स्कंध में वर्णित है, मनुष्य को चाहिए कि ब्रह्म के तीनों स्वरूपों—ब्रह्म, परमात्मा तथा श्रीभगवान् को जाने।

प्रतिबोध-मात्रम् सांसारिक बोध से सर्वथा विपरीत अनुभूति है। पदार्थ में भौतिक क्लेश होते हैं, अत: ब्रह्म के प्रथम बोध में ऐसे भौतिक उन्माद का निषेध होता है और उसमें जन्म, मृत्यु, रोग तथा बुढ़ापे की छरपराहट से सर्वथा भिन्न शाश्वत अस्तित्व की अनुभूति होती है। यह निर्विशेष ब्रह्म की प्रारंभिक अवधारणा है।

परमेश्वर हर वस्तु का परम आत्मा है, अत: परम अवधारणा में प्रेम का बोध होता है। प्रेम का बोध आत्मा से आत्मा के सम्बन्ध के कारण होता है। पिता अपने पुत्र से प्रेम करता है, क्योंकि पुत्र तथा पिता में निकटता का कोई सम्बन्ध होता है। किन्तु भौतिक जगत में जिस प्रकार का प्रेम है, वह उन्माद से भरा हुआ होता है। जब भगवान् से भेंट होती है, तो वास्तविक प्रेम के कारण पूर्ण प्रेम प्रकट होता है। वह देह तथा मन की भौतिकता के द्वारा प्रेम किये जाने की वस्तु नहीं, अपितु समस्त जीवात्माओं के लिए पूर्ण, निरावृत, शुद्ध प्रेम की वस्तु है, क्योंकि वह हर एक के हृदय में स्थित परमात्मा स्वरूप है। मुक्त अवस्था में भगवान् के लिए पूर्ण प्रेम उमड़ता है।

इस तरह शाश्वत सुख की अजस्र धारा प्रवाहित होती है और उसके बन्द होने की कोई आशंका नहीं रहती जैसा हम भौतिक संसार में अनुभव कर चुके होते हैं। भगवान् का सम्बन्ध अविछिन्न होता है, अत: उसमें न शोक है, न भय। ऐसा सुख शकों मेंअवर्णनीय है और यज्ञों तथा व्यवस्था के द्वारा सकाम कर्मों के करने से ऐसा सुख उत्पन्न नहीं किया जा सकता। किन्तु हमें यह भी जान लेना चाहिए कि इस श्लोक में परम पुरुष, भगवान् के साथ जिस अविच्छिन्न सुख के आदान-प्रदान की चर्चा है, वह उपनिषदों की निर्गुण विचारधारा से बढ़कर है। उपनिषदों में किया गया वर्णन न्यूनाधिक, वस्तुओं की भौतिक अवधारणा की एक प्रकार से अनदेखी है, किन्तु यह परमेश्वर की दिव्य इन्द्रियों की अस्वीकृति नहीं है। यहाँ पर भौतिक तत्त्वों के विषय में उसी कथन की पुष्टि हुई है; वे सभी दिव्य तथा

भौतिक कल्मष से रहित हैं। यही नहीं, मुक्त जीव भी इन्द्रियों से रहित नहीं हैं अन्यथा उनके बीच अविच्छिन्न दिव्य सुख का आदान-प्रदान असम्भव होता। भगवान् तथा भक्त दोनों ही की सारी इन्द्रियाँ भौतिक कल्मष से रहित (शुद्ध) हैं। इसका कारण यह है कि वे भौतिक कारण तथा कार्य से परे हैं, जिसका यहाँ स्पष्ट उल्लेख हुआ है (*सद्-असत: परम्*)। वहाँ पर माया का वश नहीं चलता, क्योंकि भगवान् तथा उनके दिव्य भक्तों के समक्ष माया लजाती है। भौतिक जगत में इन्द्रियों के कार्य-कलाप शोकरहित नहीं होते, किन्तु यहाँ पर स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि भगवान् तथा भक्तों की इन्द्रियाँ शोकरहित हैं। भौतिक तथा आध्यात्मिक इन्द्रियों में स्पष्ट अन्तर है और मनुष्य को चाहिए कि भौतिक अवधारणा के कारण आध्यात्मिक इन्द्रियों की अवहेलना न करते हुए इसे समझे।

भौतिक जगत में इन्द्रियाँ अविद्या से पूर्ण रूप से प्रभावित होती हैं। विद्वानों ने प्रत्येक दशा में इन्द्रियों की भौतिक अवधारणा से शुद्धि की आवश्यकता पर बल दिया है। भौतिक जगत में आत्मतुष्टि के लिए इन्द्रियों को काम में लाया जाता है, जबकि आध्यात्मिक जगत में इनका उपयोग उन प्रयोजनों के निमित्त जिसके निमित्त ये मूल रूप में बनी है, अर्थात् परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए किया जाता है। ऐसे ऐन्द्रिय कर्म स्वाभाविक हैं, अत: भौतिक कल्मष से अप्रभावित रहकर उन से अविच्छिन्न इन्द्रियतृप्ति होती है क्योंकि इन्द्रियाँ आध्यात्मिकता के कारण शुद्ध होती हैं। फलस्वरूप ऐसी तृप्ति का दिव्य आदान-प्रदान होता रहता है। चूँकि ऐसे कार्य अनन्त हैं और लगातार बढ़ते जाते हैं, अत: भौतिक प्रयासों या कृत्रिम व्यवस्थाओं की कोई गुंजायश नहीं रह जाती। ऐसे दिव्य सुख को *ब्रह्म सौख्यम्* कहा जाता है, जिसका स्पष्ट उल्लेख पंचम स्कंध में होगा।

सध्र्यङ् नियम्य यतयो यम-कर्त-हेतिं ।
जह्यु: स्वराडिव निपान-खनित्रमिन्द्र: ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

सध्र्यक्—कृत्रिम कल्पना या चिन्तन; नियम्य—वश में करके; यतय:—योगीजन; यम-कर्त-हेतिम्—आध्यात्मिक अनुशीलन की प्रक्रिया; जह्यु:—त्याग दी जाती है; स्वराट्—पूर्णतया स्वतन्त्र; इव—सदृश; निपान—कुँआ; खनित्रम्—खोदने का कष्ट; इन्द्र:—वर्षा का नियामक देवता।

ऐसी दिव्य अवस्था में ज्ञानियों तथा योगियों द्वारा न तो कृत्रिम रीति से मन को वश में करने की, न ही कल्पना या चिन्तन की आवश्यकता रहती है। मनुष्य ऐसी विधियों को उसी प्रकार

त्याग देता है, जिस प्रकार स्वर्ग का राजा इन्द्र कुँआ खोदने का कष्ट नहीं उठाता।

तात्पर्य : कोई गरीब आदमी पानी की चाहत के कारण कुँआ खोदता है और खोदने का कष्ट झेलता है। इसी प्रकार जिनका दिव्य बोध कमजोर है, वे या तो मानसिक चिन्तन करते हैं या इन्द्रियों को वश में करके ध्यान करते हैं। किन्तु उन्हें इसका ज्ञान नहीं होता कि जब कोई परम पुरुष, भगवान् की दिव्य प्रेमपूर्ण सेवा में संलग्न होता है, तो इन्द्रियों का नियन्त्रण तथा आत्मसिद्धि एकसाथ प्राप्त हो सकते हैं। इसीलिए परम मुक्त जीवात्माएँ भगवान् के कार्यकलापों को सुनने और जपने की इच्छुक रहती हैं। इस प्रसंग में इन्द्र का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। स्वर्ग का राजा इन्द्र इस जगत में बादल लाने की व्यवस्था करने तथा वर्षा कराने के लिए नियंत्रणकारी देवता है, अत: उसे अपनी व्यक्तिगत जलपूर्ति के लिए कुँआ खोदने का कष्ट नहीं उठाना पड़ता। उसे अपने लिए कुँआ खोदना हास्यास्पद होगा। इसी प्रकार जो भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगे हुए हैं, उन्हें जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त हो चुका है, अत: उनके लिए भगवान् का वास्तविक स्वभाव जानने या उनके कार्यकलापों को ज्ञात करने के लिए कल्पना करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। न ही ऐसे भक्तों को भगवान् की काल्पनिक या वास्तविक सत्ता के विषय में चिन्तन की आवश्यकता पड़ती है। भगवद्भक्ति में लगे रहने के कारण, शुद्ध भक्त पहले से ही कल्पना तथा चिन्तन से मिलने वाले फल प्राप्त कर चुके होते हैं। अत: जीवन की सिद्धि इसी में है कि भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रह जाये।

स श्रेयसामपि विभुर्भगवान् यतोऽस्य
भाव-स्वभाव-विहितस्य सतः प्रसिद्धिः ।
देहे स्व-धातु-विगमेऽनुविशीर्यमाणे
व्योमेव तत्र पुरुषो न विशीर्यतेऽजः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; श्रेयसाम्—समस्त कल्याण; अपि—भी; विभुः—स्वामी; भगवान्—भगवान्; यतः—क्योंकि; अस्य—जीवात्मा का; भाव—गुण; स्व-भाव—अपना स्वभाव; विहितस्य—कार्य; सतः—समस्त उत्तम कार्य; प्रसिद्धिः—अन्तिम सफलता; देहे—शरीर के; स्व-धातु—निर्माणक तत्त्व; विगमे—नष्ट होने पर; अनु—बाद में; विशीर्यमाणे—त्याग दिये जाने पर; व्योम—आकाश; इव—समान; तत्र—तत्पश्चात्; पुरुषः—जीवात्मा; न—कभी नहीं; विशीर्यते—नष्ट होता है; अजः—अजन्मा।

जो कुछ भी कल्याणकर है उसके परम स्वामी भगवान् हैं, क्योंकि जीवात्मा जो भी कर्म करता है, चाहे वे भौतिक अथवा आध्यात्मिक अवस्था में किये जाँय, सबका फल देनेवाले

भगवान् हैं। इस प्रकार वह परम उपकारी है। प्रत्येक जीवात्मा अजन्मा है, अतः इस भौतिक तत्त्वमय शरीर के विनष्ट होने के बाद भी, यह शरीर उसी प्रकार बना रहता है, जिस प्रकार शरीर के भीतर वायु रह जाती है।

तात्पर्य : जीव अजन्मा तथा नित्य है और जैसा *भगवद्गीता* (२.३०) में पुष्टि की गई है भौतिक तत्त्वमय देह के विनष्ट होने पर भी जीव नष्ट नहीं होता। जब तक जीव इस संसार में रहता है तब तक उसके द्वारा किये गये कर्मों का फल उसे अगले जीवन में अथवा इसी जीवन में मिलता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन के कार्य भी भगवान् द्वारा पाँच प्रकार की मुक्ति के रूप में पुरस्कृत होते हैं। यहाँ तक कि निर्विशेषवादी भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की कृपा के बिना परमेश्वर का तादात्म्य प्राप्त नहीं कर सकते। *भगवद्गीता* (४.११) में पुष्टि की गई है कि वे मनुष्य को इसी जीवन में उसके वांछित फल प्रदान करते हैं। जीवों को अपनी इच्छा करने की छूट रहती है और भगवान् उन्हें तदनुसार फल देते हैं।

अतः यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि अभिलिषित उद्देश्य की पूर्ति के लिए केवल भगवान् की दृढ़ता से भक्ति करे। निर्विशेषवादी भी चाहे तो चिन्तन या मनन करने के बजाय भगवान् की नियमित भक्तिमय सेवा करके आसानी से वांछित फल प्राप्त कर सकता है।

किन्तु भक्तजन स्वभावतः भगवान् के पार्षद रूप में रहना पसन्द करते हैं। वे निर्विशेषवादियों की भाँति तादात्म्य नहीं चाहते। अतः भक्तजन अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार भगवान् के दास, मित्र, पिता, माता तथा युगल-प्रेमी बनकर मनवांछित उद्देश्य की प्राप्ति करते हैं। भगवद्भक्ति की नौ दिव्य विधियाँ हैं—यथा श्रवण, कीर्तन इत्यादि और ऐसी सरल तथा स्वाभाविक भक्ति का अनुसरण करके भक्त उच्चतम सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं, जो ब्रह्म के साथ तदाकार होने की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठतर हैं। अतः भक्तों को ब्रह्म के विषय में मनन करने अथवा शून्य में कृत्रिम रूप से चिन्तन करने की कभी सलाह नहीं दी जाती।

फिर भी भूल कर भी यह नहीं सोचना चाहिए कि इस वर्तमान देह के विनाश के बाद, ऐसी दूसरी देह नहीं होती, जिससे भगवान् का साक्षात्कार किया जा सके। जीव तो अजन्मा है। ऐसा नहीं है कि

भौतिक देह की उत्पत्ति के साथ जीव प्रकट होता हो। दूसरी ओर, इस शरीर का विकास जीव की इच्छाओं के फलस्वरूप ही होता है। इस प्रकार जीवात्मा की इच्छा से भौतिक शरीर का प्राकट्य होता है। अत: आत्मतत्त्व से भौतिक शरीर, जीवनी शक्तीयों से उत्पन्न होकर अलिप्त में आता है चूँकि जीव शाश्वत है, अत: वह शरीर के भीतर वायु की तरह विद्यमान रहता है। शरीर के भीतर तथा बाहर वायु ही वायु है, अत: जब बाहरी आवरण अर्थात् भौतिक शरीर नष्ट हो जाता है, तो जीवित स्फुल्लिग शरीर में वायु की भाँति रहता चला आता है। परम उपकारी भगवान् के निर्देशानुसार, जीव को उचित आध्यात्मिक शरीर प्राप्त होता है, जो भगवान् से उनकी संगति के अनुसार सारूप्य (समान शारीरिक अंग), सालोक्य (भगवान् के साथ उसी लोक में रहने की समान सुविधा), सार्ष्टि (भगवान् की तरह समान ऐश्वर्य की प्राप्ति) तथा सामीप्य (भगवान् के साथ समान संगति) रूप में होता है।

भगवान् इतने दयालु हैं कि यदि कोई भक्त भौतिक संगति से अकलुषित तथा अमिश्रित भक्ति मय सेवा का चरण पूरा नहीं कर पाता तो उसे किसी भक्त या धनी के परिवार में उत्पन्न करके, बिना किसी जीवन-संघर्ष के दूसरे जन्म में पुन: अवसर प्रदान किया जाता है, जिससे वह अपने जीवन के शुद्धीकरण की शेषप्रक्रिया को पूरा कर ले और इस देह को त्याग करने पर तुरन्त ही भगवद्धाम को जा सके। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है।

इस प्रसंग में श्रील जीव गोस्वामी प्रभुपाद कृत *भागवत-संदर्भ* में विस्तृत जानकारी उपलब्ध है। एक बार आध्यात्मिक जीवन प्राप्त करके भक्त निरन्तर उसी में बना रहता है जैसाकि पिछले श्लोक में कहा जा चुका है।

सोऽयं तेऽभिहितस्तात भगवान् विश्व-भावन: ।
समासेन हरेर्नान्यदन्यस्मात् सदसच्च यत् ॥५०॥

शब्दार्थ

स:—वह; अयम्—वही; ते—तुमको; अभिहित:—मेरे द्वारा कहा गया; तात—हे पुत्र; भगवान्—भगवान्; विश्व-भावन:—प्रकट ब्राह्मणों के स्त्रष्टा; समासेन—संक्षेप में; हरे:—हरि अर्थात् भगवान् के बिना; न—कभी नहीं; अन्यत्—अन्य कोई वस्तु; अन्यस्मात्—कारणस्वरूप; सत्—प्रकट, गोचर; असत्—तात्त्विक; च—तथा; यत्—चाहे जो भी हो।

हे पुत्र, मैंने तुम्हें संक्षेप में प्रकट जगतों के स्त्रष्टा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विषय में बतलाया है। गोचर तथा तात्त्विक अस्तित्व का कारण हरि के अतिरिक्त और कोई नहीं है।

तात्पर्य : चूँकि सामान्य रूप से हमें नाशवान भौतिक जगत तथा भौतिक जगत पर अधिकार प्राप्त करने में प्रयत्नशील बद्धजीवों का ही अनुभव है, अत: ब्रह्माजी ने नारददेव को बताया कि यह अनित्य जगत भगवान् की बहिरंगा शक्ति की करामात है और यहाँ पर संघर्ष कर रहे बद्धजीव भगवान् की तटस्था शक्ति हैं। इन गोचर कार्यकलापों का एकमात्र कारण परमेश्वर, अर्थात् हरि हैं, जो समस्त कारणों के कारणस्वरूप हैं। किन्तु इससे यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि भगवान् निर्गुण रूप में सर्वत्र व्याप्त हैं। वे इन समस्त बहिरंगा तथा तटस्था शक्तियों की अन्त:क्रिया से पृथक् रहने वाले हैं। *भगवद्गीता* (९.४) में पुष्टि की गई है कि भगवान् अपनी शक्तियों के द्वारा ही सर्वत्र व्याप्त हैं। जो कुछ भी प्रकट रूप में है, वह उनकी शक्ति पर निर्भर है, किन्तु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् होने के कारण वे प्रत्येक वस्तु से विलग रहते हैं। शक्ति तथा शक्तिमान एक होने पर भी एक दूसरे से पृथक् हैं।

भगवान् को इस दुखमय संसार की सृष्टि के लिए भला-बुरा नहीं कहा जा सकता जिस प्रकार कि राजा को राज्य में कारागार बनाने के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता। जो राजसत्ता की आज्ञा उल्लंघन करते हैं उनके लिए कारागार रूपी संख्या अनिवार्य है। इसी प्रकार भगवान् ने इस दुखमय भौतिक संसार की क्षणिक सृष्टि उन लोगों के लिए की है, जो उनको भूल गये हैं और इस झूठे संसार पर प्रभुत्व जमाने का प्रयास कर रहे हैं। फिर भी वे पतित आत्माओं को अपने धाम में वापस ले जाने के लिए इच्छुक रहते हैं और इसके लिए प्रामाणिक धर्मशास्त्रों, प्रतिनिधियों तथा अवतारों के रूप में बद्धजीवों को अनेक अवसर प्रदान करते रहते हैं। चूँकि उनका इस भौतिक जगत से कोई प्रत्यक्ष जुड़ाव नहीं है, अत: इसकी सृष्टि के लिए उन्हें दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतोदितम् ।
सङ्ग्रहोऽयं विभूतीनां त्वमेतद् विपुली कुरु ॥५१॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; भागवतम्—तत्त्वज्ञान; नाम—नामक; यत्—जो; मे—मुझको; भगवता—श्रीभगवान् से; उदितम्—प्रकाशित; सङ्ग्रहः—संकलन; अयम्—उसकी; विभूतीनाम्—विभिन्न शक्तियों का; त्वम्—तुम; एतत्—यह तत्त्वज्ञान; विपुली—विस्तार; कुरु—करो।

हे नारद, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने ही मुझे यह श्रीमद्भागवत नामक तत्त्व-ज्ञान संक्षिप्त रूप में बतलाया था और यह उनकी विभिन्न शक्तियों का संग्रह है। अब तुम स्वयं इस ज्ञान का

विस्तार करो।

तात्पर्य : *भागवत* का सार लगभग आधे दर्जन श्लोकों में श्रीभगवान् द्वारा वर्णित है, जो आगे दिया गया है। यह तत्त्व-ज्ञान है और भगवान् का समर्थ प्रतिनिधित्व करता है। परम होने के कारण यह *श्रीमद्भागवत तत्त्व*-ज्ञान से अभिन्न है। ब्रह्माजी को यह ज्ञान सीधे भगवान् से प्राप्त हुआ जिसे उन्होंने नारद को सौंपा फिर नारद ने श्रीव्यासदेव से उसे विस्तार करने का आदेश दिया। अत: परमेश्वर का दिव्य ज्ञान संसारी झगड़ालू व्यक्तियों द्वारा कपोल-कल्पित नहीं है वरन् यह शुद्ध, शाश्वत, संपूर्ण एवं तीनों गुणों की सीमा से परे है। इस प्रकार *भागवत-पुराण* दिव्य वाणी के रूप में भगवान् का साक्षात् अवतार है, अत: मनुष्य को चाहिए कि वह इस ज्ञान को भगवान् से ब्रह्मा, ब्रह्मा से नारद, नारद से व्यास, व्यास से शुकदेव, शुकदेव से सूत गोस्वामी की शृंखला में चली आ रही शिष्य-परम्परा में भगवान् के प्रामाणिक प्रतिनिधि से प्राप्त करे। वैदिक वृक्ष का पक्व फल, अचानक ऊँची शाखा से पृथ्वी पर गिरकर टूटे बिना एक हाथ से दूसरे हाथ में जाता रहता है। अत: जब तक उपर्युक्त परम्परा के प्रामाणिक प्रतिनिधि से इस तत्त्व-ज्ञान को नहीं सुना जाता तब तक मनुष्य इस ज्ञान को समझ नहीं सकता। इसे उन व्यवसायी *भागवत* वाचकों से नहीं सुनना चाहिए जो श्रोताओं की इन्द्रियों को तुष्ट करके जीविकोपार्जन करते हैं।

यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति ।
सर्वात्मन्यखिलाधारे इति सङ्कल्प्य वर्णय ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; **हरौ**—हरि में; **भगवति**—भगवान् में; **नृणाम्**—मनुष्यों के लिए; **भक्ति:**—भक्ति; **भविष्यति**—प्रकाशित हो; **सर्व-आत्मनि**—परम पूर्ण; **अखिल-आधारे**—सबके आश्रय को; **इति**—इस प्रकार; **सङ्कल्प्य**—दृढ़ निश्चय द्वारा; **वर्णय**—वर्णन करो।.

तुम इस भगवद्ज्ञान का संकल्पपूर्वक इस विधि से वर्णन करो जिससे कि सभी मनुष्य, प्रत्येक जीव के परमात्मा तथा समस्त शक्तियों के आधारस्वरूप भगवान् हरि के प्रति दिव्य भक्ति उत्पन्न कर सकें।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* भक्ति तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के साथ मनुष्य के सम्बन्ध की वैज्ञानिक प्रस्तुति का दर्शन है। कलियुग के पूर्व भगवान् तथा उनकी शक्तियों को जानने के लिए इस प्रकार के

ज्ञान-ग्रन्थ की आवश्यकता नहीं थी, लेकिन कलियुग के आरम्भ होते ही, मानव समाज धीरे-धीरे पापाचार—यथा पर स्त्री से अवैध सम्बन्ध, मादक द्रव्य सेवन, द्यूत क्रीड़ा तथा अनावश्यक पशु-हिंसा—से प्रभावित होने लगा। इन आधारभूत पापकर्मों के फलस्वरूप मनुष्य ईश्वर के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध भूलने लगा। इस तरह मनुष्य जीवन के परम उद्देश्य के प्रति एक प्रकार से अंधा हो गया। जीवन का परम उद्देश्य, गैरजिम्मेदार पशुवत् जीवन अर्थात् आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन—इन चार पाशविक कृत्यों में कृत्रिम ढंग से लगे रहना नहीं है। इस प्रकार अविद्या के अंधकार में ग्रस्त अंधे मानव समाज के लिए *श्रीमद्भागवत* वस्तुओं को उचित परिपेक्ष्य में देखने हेतु दीपक का कार्य करता है। अत: तत्त्व-ज्ञान के वर्णन की आवश्यकता आरम्भ से या परिवर्तनशील सृष्टि के आदिकाल से ही हुई।

जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, *श्रीमद्भागवत* का प्रस्तुतीकरण इतना वैज्ञानिक है कि कोई भी निष्ठावान छात्र इसे ध्यानपूर्वक पढ़ करके या प्रामाणिक वक्ता से नियमित रूप से सुनकर भगवद्ज्ञान को समझ सकता है। इस युग में मानव समाज के सभी लोग जीवन-सुख के पीछे इतने दीवाने हैं कि अंधकार में रहने के कारण उन्हें इतनी भी दृष्टि प्राप्त नहीं है कि वे जानें कि श्रीभगवान् ही समस्त सुख के आगार हैं, क्योंकि वे प्रत्येक वस्तु के परम स्रोत हैं (*जन्माद्यस्य यत:*)। भगवान् की भक्ति के द्वारा ही अबाध सुख की पूर्ण उपलब्धि सम्भव है और उन्हीं की संगति से हम इस दुखमय संसार से छुटकारा पा सकते हैं। जो लोग इस भौतिक जगत का सुखोपभोग करना चाहते हैं, वे भी *श्रीमद्भागवत* के महान् ज्ञान की शरण ले सकते हैं और अन्त में सफलता प्राप्त कर सकते हैं। अत: नारद को उनके गुरु उपदेश देते हैं, या यह कहें कि आदेश देते हैं कि वे इस ज्ञान को संकल्प के साथ व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करें। नारदजी को जीविकोपार्जन हेतु *भागवत* के सिद्धान्तों का उपदेश देने के लिए कभी नहीं कहा गया, वरन् उनके गुरु ने आदेश दिया कि इसे गम्भीरतापूर्वक प्रचारक की भावना से ग्रहण करें।

मायां वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्यानुमोदतः ।
शृण्वतः श्रद्धया नित्यं माययात्मा न मुह्यति ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

मायाम्—बहिरंगा शक्ति के व्यापार; वर्णयतः—वर्णन करते हुए; अमुष्य—भगवान् के; ईश्वरस्य—श्रीभगवान् के; अनुमोदतः—इस प्रकार प्रशंसित; शृण्वतः—इस प्रकार सुनते हुए; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; नित्यम्—नियमित रूप से; मायया—माया के द्वारा; आत्मा—जीवात्मा; न—कभी नहीं; मुह्यति—मोहग्रस्त होता है।

विभिन्न शक्तियों से सम्बंधित भगवान् के कार्यकलापों का वर्णन, उनकी प्रशंसा तथा उनका श्रवण परमेश्वर की शिक्षाओं के अनुसार होना चाहिए। यदि नियमित रूप से श्रद्धा तथा सम्मानपूर्वक ऐसा किया जाता है, तो मनुष्य निश्चित रूप से भगवान् की माया से उबर जाता है।

तात्पर्य : किसी विषय का गम्भीर ज्ञान मनचले लोगों के भावों से सर्वथा भिन्न होता है। ये मनचले या मूर्ख लोग बहिरंगा शक्ति के प्रसंग में भगवान् के कार्यकलापों को व्यर्थ मानकर अपने को झूठ-मूठ भगवान् की अन्तरंगा शक्ति में उच्च स्तर पर सम्मिलित बता सकते हैं, किन्तु सत्य तो यह है कि भगवान् की बहिरंगा तथा अन्तरंगा शक्तियों से सम्बन्धित कार्यकलाप समान रूप से श्रेष्ठ हैं। दूसरी ओर, जो भगवान् की बहिरंगा शक्ति के चंगुल से अभी तक छूट नहीं पाये, उन्हें बहिरंगा शक्ति के प्रसंग में भगवान् के कार्यकलापों का नियमित श्रवण करना चाहिए। उन्हें मूर्खतावश रासलीला जैसे अन्तरंगा शक्ति के कार्यकलापों से नहीं आकर्षित होना चाहिए। सस्ते कथावाचक भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के विषय में अत्यन्त उत्साह दिखाते हैं और भौतिक सुखोपभोग में मग्न छद्मभक्त गलती से मुक्त जीव की अवस्था पर पहुँचना चाहते हैं और इस प्रकार बहिरंगा शक्ति के चंगुल में बुरी तरह आ फँसते हैं।

इनमें से कुछेक का विचार है कि भगवान् की लीलाओं के श्रवण का अर्थ है गोपियों के साथ उनके कार्यकलाप या गोवर्धन-धारण जैसी लीला के विषय में सुनना। उन्हें भगवान् के पुरुषावतारों जैसे स्वांश विस्तारों से तथा भौतिक जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार जैसी लीलाओं से कोई सरोकार नहीं रहता। किन्तु प्रबुद्ध भक्त जानता है कि भगवान् की लीलाओं में, चाहे वह रासलीला हो, चाहे सृष्टि की उत्पत्ति, पालन या संहार, कोई अन्तर नहीं है। अपितु पुरुषावतारों के रूप में भगवान् के कार्यकलापों का वर्णन उन पुरुषों के लिए है, जो बहिरंगा शक्ति के चंगुल में हैं। रासलीला जैसी कथाएँ बद्धजीवों के लिए न होकर मुक्त जीवों के लिए हैं। अत: बद्धजीवों को चाहिए कि बहिरंगा शक्ति के प्रसंग में भगवान् की लीलाओं को भक्ति तथा प्रशंसा के साथ सुनें। यह कार्य मुक्त अवस्था में रासलीला के श्रवण के समान उत्तम है। बद्धजीव को कभी भी मुक्त जीवों के कार्यों की नकल नहीं

करनी चाहिए। भगवान् श्री चैतन्य कभी भी सामान्य मनुष्यों के साथ रासलीला नहीं सुनते थे।

श्रीमद्भागवत के प्रथम नौ स्कंध दशम स्कंध को सुनने की भूमिका बाँधते हैं। इस स्कन्ध के अन्तिम अध्याय में पुन: इसकी चर्चा की जावेगी। तीसरे स्कन्ध में यह और अधिक स्पष्ट हो सकेगी। अत: भगवान् के शुद्ध भक्त को चाहिए कि वह *श्रीमद्भागवत* को प्रारम्भ से सुनना प्रारम्भ करे, सीधे दशम स्कन्ध को नहीं। हमसे कई बार कुछ तथाकथित भक्तों ने निवेदन किया है कि हम तुरन्त ही दशम स्कंध को हाथ में लें, किन्तु हम सदैव इससे बचते रहे, क्योंकि हम *श्रीमद्भागवत* को तत्त्व-ज्ञान के रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं, बद्धजीवों के लिए विषयी ज्ञान के रूप में नहीं। श्रीब्रह्माजी जैसे अधिकारियों ने इसके लिए वर्जित किया है। *श्रीमद्भागवत* को वैज्ञानिक प्रस्तुति के रूप में पढ़कर तथा सुनकर बद्धजीव इन्द्रिय-तृप्ति की उत्तरोत्तर माया से मुक्तहोकर दिव्य ज्ञान के उच्चतर पद को प्राप्त हो सकेंगे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''विशिष्ट कार्यों के लिए निर्दिष्ट अवतार'' नामक नामक सातवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter आठ

राजा परीक्षित द्वारा पूछे गये प्रश्न

राजोवाच

ब्रह्मणा चोदितो ब्रह्मन् गुणाख्यानेऽगुणस्य च ।
यस्मै यस्मै यथा प्राह नारदो देव-दर्शनः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

राजा—राजा ने; उवाच—कहा; ब्रह्मणा—ब्रह्माजी द्वारा; चोदितः—आदेशित होकर; ब्रह्मन्—हे विद्वान ब्राह्मण (शुकदेव गोस्वामी); गुण-आख्याने—दिव्य गुणों के वर्णन में; अगुणस्य—गुणरहित भगवान् का; च—तथा; यस्मै यस्मै—तथा जिनको; यथा—जितना; प्राह—बतलाया; नारदः—नारद मुनि ने; देव-दर्शनः—वह, जिसका श्रोता देवता के समान उत्तम है।

राजा परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा कि नारद मुनि ने, जिनके श्रोता श्रीब्रह्मा द्वारा उपदेशित भाग्यशाली श्रोता हैं, किस प्रकार निर्गुण भगवान् के दिव्य गुणों का वर्णन किया और वे किन-किन के समक्ष बोले?

तात्पर्य : देवर्षि नारद को सीधे ब्रह्माजी ने उपेदश दिया था। ब्रह्मा को भी परमेश्वर ने स्वयं उपदेश दिया था; अत: नारद द्वारा विविध शिष्यों को दिये गये उपदेश स्वयं परमेश्वर द्वारा प्रदत्त उपदेशों के तुल्य हैं। वैदिक ज्ञान को समझने की यही विधि है। यह शिष्य-परम्परा द्वारा भगवान् से प्राप्त होकर अवरोही क्रम से सारे विश्व में फैलता है। किन्तु मानसिक चिन्तकों से वैदिक ज्ञान प्राप्त करने का अवसर ही नहीं आता। अत: नारद मुनि जहाँ कहीं भी जाते हैं, ईश्वर का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनका प्राकट्य परमेश्वर के ही समान उत्तम होता है। इसी प्रकार जो शिष्य-परम्परा दिव्य उपदेश का कड़ाई से अनुसरण करती है, वही प्रामाणिक होती है और इन प्रामाणिक गुरुओं की परीक्षा यह है कि प्रारम्भ में भगवान् ने अपने भक्तों को जो उपदेश दिया था और अब शिष्य-परम्परा में जो उपदेश दिया जाता है उसमें कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। नारद मुनि ने भगवान् के दिव्य ज्ञान को जिस प्रकार वितरित किया उसका वर्णन बाद के स्कन्धों में किया जाएगा।

ऐसा भी प्रतीत हो सकता है कि भौतिक सृष्टि के पूर्व भी भगवान् का अस्तित्व था; फलत: उनके दिव्य नाम, गुण इत्यादि किसी भौतिक गुण को सूचित करने वाले नहीं हैं। अत: जब भी भगवान् को

अगुण कहा जाता है, तो इसका अभिप्राय यह नहीं होता कि वे गुणरहित हैं वरन् यह कि उनमें सतो, रजो या तमोगुण जैसे भौतिक गुण नहीं पाये जाते जो बद्धजीवों में पाये जाते हैं। समस्त भौतिक अवधारणाओं से परे होने के कारण ही उन्हें *अगुण* कहा जाता है।

एतद् वेदितुमिच्छामि तत्त्वं तत्त्व-विदां वर ।
हरेरद्भुत-वीर्यस्य कथा लोक-सुमङ्गलाः ॥ २॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; वेदितुम्—जानने के लिए; इच्छामि—इच्छा करता हूँ; तत्त्वम्—सच्चाई; तत्त्व-विदाम्—तत्त्वविदों का; वर—हे श्रेष्ठ; हरेः—भगवान् का; अद्भुत-वीर्यस्य—अद्भुत शक्तिसम्पन्न की; कथाः—कथा; लोक—समस्त लोकों के लिए; सु-मङ्गलाः—शुभ, कल्याणकर।

राजा ने कहा : मैं जानने का इच्छुक हूँ। अद्भुत शक्तियों से सम्पन्न भगवान् से सम्बन्धित कथाएँ निश्चय ही समस्त लोकों के प्राणियों के लिए शुभ हैं।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* परमेश्वर की लीलाओं के वर्णनों से भरा पड़ा है और प्रत्येक लोक में निवास करने वाले जीवों के लिए मंगलकारी है। जो इसे सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्धित मान बैठता है, वह निश्चित रूप से भ्रम में रहता है। *श्रीमद्भागवत* भगवान् के समस्त भक्तों के लिए अत्यन्त प्रिय शास्त्र है, लेकिन अभक्तों के लिए भी यह कल्याणप्रद है, क्योंकि इसके अनुसार भौतिक शक्ति के चक्कर में पड़े हुए अभक्त लोग भी चंगुल से छूट जाते हैं यदि वे श्रद्धा तथा मनोयोग से शिष्य-परम्परा के समुचित स्रोत से *श्रीमद्भागवत* की कथा को सुनते हैं।

कथयस्व महाभाग यथाहमखिलात्मनि ।
कृष्णे निवेश्य निःसङ्गं मनस्त्यक्ष्ये कलेवरम् ॥ ३॥

शब्दार्थ

कथयस्व—कृपया आगे कहें; महाभाग—हे परमभाग्यशाली; यथा—जिस प्रकार; अहम्—मैं; अखिल-आत्मनि—परमात्मा को; कृष्णे—भगवान् श्रीकृष्ण को; निवेश्य—स्थापित करके; निःसङ्गम्—भौतिक गुणों से मुक्त होकर; मनः—मन; त्यक्ष्ये—परित्याग कर सकूँ; कलेवरम्—शरीर।

हे परम भाग्यशाली शुकदेव गोस्वामी, आप मुझे कृपा करके श्रीमद्भागवत सुनाते रहें जिससे मैं अपना मन परमात्मा, भगवान् श्रीकृष्ण में स्थिर कर सकूँ और इस प्रकार भौतिक गुणों से सर्वथा मुक्त होकर अपना यह शरीर त्याग सकूँ।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में वर्णित कथा में पूर्ण रूप से तन्मय होने का अर्थ है परमात्मा श्रीकृष्ण के साथ निरन्तर साहचर्य और ऐसे साहचर्य का अर्थ होता है भौतिक गुणों से मुक्त हो जाना। भगवान् श्रीकृष्ण सूर्य के समान हैं और भौतिक कल्मष अन्धकार के तुल्य है। जिस प्रकार सूर्य की उपस्थिति में अंधकार हट जाता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण का निरन्तर साहचर्य भौतिक गुणों के कल्मष को दूर करने वाला है। भौतिक गुणों का कल्मष बारबार जन्म तथा मृत्यु का कारण है और भौतिक गुणों से मुक्ति गुणातीत (सत्व) होना है। मुक्ति के इस रहस्य को जान लेने के कारण महाराज परीक्षित को अब आत्म-साक्षात्कार हो चुका था क्योंकि श्रील शुकदेव गोस्वामी ने राजा को बता दिया था कि परम सिद्धि तो मृत्यु के समय नारायण के स्मरण में निहित है। महाराज परीक्षित को सात दिनों के पश्चात् शरीर त्याग करना था, अत: उन्होंने *श्रीमद्भागवत* की कथा के माध्यम से भगवान् का स्मरण करते रहने और इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण के समक्ष पूर्णत: सचेष्ट रहकर शरीर त्यागने का निश्चय किया।

जो लोग वृत्तिक रूप में *श्रीमद्भागवत* सुनते हैं उनका सुनना महाराज परीक्षित के दिव्य श्रवण करने से भिन्न होता है। महाराज परीक्षित को परम सत्य रूप भगवान् श्रीकृष्ण का साक्षात्कार हो चुका था। सकाम भौतिकतावादी मुक्त-आत्मा नहीं होता; वह *श्रीमद्भागवत* को सुनकर कोई भौतिक लाभ उठाना चाहता है। निस्सन्देह ऐसे श्रोता, वृत्तिकवाचक से *श्रीमद्भागवत* सुनकर कुछ यथेष्ट भौतिक लाभ उठा सकते हैं किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि एक सप्ताह तक *श्रीमद्भागवत* का कृत्रिम श्रवण करना महाराज परीक्षित द्वारा श्रवण करने के समान लाभदायक है।

विचारवान् व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह आत्म-साक्षात्कार प्राप्त व्यक्ति से *श्रीमद्भागवत* सुने और वृत्तिक लोगों के द्वारा ठगा न जाय। मनुष्य को चाहिए कि वह जीवन के अन्तिम समय तक इसी प्रकार *श्रीमद्भागवत* सुनता रहे जिससे वास्तव में भगवान् की दिव्य संगति प्राप्त हो सके और इस प्रकार मुक्त हो सके।

यद्यपि महाराज परीक्षित ने अपना राज्य तथा परिवार, जो भौतिकतावाद के सर्वाकर्षक अंग हैं, पहले ही त्याग दिये थे किन्तु तो भी वे अपने भौतिक शरीर के प्रति सचेत थे। वे भगवान् की निरन्तर संगति द्वारा ऐसे बन्धन से भी मुक्त होना चाह रहे थे।

शृण्वतः श्रद्धया नित्यं गृणतश्च स्व-चेष्टितम् ।
कालेन नातिदीर्घेण भगवान् विशते हृदि ॥ ४॥

शब्दार्थ

शृण्वतः—सुनने वालों का; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; नित्यम्—नियमित रूप से सदैव; गृणतः—ग्रहण करते हुए; च—भी; स्व-चेष्टितम्—अपने प्रयास से गम्भीरतापूर्वक; कालेन—अवधि; न—नहीं; अति-दीर्घेण—अत्यन्त दीर्घकाल; भगवान्—श्रीभगवान्; विशते—प्रकट होते हैं; हृदि—हृदय में।

जो लोग नियमित रूप से श्रीमद्भागवत सुनते हैं और इसे अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक ग्रहण करते हैं, उनके हृदय में अल्प समय में ही भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हो जाते हैं।

तात्पर्य : सस्ते भक्त या भौतिकतावाद में ग्रस्त भक्त आवश्यक योग्यताएँ न होते हुए भी भगवान् को साक्षात् देखने के लिए बहुत अधिक लालयित रहते हैं। ऐसे निम्नकोटि के भक्तों को यह जान लेना चाहिए कि भौतिक आसक्ति तथा भगवान् का साक्षात्कार एकसाथ नहीं रह सकते। यह ऐसी यान्त्रिक प्रकिया नहीं है कि परमेश्वर *भागवत*-वाचक निम्नकोटि के भौतिकतावादी छद्म भक्तों के लिए यह कार्य कर सकें। ये पेशेवर लोग ऐसा करने में अक्षम हैं, क्योंकि न तो उन्हें आत्म-साक्षात्कार हुआ रहता है और न ही श्रोताओं की मुक्ति में उनकी कोई अभि रुचि होती है। वे तो अपनी गृहस्थी बनाये रखकर अपने पेशे से कुछ भौतिक लाभ उठाने में रुचि रखते हैं। महाराज परीक्षित को केवल सात दिन जीवित रहना था, किन्तु दूसरों के हित में वे स्वतः बताते हैं कि लोग *श्रीमद्भागवत* को नित्य अपने प्रयास से तथा भक्तिपूर्वक सुनें। इससे हृदय के भीतर श्रीकृष्ण का शीघ्र दर्शन करने में उन्हें सहायता मिलेगी।

किन्तु छद्म-भक्त अपनी सनक के अनुसार भगवान् का दर्शन करने का बहुत इच्छुक रहता है। वह *श्रीमद्भागवत* को नित्य सुनने के लिए न तो कोई प्रयास करता है और न ही भौतिक लाभ की इच्छा से विरक्त हो पाता है। यह महाराज परीक्षित जैसे अधिकारी द्वारा संस्तुत विधि नहीं है जिन्होंने *श्रीमद्भागवत* सुनकर उससे लाभ उठाया।

प्रविष्टः कर्ण-रन्ध्रेण स्वानां भाव-सरोरुहम् ।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत् ॥ ५॥

शब्दार्थ

प्रविष्टः—इस प्रकार प्रवेश करके; कर्ण-रन्ध्रेण—कान के छिद्रों से; स्वानाम्—अपनी मुक्त स्थिति के अनुसार; भाव—स्वाभाविक सम्बन्ध; सरः-रुहम्—कमल का फूल; धुनोति—निर्मल करता है; शमलम्—काम, क्रोध ईर्ष्या तथा गर्व जैसे गुण को; कृष्णः—भगवान् श्रीकृष्ण; सलिलस्य—जलाशय का; यथा—जिस प्रकार; शरत्—शरद ऋतु।

परमात्मा रूप भगवान् श्रीकृष्ण का शब्दावतार (अर्थात् श्रीमद्भागवत) स्वरूप-सिद्ध भक्त के हृदय में प्रवेश करता है, उसके भावात्मक सम्बन्ध रूपी कमल-पुष्प पर आसीन हो जाता है और इस प्रकार काम, क्रोध तथा लोभ जैसी भौतिक संगति की धूल को धो ड़ालता है। इस प्रकार यह गँदले जल के तालाबों में शरद ऋतु की वर्षा के समान कार्य करता है।

तात्पर्य : कहा जाता है कि भगवान् का एक अकेला शुद्ध भक्त संसार के समस्त पतितों को उबार सकता है। अतः जिसे नारद या शुकदेव गोस्वामी जैसे शुद्ध भक्त का विश्वास प्राप्त है और जो अपने गुरु से शक्ति प्राप्त करता है, जिस प्रकार नारद ने ब्रह्माजी से प्राप्त की थी, वह न केवल स्वयं को माया के चंगुल से छुड़ाता है वरन् अपनी शुद्ध तथा शक्तिसम्पन्न भक्ति की शक्ति से सारे संसार को उबार सकता है। गँदले जलाशयों में गिरने वाली शारदीय वर्षा से उपमा देना अत्यन्त उपयुक्त है। वर्षा ऋतु में सारी नदियों का पानी गँदला हो जाता है किन्तु शरद ऋतु में, जब हल्की वर्षा होती है, तो संसार भर में नदियों का जल स्वच्छ हो जाता है। किसी रसायन की अल्प मात्रा से शहरी जलागार की तरह किसी छोटे जलाशय का जल स्वच्छ किया जा सकता है, किन्तु ऐसे अल्प प्रयास से नदियों का जल स्वच्छ नहीं किया जा सकता। किन्तु भगवान् का शक्तिसम्पन्न शुद्ध भक्त न केवल अपने को उबार सकता है, वरन् अपनी संगति से अनेकों को उबारता है।

दूसरे शब्दों में, अन्य विधियों से (यथा ज्ञान-मार्ग या योगासन द्वारा) अपना ही कलुषित हृदय स्वच्छ किया जा सकता है, किन्तु भगवद्भक्ति इतनी शक्तिशाली होती है कि वह शुद्ध शक्तिसम्पन्न भक्त की भक्ति से समस्त लोगों के हृदयों को स्वच्छ कर सकती है। नारद, शुकदेव गोस्वामी, भगवान् चैतन्य, छहों गोस्वामी तथा उनके बाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर तथा श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर इत्यादि जैसे भगवान् के वास्तविक प्रतिनिधि अपनी शक्तिसम्पन्न भक्ति के द्वारा सभी लोगों का उद्धार कर सकते हैं।

श्रीमद्भागवत को सुनने के सद्प्रयासों द्वारा मनुष्य को भगवान् के साथ दास, सखा, वात्सल्य अथवा माधुर्य प्रेम के दिव्य भाव में अपने स्वाभाविक सम्बन्ध का बोध हो जाता है और इस प्रकार के

आत्म-साक्षात्कार से वह तुरन्त भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति का भागी बन जाता है। नारद जैसे समस्त शुद्ध भक्त न केवल स्वरूपसिद्ध जीव थे, वरन् वे स्वान्त:सुखाय उपदेश देने के कार्य में लगे रहते थे और इस तरह से माया के गुणों में फँसे अनेक हीन जीवों का उद्धार करते थे। वे इतने शक्तिसम्पन्न इसीलिए हो सके, क्योंकि वे नियमित रूप से *भागवत* के सिद्धान्तों का श्रवण एवं पूजन करते थे। संचित हो चुकी भौतिक वासनाएँ, भगवान् के अपने प्रयासों से, ऐसे कार्यों द्वारा स्वच्छ हो जाती हैं। भगवान् जीवों के हृदय में सदैव विद्यमान रहते हैं, किन्तु वे भक्ति-मय सेवा से प्रकट होते हैं।

ज्ञान के अनुशीलन या योग द्वारा हृदय की शुद्धि किसी एक व्यक्ति के लिए कुछ काल के लिए उपयुक्त सिद्ध हो सकती है, किन्तु यह स्थिर जल की अल्प मात्रा को रासायनिक विधियों से स्वच्छ करने के समान है। इस प्रकार से शुद्ध किया जल, मैल के कुछ काल तक तलछट बैठ जाने के कारण स्वच्छ रह सकता है, किन्तु तनिक भी हिलाने पर पुन: गँदला हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान् की भक्ति-मय सेवा ही हृदय को सदा के लिए स्वच्छ बनाने की एकमात्र विधि है। अन्य विधियाँ भले ही कुछसमय के लिए श्रेष्ठ हों, किन्तु मन के विचलित होने से पुन: गँदले होने की आशंका रहती है। माया के चंगुल से मुक्ति के लिए सर्वोत्तम विधि यही है कि भगवद्भक्ति के साथ ही नियमित रूप से *श्रीमद्भागवत* का ध्यानपूर्वक श्रवण किया जाय।

धौतात्मा पुरुषः कृष्ण-पाद-मूलं न मुञ्चति ।
मुक्त -सर्व-परिक्लेशः पान्थः स्व-शरणं यथा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

धौत-आत्मा—जिनके हृदय विमल हो चुके हैं; पुरुषः—जीव; कृष्ण—श्रीभगवान् के; पाद-मूलम्—चरणकमल की शरण; न—नहीं; मुञ्चति—छोड़ता है; मुक्त—मुक्त; सर्व—समस्त; परिक्लेशः—जीवन के समस्त क्लेशों का; पान्थः—पथिक; स्व-शरणम्—अपने धाम में; यथा—जिस प्रकार।

भगवान् का शुद्ध भक्त, जिस का हृदय एक बार भक्ति के द्वारा स्वच्छ हो चुका होता है, वह श्रीकृष्ण के चरणकमलों का कभी भी परित्याग नहीं करता, क्योंकि उसे भगवान् वैसी ही परम तुष्टि देते हैं, जैसी कि कष्टकारी यात्रा के पश्चात् पथिक को अपने घर में प्राप्त होती है।

तात्पर्य : जो परमेश्वर श्रीकृष्ण का शुद्ध भक्त नहीं है उसका हृदय पूर्णत: स्वच्छ नहीं होता, किन्तु पूर्णत: शुद्ध हृदय वाला व्यक्ति भगवान् की भक्ति कभी नहीं छोड़ता। ब्रह्माजी ने नारद को

श्रीमद्‌भागवत का उपदेश देते समय जैसा आदेश दिया था, उस प्रकार की भक्ति का पालन करने में कभी-कभी उपदेश कार्य में लगे हुए भगवान् के प्रतिनिधि को अनेक तथाकथित कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। जगाई तथा माधाई नामक दो पतितों का उद्धार करते समय श्रीनित्यानन्द के साथ ऐसा ही हुआ। इसी प्रकार अविश्वासियों द्वारा जीससक्राइस्ट को क्रूस पर चढ़ा दिया गया। किन्तु उपदेशक भक्त ऐसे कष्टों को, जो ऊपर से बहुत घोर दिखते हैं, सहर्ष सहन कर लेते हैं, क्योंकि ऐसे कार्यों से भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं जिससे भक्तों को दिव्य आनन्द प्राप्त होता है। यद्यपि प्रह्लाद महाराज को घोर यातनाएँ सहनी पड़ीं, तो भी उन्होंने भगवान् के चरणकमलों को विस्मृत नहीं किया। इसका एकमात्र कारण यह है कि शुद्ध भक्त का हृदय इतना पवित्र होता है कि वह किसी भी स्थिति में भगवान् कृष्ण की शरण का परित्याग नहीं कर सकता। ऐसी सेवा में कोई स्वार्थ निहित नहीं रहता। *ज्ञानियों* को ज्ञान का अनुशीलन अथवा *योगियों* को शारीरिक आसन का अन्ततः परित्याग करना होता है, किन्तु भक्त भगवान् की भक्ति नहीं छोड़ सकता, क्योंकि उसे गुरु से इसका आदेश प्राप्त हुआ होता है। नारद तथा नित्यानन्द प्रभु जैसे शुद्ध भक्त गुरु की आज्ञा को प्राणाधार मानते हैं। वे अपने भविष्य की तनिक भी परवाह नहीं करते। वे इस मामले को बहुत गंभीरता से लेते हैं क्योंकि यह आदेश भगवान् के प्रतिनिधि से या स्वयं भगवान् से प्राप्त हुआ होता है।

यहाँ पर दिया गया उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। पथिक (यात्री) धन कमाने के लिए घर छोड़ कर दूर-दूर के देशों को जाता है, कभी वह वन से होकर जाता है, तो कभी समुद्र से होकर या कभी कभी पर्वतों की चोटियों से होकर जाता है। निस्सन्देह ऐसे अपरिचित स्थानों में जाने पर पथिक को अनेक कष्ट मिलते हैं। किन्तु ये सारे कष्ट उस क्षण कम हो जाते हैं जब वह अपने परिवार का स्मरण करता है और फिर जब वह घर लौट आता है, तो मार्ग के सारे कष्टों को भूल जाता है।

भगवान् का शुद्ध भक्त भगवान् के साथ पारिवारिक रूप में बँधा होता है, अतः वह अपने कर्तव्य को बिना रुके प्रेमपूर्वक निभाता रहता है।

यदधातु-मतो ब्रह्मन् देहारम्भोऽस्य धातुभिः ।
यदृच्छया हेतुना वा भवन्तो जानते यथा ॥७॥

शब्दार्थ

यत्—क्योंकि; अधातु-मत:—भौतिक रूप से निर्मित न होते हुए; ब्रह्मन्—हे विद्वान ब्राह्मण; देह—भौतिक शरीर; आरम्भ:—शुभारम्भ; अस्य—जीव का; धातुभि:—पदार्थ से; यदृच्छया—अकारण, आकस्मिक; हेतुना—किसी कारण से; वा—अथवा; भवन्त:—आप; जानते—जैसा जानते हों; यथा—उसी रूप में मुझे बताएँ।

हे विद्वान ब्राह्मण, दिव्य आत्मा भौतिक देह से पृथक् है। तो फिर क्या उसे (आत्मा को) किसी कारणवश या अकस्मात् ही देह की प्राप्ति होती है? आपको यह ज्ञात है, अत: कृपा करके मुझे समझाइये।

तात्पर्य : विशिष्ट भक्त होने के कारण महाराज परीक्षित शिष्य-पराम्परा से ब्रह्माजी के प्रतिनिधी द्वारा *श्रीमद्भागवत* सुनने के महत्त्व की पुष्टि से ही सन्तुष्ट नहीं होते वरन् वे *श्रीमद्भागवत* के दार्शनिक आधार को भी स्थापित करना चाहते हैं। *श्रीमद्भागवत* पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान विषयक तत्त्व-ज्ञान है, अत: किसी जिज्ञासु के मन में इसके विषय में जितने भी प्रश्न उठें, उनका स्पष्टीकरण प्रामाणिक कथनों के द्वारा होना चाहिए। भक्ति-मय सेवा के पथ का पथिक ईश्वर तथा जीव विषयक सारी जिज्ञासाएँ अपने गुरु के समक्ष रख सकता है। *भगवद्गीता* के साथ ही साथ *श्रीमद्भागवत* से यह स्पष्ट है कि भगवान् तथा जीव गुणात्मक रूप से एक हैं। भौतिक संसार में बद्ध अवस्था में होने के कारण, जीव भौतिक शरीर का निरन्तर देहान्तरण करता हुआ अनेक योनियों में जाता रहता है। किन्तु भगवान् के अंश द्वारा शरीर धारण करने के कारण कौन-कौन से हैं? महाराज परीक्षित, आत्म-साक्षात्कार के पथ तथा भगवान् की भक्ति में अग्रसर होने वाले समस्त वर्गों के प्राणियों के हेतु इस महत्त्वपूर्ण विषय के सम्बन्ध में जिज्ञासा व्यक्त कर रहे हैं।

अप्रत्यक्ष रूप से इसकी पुष्टि होती है कि परमात्मा शरीर को इस प्रकार बदलता नहीं रहता। आध्यात्मिक दृष्टि से वह पूर्ण है और बद्ध-जीवों के विपरीत उसके शरीर तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं होता। मुक्त जीव, जो सदेह भगवान् के साथ रहते हैं, भगवान् के ही समान होते हैं। केवल वे बद्धजीव अपना शरीर बदलते हैं, जो मुक्ति की प्रतीक्षा में हैं, किन्तु यह क्रिया सर्वप्रथम किस प्रकार प्रारम्भ हुई?

भक्तियोग में प्रथम सोपान गुरु की शरण ग्रहण करना और फिर भक्ति के विषय में गुरु से जिज्ञासा करना है। ऐसी जिज्ञासा अनिवार्य है, जिससे भक्तिमार्ग में होने वाले समस्त प्रकार के अपराधों के प्रति

निश्चेष्टता बनी रहे। महाराज परीक्षित की भाँति भक्ति में स्थित होते हुए भी भक्त को आत्मसिद्ध गुरु से इसके विषय में जिज्ञासा करनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, गुरु को भी अत्यन्त सक्षम एवं पारंगत होना चाहिए जिससे वह भक्तों की इन समस्त जिज्ञासाओं को शमित कर सके। अत: जो प्रामाणिक शास्त्रों में दक्ष न हो और इन संगत जिज्ञासाओं का उत्तर देने में समर्थ न हो, उसे भौतिक लाभ के लिए गुरु बनने का स्वाँग नहीं करना चाहिए। जो शिष्य का उद्धार करने में असमर्थ हो उसका गुरु बनना है।

आसीद् यदुदरात् पद्मं लोक-संस्थान-लक्षणम् ।
यावानयं वै पुरुष इयत्तावयवैः पृथक् ।
तावानसाविति प्रोक्तः संस्थावयववानिव ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

आसीत्—जिस प्रकार निकला; यत्-उदरात्—जिसके उदरसे; पद्मम्—कमल का फूल; लोक—संसार; संस्थान—स्थिति; लक्षणम्—लक्षण; यावान्—जैसा था; अयम्—यह; वै—निश्चय ही; पुरुषः—श्रीभगवान्; इयत्ता—माप; अवयवैः—अवयवों से; पृथक्—भिन्न; तावान्—वैसा; असौ—वह; इति प्रोक्तः—ऐसा कहा जाता है; संस्था—स्थिति; अवयववान्—अवयव से युक्त; इव—सदृश।

यदि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, जिनके उदर से कमलनाल बाहर निकला है, अपने माप के अनुसार विराट शरीर धारण कर सकते हैं, तो फिर भगवान् के शरीर तथा सामान्य जीवात्माओं के शरीर में कौन-सा विशेष अन्तर है?

तात्पर्य : यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि महाराज परीक्षित कितनी बुद्धिमानी से भगवान् के दिव्य शरीर के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए अपने गुरु से प्रश्न करते हैं। इसके पूर्व कई बार कहा जा चुका है कि भगवान् ने कारणोदकशायी विष्णु के सदृश विराट शरीर धारण किया जिनके रोमकूपों से असंख्य ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुए। गर्भोदकशायी विष्णु के शरीर से निकले कमलनाल के शीर्ष पर कमल पुष्प होता है, जिससे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। निस्सन्देह, भौतिक संसार की रचना के समय भगवान् विराट शरीर धारण करते हैं और जीवात्माएँ भी आवश्यकतानुसार लघु या दीर्घ शरीर प्राप्त करती हैं। उदाहरणार्थ, हाथी को आवश्यकतानुसार विशाल देह प्राप्त होती है और चींटी को अपनी आवश्यकता के अनुसार लघु देह मिलती है। इसी तरह, यदि भगवान् ब्रह्माण्डों या किसी ब्रह्माण्ड के लोकों को समाहित करने के लिए विराट शरीर धारण करते हैं, तो आवश्यकतानुसार किसी विशेष प्रकार के शरीर को धारण करने के नियम में कोई अन्तर नहीं पड़ता। जीव तथा ईश्वर को केवल शरीर के आकार

(प्रमाप) के कारण पर विभेदित नहीं किया जा सकता। अत: इसका उत्तर इस पर निर्भर करता है कि भगवान् के शरीर का सामान्य जीव के शरीर की तुलना में विशिष्ट महत्त्व क्या है।

अजः सृजति भूतानि भूतात्मा यदनुग्रहात् ।
ददृशे येन तद्रूपं नाभि-पद्म-समुद्भवः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अजः—किसी भौतिक साधन के बिना जन्म लेने वाला; सृजति—सृष्टि करता है; भूतानि—जीवों को; भूत-आत्मा—पदार्थ से बने शरीर वाले; यत्—जिसकी; अनुग्रहात्—कृपा से; ददृशे—देख सके; येन—जिसके द्वारा; तत्-रूपम्—उसके शरीर का स्वरूप; नाभि—नाभि से; पद्म—कमल का फूल; समुद्भवः—उत्पन्न।

ब्रह्माजी जो किसी भौतिक स्रोत से नहीं, अपितु भगवान् की नाभि से प्रकट होने वाले कमल के फूल से उत्पन्न हुए है, वे उन सबके स्रष्टा हैं, जो इस संसार में जन्म लेते हैं। निस्सन्देह भगवत्कृपा से ही ब्रह्माजी भगवान् के स्वरूप को देख सके।

तात्पर्य : ब्रह्मा प्रथम सजीव प्राणी हैं, जो *अजः* कहलाते हैं, क्योंकि उन्होंने भौतिक संसार में उत्पन्न किसी माता के गर्भ से जन्म नहीं लिया। वे भगवान् के कमल-पुष्प के शारीरिक विस्तार से सीधे प्रकट हुए थे। इस प्रकार यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि भगवान् तथा ब्रह्मा के शरीर एक ही तरह के हैं या भिन्न-भिन्न। इसे भी अच्छी तरह समझ लेना होगा। किन्तु एक बात जो निश्चित है, वह यह है कि ब्रह्माजी श्रीभगवान् की कृपा पर पूर्णत: आश्रित थे, क्योंकि जन्म के पश्चात् वे भगवान् की कृपा से ही जीवों को उत्पन्न कर सके थे और भगवान् का दर्शन कर सके थे। किन्तु उन्होंने भगवान् के जिस रूप को देखा था, वह ब्रह्मा जैसे गुण वाला था या नहीं, यह चकराने वाला प्रश्न है। इसीलिए महाराज परीक्षित इसके उत्तर को श्रील शुकदेव गोस्वामी से स्पष्ट कर लेना चाहते थे।

स चापि यत्र पुरुषो विश्व-स्थित्युद्भवाप्ययः ।
मुक्त्वात्म-मायां मायेशः शेते सर्व-गुहाशयः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सः—वह; च—भी; अपि—जैसाकि वह है; यत्र—जहाँ; पुरुषः—भगवान्; विश्व—संसार; स्थिति—पालन; उद्भव—सृष्टि; अप्ययः—संहार; मुक्त्वा—बिना स्पर्श किये; आत्म-मायाम्—अपनी शक्ति; माया-ईशः—समस्त शक्तियों का स्वामी; शेते—शयन करता है; सर्व-गुहा-शयः—प्रत्येक हृदय में स्थित रहने वाला।

कृपया उन भगवान् के विषय में भी बताएँ जो प्रत्येक हृदय में परमात्मा और समस्त शक्तियों

के स्वामी के रूप में स्थित हैं, किन्तु जिनकी बहिरंगा शक्ति उनका स्पर्श तक नहीं कर पाती।

तात्पर्य : निश्चित रूप से, ब्रह्मा ने भगवान् के जिस रूप को देखा था वह दिव्य रहा होगा, अन्यथा वे बिना स्पर्श किये सृजनात्मक शक्ति पर किस प्रकार निर्भर रहे होते? ऐसा ज्ञात है कि वही पुरुष प्रत्येक जीवात्मा के हृदय में स्थित है। इसकी भी समुचित व्याख्या होनी चाहिए।

पुरुषावयवैर्लोकाः सपालाः पूर्व-कल्पिताः ।
लोकैरमुष्यावयवाः स-पालैरिति शुश्रुम ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

पुरुष—विराट पुरुष; अवयवैः—शरीर के विभिन्न भागों से; लोकाः—समस्त लोक; स-पालाः—अपने-अपने पालकों सहित; पूर्व—पहले; कल्पिताः—विवेचित; लोकैः—विभिन्न लोकों द्वारा; अमुष्य—उसके; अवयवाः—शरीर के विभिन्न अंग; स-पालैः—पालकों सहित; इति—इस प्रकार; शुश्रुम—मैंने सुना है।

हे विद्वान ब्राह्मण, इसके पूर्व व्याख्या की गई थी कि ब्रह्माण्ड के समस्त लोक अपने-अपने लोकपालकों सहित विराट पुरुष के विराट शरीर के विभिन्न अंगों में ही स्थित हैं। मैंने भी यह सुना है कि विभिन्न लोकमंडल विराट पुरुष के विराट शरीर में स्थित माने जाते हैं। किन्तु उनकी वास्तविक स्थिति क्या है? कृपा करके मुझे समझाइये।

यावान् कल्पोविकल्पो वा यथा कालोऽनुमीयते ।
भूत-भव्य-भवच्छब्द आयुर्मानं च यत् सतः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यावान्—जिस रूप में; कल्पः—सृष्टि तथा प्रलय के बीच की अवधि; विकल्पः—गौण सृष्टि तथा प्रलय; वा—अथवा; यथा—और भी; कालः—समय; अनुमीयते—मापा जाता है; भूत—विगत; भव्य—भविष्य; भवत्—वर्तमान; शब्दः—शब्द; आयुः—जीवन अवधि, उम्र; मानम्—माप; च—भी; यत्—जो; सतः—समस्त लोकों के जीवों का।

कृपा करके सृष्टि तथा प्रलय के मध्य की अवधि (कल्प) तथा अन्य गौण सृष्टियों (विकल्प) एवं भूत, वर्तमान तथा भविष्य शब्द से सूचित होने वाले काल के विषय में भी मुझे बताएँ। साथ ही, ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों के विभिन्न जीवों यथा देवों, मनुष्यों इत्यादि की आयु की अवधि के विषय में भी मुझे बताएँ।

तात्पर्य : भूत, वर्तमान तथा भविष्य, ये काल के विभिन्न अंश हैं जिनसे इस ब्रह्माण्ड पर तथा इसकी सारी की सारी साज-सामग्री में से, जिसमें विभिन्न लोकों के प्राणी सम्मिलित हैं, जीवन की

अवधि (आयु) सूचित होती है।

कालस्यानुगतिर्या तु लक्ष्यतेऽण्वी बृहत्यपि ।
यावत्यः कर्म-गतयो यादृशीर्द्विज-सत्तम ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

कालस्य—शाश्वत काल का; अनुगतिः—प्रारम्भ; या तु—वे जिस रूप में; लक्ष्यते—अनुभव किये जाते हैं; अण्वी—लघु; बृहती—विशाल; अपि—भी; यावत्यः—जब तक; कर्म-गतयः—कर्म के अनुसार; यादृशीः—जिस प्रकार की; द्विज-सत्तम—हे ब्राह्मणों में शुद्धतम।

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, कृपा करके मुझे काल की लघु तथा दीर्घ अवधियों एवं कर्म की प्रक्रिया के क्रम में काल के शुभारम्भ के विषय में भी बतलाएँ।

यस्मिन् कर्म-समावायो यथा येनोपगृह्यते ।
गुणानां गुणिनां चैव परिणाममभीप्सताम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; कर्म—कर्म; समावायः—संग्रह; यथा—जहाँ तक; येन—जिससे; उपगृह्यते—ग्रहण करता है; गुणानाम्—विभिन्न गुणों का; गुणिनाम्—जीवों का; च—भी; एव—निश्चय ही; परिणामम्—बची हुई, शेष; अभीप्सताम्—आकांक्षाओं का।

इसके आगे आप कृपा करके बताएँ कि किस प्रकार भौतिक प्रकृति के विभिन्न गुणों से उत्पन्न फलों का आनुपातिक संचय इच्छा करनेवाले जीव पर अपना प्रभाव दिखाते हुए उसे विभिन्न योनियों में—देवताओं से लेकर अत्यन्त क्षुद्र प्राणियों तक को—ऊपर उठाता या नीचे गिराता है।

तात्पर्य : प्रकृति के भौतिक गुणों में समस्त कर्म और कर्मफल, लघु रुप में अथवा बृहद् रुप में, संचित होते रहते हैं और इस प्रकार इन संचित कर्मों के फल उसी अनुपात में प्रकट होते हैं। महाराज परीक्षित ब्राह्मणश्रेष्ठ शुकदेव गोस्वामी से पूछते हैं कि ये कर्म तथा उनके फल किस प्रकार घटित होते हैं, इसके लिए कौन सी विभिन्न विधियाँ हैं और वे किस अनुपात में कार्यशील होते हैं ?

उच्च लोक, जिन्हें स्वर्ग के देवों का धाम कहते हैं, अन्तरिक्षयान के बल पर नहीं (जैसी कि अब अनुभवहीन वैज्ञानिकों द्वारा कल्पना की जाती है), अपितु सात्विक कर्मों से प्राप्त किये जाते हैं।

जिस लोक में हम अब रह रहे हैं उसमें भी जिस देश के लोग समृद्ध हैं उसके भीतर विदेशियों का

प्रवेश प्रतिबन्धित है। उदाहरणार्थ, अमरीकी सरकार ने कम समृद्ध देशों से आने वाले विदेशियों के प्रवेश में अनेक प्रतिबन्ध लगा रखे हैं। इसका कारण यह है कि अमरीकी ऐसे किसी विदेशी के साथ अपनी सम्पन्नता में साझेदार नहीं बनना चाहते, जिन्होंने अपने आप को अमरीका के नागरिकों की भाँति योग्य नहीं बनाया है। यही मनोवृत्ति उन लोकों में पाई जाती है जहाँ के निवासी अधिक बुद्धिमान हैं। उच्च लोकों का रहन-सहन सतोगुणी है, अत: जो भी चन्द्र, सूर्य तथा शुक्र जैसे उच्चतर लोकों में प्रवेश करना चाहता है उसे सतोगुणी कर्मों द्वारा पूर्ण रूप से योग्य होना चाहिए।

महाराज परीक्षित के प्रश्न सतोगुणी कर्मों के अनुपात पर आधारित हैं जिनके कारण इस लोक का प्राणी ब्रह्माण्ड के उच्चतम लोकों में जाने के योग्य हो सकता है।

जिस लोक में हम रह रहे हैं उसमें भी जब तक कोई आनुपातिक रुप से उत्तम कर्म नहीं करता तब तक उसे समाज में अच्छा स्थान प्राप्त नहीं होता। कोई व्यक्ति उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति की कुर्सी पर बिना उस पद के लिए योग्यता के बल-प्रयोग से नहीं बैठ सकता। इसी प्रकार जब तक इस जीवन में उत्तम कर्म नहीं किये जाते, तब तक उच्चतर लोकों में प्रविष्ट नहीं हुआ जा सकता। रजो तथा तमोगुणी व्यक्ति केवल इलेक्ट्रानिक यंत्रो के बल से उच्च लोकों में प्रवेश नहीं कर सकते।

भगवद्गीता (९.२५), के कथन के अनुसार जो लोग उच्चतर लोकों में जाने के लिए अपने को योग्य बनाते हैं, वे वहाँ पहुँच सकते हैं; इसी प्रकार जो लोग पितृलोक जाना चाहते हैं, वे वहाँ जा सकते हैं। ठीक इसी प्रकार से, इस पृथ्वी पर रह कर जो दशा सुधारना चाहते हैं, वे ऐसा कर सकते हैं और जो लोग भगवान् के धाम जाने के काम में लगे हैं, वे वैसा परिणाम पा सकते हैं। सतोगुण में सम्पन्न समस्त कर्म, भक्तियुक्त शुभ कर्म, भक्तियुक्त ज्ञान का अनुशीलन, भक्तियुक्त योग तथा (अन्त में) नितान्त शुद्ध भक्ति के नाम से जाने जाते हैं। यह शुद्ध भक्ति दिव्य होती है और परा भक्ति कहलाती है। केवल इसी के द्वारा ईश्वर के दिव्य धाम को पाया जा सकता है। ऐसा दिव्य धाम कोई पौराणिक कल्पना नहीं है, अपितु उतना ही वास्तविक है जितना कि चन्द्रमा। ईश्वर तथा ईश्वर के धाम को समझने के लिए मनुष्य में दिव्य गुण होने चाहिए।

भू-पाताल-ककुब्व्योम-ग्रह-नक्षत्र-भूभृताम् ।
सरित्समुद्र-द्वीपानां सम्भवश्चैतदोकसाम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

भू-पाताल—भूमि के नीचे; ककुप्—स्वर्ग की चारों दिशाएँ; व्योम—आकाश; ग्रह—लोक, ग्रह; नक्षत्र—तारे; भूभृताम्—पर्वतों का; सरित्—नदी; समुद्र—समुद्र; द्वीपानाम्—द्वीपों की; सम्भवः—उत्पत्ति; च—भी; एतत्—उनके; ओकसाम्—निवासियों का।

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, कृपा करके यह भी बताएँ कि ब्रह्माण्ड भर के गोलकों, स्वर्ग की चारों दिशाओं, आकाश, ग्रहों, नक्षत्रों, पर्वतों, नदियों, समुद्रों तथा द्वीपों एवं इन सबके विविध प्रकार के निवासियों की उत्पत्ति किस प्रकार होती है?

तात्पर्य : विभिन्न किस्म के भूभागों इत्यादि के वासी भिन्न प्रकार से स्थित होते हैं और वे सभी मामलों में एकसमान नहीं होते। स्थल के वासी जल या आकाश के वासियों से भिन्न होते हैं। इसी प्रकार विभिन्न ग्रहों तथा आकाश के नक्षत्रों के वासी भी एक दूसरे से भिन्न होते हैं। ईश्वरीय नियम के अनुसार, कोई भी स्थान रिक्त नहीं है, किन्तु एक स्थान के वासी दूसरे से भिन्न होते हैं। यहाँ तक कि मानव समाज में भी जंगलों अथवा मरुस्थलों के वासी, ग्रामों तथा नगरों के वासियों से भिन्न होते हैं। ऐसे वे प्रकृति के विभिन्न गुणों के अनुसार निर्मित होते हैं। प्रकृति के नियमों का यह समंजन अंधाधुंध नहीं होता। इस व्यवस्था के पीछे विशाल आयोजन होता है। महाराज परीक्षित इन सब बातों को प्रामाणिक रीति से महामुनि श्रील शुकदेव गोस्वामी से जानने की प्रार्थना करते हैं।

प्रमाणमण्ड-कोशस्य बाह्याभ्यन्तर-भेदतः ।
महतां चानुचरितं वर्णाश्रम-विनिश्चयः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

प्रमाणम्—विस्तार तथा माप; अण्ड-कोशस्य—ब्रह्माण्ड का; बाह्य—बाहरी अवकाश; अभ्यन्तर—आन्तरिक अवकाश; भेदतः—के विभाग में; महताम्—महापुरुषों का; च—भी; अनुचरितम्—चरित्र तथा कार्य; वर्ण—जातियाँ; आश्रम—जीवन के चार आश्रम; विनिश्चयः—विशेष रूप से वर्णन करें।

साथ ही कृपा करके ब्रह्माण्ड के बाहरी तथा भीतरी विशिष्ट विभागों, महापुरुषों के चरित्र तथा कार्यों और विभिन्न वर्णों एवं जीवन के चारों आश्रमों के वर्णीकरण का भी वर्णन करें।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित भगवान् श्रीकृष्ण के विलक्षण भक्त हैं, अतः वे भगवान् की सृष्टि की सम्पूर्ण महत्ता को जानने के इच्छुक हैं। वे ब्रह्माण्ड के आन्तरिक तथा बाहरी अवकाश के विषय में

जानना चाहते हैं। ज्ञान के वास्तविक खोजी के लिए इस विषय में पूरी तरह जानना सर्वथा उपयुक्त है। जिनका यह मत है कि भगवद्भक्त मात्र भावनाओं से सन्तुष्ट हो जाते हैं, वे महाराज परीक्षित की जिज्ञासाओं से यह देख सकते हैं कि विशुद्ध भक्त वस्तुओं को पूरी तरह जानने के लिए कितने उत्सुक रहते हैं। आधुनिक विज्ञानी जब ब्रह्माण्ड-अन्तरिक्ष के आन्तरिक अवकाश के विषय में जान पाने में अक्षम हैं, तो फिर ब्रह्माण्ड को आच्छादित करने वाले अन्तरिक्ष (अवकाश) के विषय में क्या कहा जा सकता है ?

महाराज परीक्षित मात्र भौतिक ज्ञान से तुष्ट होने वाले नहीं हैं। वे भगवद्-भक्तों या महापुरुषों के चरित्र तथा कार्यों के विषय में जानने की उत्सुकता प्रकट करते हैं। भगवान् की महिमा तथा उनके भक्तों की महिमा से मिलकर *श्रीमद्भागवत* का पूर्ण ज्ञान बना है। श्रीकृष्ण ने अपनी माँ को अपने मुख के भीतर सारा ब्रह्माण्ड दिखलाया, किन्तु उनकी माँ अपने पुत्र-प्रेम से पूर्ण रूप से मुग्ध होने के कारण यह देखना चाह रही थीं कि उन्होंने मुँह के भीतर कितनी मिट्टी खाई है। किन्तु भगवत्कृपा से भक्त लोग भगवान् के मुख के भीतर ही ब्रह्माण्ड की सारी वस्तुएँ देखने में सक्षम होते हैं।

मानव समाज का चार वर्णों तथा चार आश्रमों में जैसा वैज्ञानिक विभाजन हुआ, उसके सम्बन्ध में भी यहाँ पर वैयक्तिक गुणत्व के आधार पर जिज्ञासा व्यक्त की गई है। ये चार विभाग मनुष्य के निजी शरीर के चार भागों के ही समान हैं। शरीर के अंग शरीर से अभिन्न होकर भी स्वयं में अंग मात्र होते हैं। चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों की वैज्ञानिक प्रणाली की यही विशिष्टता है। मानव समाज के ऐसे वैज्ञानिक विभाजन की महत्ता भगवान् की भक्ति के आनुपातिक विकास द्वारा आँकी जा सकती है। सरकारी नौकरी में रत कोई भी व्यक्ति, जिसमें राष्ट्रपति भी सम्मिलित है, सम्पूर्ण सरकार का अंग होता है। प्रत्येक व्यक्ति सरकारी कर्मचारी है, किन्तु इनमें से कोई भी सरकार नहीं है। परमेश्वर के राज्य में जीवात्माओं की ठीक यही स्थिति है। कोई भी व्यक्ति कृत्रिम रूप से भगवान् के परमपद का अधिकारी नहीं बन सकता, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति परमेश्वर की सेवा के निमित्त है।

युगानि युग-मानं च धर्मो यश्च युगे युगे ।
अवतारानुचरितं यदाश्चर्यतमं हरेः ॥ १७॥

शब्दार्थ

युगानि—विभिन्न युग; युग-मानम्—प्रत्येक युग की अवधि; च—भी; धर्मः—विशिष्ट कार्य; यः च—तथा जो; युगे युगे—प्रत्येक युग में; अवतार—अवतार; अनुचरितम्—तथा अवतार के कार्य; यत्—जो; आश्चर्यतमम्—सर्वाधिक अद्‌भुत कार्य; हरेः—परमेश्वर का।.

कृपा करके सृष्टि के विभिन्न युगों तथा उन सबकी अवधियों का वर्णन कीजिये। मुझे विभिन्न युगों में भगवान् के विभिन्न अवतारों के कार्य-कलापों के विषय में भी बताइये।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण आदि भगवान् हैं और परमेश्वर के समस्त अवतार उनसे अभिन्न होते हुए भी उन्हीं से उद्‌भूत हैं। महाराज परीक्षित ने परम विद्वान एवं महामुनि शुकदेव गोस्वामी से ऐसे अवतारों के कार्यकलापों के विषय में पूछा जिससे भगवान् के अवतार की पुष्टि प्रामाणिक शास्त्रों में उल्लिखित उनके कार्यकलापों के आधार पर की जा सके। महाराज परीक्षित सामान्य मनुष्य की विचारधारा में बहकर भगवान् के अवतार को आसानी से स्वीकार करने वाले जीव न थे, अपितु वे वैदिक साहित्य में वर्णित और श्रील शुकदेव गोस्वामी जैसे आचार्य द्वारा पुष्ट लक्षणों के आधार पर ही उसे स्वीकार करना चाहते थे। भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति से प्राकृतिक नियमों की किसी अनिवार्यता के बिना अवतरित होते हैं; फलतः उनके कार्यकलाप भी असामान्य होते हैं। भगवान् के विशिष्ट कार्यकलाप उल्लिखित हैं और हमें यह जान लेना होगा कि भगवान् के कार्यकलाप तथा स्वयं भगवान् एक हैं क्योंकि वे परम स्तर पर स्थित हैं। अतः भगवान् के कार्यकलापों के विषय में सुनने का अर्थ है भगवान् की प्रत्यक्ष संगति करना और भगवान् की प्रत्यक्ष संगति का अर्थ है भौतिक कल्मष से शुद्धि। इसकी विवेचना हम पिछले खण्ड में कर चुके हैं।

नृणां साधारणो धर्मः सविशेषश्च यादृशः ।
श्रेणीनां राजर्षीणां च धर्मः कृच्छ्रेषु जीवताम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

नृणाम्—मानव समाज का; साधारणः—सामान्य; धर्मः—धार्मिक सम्पर्क-सूत्र; स-विशेषः—विशिष्ट; च—भी; यादृशः—वे जिस प्रकार से हैं; श्रेणीनाम्—तीन वर्णों के; राजर्षीणाम्—राजर्षि का; च—भी; धर्मः—धर्म; कृच्छ्रेषु—दुखी अवस्था (विपत्ति) में; जीवताम्—जीवों का।.

कृपा करके यह भी बताइये कि मानव समाज के सामान्य धार्मिक सम्पर्क सूत्र क्या हों, धर्म में उनके विशिष्ट कर्तव्य क्या हों, सामाजिक व्यवस्था तथा प्रशासकीय राजकीय व्यवस्था का वर्गीकरण तथा विपत्तिग्रस्त मनुष्य का धर्म क्या हो?

तात्पर्य : मनुष्यों की सभी श्रेणियों का, चाहे वे कोई या कुछ भी हों, सामान्य धर्म भक्तिमय सेवा है। यहाँ तक कि भगवद्भक्ति में पशुओं को भी सम्मिलित किया जा सकता है और इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण भगवान् श्रीराम के भक्त बजरंगबली या हनुमान जी द्वारा प्रस्तुत हुआ है। हम पहले ही कह चुके हैं कि यदि भगवान् के असली भक्त का पथ प्रदर्शन प्राप्त हो, तो आदिवासी तथा मानवभक्षी लोग भी भगवान् की भक्ति में लग सकते हैं। *स्कन्द पुराण* में एक कथा है कि एक बहेलिया श्री नारदमुनि के प्रभाव से किस प्रकार भगवान् का भक्त बन गया। अत: भगवद्भक्ति प्रत्येक जीव द्वारा समान रूप से भोग्य है।

विभिन्न देशों में विभिन्न सांस्कृतिक परिस्थितियों में जो धार्मिक लगाव होता है, वह स्पष्टत: मानव का सामान्य धर्म नहीं हैं, अपितु मूल सिद्धान्त भक्तिमय सेवा है। यदि कोई धर्म परमेश्वर की श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं भी करता तो भी किसी विशेष नेता द्वारा निर्दिष्ट आनुशासनिक नियमों का पालन करना होता है। धार्मिक सम्प्रदाय का ऐसा नेता कभी भी सर्वश्रेष्ठ नहीं होता, क्योंकि ऐसा नेता अपने पद पर किसी तपस्या के माध्यम से आता है। किन्तु नेता बनने के लिए भगवान् को ऐसे आनुशासनिक कार्य नहीं करने पड़ते जैसाकि हम भगवान् श्रीकृष्ण के क्रिया-कलापों में देखते हैं।

समाज की जातियों तथा आश्रमों के कर्तव्य जीविका के नियमों पर आधारित होते हुए भक्ति सिद्धान्तों पर भी निर्भर करते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि मनुष्य अपने कर्मों के फल को भगवान् की भक्ति में अर्पित करने मात्र से जीवन की परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। भगवान् की भक्ति करने वाला कभी कष्ट नहीं भोगता, अत: *आपद-धर्म* का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जैसाकि परम अधिकारी श्रील शुकदेव गोस्वामी द्वारा इस ग्रन्थ में बताया जाएगा, भगवद्भक्ति के अतिरिक्त कोई अन्य धर्म नहीं है, भले ही वह विभिन्न रूपों में प्रकट क्यों न हो।

तत्त्वानां परिसङ्ख्यानं लक्षणं हेतु-लक्षणम् ।
पुरुषाराधन-विधिर्योगस्याध्यात्मिकस्य च ॥ १९॥

शब्दार्थ

तत्त्वानाम्—सृष्टि को निर्मित करने वाले तत्त्वों की; परिसङ्ख्यानम्—संख्या का; लक्षणम्—लक्षण; हेतु-लक्षणम्—कारणों के लक्षण; पुरुष—भगवान् के; आराधन—भक्ति का; विधिः—विधि-विधान; योगस्य—योग पद्धति का; अध्यात्मिकस्य—भक्ति तक पहुँचाने वाली आध्यात्मिक विधियाँ; च—भी।

कृपा करके सृष्टि के तत्त्वमूलक सिद्धान्तों, इन सिद्धान्तों की संख्या, इनके कारणों तथा इनके विकास और इनके साथ-साथ भक्ति की विधि तथा योगशक्तियों की विधि के विषय में भी बताइये।

योगेश्वरैश्वर्य-गतिर्लिङ्ग-भङ्गस्तु योगिनाम् ।
वेदोपवेद-धर्माणामितिहास-पुराणयोः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

योग-ईश्वर—योग शक्तियों के स्वामी का; ऐश्वर्य—ऐश्वर्य; गतिः—प्रगति; लिङ्ग—सूक्ष्म शरीर; भङ्गः—विरक्ति; तु—लेकिन; योगिनाम्—योगियों का; वेद—दिव्य ज्ञान; उपवेद—वेदों का अप्रत्यक्ष ज्ञान; धर्माणाम्—धर्मशास्त्रों का; इतिहास—इतिहास; पुराणयोः—पुराणों का।

महान् योगियों के ऐश्वर्य क्या हैं और उनकी परम गति क्या है? पूर्ण योगी किस प्रकार सूक्ष्म शरीर से विरक्त होता है? इतिहास की शाखाओं तथा पूरक पुराणों समेत वैदिक साहित्य का मूलभूत ज्ञान क्या है?

तात्पर्य : योगेश्वर आठ प्रकार की सिद्धियाँ प्रदर्शित कर सकता है, जिनमें परमाणु से भी सूक्ष्म बनना या पंख से भी हल्का होना, इच्छानुसार वस्तु को प्राप्त करना और जहाँ भी इच्छा हो चले जाना, आकाश में किसी लोक का निर्माण करना इत्यादि कृत्य सम्मिलित हैं। ऐसे अनेक योगेश्वर हैं, जो ऐसी भिन्न-भिन्न सिद्धियों में दक्ष होते हैं, किन्तु इनमें से सर्वश्रेष्ठ हैं शिवजी। शिवजी सर्वश्रेष्ठ योगी हैं और सामान्य जीवों से कहीं बढ़कर अद्भुत कार्य करने वाले हैं। भगवद्भक्त योग शक्तियों का प्रत्यक्ष रूप से अभ्यास नहीं करते, किन्तु भगवत्कृपा से वे दुर्वासा मुनि जैसे महान् योगेश्वर को परास्त कर सकते हैं, जो महाराज अम्बरीष से झगड़ा मोल लेकर उन्हें अपनी योगशक्ति की अद्भुत उपलब्धियाँ दिखाना चाहते थे। महाराज अम्बरीष भगवान् के शुद्ध भक्त थे, अतः भगवान् ने अम्बरीष महाराज द्वारा किसी प्रयास के बिना ही उन्हें योगेश्वर दुर्वासा मुनि के रोष से बचा लिया और मुनि को राजा से क्षमा माँगनी पड़ी। इसी प्रकार जब द्रौपदी को कुरु लोग मिलकर भरी सभा में नग्न करके देखना चाह रहे थे, तो भगवान् ने इस संकट की घड़ी में अशेष साड़ी प्रदान करके रक्षा की थी और द्रोपदी को तो किसी योगशक्ति का ज्ञान भी नहीं था। अतः भगवान् की असीम शक्ति के बल पर भक्त भी योगेश्वर होते हैं, ठीक उसी तरह जिस प्रकार बालक अपने माता-पिता की शक्ति से शक्तिशाली बनता है। वे किसी

कृत्रिम उपाय से अपनी रक्षा नहीं करते, किन्तु माता–पिता के अनुग्रह से बच जाते हैं।

महाराज परीक्षित ने ब्राह्मणश्रेष्ठ शुकदेव गोस्वामी से ऐसे महान् योगियों के परम गन्तव्य के विषय में अथवा वे जिस प्रकार अपने प्रयासों से या भगवत्कृपा से ऐसी अद्वितीय शक्तियाँ प्राप्त करते हैं, उसके विषय में भी प्रश्न किये। उन्होंने सूक्ष्म तथा स्थूल भौतिक शरीर से उनकी विरक्ति के विषय में भी प्रश्न किये। उन्होंने वैदिक ज्ञान के सार के विषय में भी जिज्ञासा प्रकट की। जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है, समस्त वेदों का सार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को जानना और इस प्रकार भगवान् का दिव्यरुप प्रिय दास बनना है।

सम्प्लवः सर्व-भूतानां विक्रमः प्रतिसङ्क्रमः ।
इष्टा-पूर्तस्य काम्यानां त्रि-वर्गस्य च यो विधिः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सम्प्लवः—पूर्ण विनाश, सम्यक साधन; सर्व-भूतानाम्—समस्त जीवों का; विक्रमः—विशिष्ट शक्ति या स्थिति; प्रतिसङ्क्रमः—चरम विनाश; इष्टा—वैदिक अनुष्ठानों का सम्पन्न किया जाना; पूर्तस्य—धर्म के पवित्र कार्य; काम्यानाम्—आर्थिक विकास के हेतु अनुष्ठान; त्रि-वर्गस्य—धर्म, अर्थ तथा काम ये तीन साधन; च—भी; यः—जो भी; विधिः—विधियाँ।

कृपा करके मुझे बताइये कि जीवों की उत्पत्ति, पालन और उनका संहार किस प्रकार होता है? भगवान् की भक्तिमय सेवा करने से जो लाभ तथा हानियाँ होती हैं, उन्हें भी समझाइये। वैदिक अनुष्ठान तथा उपवैदिक धार्मिक कृत्यों के आदेश क्या हैं? धर्म, अर्थ तथा काम के साधनों की विधियाँ क्या हैं?

तात्पर्य : *सम्प्लवः "सम्यक साधन"* के अर्थ में भक्ति करने के लिए प्रयुक्त होता है जब कि *प्रतिसम्प्लवः* इसके बिल्कुल विपरीत है और भक्ति की प्रगति को विनष्ट करने वाले का द्योतक है। जो व्यक्ति भगवान की भक्तिमय सेवा में दृढ़तापूर्वक स्थित है, वह सरलतापूर्वक बद्ध जीवन बिता सकता है। बद्ध जीवन–बिताना समुद्र के बीच में नाव के खेने जैसा है। इसमें मनुष्य को समुद्र की कृपा पर आश्रित रहना पड़ता है, क्योंकि किसी भी क्षण, थोड़े से विक्षोभ से, नाव डूब सकती है। हाँ, यदि मौसम अच्छा रहा तो निस्संदेह नाव सरलता से चलती रहती है, किन्तु यदि थोड़ा भी तूफान, कुहरा, झंझा या बादल रहा, तो नाव किसी भी क्षण डूब सकती है। कोई कितना ही साधनसम्पन्न क्यों न हो, वह समुद्र की तरंग को नियन्त्रित नहीं कर सकता। जिन्होंने जलयानों के द्वारा समुद्र पार किया है उन्हें

समुद्र की कृपा पर निर्भर रहने का पर्याप्त अनुभव होगा। किन्तु भगवत्कृपा से भवसागर को बिना झंझा या कुहरे के भय के सरलता से पार किया जा सकता है। यह सब भगवान् की इच्छा पर निर्भर करता है; यदि बद्ध जीवन में कोई दुर्भाग्यपूर्ण खतरा उत्पन्न हो जाए तो कोई कुछ नहीं कर सकता। किन्तु भगवान् के भक्त भव-सागर को चिन्तारहित होकर पार कर लेते हैं, क्योंकि भगवान् उनकी सदैव रक्षा करता है (*भगवद्गीता* ९.१३)। भगवान् अपने भक्तों के भौतिक बद्ध जीवन के कार्यकलापों की ओर विशेष ध्यान देते हैं (*भगवद्गीता* ९.२९)। अत: प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए और सब तरह से शुद्ध भक्त बनना चाहिए।

अत: मनुष्यों को सक्षम गुरु से उसी प्रकार यह जानना चाहिए कि भक्ति करने से क्या-क्या लाभ तथा हानियाँ हैं, जिस प्रकार श्रील शुकदेव गोस्वामी से महाराज परीक्षित ने पूछा था। *भक्ति रसामृत सिन्धु* के अनुसार मनुष्य को चाहिए कि शरीर तथा आत्मा के पोषण के लिए जितने भोजन की आवश्यकता हो, उतना ही खाए। मानव शरीर के निर्वाह के लिए दूध तथा शाकाहार पर्याप्त है, अत: स्वाद की पूर्ति हेतु इससे अधिक कुछ खाने की कोई आवश्यकता नहीं है। भौतिक जगत में अपने को बड़ा दिखाने के लिए धन का संग्रह नहीं करना चाहिए। ईमानदारी के साथ अपनी जीविका सुगमता से चलानी चाहिए, क्योंकि जोड़-तोड़ से समाज में बड़ा आदमी बनने की अपेक्षा ईमानदारी से कुली बन कर रहना श्रेयस्कर है। यदि कोई ईमानदारी से विश्व का सबसे बड़ा धनी पुरुष बनता है, तो कोई हर्ज नहीं, किन्तु केवल धन संग्रह के लिए जीविका कमाते समय ईमान बेचना उचित नहीं। इस प्रकार का प्रयत्न भक्ति में बाधक है। मनुष्य को ऊल-जुलूल नहीं बोलना चाहिए (प्रलाप नहीं करना चाहिए)। भक्त का कार्य तो भगवान् की कृपा प्राप्त करना है। अत: भक्त को सदैव ईश्वर की अद्भुत सृष्टि के लिए उनकी महिमा का वर्णन करना चाहिए। भक्त को ईश्वर की सृष्टि को यह कह कर नहीं नकारना चाहिए कि यह संसार झूठा (असत्य) है। यह संसार असत्य नहीं है। वस्तुत: हमें अपने पालन के लिए इस संसार से अनेक वस्तुएँ ग्रहण करनी होती हैं, अत: हम यह कैसे कह सकते हैं कि यह संसार असत्य है? इसी प्रकार हम यह कैसे कह सकते हैं कि ईश्वर का कोई रूप नहीं है? भला कोई निर्विशेष होकर समस्त बुद्धि तथा चेतना से किस प्रकार युक्त हो सकता है? अत: शुद्ध भक्त के जानने

के लिए अनेक बातें हैं और उन्हें शुकदेव गोस्वामी जैसे प्रामाणिक महापुरुष से सीखना चाहिए।

भक्तिमय सेवा करने के लिए उपयुक्त परिस्थिति यही है कि ईश्वर की सेवा अत्यन्त उत्साह के साथ की जाय। भगवान् ने अपने श्री चैतन्य महाप्रभु रूप में यह चाहा है कि सारे संसार के कोने-कोने में भक्ति-सम्प्रदाय का प्रचार किया जाय; अत: शुद्ध भक्त का परम कर्तव्य है कि जहाँ तक सम्भव हो, वह इस आदेश को पूरा करे। प्रत्येक भक्त को न केवल दैनिक भक्ति-अनुष्ठानों के प्रति उत्साह होना चाहिए, अपितु भगवान् चैतन्य के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए सम्प्रदाय का शान्तिपूर्वक प्रचार करना चाहिए। यदि उसे ऊपरी तौर पर इसमें सफलता नहीं मिलती तो उसे अपने कर्तव्य से विमुख नहीं होना चाहिए। शुद्ध भक्त के लिए सफलता-असफलता का कोई अर्थ नहीं होता, क्योंकि वह युद्ध-भूमि में सैनिक के समान होता है। भक्तिमय सेवा की विचारधारा का प्रचार ठीक कुछ-कुछ वैसा ही है जैसे कि भौतिक जीवन के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करना। भौतिकतावादी कई प्रकार के हैं—यथा सकामकर्मी, ज्ञानी, चमत्कारी योगी इत्यादि जैसे और भी। वे सभी ईश्वर के अस्तित्व के विरोधी हैं। वे अपने को ही ईश्वर घोषित करते हैं, भले ही वे पग-पग पर प्रत्येक कार्य के लिए ईश्वर की कृपा पर आश्रित क्यों न रहें। अत: शुद्ध भक्त को चाहिए कि इन नास्तिकों के गिरोहों का साथ न दे। भगवान् का सबल भक्त अभक्तों के ऐसे नास्तिकतावादी प्रचार से कभी गुमराह नहीं होता, किन्तु नवदीक्षित भक्त को इनसे बहुत सतर्क रहना चाहिए। भक्त को, प्रामाणिक गुरु के पथप्रदर्शन में ठीक से भक्ति करनी चाहिए, मात्र औपचारिकताओं से नहीं चिपके रहना चाहिए। प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में यह देखना चाहिए कि कितनी भक्तिमय सेवा की जा रही है, मात्र अनुष्ठान के सम्बन्ध में नहीं। भक्त को किसी वस्तु के पीछे नहीं दौड़ना चाहिए वरन् भगवान् की इच्छा से जो प्राप्त हो उसी से सन्तुष्ट रहना चाहिए। भक्तिमय जीवन का यही सिद्धान्त होना चाहिए। ऐसे सभी सिद्धान्त शुकदेव गोस्वामी जैसे गुरु के निर्देशन में सरलता से सीखे जा सकते हैं। महाराज परीक्षित ने शुकदेव जी से ठीक ही पूछा और मनुष्य को उनके इस उदाहरण का अनुकरण करना चाहिए।

महाराज परीक्षित ने संसार की उत्पत्ति, पालन तथा संहार, वैदिक अनुष्ठानों की विधि तथा पुराणों एवं *महाभारत* जैसे *उपवेदों* में वर्णित पवित्र कार्यों के करने की विधि के विषय में पूछा। जैसे कि पहले

व्याख्या की जा चुकी है, *महाभारत* प्राचीन भारत का इतिहास है और पुराण भी वैसे ही हैं। पुण्यकार्यों का उल्लेख *उपवेदों* (*स्मृतियों*) में हुआ है और इनमें सामान्य जनता को जल उपलब्ध कराने के लिए तालाब तथा कुएँ खोदने जैसे कार्य सम्मिलित हैं। सड़कों के किनारे वृक्ष लगाना, मन्दिर तथा ईश्वर की पूजा के स्थल बनवाना, निर्धनों को अन्न देने के लिए दान-केन्द्र खोलना तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य *पूर्त* कहलाते हैं।

इसी प्रकार राजा ने सभी के लाभ और इन्द्रियतुष्टि के लिए प्राकृतिक इच्छाओं की पूर्ति की विधि के विषय में जानने की भी जिज्ञासा प्रकट की।

यो वानुशायिनां सर्गः पाषण्डस्य च सम्भवः ।
आत्मनो बन्ध-मोक्षौ च व्यवस्थानं स्व-रूपतः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यः—जो सब; वा—अथवा; अनुशायिनाम्—भगवान् के शरीर में समाहित; सर्गः—सृष्टि; पाषण्डस्य—पाखंडियों का; च—तथा; सम्भवः—प्राकट्य; आत्मनः—जीवों का; बन्ध—बद्ध; मोक्षौ—मुक्त हुए; च—भी; व्यवस्थानम्—स्थित हुए; स्व-रूपतः—मुक्त अवस्था में।

कृपया यह भी समझाएँ कि भगवान् के शरीर में समाहित जीव किस प्रकार उत्पन्न होते हैं और पाखंडीजन किस तरह इस संसार में प्रकट होते हैं? यह भी बताएँ कि किस प्रकार अबद्ध जीवात्माएँ विद्यमान रहती हैं?

तात्पर्य : भगवान् के प्रगतिशील भक्त को प्रामाणिक गुरु से पूछना चाहिए कि सृष्टि के समय भगवान् के शरीर में समाहित जीवात्माएँ किस प्रकार वापस आती हैं। जीवात्माएँ दो प्रकार की होती हैं—नित्यमुक्त जीव तथा नित्यबद्ध जीव। नित्यबद्ध जीव के भी दो प्रकार हैं—आज्ञाकारी तथा अवज्ञाकारी। आज्ञाकारी जीव के पुनः दो भेद हैं—भक्त तथा चिन्तक। चिन्तक भगवान् के शरीर से तादात्म्य चाहते हैं जबकि भक्त अपनी पृथक् सत्ता बनाये रखकर भगवान् की सेवा में निरन्तर लगे रहना चाहते हैं। ऐसे भक्त जो पूर्ण रूप से शुद्ध नहीं होते तथा ज्ञानमार्गी दार्शनिक अगली सृष्टि में और अधिक शुद्धिकरण के लिए पुनः बद्ध हो जाते हैं। ऐसे बद्धजीव भगवान् की भक्ति में प्रगति के साथ मुक्त हो जाते हैं। महाराज परीक्षित ने ये सारे प्रश्न अपने गुरु से पूछे जिससे वह तत्त्व-ज्ञान में निष्णात हो सकें।

यथात्म-तन्त्रो भगवान् विक्रीडत्यात्म-मायया ।
विसृज्य वा यथा मायामुदास्ते साक्षिवद् विभुः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; आत्म-तन्त्रः—स्वतन्त्र; भगवान्—श्रीभगवान्; विक्रीडति—लीला करते हैं; आत्म-मायया—अपनी अन्तरंगा शक्ति से; विसृज्य—त्याग कर; वा—भी; यथा—वे जिस प्रकार चाहते हैं; मायाम्—बहिरंगा शक्ति; उदास्ते—रहता है; साक्षिवत्—साक्षी की तरह; विभुः—सर्वशक्तिमान।

स्वतन्त्र भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति से अपनी लीलाओं का आस्वादन करते हैं और प्रलय के समय वे इन्हें बहिरंगा शक्ति को प्रदान कर देते हैं और स्वयं साक्षी रूप में बने रहते हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान होने तथा समस्त अन्य अवतारों के स्रोत होने के कारण वे ही एकमात्र स्वतन्त्र पुरुष हैं। वे अपनी इच्छानुसार सृष्टि द्वारा लीलाओं का आस्वादन करते हैं और प्रलय के समय इन्हें बहिरंगा शक्ति को प्रदान कर देते हैं। केवल अन्तरंगा शक्ति से ही वे पूतना का वध करते हैं, यद्यपि वे माता यशोदा की गोद में लीलाएँ करते हैं। जब वे इस संसार से प्रयाण करना चाहते हैं, तो वे अपने ही वंश (यदु-कुल) के संहार की लीला रचाते हैं और ऐसे विनाश से अप्रभावित बने रहते हैं। जो कुछ घटित हो रहा है, वे उसके साक्षी हैं, तो भी उससे उन्हें कुछ लेना-देना नहीं। वे सब प्रकार से स्वतन्त्र हैं। शुद्ध भक्त को यह सब अच्छी तरह जानना चाहिए इसीलिए महाराज परीक्षित ने पूरी तरह जान लेने की जिज्ञासा प्रकट की।

सर्वमेतच्च भगवन् पृच्छतो मेऽनुपूर्वशः ।
तत्त्वतोऽर्हस्युदाहर्तुं प्रपन्नाय महा-मुने ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

सर्वम्—ये सब; एतत्—प्रश्न; च—न पूछ सकने के कारण भी; भगवन्—हे ऋषि; पृच्छतः—जिज्ञासु का; मे—मैं स्वयं; अनुपूर्वशः—प्रारम्भ से; तत्त्वतः—सत्य के अनुसार; अर्हसि—कृपा करके बताएँ; उदाहर्तुम्—जैसे आप बताएँगे; प्रपन्नाय—घिरा हुआ; महा-मुने—हे ऋषि!.

हे भगवान् के प्रतिनिधिस्वरूप महर्षि, आप मेरी उन समस्त जिज्ञासाओं को जिनके विषय में मैंने आपसे प्रश्न किये हैं तथा उनके विषय में भी जिन्हें मैं जिज्ञासा करने के प्रारंभ से प्रस्तुत नहीं कर सका, उनके बारे में कृपाकरके जिज्ञासा शान्त कीजिये। चूँकि मैं आपकी शरण में आया हूँ, अतः मुझे इस सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान प्रदान करें।

तात्पर्य : गुरु अपने शिष्य को ज्ञान प्रदान करने के लिए सदैव उद्यत रहता है, विशेष रूप से तब जबकि शिष्य अत्यन्त उत्सुक हो। प्रगतिशील शिष्य के लिए उत्सुकता बनाए रखना अत्यावश्यक है। महाराज परीक्षित विलक्षण शिष्य थे, क्योंकि वे नितान्त उत्सुक थे। यदि कोई आत्म-साक्षात्कार के लिए अत्यधिक उत्सुक नहीं होता, तो केवल शिष्यता दिखाने के लिए गुरु के पास नहीं जाना चाहिए। महाराज परीक्षित न केवल जो कुछ उन्होंने पूछा है उसके विषय में जानने के उत्सुक हैं, वरन् जो कुछ वे नहीं पूछ पाये, उसके विषय में भी जानने के लिए उत्सुक हैं। वस्तुत: मनुष्य के लिए गुरु से हर एक बात पूछना संभव नहीं है, किन्तु प्रामाणिक गुरु सब प्रकार से शिष्य के लाभ हेतु उसे प्रकाश दे सकता है।

अत्र प्रमाणं हि भवान् परमेष्ठी यथात्म-भूः ।
अपरे चानुतिष्ठन्ति पूर्वेषां पूर्व-जैः कृतम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

अत्र—इस विषय में; प्रमाणम्—प्रमाण; हि—निश्चय ही; भवान्—आप; परमेष्ठी—ब्रह्मा, ब्रह्माण्ड का स्रष्टा; यथा—जिस प्रकार; आत्म-भूः—सीधे भगवान् से उत्पन्न; अपरे—अन्य लोग; च—केवल; अनुतिष्ठन्ति—केवल अनुकरण करने के लिए; पूर्वेषाम्—प्रथानुसार; पूर्व-जैः—पूर्ववर्ती दार्शनिक द्वारा सुझाया ज्ञान; कृतम्—किया हुआ।

हे महर्षि, आप आदि प्राणी ब्रह्मा के तुल्य हैं। अन्य लोग केवल प्रथा का पालन करते हैं जिस प्रकार पूर्ववर्ती दार्शनिक चिन्तक किया करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ यह दलील रखी जा सकती है कि शुकदेव गोस्वामी ही अध्यात्म सम्बन्धी पूर्णज्ञान के एकमात्र अधिकारी नहीं—अनेक अन्य मुनि तथा उनके अनुयायी भी अधिकारी हैं। व्यासदेव के समकालीन अथवा उनसे भी पूर्व अनेक महर्षि हुए हैं यथा गौतम, कणाद, जैमिनि, कपिल तथा अष्टावक्र और इन सभी ने अपने-अपने दार्शनिक मार्ग प्रस्तुत किये हैं। पतञ्जलि भी इनमें से एक हैं। इस प्रकार इन छहों ऋषियों की, आधुनिक दार्शनिकों तथा चिन्तकों के ही समान, अपनी-अपनी विचारधाराएँ हैं। श्रीशुकदेव गोस्वामी तथा उपर्युक्त छहों ऋषियों के दार्शनिक मार्गों में यही अन्तर है कि जहाँ छहों ऋषि अपने चिन्तन के अनुसार तथ्यों का वर्णन करते हैं, वहीं *श्रीमद्भागवत* में शुकदेव गोस्वामी प्रत्यक्ष ब्रह्मा से प्राप्त ज्ञान को प्रस्तुत करते हैं, जिन्हें *आत्मभू:* कहा जाता है अर्थात् वे जो सर्वशक्तिमान भगवान् से जन्मे हों और उन्हीं से शिक्षित किए हुए हों।

वैदिक दिव्य ज्ञान का अवतरण सीधे भगवान् से होता है। भगवत्कृपा से ब्रह्माण्ड के प्रथम जीव ब्रह्माजी को ज्ञान प्राप्त हुआ; ब्रह्मा से नारद को और नारद से व्यास को ज्ञान मिला। शुकदेव गोस्वामी ने इस दिव्य ज्ञान को सीधे अपने पिता व्यासदेव से प्राप्त किया। इस प्रकार शिष्य-परम्परा से प्राप्त ज्ञान परिपूर्ण है। जब तक कोई शिष्य-परम्परा से ज्ञान प्राप्त नहीं करता तब तक वह पूर्ण रूप से गुरु नहीं बन सकता। दिव्य ज्ञान प्राप्त करने का यही रहस्य है। भले ही उपर्युक्त छहों ऋषि महान् चिन्तक हों, किन्तु चिन्तन द्वारा प्राप्त उनका ज्ञान पूर्ण नहीं है। दार्शनिक मत प्रस्तुत करने में कोई ज्ञानमार्गी चाहे कितना ही पूर्ण क्यों न हो ऐसा ज्ञान कभी भी पूर्ण नहीं होता, क्योंकि वह अपूर्ण मस्तिष्क (मन) की उपज होता है। ऐसे ऋषियों की भी शिष्य-परम्पराएँ होती हैं, किन्तु ये प्रामाणिक नहीं होतीं, क्योंकि वे स्वतन्त्र, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् नारायण से प्राप्त नहीं हैं। नारायण के अतिरिक्त कोई भी स्वतन्त्र नहीं हो सकता, अत: किसी का भी ज्ञान पूर्ण नहीं है, क्योंकि हर एक का ज्ञान चलायमान मन (मस्तिष्क) पर आश्रित है। मन पदार्थ है, अत: भौतिक चिन्तकों द्वारा प्रस्तुत ज्ञान कभी भी दिव्य और पूर्ण नहीं हो सकता। संसारी दार्शनिक स्वयं अपूर्ण होने के कारण अन्य दार्शनिकों से मतभेद रखता है और संसारी दार्शनिक का कोई अपना सिद्धान्त न होने से वह दार्शनिक कभी नहीं कहा जा सकता। महाराज परीक्षित जैसे बुद्धिमान पुरुष इन चिन्तकों को नहीं मानते, चाहे वे कितने ही बड़े क्यों न हों। वे तो केवल शुकदेव गोस्वामी जैसे अधिकारी से सुनते हैं, जो परम्परा-पद्धति के द्वारा श्रीभगवान् से अभिन्न होते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* में विशेष बल के साथ कहा गया है।

न मेऽसवः परायन्ति ब्रह्मन्ननशनादमी ।
पिबतोऽच्युत-पीयूषम् तद् वाक्याब्धि-विनिःसृतम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; मे—मेरा; असवः—प्राण; परायन्ति—निकल सकता है; ब्रह्मन्—हे विद्वान ब्राह्मण; अनशनात् अमी—अनशन (उपवास) के कारण; पिबतः—पीने के कारण; अच्युत—न गिरने वाले; पीयूषम्—अमृत; तत्—तुम्हारे; वाक्य-अब्धि—वाणी रूपी सिन्धु से; विनिःसृतम्—निकलने वाला।

हे विद्वान ब्राह्मण, अच्युत भगवान् की कथा के अमृत का, जो आपकी वाणी रूपी समुद्र से बह रहा है, मेरे द्वारा पान करने से मुझे उपवास रखने के कारण किसी प्रकार की कमजोरी नहीं लग रही।

तात्पर्य : ब्रह्मा, नारद, व्यास तथा शुकदेव गोस्वामी की शिष्य-परम्परा अन्यों से विशेष रूप से भिन्न है। अन्य मुनियों की शिष्य-परम्पराएँ समय की बरबादी जैसी हैं, क्योंकि वे अच्युत कथा से विहीन हैं। कारण तथा तर्क के द्वारा चिन्तक अपने-अपने सिद्धान्तों को अच्छी तरह से प्रस्तुत कर सकते हैं, किन्तु ये कारण तथा तर्क अचूक नहीं होते, क्योंकि उनसे उत्तम अन्य चिन्तकों द्वारा वे परास्त कर दिये जाते हैं। महाराज परीक्षित को चंचल मन के शुष्क चिन्तन के प्रति तनिक भी रुचि नहीं थी, वे तो भगवद्‌कथा में रुचि रखते थे, क्योंकि उन्हें लगा कि शुकदेव गोस्वामी के मुख से ऐसी अमृतकथा सुनने के कारण उन्हें कमजोरी का अनुभव नहीं हो रहा था, यद्यपि वे आसन्न मृत्यु के कारण अनशन कर रहे थे।

कोई चाहे तो ऐसे चिन्तकों को सुन सकता है, किन्तु दीर्घकाल तक ऐसा नहीं चल पाता। मनुष्य ऐसे घिसे-पिटे चिन्तन को सुनकर शीघ्र ही ऊब उठेगा और संसार का कोई भी व्यक्ति ऐसे व्यर्थ के चिन्तन को सुनकर तुष्टि नहीं पाता। शुकदेव गोस्वामी जैसे महापुरुष से भगवान् की कथा सुनते हुए कोई थकेगा नहीं, भले ही अन्य कारणों से वह क्षीण क्यों न हो चुका हो।

श्रीमद्‌भागवत के कुछ संस्करणों में इस श्लोक की अन्तिम पंक्ति का पाठ इस प्रकार है—*अन्यत्र कुपिताद् द्विजात्* जिसका अर्थ है कि राजा सर्पदंश के कारण सन्निकट मृत्यु के विचार से भाव-विह्वल हो सकता है। सर्प भी द्विजन्मा होता है और इसका क्रोध अज्ञानी ब्राह्मण बालक के शाप के तुल्य माना जाता है। महाराज परीक्षित मृत्यु से बिल्कुल भयभीत नहीं थे, क्योंकि उन्हें भगवत्कथा से पूर्ण रूप से प्रेरणा प्राप्त हो चुकी थी। जो अच्युत कथा में पूर्ण रूप से निमग्न रहता है, वह इस जगत में किसी से भयभीत नहीं हो सकता।

सूत उवाच

स उपामन्त्रितो राज्ञा कथायामिति सत्पतेः ।
ब्रह्मरातो भृशं प्रीतो विष्णुरातेन संसदि ॥ २७॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्रील सूत गोस्वामी ने कहा; सः—वह (शुकदेव गोस्वामी); उपामन्त्रितः—इस प्रकार पूछे जाने पर; राज्ञा—राजा द्वारा; कथायाम्—कथाओं में; इति—इस प्रकार; सत्-पतेः—सर्वोच्च सत्य की; ब्रह्म-रातः—शुकदेव गोस्वामी; भृशम्—अत्यधिक; प्रीतः—प्रसन्न; विष्णु-रातेन—महाराज परीक्षित द्वारा; संसदि—सभा में।

सूत गोस्वामी ने कहा—महाराज परीक्षित द्वारा भक्तों से संबंधित भगवान् श्रीकृष्ण की कथाएँ कहने के लिए आमन्त्रित किये जाने पर शुकदेव गोस्वामी अत्यधिक प्रसन्न हुए।

तात्पर्य : नियमानुसार *श्रीमद्भागवत* की चर्चा केवल भगवद्भक्तों के बीच ही की जा सकती है। जिस प्रकार *भगवद्गीता* की आधिकारिक व्याख्या श्रीकृष्ण तथा अर्जुन (क्रमश: भगवान् तथा भक्त) के बीच हुई उसी प्रकार *श्रीमद्भागवत,* जो *भगवद्गीता* का स्नातकोत्तर अध्ययन है, की व्याख्या शुकदेव गोस्वामी तथा महाराज परीक्षित जैसे विद्वानों तथा भक्तों के बीच हो सकती है। अन्यथा अमृत का वास्तविक स्वाद नहीं चखा जा सकता। शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित से प्रसन्न थे, क्योंकि वे भगवान् की कथाएँ सुनने से तनिक भी नहीं ऊबे थे, अपितु वे उन्हें रुचिपूर्वक अधिकाधिक सुनना चाह रहे थे। मूर्ख व्याख्याकार वृथा ही *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* में अपना हाथ लगाते हैं, जबकि इन विषयों तक उनकी पैठ नहीं है। अभक्तों को इन दोनों सर्वश्रेष्ठ वैदिक ग्रन्थों में दखल देने से कोई लाभ नहीं मिलेगा, अत: शंकराचार्य ने *श्रीमद्भागवत* का भाष्य करने में हाथ नहीं लगाया। श्रीपाद शंकराचार्य ने, अपने *भगवद्गीता* के भाष्य में, श्रीकृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु बाद में उन्होंने निर्विशेषवादी दृष्टि से टीका की है। किन्तु अपनी स्थिति से अवगत होते हुए उन्होंने *श्रीमद्भागवत* की टीका नहीं की।

श्रील शुकदेव गोस्वामी को श्रीकृष्ण का प्रश्रय प्राप्त था (देखें ब्रह्मवैवर्त पुराण) इसीलिए उन्हें ब्रह्मरात कहा गया है। श्रीमान् परीक्षित महाराज को *विष्णुरात* कहा जाता है, क्योंकि उन्हें भगवान् विष्णु का संरक्षण प्राप्त था। भगवद्भक्त के रूप में वे भगवान् द्वारा सदैव संरक्षित रहते हैं। इस सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट है कि *विष्णुरात* को और किसी से न सुनकर *ब्रह्मरात* से ही *श्रीमद्भागवत* सुननी चाहिए, क्योंकि अन्य लोग दिव्य ज्ञान को ठीक से प्रस्तुत नहीं करते और इस तरह मूल्यवान समय को नष्ट करते हैं।

प्राह भागवतं नाम पुराणं ब्रह्म-सम्मितम् ।
ब्रह्मणे भगवत्प्रोक्तं ब्रह्म-कल्प उपागते ॥ २८॥

शब्दार्थ

प्राह—कहा; भागवतम्—तत्त्वज्ञान; नाम—नामक; पुराणम्—उपवेद; ब्रह्म-सम्मितम्—वेदों के अनुकरण में; ब्रह्मणे—ब्रह्माजी से; भगवत्-प्रोक्तम्—भगवान् द्वारा कही गई; ब्रह्म-कल्पे—उस युग में जिसमें सर्वप्रथम ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई; उपागते—प्रारम्भ में ही।

उन्होंने महाराज परीक्षित के प्रश्नों का उत्तर देना यह कहकर प्रारम्भ किया कि इस तत्त्व ज्ञान को सर्वप्रथम स्वयं भगवान् ने ब्रह्मा से उनके जन्म के समय कहा। श्रीमद्भागवत उपवेद है और वेदों का ही अनुकरण करता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत तत्त्व*-ज्ञान (भगवान् का विज्ञान) है। इस महान् ज्ञान को न जानने के कारण निर्विशेषवादी सदैव भगवान् के सगुण रूप को ठीक से प्रस्तुत नहीं करते। *श्रीमद्भागवत* वेदों तथा तत्त्व-ज्ञान का ही अनुकरण है। इस ज्ञान को सीखने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह श्रील शुकदेव के प्रतिनिधि की शरण में जाय और महाराज परीक्षित के पदचिह्नों का अनुसरण करे। वह अज्ञानतावश इसकी व्याख्या का प्रयास करके भगवान् के चरणों के प्रति अपराध न करे। अभक्तों द्वारा हानिकारक ढंग से *श्रीमद्भागवत* की व्याख्या किये जाने से इसको समझने में काफी अराजकता उत्पन्न हुई है। जिज्ञासु को चाहिए कि यदि वह तत्त्व-ज्ञान जानने का इच्छुक हो तो वह इस ढंग से सतर्क रहे।

यद् यत् परीक्षिद्दषभः पाण्डूनामनुपृच्छति ।
आनुपूर्व्येण तत्सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

यत् यत्—जो जो; परीक्षित्—राजा; ऋषभः—श्रेष्ठ; पाण्डूनाम्—पाण्डुवंश में; अनुपृच्छति—पूछते जाते; आनुपूर्व्येण—आदि से अन्त तक; तत्—वह सब; सर्वम्—पूर्णतः; आख्यातुम्—वर्णन करने के लिए; उपचक्रमे—अपने आपको तैयार किया।

उन्होंने अपने आपको राजा परीक्षित द्वारा जो कुछ पूछा गया था उसका उत्तर देने के लिए तैयार किया। महाराज परीक्षित पाण्डुवंश में सर्वश्रेष्ठ थे, अतः वे उचित व्यक्ति से उचित प्रश्न पूछने में समर्थ हुए।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित ने बातों को यथारुप में जानने के लिए अनेक प्रश्न पूछे जिनमें से कुछ अत्यन्त उत्सुकतापूर्ण थे, किन्तु गुरु के लिए आवश्यक नहीं कि वह उसी क्रम में उत्तर दे जिस क्रम में शिष्य प्रश्न पूछे। किन्तु शुकदेव गोस्वामी ने, अनुभवी शिक्षक होने के नाते, सभी प्रश्नों का उत्तर क्रमबद्ध रीति से दिया, जिस रूप में उन्हें ये शिष्य-परम्परा से प्राप्त हुए थे। उन्होंने सभी प्रश्नों के उत्तर दिए, किसी को छोड़ा नहीं।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के द्वितीय स्कंध के अन्तर्गत ''राजा परीक्षित द्वारा पूछे गये प्रश्न'' नामक अष्टम अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter नौ

श्रीभगवान् के वचन का उद्धरण देते हुए प्रश्नों के उत्तर

श्री-शुक उवाच

आत्म-मायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः ।
न घटेतार्थ-सम्बन्धः स्वप्न-द्रष्टुरिवाञ्जसा ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; आत्म—भगवान्; मायाम्—शक्ति; ऋते—बिना; राजन्—हे राजा; परस्य—शुद्ध आत्मा का; अनुभव-आत्मनः—विशुद्ध रूप से चेतन का; न—कभी नहीं; घटेत—इस प्रकार घटित होता है; अर्थ—अभिप्राय; सम्बन्धः—भौतिक शरीर के साथ सम्बन्ध; स्वप्न—सपना; द्रष्टुः—देखने वाले का; इव—सदृश; अञ्जसा—पूर्णतः ।.

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे राजन्, जब तक मनुष्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शक्ति से प्रभावित नहीं होता तब तक भौतिक शरीर के साथ शुद्ध चेतना में शुद्ध आत्मा के सम्बन्ध कोई अर्थ नहीं होता। ऐसा सम्बन्ध स्वप्न देखने वाले द्वारा अपने ही शरीर को कार्य करते हुए देखने के समान है।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित के इस प्रश्न का कि भौतिक देह तथा मन से पृथक् होते हुए भी जीवात्मा ने किस प्रकार भौतिक जीवन प्रारम्भ किया, यहाँ पर सही-सही उत्तर दिया गया है। आत्मा जीवन के भौतिक बोध से पृथक् हैं, किन्तु भगवान् की बहिरंगा शक्ति, जिसे *आत्ममाया* कहते हैं, उसके द्वारा प्रभावित होने से वह ऐसे भौतिक बोध में लीन रहता है। इसकी व्याख्या प्रथम अध्याय में व्यासदेव द्वारा भगवान् के साक्षात्कार तथा उनकी बहिरंगा शक्ति के प्रसंग में पहले की जा चुकी है। बहिरंगा शक्ति का नियंत्रण भगवान् द्वारा होता है और जीवात्माएँ, भगवान् की इच्छा द्वारा, इस बहिरंगा शक्ति से नियंत्रित होती हैं। अत: अपनी शुद्ध अवस्था में यद्यपि जीवात्मा नितान्त सचेत रहता है, किन्तु भगवान् की बहिरंगा शक्ति द्वारा प्रभावित होने से वह भगवान् की इच्छा के अधीन रहता है। *भगवद्गीता* (१५.१५) में भी इस तथ्य की पुष्टि की गई है। भगवान् प्रत्येक जीवात्मा के हृदय में स्थित हैं और जीवात्मा की सारी चेतना तथा विस्मृति भगवान् द्वारा प्रभावित है।

अब जो दूसरा प्रश्न उठता है, वह यह है कि भगवान् जीवात्मा की चेतना तथा विस्मृति को इस

प्रकार क्यों प्रभावित करते हैं? इसका उत्तर यह है कि भगवान् की यह इच्छा है कि प्रत्येक जीवात्मा भगवान् के अंश रूप शुद्ध चेतना में रहे और भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगा रहे, क्योंकि वह स्वभावत: इसीलिए बना है। किन्तु जीवात्मा अंशत: स्वतन्त्र भी है, अत: वह भगवान् की सेवा करना नहीं भी चाह सकता और भगवान् की ही तरह स्वतन्त्र रहने का प्रयास कर सकता है। समस्त अभक्त जीवात्माएँ भगवान् के ही समान शक्तिमान बनना चाहती हैं, यद्यपि वे इस योग्य नहीं हैं। भगवान् की इच्छा से वे मोहग्रस्त रहती हैं, क्योंकि वे उनके समान बनना चाहती हैं। जैसे कोई व्यक्ति आवश्यक पात्रता के बिना राजा बनना चाहे, उसी प्रकार जब जीवात्मा स्वयं भगवान् बनना चाहता है, तो वह स्वप्नावस्था को प्राप्त होता है, जिसमें वह अपने को राजा मानता है। अत: जीवात्मा की पहली पापपूर्ण इच्छा है कि वह भगवान् बन जाय; फलस्वरूप भगवान् की इच्छा होती है कि जीवात्मा अपने वास्तविक जीवन को भूलकर स्वप्नलोक में विचरण करने लगे जहाँ वह अपने को भगवान् के तुल्य माने। बालक अपनी माता से चाँद लाने के लिए हठ करता है और माता उसका रोना बन्द कराने के लिए, उसे दर्पण दे देती है, जिससे वह चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को देख सके। अत: भगवान् अपने रोते बालक को भौतिक जगत रूपी प्रतिबिम्ब प्रदान करते हैं जिस पर कर्मी के रूप में वह निजत्व दिखाता है और ऊब कर इसका परित्याग करके ईश्वर के साथ एकाकार होना चाहता है। ये दोनों ही अवस्थाएँ स्वप्निल मोह हैं। इसे जानने के लिए इतिहास को खोजने की आवश्यकता नहीं कि जीवात्मा ने सबसे पहले कब ऐसी इच्छा की। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि ज्योंही उसने ऐसी इच्छा की, वह भगवान् के निर्देशन में माया के वशीभूत कर दिया गया। अत: भौतिक अवस्था में जीवात्मा झूठा स्वप्न देखता है कि यह ''मैं हूँ'' और यह ''मेरा है।'' बद्धजीव स्वप्नवश अपने भौतिक शरीर को ''मैं'' सोचता है अथवा अपने को झूठे ही भगवान् मानने लगता है और इस भौतिक शरीर से जो भी सम्बन्धित है, वह 'मेरा' है। इस तरह 'मैं' तथा 'मेरा' की भ्रान्त धारणा जन्म-जन्मान्तर तक केवल स्वप्न में ही बनी रहती है। जब तक जीवात्मा अपने को भगवान् का पराधीन अंश नहीं मानता तब तक जन्म-जन्मान्तर ऐसा ही बना रहता है।

किन्तु शुद्ध चेतना में ऐसा भ्रान्त धारणा युक्त स्वप्न नहीं रहता और जीवात्मा यह नहीं भूलता कि

वह कभी भगवान् नहीं बन सकता प्रत्युत वह तो दिव्य प्रेममय अवस्था में उनका शाश्वत सेवक है।

बहु-रूप इवाभाति मायया बहु-रूपया ।
रममाणो गुणेष्वस्या ममाहमिति मन्यते ॥ २ ॥

शब्दार्थ

बहु-रूपः—विविधरूप वाली; इव—मानो; आभाति—प्रकट होती है; मायया—बहिरंगा शक्ति के प्रभाव से; बहु-रूपया—विविध रूपों में; रममाणः—मानो रमण (भोग) कर रहा हो; गुणेषु—विभिन्न गुणों में; अस्याः—बहिरंगा शक्ति का; मम—मेरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; मन्यते—सोचता है।

मोहग्रस्त जीवात्मा भगवान् की बहिरंगा शक्ति के द्वारा प्रदत्त अनेक रूप धारण करता है। जब बद्ध जीवात्मा भौतिक प्रकृति के गुणों में रम जाता है, तो वह भूल से सोचने लगता है कि यह "मैं हूँ" और यह "मेरा" है।

तात्पर्य : जीवात्माओं के विभिन्न रूप भगवान् की मोहमयी बहिरंगा शक्ति द्वारा प्रदत्त विभिन्न प्रकार के वस्त्र हैं, जो जीवात्मा के द्वारा भोगे जाने वाले वांछित गुणों के अनुसार होते हैं। बहिरंगा भौतिक शक्ति तीन गुणों—सतो, रजो तथा तमो गुण—द्वारा प्रकट होती है। इस प्रकार प्रकृति में भी, जीवात्मा के लिए चुनाव करने की स्वतन्त्रता रहती है और उसके चुनाव के ही अनुसार बहिरंगा शक्ति उसे विभिन्न प्रकार के शरीर प्रदान करती है। इस तरह ९ लाख प्रकार के जल जीव, २० लाख वनस्पति जीव, ११ लाख कीड़े-मकोड़े तथा सरीसृप, १० लाख पक्षी, ३० लाख विभिन्न जंगली पशु तथा ४ लाख मनुष्य रूप पाये जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्माण्ड के समस्त लोकों में ८४,००,००० प्रकार के जीव (योनियाँ) पाये जाते हैं और जीवात्मा अपने भीतर विभिन्न गुणों में रमने वाले आत्मा के अनुसार अनेक देहान्तरों द्वारा घूमता रहता है। यहाँ तक कि एक ही शरीर में जीवात्मा बालपन से लड़कपन और लड़कपन से युवावस्था, फिर युवावस्था से बुढ़ापा और बुढ़ापे से अपने कर्म के अनुसार अन्य शरीर में परिवर्तित होता है। जीवात्मा अपनी निजी इच्छा से शरीर कल्पित करता है और बहिरंगा शक्ति उसे वह रूप प्रदान करती है, जिसका वह पूरी तरह से भोग कर सके। चीते की इच्छा अन्य पशु का रक्तपान करने की थी, अत: बहिरंगा शक्ति ने उसे सुविधासम्पन्न चीते का शरीर प्रदान किया जिससे वह अन्य पशुओं का रक्तपान कर सके। इस प्रकार जो जीवात्मा उच्च लोक में देवता का शरीर पाना चाहता है उसे ईश्वर की कृपा से वैसा शरीर मिल सकता है और यदि वह बुद्धिमान है, तो भगवान् के साहचर्य के लिए

आध्यात्मिक शरीर पाने की इच्छा कर सकता है और उसे वह प्राप्त हो जाता है। अत: जीवात्मा को जो थोड़ी बहुत स्वतन्त्रता प्राप्त है उसका उपयोग पूर्णरूपेण किया जा सकता है और ईश्वर इतने दयालु हैं कि वह मनुष्य को इच्छित शरीर प्रदान करते हैं। जीवात्मा की इच्छापूर्ति सुनहले पर्वत का स्वप्न देखने के समान है। मनुष्य जानता है कि पर्वत क्या है और वह यह भी जानता है कि स्वर्ण क्या होता है। किन्तु मात्र इच्छावश वह सुनहले पर्वत का सपना देखता है और जब सपना टूटता है, तो अपने सामने कुछ और ही पाता है। उसके समक्ष न तो सोना होता है, न पर्वत; सुनहले पर्वत की बात तो कोसों दूर रह जाती है।

भौतिक जगत में जीवात्माओं की विभिन्न स्थितियाँ विविध शारीरिक रूप में ''मैं'' तथा 'मेरा' भ्रान्त धारणाओं के कारण हैं। कर्मी इस जगत को 'मेरा' रूप में सोचता है और ज्ञानी सोचता है ''मैं'' ही सब कुछ हूँ। राजनीति, समाजविज्ञान, परोपकार, परार्थवाद आदि की सारी धारणा बद्धजीवों की इसी 'मैं' तथा 'मेरी' की भ्रान्त धारणा पर आधारित है, जो भौतिक जीवन के भोग की प्रबल इच्छा से जन्य है। समाजवाद, राष्ट्रवाद, पारिवारिक प्रेम आदि विभिन्न विचारधाराओं के अन्तर्गत शरीर और शरीर के जन्मस्थान से आत्मा का सम्बन्ध मानना जीवात्मा द्वारा असली स्वभाव के भूल जाने के कारण है। मोहग्रस्त जीवात्मा की यह सारी भ्रान्त धारणा शुकदेव गोस्वामी तथा महाराज परीक्षित की संगति करके ही दूर की जा सकती है, जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है।

यर्हि वाव महिम्नि स्वे परस्मिन् काल-माययोः ।
रमेत गत-सम्मोहस्त्यक्त्वोदास्ते तदोभयम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यर्हि—किसी समय; वाव—निश्चय ही; महिम्नि—महिमा में; स्वे—अपने आप का; परस्मिन्—परमेश्वर में; काल—समय; माययोः—भौतिक शक्ति (माया) का; रमेत—भोग करता है; गत-सम्मोहः—भ्रान्त धारणा (सम्मोह) से मुक्त होकर; त्यक्त्वा—त्याग कर; उदास्ते—पूर्णतः; तदा—तब; उभयम्—दोनों (मैं तथा मेरे की भ्रान्त धारणा)।

जैसे ही जीवात्मा अपनी स्वाभाविक महिमा में स्थित हो जाता है और काल तथा माया से गुणातीत हो जाता है, वैसे ही वह जीवन की दोनों भ्रान्त धारणाओं (मैं तथा मेरा) को त्याग देता है और शुद्ध आत्मस्वरूप में प्रकट हो जाता है।

तात्पर्य : 'मैं' तथा 'मेरा', जीवन के ये दो भाव दो श्रेणियों के मनुष्यों में प्रकट होते हैं। निम्न

अवस्था में 'मेरा' भाव प्रमुख रहता है और उच्चतर अवस्था में 'मैं' का भाव। पशुओं में 'मेरा' भाव कुत्तों तथा बिल्लियों तक में देखा जा सकता है, जो इसी 'मेरा' भाव की भ्रान्ति के अन्तर्गत परस्पर लड़ते रहते हैं। मानव जीवन की निम्न अवस्था में भी यही भाव, 'यह मेरा शरीर है', 'यह मेरा परिवार है', 'यह मेरी जाति है', 'यह मेरा राष्ट्र है', 'यह मेरा देश है' इत्यादि रूपों में उभरता है। चिन्तन की उच्च अवस्था में यही 'मेरा' की भ्रान्त धारणा''मैं हूँ'' अथवा ''मैं ही सब कुछ हूँ'' रूप में बदल जाती है। मनुष्यों की नाना श्रेणियाँ हैं, जो 'मैं' और 'मेरे' को विभिन्न रूपों में ग्रहण करती हैं। किन्तु 'मैं' की वास्तविक महत्ता का बोध तभी होता है जब मनुष्य की चेतना हो कि मैं ''भगवान् का शाश्वत दास हूँ''। यही शुद्ध चेतना है और सारा वैदिक साहित्य हमें जीवन के इसी भाव की शिक्षा देता है।

मैं भगवान् हूँ'' या ''मैं परब्रह्म हूँ'' की भ्रान्त धारणा 'मेरे' की धारणा से भी अधिक घातक है। यद्यपि वैदिक साहित्य में कहीं-कहीं ऐसे निर्देश हैं कि मनुष्य अपने को भगवान् के समरूप समझे, किन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं होता कि वह सभी प्रकार से भगवान् के ही समान हो जाता है। निस्सन्देह, अनेक बातों में जीवात्मा तथा भगवान् में एकरूपता है, किन्तु जीवात्मा अन्ततः भगवान् के अधीन होता है और स्वाभाविक दृष्टि से वह भगवान् की इन्द्रियों की तुष्टि के निमित्त बना है। इसीलिए भगवान् बद्धजीव को अपनी शरण में बुलाते हैं; यदि जीवात्माएँ परम इच्छा के अधीन न होतीं, तो उन्हें शरण में आने के लिए क्यों कहा जाता? यदि जीव सभी प्रकार से ईश्वर के समकक्ष होता, तो फिर वह माया के अधीन क्यों रखा गया है? हम इसकी व्याख्या कई बार कर चुके हैं कि भौतिक शक्ति (माया) भगवान् के द्वारा नियन्त्रित है। *भगवद्गीता* (९.१०) में माया के ऊपर भगवान् की नियामक शक्ति की पुष्टि की गई है। क्या कोई जीवात्मा जो अपने को परमेश्वर के समकक्ष मानता है, माया को वश में कर सकता है? मूर्ख 'मैं' जवाब देगा कि भविष्य में वह कर सकता है। यदि यह मान लिया जाय कि भविष्य में वह ऐसा कर सकेगा तो फिर वह अभी माया के वश में क्यों है? *भगवद्गीता* का कथन है कि परमेश्वर की शरण में जा करके मनुष्य माया के वश से मुक्त हो सकता है, किन्तु यदि वह समर्पण नहीं करता, तो फिर जीवात्मा माया से कभी भी पार नहीं पा सकता। अतः मनुष्य को चाहिए कि भक्ति के अभ्यास से अथवा भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में दृढ़ता से स्थित रहकर 'मैं' की भ्रान्ति

को त्यागे। बिना किसी काम-धंदे या नौकरी के गरीब मनुष्य जीवन में अनेक कष्ट भोगता रहता है, किन्तु सौभाग्यवश यदि उसे सरकारी नौकरी मिल जाती है, तो वह तुरन्त सुखी हो जाता है। सभी शक्तियों के नियामक भगवान् की श्रेष्ठता को अस्वीकार करने में कोई लाभ नहीं। किन्तु मनुष्य को चाहिए वह अपने को भगवान् का शाश्वत दास मानते हुए अपनी स्वाभाविक महिमा को प्राप्त करे। बद्धजीवन में जीवात्मा माया का दास रहता है, किन्तु मुक्त अवस्था में वह भगवान् का शुद्ध अकिंचन दास रहता है। भगवान् की सेवा करने के लिए आवश्यक है कि प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहा जाय। जब तक मनुष्य मनोरथों का दास है, वह ''मैं'' तथा 'मेरा' के रोग से पूर्ण रूप से मुक्त नहीं हो सकता।

परम सत्य माया की शक्ति के द्वारा दूषित नहीं होता, क्योंकि वही उस शक्ति का नियंता है। आपेक्षिक सत्य माया से आवृत हो सकते हैं किन्तु जब कोई परम सत्य का साक्षात्कार कर रहा होता है, तो सर्वोत्तम उद्देश्य की पूर्ति होती है, जिस तरह सूर्य को समक्ष देखने पर। सिर के ऊपर आकाश में सूर्य प्रकाश से पूर्ण रहता है, किन्तु जब वह दृश्य आकाश में नहीं दिखता तो अंधकार छा जाता है। इसी प्रकार जब मनुष्य परमेश्वर के समक्ष होता है, तो उसके सारे मोह नष्ट हो जाते हैं और जो उनके समक्ष नहीं होता वह माया के अन्धकार में रहता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.२६) में इस प्रकार हुई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

अत: मनुष्य को चाहिए कि निष्ठापूर्वक भगवान् का पूजन, भगवान् की महिमा का गायन, सुपात्र से (न कि पेशेवर मनुष्य से प्रत्युत किसी '*भागवत*' व्यक्ति से) *श्रीमद्भागवत* का श्रवण तथा शुद्ध भक्तों की संगति करके—इस प्रकार भक्तियोग के विज्ञान को गंभीरता से ग्रहण करे। उसे ''मैं'' या ''मेरा'' की भ्रान्तियों से गुमराह नहीं होना चाहिए। कर्मियों को ''मेरा'' भाव प्रिय है, तो ज्ञानियों को ''मैं'' भाव और ये दोनों ही माया के बन्धन से मुक्त होने के योग्य नहीं हैं। *श्रीमद्भागवत* तथा मुख्यत: भागवद्गीता ये दोनों मनुष्य को ''मैं'' तथा ''मेरा'' की भ्रान्ति से उबारने के लिए हैं और श्रील

व्यासदेव ने इन दोनों को पतित आत्माओं की मुक्ति के लिए ही लिखा है। जीवात्मा को ऐसी दिव्य स्थिति में रहना चाहिए जहाँ काल तथा माया का वश न चले। बद्धजीवन में जीवात्मा को भूत, वर्तमान तथा भविष्य काल के सपनों द्वारा प्रभावित होना पड़ता है। चिन्तक ज्ञान के अनुशीलन द्वारा तथा अहंकार को जीत करके भविष्य चिन्तन द्वारा वासुदेव या परमेश्वर बनकर काल पर विजय पाना चाहता है। किन्तु यह विधि परिपूर्ण नहीं है। सही विधि तो यह है कि भगवान् वासुदेव को हर प्रकार से परमेश्वर मान लिया जाय और ज्ञान के अनुशीलन की परम सिद्धि यह है कि भगवान् की शरण में जाया जाय, क्योंकि वे ही हर वस्तु के स्रोत हैं। केवल इसी भाव में ''मैं'' तथा ''मेरा'' की भ्रान्ति से छुटकारा मिल सकता है। *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* दोनों ही इसकी पुष्टि करते हैं। श्रील व्यासदेव ने अपने महान् ग्रन्थ *श्रीमद्भागवत* द्वारा मोहग्रस्त जीवात्माओं के लिए *आत्मतत्त्व* तथा भक्तियोग विधि में विशिष्ट योगदान किया है। बद्धजीव को चाहिए कि वह इस महान् ज्ञान का पूरा-पूरा लाभ उठाए।

आत्म-तत्त्व-विशुद्ध्यर्थं यदाह भगवानृतम् ।
ब्रह्मणे दर्शयन् रूपमव्यलीक-व्रतादृतः ॥ ४॥

शब्दार्थ

आत्म-तत्त्व—ईश्वर का ज्ञान अथवा जीवात्मा का ज्ञान; विशुद्धि—शुद्धीकरण; अर्थम्—लक्ष्य; यत्—जो; आह—कहा; भगवान्—भगवान् ने; ऋतम्—सचमुच; ब्रह्मणे—ब्रह्माजी को; दर्शयन्—दिखलाकर; रूपम्—नित्य रूप; अव्यलीक—निष्कपट भाव से; व्रत—संकल्प; आदृतः—पूजित।

हे राजन्, भगवान् ने ब्रह्माजी की भक्तियोग की निष्कपट तपस्या से अत्यन्त प्रसन्न होकर उनके समक्ष अपना शाश्वत दिव्य रूप प्रकट किया और बद्धजीव की शुद्धि के लिए यही परम लक्ष्य भी है।

तात्पर्य : *आत्म-तत्त्व* ईश्वर तथा जीवात्मा दोनों ही का विज्ञान है। परमेश्वर तथा जीवात्मा दोनों ही आत्मा कहलाते हैं। परमेश्वर परमात्मा कहलाते हैं और जीवात्मा *आत्मा, ब्रह्म* या *जीव* कहलाता है। परमात्मा तथा जीव भौतिक शक्ति (माया) से परे होने के कारण आत्मा कहलाते हैं। अत: शुकदेव गोस्वामी ने इस श्लोक की व्याख्या परमात्मा तथा जीवात्मा दोनों के सत्य की शुद्धि के उद्देश्य से की है। साधारणतया, लोगों की इन दोनों के बारे में बहुत सी मिथ्या धारणाएँ हैं। जीवात्मा की भ्रान्त धारणा भौतिक शरीर को शुद्ध आत्मा के रूप में पहचानना है और परमात्मा के बारे में भ्रान्त धारणा उसे

जीवात्मा के समकक्ष मानना है। किन्तु ये दोनों भ्रान्तियाँ *भक्तियोग* के एक ही प्रहार से ध्वस्त हो सकती हैं जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में सूर्य तथा सूर्य प्रकाश के नीचे का सारा लोक दिखाई पड़ने लगता है। अन्धकार में न तो कोई सूर्य को देख पाता है, न अपने आपको और न ही जगत को, किन्तु सूर्य के प्रकाश में वह सूर्य को, अपने आपको तथा अपने चारों ओर के जगत को देख सकता है। अत: श्रील शुकदेव गोस्वामी कहते हैं कि इन दोनों भ्रान्तियों को हटाने के लिए भगवान् ने ब्रह्मा के भक्तियोग के निष्कपट प्रण से प्रसन्न होकर उन्हें अपने शाश्वतरूप का दर्शन दिया। भक्तियोग के अतिरिक्त आत्म-तत्त्व को जानने की कोई भी विधि अन्तत: भ्रम सिद्ध होगी।

भगवद्‌गीता में भगवान् कहते हैं कि केवल भक्तियोग के द्वारा उन्हें पूर्ण रूप से जाना जा सकता है और तब आत्म-तत्त्व में प्रवेश सम्भव है। भक्तियोग सम्पन्न करने में ब्रह्माजी ने कठिन तपस्या की थी, अत: वे भगवान् के दिव्य रूप को देख पाये। उनका दिव्य रूप शत-प्रतिशत आध्यात्मिक है और शुद्ध भक्तियोग में समुचित तपस्या के बाद दिव्य दृष्टि से ही उनका दर्शन किया जा सकता है। ब्रह्मा के समक्ष जो रूप प्रकट हुआ था वह इस भौतिक संसार में हमारे द्वारा अनुभव किया जाने वाला रूप नहीं था। ब्रह्माजी ने उतनी कठिन तपस्या ऐसे भौतिक रूप के साक्षात्कार के लिए नहीं की थी। अत: महाराज परीक्षित द्वारा पूछे गये प्रश्न का उत्तर मिल जाता है। भगवान् सच्चिदानन्द स्वरूप अर्थात् शाश्वत ज्ञान से परिपूर्ण और आनन्द से परिपूर्ण हैं। किन्तु जीवात्मा का भौतिक रूप न तो सत् है, न चित् और न आनन्द ही। यही भगवान् के रूप तथा बद्धजीव के रूपों में अन्तर है। किन्तु बद्धजीव अपना चिदानन्द रूप भक्तियोग द्वारा भगवान् का दर्शन करके पुन: प्राप्त कर सकता है।

सारांश यह है कि अविद्या के कारण बद्धजीव अनेक प्रकार के नश्वर भौतिक रूपों में जकड़ा रहता है। किन्तु भगवान् के बद्धात्माओं जैसे नश्वर रूप नहीं होते। वे सदैव चिदानन्द रूप में रहते हैं; यही जीवात्मा तथा परमात्मा में अन्तर है। भक्तियोग के द्वारा इस अन्तर को समझा जा सकता है। तब भगवान् ने ब्रह्मा को चार मूल श्लोकों में *श्रीमद्‌भागवत* का सार कह सुनाया। इस प्रकार *श्रीमद्‌भागवत* चिन्तकों की सृष्टि नहीं है। *श्रीमद्‌भागवत* की ध्वनि दिव्य है और इसकी अनुगूँज वेदों के ही समान है। इस प्रकार *श्रीमद्‌भागवत* की कथा भगवान् तथा जीवात्मा दोनों के ज्ञानस्वरूप है। *श्रीमद्‌भागवत* का

नियमित पाठ करना या उसका श्रवण करना भी भक्तियोग की साधना है और *श्रीमद्भागवत* की संगति मात्र से बड़ी-से-बड़ी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। शुकदेव गोस्वामी तथा महाराज परीक्षित दोनों ने *श्रीमद्भागवत* के माध्यम से सिद्धि प्राप्त की।

स आदि-देवो जगतां परो गुरुः
स्वधिष्ण्यमास्थाय सिसृक्षयैक्षत ।
तां नाध्यगच्छद् दृशमत्र सम्मतां
प्रपञ्च-निर्माण-विधिर्यया भवेत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; आदि-देवः—प्रथम देवता; जगताम्—ब्रह्माण्ड का; परः—परम; गुरुः—गुरु; स्वधिष्ण्यम्—अपने कमल-आसन का; आस्थाय—स्त्रोत जानने के लिए; सिसृक्षया—सांसारिक व्यापार की सृष्टि करने के लिए; ऐक्षत—सोचने लगा; ताम्—उस विषय में; न—नहीं; अध्यगच्छत्—समझ सका; दृशम्—दिशा; अत्र—वहाँ; सम्मताम्—उचित राह; प्रपञ्च—भौतिक; निर्माण—रचना; विधिः—विधि, ढंग; यया—जितना कि; भवेत्—होना चाहिए।

प्रथम गुरु एवं ब्रह्माण्ड के सर्वश्रेष्ठ जीव होते हुए भी ब्रह्माजी अपने कमल आसन के स्त्रोत का पता न लगा सके और जब उन्होंने भौतिक जगत की सृष्टि करनी चाही तो वे यह भी न जान पाये कि किस दिशा से यह कार्य प्रारम्भ किया जाय, न ही ऐसी सृष्टि करने के लिए कोई विधि ही ढूँढ पाये।

तात्पर्य : यह श्लोक भगवान् के रूप तथा धाम की दिव्य प्रकृति की व्याख्या की प्रस्तावना है। *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में यह कहा जा चुका है कि परमेश्वर अपने धाम में वंचक शक्ति के सम्पर्क में आये बिना रहते हैं। अतः भगवान् का धाम कल्पना न होकर एक भिन्न दिव्य लोकों का क्षेत्र है, जिसे वैकुण्ठ कहते हैं। इस अध्याय में इसकी भी व्याख्या की जाएगी।

इस भौतिक आकाश से बहुत ऊपर परव्योम का ज्ञान तथा उसकी सारी सामग्री की जानकारी भक्तियोग के द्वारा सम्भव है। ब्रह्माजी ने भक्तियोग के बल पर ही सृष्टि करने की शक्ति प्राप्त की थी। सृष्टि करते समय ब्रह्माजी भ्रमित हो गये थे और वे अपनी स्थिति तक का पता नहीं लगा पा रहे थे, किन्तु उन्हें यह सारा ज्ञान भक्तियोग के द्वारा ही प्राप्त हो सका। भक्तियोग से ईश्वर को जाना जा सकता है और ईश्वर को सर्वोच्च मान कर शेष सब कुछ जाना जा सकता है। जो परमेश्वर को जानता है, वह सब कुछ जानता है। यही समस्त वेदों का कथन है। इस ब्रह्माण्ड के आदि गुरु ब्रह्मा को भी भगवान्

की कृपा से प्रकाश प्राप्त हुआ था; तो ऐसा और कौन होगा जो उनकी कृपा के बिना सब कुछ जान सके? जो हर एक विषय की पूर्ण जानकारी प्राप्त करना चाहता है उसे चाहिए कि भगवत्कृपा प्राप्त करे; इसके अलावा कोई दूसरा उपाय नहीं है। अपने निजी बल पर ज्ञान की खोज करने का प्रयास समय का अपव्यय होगा।

स चिन्तयन् द्व्यक्षरमेकदाम्भ-
स्युपाशृणोद् द्विर्गदितं वचो विभुः ।
स्पर्शेषु यत्षोडशमेकविंशं
निष्किञ्चनानां नृप यद् धनं विदुः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने; चिन्तयन्—सोचते हुए; द्वि—दो; अक्षरम्—अक्षर; एकदा—एक बार; अम्भसि—जल में; उपाशृणोत्—पास ही सुना; द्विः—दो बार; गदितम्—उच्चरित; वचः—शब्द; विभुः—महान्; स्पर्शेषु—स्पर्शाक्षिर; यत्—जो; षोडशम्—सोलहवाँ; एकविंशम्—तथा इक्कीसवाँ; निष्किञ्चनानाम्—संन्यासियों का; नृप—हे राजा; यत्—जो हैं; धनम्—सम्पत्ति; विदुः—जैसाकि ज्ञात है।.

इस प्रकार जब जल में स्थित ब्रह्माजी सोच रहे थे तब पास ही उन्होंने परस्पर जुड़े हुए दो शब्द दो बार सुने। इनमें से एक सोलहवाँ और दूसरा इक्कीसवाँ स्पर्श अक्षर था। ये दोनों मिलकर विरक्त जीवन की निधि बन गए।

तात्पर्य : संस्कृत भाषा में व्यञ्जन शब्दों के दो विभाग हैं—स्पर्श वर्ण तथा तालव्य वर्ण। क से लेकर म तक के अक्षर स्पर्श वर्ण कहलाते हैं और इस समूह का सोलहवाँ अक्षर त है, जबकि इक्कीसवाँ अक्षर प है। अतः जब वे दोनों मिल जाते हैं, तो *तप* शब्द अर्थात् तपस्या बनता है। यह तप ब्राह्मणों तथा तपस्वियों का सौंदर्य तथा धन है। *भागवत* दर्शन के अनुसार, प्रत्येक मनुष्य तप के निमित्त बना है और किसी निमित्त नहीं, क्योंकि एकमात्र तपस्या के द्वारा उसे आत्मबोध हो सकता है। मानव जीवन का धर्म इन्द्रियतृप्ति नहीं, अपितु आत्म-साक्षात्कार है। यह तप सृष्टि के आदि काल से ही चला आ रहा है और सर्वप्रथम परमगुरु ब्रह्माजी ने इसे ग्रहण किया था। तपस्या के ही द्वारा मनुष्य को मानव जीवन का लाभ प्राप्त हो सकता है, पशु जीवन की दिखलावटी सभ्यता से नहीं। पशु खाने, पीने तथा मजा उड़ाने द्वारा इन्द्रियतृप्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानता, किन्तु मनुष्य का जन्म तपस्या करके भगवान् के धाम वापस जाने के लिए हुआ है।

जब ब्रह्माजी की समझ में नहीं आ रहा था कि ब्रह्माण्ड की सृष्टि किस प्रकार की जाय तो वे कमल-आसन के स्रोत का तथा सृष्टि के साधन का पता लगाने के लिए जल के भीतर गये जहाँ उन्होंने तप शब्द की दो बार गूँज सुनी। तप के पथ को ग्रहण करना जिज्ञासु का मानो दूसरा जन्म हो। यहाँ पर *उपाश‍ृणोत्* शब्द अत्यन्त सार्थक है। यह उपनयन के समान है, अर्थात् तप के मार्ग पर शिष्य को गुरु के समीप लाने के समान है। अत: ब्रह्माजी को श्रीकृष्ण ने दीक्षा दी और इसकी पुष्टि स्वयं ब्रह्माजी ने अपनी कृति *ब्रह्म-संहिता* में की है। *ब्रह्म-संहिता* में प्रत्येक श्लोक में ब्रह्माजी ने *गोविन्दमादि-पुरुषं तमहं भजामि* स्तुति की है। इस तरह श्रीकृष्ण ने कृष्ण महामन्त्र द्वारा ब्रह्मा को दीक्षा दी जिससे विशाल ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने के पूर्व वे वैष्णव अर्थात् भगवान् के भक्त हो सके। *ब्रह्म-संहिता* में उल्लेख है कि ब्रह्माजी को अठारह अक्षर वाले कृष्ण मन्त्र में दीक्षित किया गया जिसे प्राय: कृष्ण के समस्त भक्त स्वीकार करते हैं। हम उसी सिद्धान्त का पालन करते हैं, क्योंकि हमारा ब्रह्म सम्प्रदाय से सम्बन्ध है, जो सीधे ब्रह्मा से नारद, नारद से व्यास, व्यास से मध्वमुनि, मध्वमुनि से माधवेन्द्र पुरी तथा माधवेन्द्र पुरी से ईश्वर पुरी, ईश्वर पुरी से भगवान् चैतन्य और क्रमश: हमारे गुरु भगवत्कृपामूर्ति भक्तिसिद्धान्त सरस्वती की शिष्य-परम्परा में है।

इस प्रकार जो मनुष्य शिष्य-परम्परा में दीक्षित होता है उसे वैसा ही फल या सृष्टि करने की शक्ति प्राप्त होती है। कामनारहित भगवद्भक्त के लिए इस पवित्र मन्त्र का जप ही एकमात्र आसरा है। केवल ऐसी तपस्या से भगवद्भक्त ब्रह्माजी के समान सारी सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है।

निशम्य तद्वक्तृ-दिदृक्षया दिशो
विलोक्य तत्रान्यदपश्यमानः ।
स्वधिष्ण्यमास्थाय विमृश्य तद्धितं
तपस्युपादिष्ट इवादधे मनः ॥ ७॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; तत्—उस; वक्तृ—वक्ता; दिदृक्षया—यह जानने के लिए कि कौन बोला; दिशः—सभी ओर; विलोक्य—देखकर; तत्र—वहाँ; अन्यत्—अन्य कोई; अपश्यमानः—न पाकर; स्वधिष्ण्यम्—अपने कमल आसन पर; आस्थाय—बैठ गये; विमृश्य—सोचकर; तत्—इसको; हितम्—कल्याण; तपसि—तपस्या में; उपादिष्टः—उसे जैसा आदेश मिला था; इव—के पालन में; आदधे—दिया; मनः—ध्यान।

जब उन्होंने वह ध्वनि सुनी तो वे ध्वनिकर्ता को चारों ओर ढूँढ़ने का प्रयत्न करने लगे।

किन्तु जब वे अपने अतिरिक्त किसी को न पा सके, तो उन्होंने कमल-आसन पर दृढ़तापूर्वक बैठ जाना और आदेशानुसार तपस्या करने में ध्यान देना ही श्रेयस्कर समझा।

तात्पर्य : जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए ब्रह्माजी के उदाहरण का अनुसरण करना चाहिए, क्योंकि वे सृष्टि के आदि-प्राणी हैं। परमेश्वर द्वारा तपस्या में दीक्षित किये जाने पर उन्होंने तपस्या करने का संकल्प किया और अपने चारों ओर अपने सिवा अन्य किसी को न पाकर वे ठीक ही समझ सके कि वह ध्वनि स्वयं भगवान् ने की थी। उस समय ब्रह्मा बिल्कुल अकेले थे, क्योंकि तब कोई सृष्टि नहीं हुई थी और न उनके अतिरिक्त वहाँ अन्य कोई था। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध के प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक में ब्रह्मा को श्रीभगवान् ने अन्तःकरण से ही दीक्षा दी थी। भगवान् प्रत्येक जीवात्मा के भीतर परमात्मा के रूप में स्थित हैं और उन्होंने ब्रह्मा को इसलिए दीक्षित किया क्योंकि वे दीक्षा लेने के लिए इच्छुक थे। इसी प्रकार जो भी दीक्षा लेने का इच्छुक हो उसे भगवान् दीक्षा दे सकते हैं।

जैसाकि बताया जा चुका है ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड के आदि गुरु हैं और चूँकि स्वयं भगवान् ने उन्हें दीक्षा दी थी अतः *श्रीमद्भागवत* की कथा शिष्य-परम्परा से चली आ रही है, इसीलिए *श्रीमद्भागवत* की वास्तविक कथा (संदेश) प्राप्त करने के लिए, मनुष्य को चाहिए कि शिष्य-परम्परा से चले आ रहे गुरु के पास जाए। फिर उस परम्परा में योग्य गुरु से दीक्षित होकर उसे भक्ति करने के लिए तपस्या में रत हो जाना चाहिए। किन्तु उसे अपने आपको ब्रह्मा के समान समझ कर सीधे भगवान् द्वारा अन्तःकरण से दीक्षा दिये जाने की बात नहीं सोचनी चाहिए, क्योंकि इस युग में कोई भी व्यक्ति ब्रह्मा के समान शुद्ध नहीं माना जा सकता। ब्रह्माण्ड-सृष्टि के लिए ब्रह्मा-पद का भार सर्वाधिक शुद्ध जीव को सौंपा जाता है और जब तक वह उतना ही योग्य न हो, उसे ब्रह्मा के समान नहीं माना जा सकता। किन्तु उसे वैसी ही सुविधाएँ भगवान् के शुद्ध भक्तों द्वारा, शास्त्रों के आदेशों द्वारा (जैसाकि विशेष रूप से *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* में प्रकट हैं) तथा प्रामाणिक गुरु द्वारा प्राप्त हो सकती हैं। जो मनुष्य हृदय से भगवान् की सेवा में निष्ठा रखता है, उसके समक्ष भगवान् स्वयं गुरु रूप में प्रकट होते हैं। अतः उस प्रामाणिक गुरु को, जो दैववश निष्ठावान शिष्य को प्राप्त होता है, भगवान् का सबसे

विश्वासपात्र तथा प्रिय प्रतिनिधि मानना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति ऐसे प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में रहता है, तो यह निस्सन्देह समझना चाहिए कि उसे भगवत्कृपा प्राप्त हो गई है।

दिव्यं सहस्राब्दममोघ-दर्शनो
जितानिलात्मा विजितोभयेन्द्रियः ।
अतप्यत स्माखिल-लोक-तापनं
तपस्तपीयांस्तपतां समाहितः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

दिव्यम्—स्वर्ग के देवताओं का; सहस्र—एक हजार; अब्दम्—वर्ष; अमोघ—निर्मल, निष्कलंक; दर्शनः—ऐसी जीवन-दृष्टि वाला; जित—नियंत्रित; अनिल—प्राण; आत्मा—मन; विजित—वशीकृत; उभय—दोनों; इन्द्रियः—इन्द्रियों वाला; अतप्यत—तपस्या की; स्म—भूतकाल में; अखिल—समस्त; लोक—ग्रह; तापनम्—प्रकाशनार्थ; तपः—तपस्या; तपीयान्—अत्यन्त कठिन तप; तपताम्—समस्त तपस्वियों का; समाहितः—इस प्रकार स्थित।

ब्रह्माजी ने देवताओं की गणना के अनुसार एक हजार वर्षों तक तपस्या की। उन्होंने आकाश से यह दिव्य अनुगूँज सुनी और इसे ईश्वरीय मान लिया। इस प्रकार उन्होंने अपनी इन्द्रियों तथा मन को वश में किया। उन्होंने जो तपस्या की, वह जीवात्माओं के लिए महान् शिक्षा बन गई। इस प्रकार ब्रह्मा जी तपस्वियों में महानतम माने जाते हैं।

तात्पर्य : ब्रह्माजी ने तप की रहस्यमय ध्वनि सुनी, किन्तु वे यह नहीं देख पाये कि इसको कौन उच्चरित कर रहा है। फिर भी उन्होंने इस आदेश को उपयोगी समझ कर स्वीकार कर लिया और वे एक हजार दिव्य वर्षों तक तपस्या करते रहे। एक दिव्य वर्ष हमारे ६×३०×१२×१००० वर्षों के तुल्य होता है। ध्वनि को स्वीकार करने का मूल कारण यह था कि उनमें भगवान् विषयक विशुद्ध दृष्टि थी और इस सही दृष्टि के कारण उन्होंने भगवान् तथा भगवान् के आदेश में कोई अन्तर नहीं माना। भले ही भगवान् स्वयं उपस्थित न हों, किन्तु उनमें तथा उनकी ध्वनि में कोई अन्तर नहीं होता। ईश्वर को जानने की सर्वोत्तम विधि यही है कि ऐसे ईश्वरीय आदेश को शिरोधार्य कर लिया जाय और ब्रह्मा, जो हर एक के आदि गुरु हैं, दिव्य ज्ञान प्राप्त करने की इस विधि के जीते-जागते उदाहरण हैं। दिव्य ध्वनि की शक्ति कभी क्षीण नहीं होती, क्योंकि ध्वनिकर्ता ओझल रहता है। अतः *श्रीमद्भागवत* या *भगवद्गीता* या संसार के किसी अन्य शास्त्र को कभी भी दिव्य शक्ति से विहीन सामान्य संसारी ध्वनि (वाणी) नहीं समझना चाहिए।

मनुष्य को इस दिव्य ध्वनि को उपयुक्त स्रोत से प्राप्त करके उसे सत्य मानकर बिना किसी हिचक के आदेश के तौर पर पालन करना होता है। सफलता का रहस्य यही है कि प्रामाणिक गुरु से अर्थात् उपयुक्त स्रोत से ध्वनि ग्रहण की जाय। संसारी कृत्रिम ध्वनि में शक्ति नहीं होती, अत: अप्रामाणिक व्यक्ति से प्राप्त तथाकथित दिव्य ध्वनि में कोई शक्ति नहीं होती। ऐसी दिव्य शक्ति को जान लेने की योग्यता होनी चाहिए और जिसे अपने विवेक से या कि भाग्य से गुरु द्वारा यह दिव्य ध्वनि प्राप्त हो सके, समझिये कि उसकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो गया। किन्तु शिष्य को गुरु के आदेश का पालन करने के लिए उद्यत रहना चाहिए जिस प्रकार ब्रह्माजी ने अपने प्रामाणिक गुरु साक्षात् भगवान् के आदेश का पालन किया था। शिष्य का एकमात्र कर्तव्य है कि वह प्रामाणिक गुरु का आदेश माने और प्रामाणिक गुरु के आदेश का पूर्ण श्रद्धा-सहित पालन करना ही सफलता का रहस्य है।

ब्रह्माजी ने अपनी दोनों प्रकार की इन्द्रियों—कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों—पर नियन्त्रण प्राप्त किया, क्योंकि इनका उपयोग भगवान् के आदेश पालन में करना था। अत: इन्द्रियों के नियन्त्रण का अर्थ है उन्हें भगवान् की दिव्य सेवा में लगाना। भगवान् का आदेश तो प्रामाणिक गुरु के माध्यम से शिष्य-परम्परा में अवतरित होता है, अत: प्रामाणिक गुरु के आदेश के पालन का अर्थ है इन्द्रियों को सचमुच नियन्त्रित करना। पूर्ण श्रद्धा तथा निष्ठा के साथ ऐसी तपस्या करके ब्रह्माजी इतने शक्तिसम्पन्न बन सके कि वे ब्रह्माण्ड के स्रष्टा हो गए। ऐसी शक्ति प्राप्त करने के कारण ही उन्हें तपस्वियों में सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है।

तस्मै स्व-लोकं भगवान् सभाजित:
सन्दर्शयामास परं न यत्परम् ।
व्यपेत-सङ्क्लेश-विमोह-साध्वसं
स्व-दृष्टवद्भिर्पुरुषैरभिष्टुतम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तस्मै—उसको; स्व-लोकम्—अपना धाम; भगवान्—भगवान् ने; सभाजित:—ब्रह्मा की तपस्या से प्रसन्न होकर; सन्दर्शयाम् आस—प्रकट किया; परम्—सर्वश्रेष्ठ; न—नहीं; यत्—जिसका; परम्—उससे भी श्रेष्ठ; व्यपेत—पूर्ण रूप से त्यक्त; सङ्क्लेश—पाँच प्रकार के भौतिक ताप; विमोह—बिना मोह; साध्वसम्—संसार का भय; स्व-दृष्ट-वद्भि:—जो स्वरूपसिद्ध हैं उनके द्वारा; पुरुषै:—पुरुषों द्वारा; अभिष्टुतम्—पूजित।

श्री भगवान् ने ब्रह्माजी की तपस्या से अत्यधिक प्रसन्न होकर उन्हें समस्त लोकों में श्रेष्ठ

अपने निजी धाम, वैकुण्ठ लोक, को दिखलाया। यह दिव्य लोक उन समस्त स्वरूपसिद्ध व्यक्तियों द्वारा पूजित है, जो समस्त प्रकार के क्लेशों तथा सांसारिक भय से सर्वथा मुक्त हैं।

तात्पर्य : ब्रह्माजी ने जो तप–कष्ट सहे, वे निश्चय ही भक्ति की श्रेणी में थे। अन्यथा ब्रह्मा को *स्वलोकम्* अर्थात् भगवान् का निजी धाम वैकुण्ठ लोक न दिखता। भगवान् का स्वलोक अर्थात् वैकुण्ठ न तो काल्पनिक है, न भौतिक जैसाकि निर्विशेषवादी सोचते हैं। किन्तु भगवान् के इन दिव्य धामों की प्राप्ति भक्ति द्वारा ही सम्भव है और इस प्रकार भक्त लोग ही इन धामों में प्रवेश करते हैं। निस्सन्देह, तप करना कष्टप्रद है, किन्तु भक्ति योग साधना में जो कष्ट सहे जाते हैं, वे आरम्भ से ही दिव्य आनन्द प्रदान करने वाले होते हैं, किन्तु आत्म–साक्षात्कार की अन्य विधियों (ज्ञान योग, ध्यान योग इत्यादि) में तप कष्टदायी होता है; उससे अन्ततः कष्ट ही मिलता है और वैकुण्ठ की प्राप्ति नहीं हो पाती। दानों से रहित भूसी को चबाने से क्या लाभ! इसी प्रकार आत्म–साक्षात्कार के लिए भक्तियोग के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की कष्टप्रद तपस्या करने से कोई लाभ नहीं है।

भक्तियोग साधना श्रीभगवान् के उदर से निकले कमल पर आसन जमाने के समान है, क्योंकि ब्रह्माजी उसी पर आसीन थे। ब्रह्माजी भगवान् को प्रसन्न कर सके और भगवान् ने भी प्रसन्न होकर उन्हें अपना धाम दिखलाया। श्रील जीव गोस्वामी ने *श्रीमद्भागवत* की क्रम–संदर्भ नामक अपनी टीका में गर्ग उपनिषद से वह उद्धरण दिया है, जिसमें कहा गया है कि याज्ञवल्क्य ने गार्गी से भगवान् के दिव्य लोक के विषय में वर्णन किया और बताया यह लोक ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोक ब्रह्मलोक के ऊपर स्थित है। भगवान् का यह धाम अल्पज्ञानियों के लिए गुत्थी बना रहता है, यद्यपि *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* जैसे ग्रंथों में इसका वर्णन हुआ है। यहाँ पर *स्वदृष्टवद्भिः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जो वास्तव में स्वरूपसिद्ध है, वही अपने दिव्य स्वरूप को समझ पाता है। स्व तथा परमेश्वर का निर्विशेष साक्षात्कार पूर्ण नहीं है, क्योंकि संसारी व्यक्तियों का यह विरोधी विचार है। भगवान् तथा भगवद्भक्त सभी दिव्य हैं। उनके कोई भौतिक शरीर नहीं होता। भौतिक शरीर में पाँच प्रकार के क्लेशों का आवरण रहता है ये हैं—अविद्या, भौतिक बोध, आसक्ति, घृणा तथा अवशोषण। जब तक मनुष्य इन पाँचों क्लेशों से घिरा रहता है, तब तक वैकुण्ठ लोक में उसके प्रविष्ट होने का प्रश्न ही नहीं उठता। स्व

की निर्विशेष विचारधारा भौतिक व्यक्तित्व का निषेध है और दिव्य स्वरूप के अस्तित्व से कोसों दूर है। अगले श्लोकों में दिव्य धाम के सगुण रूपों की व्याख्या की जाएगी। ब्रह्माजी ने भी सर्वोच्च लोक, वैकुण्ठ लोक, को गोलोक वृन्दावन कहा है जहाँ भगवान् गोप के रूप में दिव्य सुरभि गायों सहित सैकड़ों-हजारों लक्ष्मियों से घिरे हुए रहते हैं।

चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्षलक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्।
लक्ष्मीसहस्रशतसंभ्रमसेव्यमानं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

(*ब्रह्म-संहिता* ५.२९)

भगवद्‌गीता के इस कथन— *यद्‌गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम*—की भी पुष्टि होती है। परम का अर्थ है परब्रह्म। अतः भगवान् का धाम भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से अभिन्न है, ब्रह्म भी है। भगवान् वैकुण्ठ कहलाते हैं और उनका धाम भी वैकुण्ठ है। ऐसे वैकुण्ठ का साक्षात्कार तथा पूजा दिव्य रूप तथा इन्द्रिय द्वारा ही सम्भव है।

प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः
सत्त्वं च मिश्रं न च काल-विक्रमः ।
न यत्र माया किमुतापरे हरे-
रनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

प्रवर्तते—रहता है; यत्र—जहाँ पर; रजः तमः—रजो तथा तमोगुण; तयोः—उन दोनों का; सत्त्वम्—सतोगुण; च—तथा; मिश्रम्—मिश्रण; न—कभी नहीं; च—तथा; काल—समय; विक्रमः—प्रभाव; न—न तो; यत्र—जहाँ पर; माया—छलना, बहिरंगा शक्ति; किम्—क्या; उत—वहाँ है; अपरे—अन्य; हरेः—भगवान् के; अनुव्रताः—भक्त; यत्र—जहाँ पर; सुर—देवताओं; असुर—तथा असुरों द्वारा; अर्चिताः—पूजित।

भगवान् के उस स्वधाम में न तो रजोगुण और तमोगुण रहते हैं, न ही सतोगुण पर इनका कोई प्रभाव दिखता है। वहाँ पर काल को प्रधानता प्राप्त नहीं है। फिर बहिरंगा शक्ति (माया) का तो कहना ही क्या? इसका तो वहाँ प्रवेश भी नहीं हो सकता। देवता तथा असुर, बिना भेदभाव के, भक्तों के रूप में भगवान् की पूजा करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् का धाम या वैकुण्ठ लोक का वातावरण जिसे *त्रिपादविभूति* कहते हैं, भौतिक ब्रह्माण्डों की अपेक्षा तीन गुना विशाल है, जिसका वर्णन यहाँ पर तथा *भगवद्‌गीता* में संक्षेप में हुआ

है। यह ब्रह्माण्ड, अपने करोड़ों ग्रहों तथा नक्षत्रों सहित महत्-तत्त्व की परिधि में संपुंजित अरबों ब्रह्माण्डों में से एक है। ये समस्त ब्रह्माण्ड मिलकर भगवान् की सृष्टि के चुतर्थांश के तुल्य हैं। वहाँ दिव्य आकाश भी है, जिसके परे वैकुण्ठ नामक आध्यात्मिक लोक हैं और ये सब मिलकर शेष तीन-चौथाई भाग बनाते हैं। ईश्वर की सृष्टियाँ सदा अनन्त होती हैं। यहाँ तक कि एक वृक्ष की पत्तियों या मनुष्य के सिर के बालों की गणना कर पाना असम्भव है। फिर भी मूर्ख व्यक्ति ईश्वर बनने के विचार से फूले-फूले फिरते हैं, भले ही वे अपने शरीर का एक बाल भी न बना सकें। मनुष्य यात्रा करने के नाना प्रकार के यानों का भले ही आविष्कार कर ले और बहुप्रचारित अन्तरिक्षयान द्वारा चन्द्रमा पर पहुँच भी जाय, किन्तु वह वहाँ रह नहीं सकता। फलत: जो मनुष्य बुद्धिमान हैं, वे अपने को ब्रह्माण्ड का ईश्वर मानने का दम्म नहीं करते, वे सत्त्वज्ञान प्राप्त करने के सरलतम साधन वैदिक साहित्य के आदेशों का पालन करते हैं। अत: हमें चाहिए कि *श्रीमद्भागवत* से हम भौतिक आकाश से परे दिव्य जगत की प्रकृति तथा रचना के विषय में ज्ञान प्राप्त करें। उस आकाश में भौतिक गुणों, विशेष रूप से रजो तथा तमोगुण, का सर्वथा अभाव रहता है। तमोगुण के कारण जीवात्मा में काम तथा वासना की आदतें उत्पन्न होती हैं, जिसका अर्थ यह हुआ कि वैकुण्ठ लोक में जीवात्माएँ इन दोनों बातों से मुक्त हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है, मनुष्य ब्रह्मभूत अवस्था में वासना तथा शोक दोनों से मुक्त हो जाता है। अत: इससे निष्कर्ष यह निकला कि वैकुण्ठ लोक के निवासी ब्रह्मभूत जीवात्माएँ हैं, जबकि संसारी जीव वासना तथा शोक से पूर्ण रहते हैं। जब भौतिक जगत में कोई व्यक्ति रजोगुणी तथा तमोगुणी नहीं होता तो उसका यही अर्थ होता है कि वह सतोगुणी है। किन्तु भौतिक जगत में सतोगुण भी कभी-कभी रजो तथा तमोगुण से दूषित हो जाता है। वैकुण्ठ लोक में केवल अमिश्र सतोगुण पाया जाता है।

वहाँ की सारी परिस्थिति बहिरंगा शक्ति की मोहमय सृष्टि से मुक्त रहती है। यद्यपि माया भी परमेश्वर की अंशस्वरूप है, किन्तु वह परमेश्वर से भिन्न है, परन्तु वह मिथ्या (मृषा) नहीं है जैसाकि एकेश्वरवादी दार्शनिक मानते हैं। रस्सी को साँप समझना किसी व्यक्ति विशेष के लिए भ्रम हो सकता है, किन्तु रस्सी तो वास्तविकता है और सर्प भी वास्तविकता है। गर्म मरुस्थल में जल ढूँढ़ते हुए मूर्ख

पशु के लिए मृगतृष्णा भ्रम हो सकती है, किन्तु मरुस्थल तथा जल दोनों सत्य हैं। अत: अभक्त के लिए भले ही भगवान् की भौतिक सृष्टि भ्रम लगे, किन्तु भगवान् के भक्त के लिए वही सत्य है और वह भगवान् की बहिरंगा शक्ति का प्राकट्य है। किन्तु भगवान् की यह शक्ति ही सब कुछ नहीं है। भगवान् की एक अन्तरंगा शक्ति भी होती है, जिसकी एक अन्य सृष्टि होती है, जिसे वैकुण्ठ लोक कहते हैं जहाँ न अविद्या है, न वासना, न भ्रम और न भूत न वर्तमान। अल्पज्ञान के कारण मनुष्य वैकुण्ठ लोक जैसी इन वस्तुओं को भले ही न समझ पाए, किन्तु इससे उनका अस्तित्व समाप्त नहीं होता। यदि अन्तरिक्षयान ऐसे लोकों तक नहीं पहुँच पाते तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि ऐसे लोक हैं ही नहीं, क्योंकि हमारे शास्त्रों में इनका वर्णन मिलता है।

जैसाकि श्रील जीव गोस्वामी ने उद्धृत किया है, *नारद पंचरात्र* से हम जान सकते हैं कि दिव्य जगत अर्थात् वैकुण्ठ लोक दिव्यगुणों से युक्त है। ये दिव्यगुण जो भगवान् की भक्ति के माध्यम से प्रकाश में आते हैं सांसारिक रजो, तमो तथा सतो गुणों से सर्वथा भिन्न होते हैं। ऐसे गुण अभक्तों द्वारा प्राप्त नहीं किये जा सकते। *पद्म पुराण* के उत्तरखण्ड में कहा गया है कि भगवान् की एक चौथाई सृष्टि से परे शेष तीन चौथाई संसार है। भौतिक सृष्टि तथा आध्यात्मिक सृष्टि के बीच की विभाजक रेखा विरजा नदी है, जो भगवान् के शरीर के पसीने से निकली है। इसके परे ही शेष तीन चौथाई सृष्टि है। यह अंश शाश्वत, अमर, अक्षय तथा अनन्त है और इसमें जीवन की परम सिद्ध स्थिति विद्यमान रहती है। *सांख्य कौमुदी* में कहा गया है कि अमिश्रित सतोगुण अर्थात् सत्त्व अथवा दिव्यता भौतिक गुणों के सर्वथा विपरीत है। वहाँ की समस्त जीवात्माएँ अखंडित, शाश्वत रूप से परस्पर सम्बन्धित हैं और भगवान् प्रधान तथा सर्वोपरि सत्ता हैं। आगम पुराणों में भी दिव्य धाम का वर्णन इस प्रकार मिलता है—पार्षदों को भगवान् की सृष्टि में कहीं भी जाने की छूट है और ऐसी सृष्टि की कोई सीमा नहीं है, विशेष रूप से तीन-चौथाई क्षेत्र में असीम क्षेत्र होने के कारण। इस संयोग का न तो इतिहास है, न इसका कोई अन्त है।

यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वहाँ पर भौतिक रजो तथा तमो गुणों के सर्वथा अभाव के कारण, सृष्टि या प्रलय का प्रश्न ही नहीं उठता। भौतिक जगत में प्रत्येक वस्तु की सृष्टि होती है और

फिर उसका विनाश होता है और सृष्टि तथा विनाश की मध्यावधि क्षणिक है। दिव्यलोक में न तो सृष्टि होती है और न विनाश, फलतः जीवन की अवधि अनन्त होती है। दूसरे शब्दों में, दिव्यलोक की प्रत्येक वस्तु अमर है, वह ज्ञान तथा आनन्द से परि-पूर्ण है और अविनश्वर है। विनाश न होने से, कालानुमान हेतु, वहाँ पर न तो भूत है, न वर्तमान और न भविष्य। इस श्लोक में स्पष्ट उल्लेख है कि काल का प्रभाव उसकी अनुपस्थिति से प्रकट है। सारा संसार तत्त्वों के घात-प्रतिघात से प्रकट होता है, जिससे भूत, वर्तमान तथा भविष्य के रूप में समय का प्रभाव सुस्पष्ट दिखता है। किन्तु वहाँ पर कार्य-कारण के ऐसे घात-प्रतिघात नहीं होते, अतः जन्म-चक्र, वृद्धि, अस्तित्व, रूपान्तर, क्षय तथा प्रलय—ये छः भौतिक परिवर्तन नहीं पाये जाते। यह तो भगवान् की शक्ति का शुद्ध प्राकट्य है और इसमें कोई माया नहीं है जैसाकि इस भौतिक संसार में अनुभव होता है। वैकुण्ठ का समग्र अस्तित्व बताता है कि वहाँ का प्रत्येक जीव भगवान् का अनुचर है। वहाँ भगवान् ही मुख्य नेता हैं वहाँ नायकत्त्व के लिए कोई होड़ नहीं है और सारे लोग भगवान् के अनुगामी हैं। अतः वेदों में पुष्टि की गई है कि भगवान् ही प्रधान नायक हैं और शेष सारी जीवात्माएँ उनके अधीन हैं, क्योंकि ईश्वर ही इन सभी की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले हैं।

श्यामावदाताः शत-पत्र-लोचनाः
पिशङ्ग-वस्त्राः सुरुचः सुपेशसः ।
सर्वे चतुर्बाहव उन्मिषन्मणि--
प्रवेक-निष्काभरणाः सुवर्चसः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्याम—नीलवर्ण; अवदाताः—आभा से युक्त; शत-पत्र—कमल-पुष्प; लोचनाः—आँखें; पिशङ्ग—पीले रंग का; वस्त्राः—वस्त्र; सु-रुचः—अत्यन्त आकर्षक; सु-पेशसः—तरुण; सर्वे—सभी; चतुः—चार; बाहवः—बाहें, हाथ; उन्मिषन्—कान्तिमान्; मणि—मोती; प्रवेक—उत्त कोटि के; निष्क-आभरणाः—आलंकारिक आभूषण; सु-वर्चसः—तेजमय।

वैकुण्ठ लोक के वासियों को आभामय श्यामवर्ण का बताया गया है। उनकी आँखें कमल-पुष्प के समान, उनके वस्त्र पीलाभ रंग के और उनकी शारीरिक संरचना अत्यन्त आकर्षक है। वे उभरते हुए तरुणों की तरह हैं, उन सबके चार-चार हाथ हैं। वे मोती के हारों तथा अलंकृत पदकों से भली-भाँति विभूषित होकर अत्यन्त तेजवान् प्रतीत होते हैं।

तात्पर्य : वैकुण्ठ लोक के वासी दिव्य अंग प्रत्यंगों वाले ऐसे महापुरुष हैं, जो इस लोक में नहीं

पाये जाते। इनका वर्णन हमें *श्रीमद्भागवत* जैसे ग्रन्थों में ही मिलता है। इन ग्रन्थों में दिव्यता के जो निर्विशेष वर्णन प्राप्त होते हैं, वे यह इंगित करते हैं कि वैकुण्ठ लोक की सी शारीरिक रचना ब्रह्माण्ड में अन्यत्र कहीं नहीं देखी जाती है। जिस प्रकार किसी एक लोक के विभिन्न स्थानों में शारीरिक रचना पृथक्-पृथक् होती है या विभिन्न लोकों के प्राणियों के शरीरों की पृथक्-पृथक् रचना होती है, उसी प्रकार वैकुण्ठ लोक के वासियों की शारीरिक रचना भी भौतिक जगत के वासियों से सर्वथा भिन्न है। उदाहरणार्थ, वहाँ के चार हाथ इस संसार के दो हाथ से भिन्न हैं।

प्रवाल-वैदूर्य-मृणाल-वर्चसः ।
परिस्फुरत्कुण्डल-मौलि-मालिनः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

प्रवाल—मूँगा; वैदूर्य—विशेष मणि; मृणाल—स्वर्गिक कमल; वर्चसः—किरणें; परिस्फुरत्—फूल रही है; कुण्डल—कान के आभूषण; मौलि—सिर; मालिनः—हारों से युक्त।

उनमें से कुछ की आकृतियाँ मूँगे तथा हीरे की भाँति तेजस्वी हैं और वे अपने सिरों पर मालाएँ धारण किए हैं, जो कमल-पुष्प के समान खिली हुई हैं। कुछ ने कानों में कुण्डल पहन रखे हैं।

तात्पर्य : कुछ निवासी ऐसे हैं, जिन्हें सारूप्य मुक्ति प्राप्त है, अर्थात् उनके शारीरिक लक्षण श्रीभगवान् जैसे हैं। वैदूर्य मणि विशेषतः भगवान् के निमित्त है, किन्तु जिसे भगवान् का सारूप्य प्राप्त होता है, उसको ऐसा मणि धारण करने का विशेष सौभाग्य प्राप्त होता है।

भ्राजिष्णुभिर्यः परितो विराजते
लसद्विमानावलिभिर्महात्मनाम् ।
विद्योतमानः प्रमदोत्तमाद्युभिः
सविद्युदभ्रावलिभिर्यथा नभः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

भ्राजिष्णुभिः—आभा से; यः—वैकुण्ठ लोक; परितः—घिरा हुआ; विराजते—स्थित है; लसत्—तेजमान; विमान—विमान के; अवलिभिः—समूह से; महा-आत्मनाम्—भगवान् के महान् भक्तों का; विद्योतमानः—बिजली के समान सुन्दर; प्रमद—स्त्रियाँ; उत्तम—स्वर्गिक; अद्युभिः—मुखड़ों से; स-विद्युत्—बिजली सहित; अभ्रावलिभिः—आकाश में बादलों से; यथा—जिस प्रकार; नभः—आकाश।

सारे वैकुण्ठ लोक विभिन्न चमचमाते विमानों से भी घिरे हैं। ये विमान महात्माओं या

भगवद्‌भक्तों के हैं। स्त्रियाँ अपने स्वर्गिक मुखमण्डल के कारण बिजली के समान सुन्दर लगती हैं और ये सब मिलकर ऐसी प्रतीत होती हैं मानो बादलों तथा बिजली से आकाश सुशोभित हो।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि वैकुण्ठ लोकों में चमचमाते विमान रहते हैं जिनमें भगवान् के परमभक्त तथा बिजली के समान द्युतिमान नैसर्गिक सुन्दर स्त्रियाँ बैठी रहती हैं। विमानों जैसे तरह-तरह के अन्य वाहन भी होंगे, किन्तु वे सम्भवत: यन्त्रों द्वारा न चलाये जाते हों जैसाकि हमारा अनुभव इस संसार में हैं। चूँकि हर वस्तु *सच्चिदानन्दस्वरूप* है, अत: विमान तथा वाहन भी ब्रह्म के ही समान गुणों वाले होंगे। यद्यपि वहाँ ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, किन्तु इसका यह गलत अर्थ नहीं समझना चाहिए कि वहाँ केवल शून्य है और विविधता नहीं है। ऐसा सोचना ज्ञान के अभाव का द्योतक है, अन्यथा ब्रह्म में रिक्तता की ऐसी भ्रांति किसी को क्यों हो? जिस प्रकार वहाँ विमान, स्त्रियाँ तथा पुरुष हैं उसी तरह लोक विशेष के अनुरूप नगर, घर तथा अन्य वस्तुएँ भी होती होंगी। मनुष्य को इस जगत के आधार पर दिव्य जगत के सम्बन्ध में अपूर्णता का आरोप नहीं करना चाहिए और वायुमण्डल (आकाश) को काल के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं समझना चाहिए, जैसाकि पहले कहा जा चुका है।

श्रीर्यत्र रूपिण्युरुगाय-पादयो:
करोति मानं बहुधा विभूतिभि: ।
प्रेङ्खं श्रिता या कुसुमाकरानुगै-
र्विगीयमाना प्रिय-कर्म गायती ॥ १४॥

शब्दार्थ

श्री:—लक्ष्मी जी; यत्र—वैकुण्ठ लोक में; रूपिणी—अपने दिव्य रूप में; उरुगाय—भगवान्, जिनकी स्तुति बड़े-बड़े भक्त करते हैं; पादयो:—भगवान् के चरणकमलों में; करोति—करती है; मानम्—सादर सेवा; बहुधा—विविध सामग्री से; विभूतिभि:—अपने पार्षदों के सहित; प्रेङ्खम्—प्रसन्नता से संचलन (थिरकन); श्रिता—शरणागत; या—जो; कुसुमाकर—वसन्त; अनुगै:—भौरों से; विगीयमाना—गुण-गान करते हुए; प्रिय-कर्म—अपने प्रियतम के कार्यकलापों; गायती—गाती हुई।

दिव्य रूपधारी लक्ष्मीजी भगवान् के चरणकमलों की प्रेमपूर्ण सेवा में लगी हुई हैं और वसन्त के अनुचर भौरों के द्वारा विचलित होकर, वे न केवल विविध विलास—अपनी सहेलियों सहित भगवान् की सेवा—में तत्पर हैं, अपितु भगवान् की लीलाओं का गुणगान भी कर रही हैं।

ददर्श तत्राखिल-सात्वतां पतिं
श्रियः पतिं यज्ञ-पतिं जगत्पतिम् ।
सुनन्द-नन्द-प्रबलार्हणादिभिः
स्व-पार्षदाग्रैः परिसेवितं विभुम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

ददर्श—ब्रह्मा ने देखा; तत्र—वहाँ (वैकुण्ठ लोक में); अखिल—सम्पूर्ण; सात्वताम्—परम भक्तों के; पतिम्—स्वामी; श्रियः—लक्ष्मी के; पतिम्—स्वामी; यज्ञ—यज्ञ के; पतिम्—स्वामी; जगत्—ब्रह्माण्ड के; पतिम्—स्वामी; सुनन्द—सुनन्द; नन्द—नन्द; प्रबल—प्रबल; अर्हण—अर्हण; आदिभिः—आदि से; स्व-पार्षद—अपने संगी; अग्रैः—अग्रणी; परिसेवितम्—दिव्य प्रेम में सेवित; विभुम्—परम शक्तिमान।

ब्रह्माजी ने वैकुण्ठ लोक में उन श्रीभगवान् को देखा जो सारे भक्त समुदाय के स्वामी, लक्ष्मीजी के पति, समस्त यज्ञों के स्वामी तथा ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं और जो नन्द, सुनन्द, प्रबल तथा अर्हण आदि अपने अग्रणी पार्षदों द्वारा सेवित हैं।

तात्पर्य : जब हम राजा की बात करते हैं, तो इससे यही समझा जाता है कि राजा के साथ उनके विश्वासपात्र पार्षद—यथा उनका सचिव, निजी सचिव, मन्त्री, सलाहकार रहते हैं। इसी प्रकार जब हम भगवान् का दर्शन करते हैं, तो उनके साथ उनकी विभिन्न शक्तियाँ, पार्षद, विश्वासपात्र सेवक आदि भी देखते हैं। अतः परमेश्वर जो समस्त जीवों, समस्त भक्त सम्प्रदायों, ऐश्वर्यों, यज्ञों का स्वामी हैं और अपनी सारी सृष्टि की प्रत्येक वस्तु का भोक्ता हैं, न केवल परम पुरुष हैं वरन् अपनी दिव्य सेवा करने वाले पार्षदों से निरन्तर घिरे रहते है।

भृत्य-प्रसादाभिमुखं दृगासवं
प्रसन्न-हासारुण-लोचनाननम् ।
किरीटिनं कुण्डलिनं चतुर्भुजं
पीतांशुकं वक्षसि लक्षितं श्रिया ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

भृत्य—दास; प्रसाद—स्नेह; अभिमुखम् दृक्—दृष्टि; आसवम्—मादक पदार्थ; प्रसन्न—अत्यन्त प्रसन्न; हास—हँसी; अरुण—लाल; लोचन—नेत्र; आननम्—मुख; किरीटिनम्—मुकुटयुक्त; कुण्डलिनम्—कुण्डलों सहित; चतुः-भुजम्—चारों हाथों से युक्त; पीत—पीला; अंशुकम्—वस्त्र; वक्षसि—छाती पर; लक्षितम्—अंकित; श्रिया—लक्ष्मी से।

अपने प्रिय दासों की ओर कृपा दृष्टि डालते हुए, मादक तथा आकर्षक दृष्टि वाले भगवान् अत्यधिक तुष्ट लगे। उनका मुस्काता मुख मोहक लाल रंग से सुशोभित था। वे पीले वस्त्र पहने थे और कानों में कुण्डल तथा सिर में मुकुट धारण किये हुए थे। उनके चार हाथ थे और उनका

वक्षस्थल लक्ष्मीजी की रेखाकृतियों से चिह्नित था।

तात्पर्य : *पद्म पुराण* के उत्तर खंड में योगपीठ का अर्थात् उस स्थान का जहाँ भगवान् अपने नित्य भक्तों को दर्शन देते हैं, पूर्ण विवरण दिया हुआ है। उस योगपीठ में साक्षात् धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य तथा त्याग भगवान् के चरणकमलों पर आसीन हैं। वहाँ पर ऋक्, साम, यजु: तथा अथर्व—ये चारों वेद भगवान् को सलाह देने के लिए उपस्थित हैं। चण्ड आदि सोलहों शक्तियाँ वहाँ विद्यमान हैं। चण्ड तथा कुमुद प्रथम दो द्वारपाल हैं; बीच के द्वार पर भद्र तथा सुभद्र और अन्तिम द्वार पर जय तथा विजय हैं। कुमुद, कुमुदाक्ष, पुण्डरीक, वामन, शंकुकर्ण, सर्वनेत्र, सुमुख आदि अन्य द्वारपाल भी हैं। भगवान् का महल अच्छी तरह सजा हुआ तथा उपर्युक्त द्वारपालों द्वारा रक्षित है।

अध्यर्हणीयासनमास्थितं परं
वृतं चतु:-षोडश-पञ्च-शक्तिभि: ।
युक्तं भगै: स्वैरितरत्र चाध्रुवै:
स्व एव धामन् रममाणमीश्वरम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

अध्यर्हणीय—अत्यन्त पूज्य; आसनम्—सिंहासन पर; आस्थितम्—बैठे हुए; परम्—परमेश्वर; वृतम्—घिरे हुए; चतु:—चार: प्रकृति, पुरुष, महत् तथा अहंकार; षोडश—सोलह; पञ्च—पाँच; शक्तिभि:—शक्तियों से; युक्तम्—युक्त; भगै:—ऐश्वर्य से; स्वै:—अपने; इतरत्र—अन्य छोटे-छोटे पराक्रम; च—भी; अध्रुवै:—क्षणिक; स्वे—अपने; एव—निश्चय ही; धामन्—धाम; रममाणम्—रमण करते हुए; ईश्वरम्—परमेश्वर।

भगवान् अपने सिंहासन पर विराजमान थे और विभिन्न शक्तियों से—यथा चार, सोलह, पाँच तथा छ: प्राकृतिक ऐश्वर्यों के साथ अन्य छोटी एवं क्षणिक शक्तियों से घिरे हुए थे। किन्तु वे वास्तविक परमेश्वर थे और अपने धाम में आनन्द ले रहे थे।

तात्पर्य : भगवान् अपने छ: ऐश्वर्यों से युक्त होते हैं। विशेषत: वे सबसे धनी, सर्वशक्तिमान, सर्वाधिक प्रसिद्ध, सर्वाधिक सुन्दर, सर्वाधिक ज्ञानी तथा सबसे बड़े त्यागी होते हैं और उनकी चार भौतिक सर्जनात्मक शक्तियों के लिए प्रकृति, पुरुष, महत् तत्त्व के सिद्धान्त तथा अहंकार तो उनकी सेवा करते हैं। उनकी सेवा सोलह तत्त्व भी करते हैं—पाँच तत्त्व (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर), पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (नाक, कान, आँख, जीभ तथा त्वचा) तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ (हाथ, पाँव, पेट, मल-त्याग इन्द्रियां मूत्र तथा जननेन्द्रियाँ) तथा मन। पाँच के अन्तर्गत रूप, स्वाद, गंध, शब्द तथा स्पर्श

नामक पाँच तन्मात्राएँ आती हैं। ये पच्चीस शक्तियाँ सृष्टि करते समय भगवान् की सहायक बनती हैं और भगवान् की सेवा में प्रत्यक्ष रूप में लगी रहती हैं। लघु ऐश्वर्यों की संख्या आठ है (अस्थायी प्रभुत्व के लिए योगियों द्वारा प्राप्त की गई अष्ट सिद्धियाँ) और ये भी उनके वश में रहते हैं, किन्तु बिना प्रयास के इन समस्त शक्तियों से स्वाभाविक रुप से पूर्ण रहते हैं और इस कारण ही वे परमेश्वर हैं।

जीव कठिन तप तथा शारीरिक आसनों के द्वारा अस्थाई रुप से विलक्षण शक्ति प्राप्त कर सकता है, किन्तु इतने से वह परमेश्वर नहीं बन जाता। परमेश्वर अपनी शक्ति से ही किसी भी योगी से कहीं अधिक शक्तिमान है, किसी भी ज्ञानी की अपेक्षा अधिक ज्ञानवान, किसी भी धनी की तुलना में अत्यन्त धनवान, किसी भी सुन्दर जीव की अपेक्षा अनन्त रूपवान तथा किसी भी उपकारी की अपेक्षा अधिक दानी है। वे सर्वोपरि हैं; कोई न तो उनके समान है, न उनसे बढ़कर। कोई कितना ही तप या योगिक प्रदर्शन क्यों न करे, उपर्युक्त किन्हीं भी शक्तियों में उनकी समता नहीं कर सकता। योगी उनकी कृपा पर आश्रित रहते हैं। अपनी असीम दानशीलता के कारण वे शक्ति के पीछे दौड़ने वाले योगियों को कुछ अस्थायी शक्तियाँ प्रदान कर सकते हैं, किन्तु अपने शुद्ध भक्तों को, जो भगवान् से उनकी दिव्य सेवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहते, वे प्रसन्न होकर शुद्ध सेवा के बदले में अपने आपको दे डालते हैं।

तद्दर्शनाह्लाद-परिप्लुतान्तरो
हृष्यत्तनुः प्रेम-भराश्रु-लोचनः ।
ननाम पादाम्बुजमस्य विश्व-सृग्
यत् पारमहंस्येन पथाधिगम्यते ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तत्—भगवान् के उस; दर्शन—दर्शन से; आह्लाद—प्रसन्नता; परिप्लुत—लबालब भरा हुआ, आप्लावित; अन्तरः—हृदय के भीतर; हृष्यत्—पुलकित; तनुः—शरीर; प्रेम-भर—पूर्ण दिव्य प्रेम में; अश्रु—आँसू; लोचनः—आँखों में; ननाम—नतमस्तक हुआ; पाद-अम्बुजम्—चरणकमलों पर; अस्य—भगवान् के; विश्व-सृक्—ब्रह्माण्ड का स्त्रष्टा; यत्—जो; पारमहंस्येन—परम मुक्त पुरुष द्वारा; पथा—पथ; अधिगम्यते—अनुसरण किया जाता है।.

इस तरह भगवान् को उनके पूर्ण रूप में देखकर ब्रह्माजी का हृदय आनन्द से आप्लावित हो उठा और दिव्य प्रेम तथा आनन्द से उनके नेत्रों में प्रेमाश्रु आ गये। वे भगवान् के समक्ष नतमस्तक हो गये। जीव (परमहंस) के लिए परम सिद्धि की यही विधि है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है कि यह महान् ग्रंथ परमहंसों के लिए है। *परमो निर्मत्सराणां सताम्— श्रीमद्भागवत* ईर्ष्या से पूर्णत: मुक्त पुरुषों के हेतु है। बद्ध जीवन में ईर्ष्या सबसे ऊपर से अर्थात् श्रीभगवान् के विरुद्ध ईर्ष्या रखने से शुरू होती है। सभी शास्त्र भगवान् की सत्ता को मानते हैं और *भगवद्गीता* में तो परमेश्वर के सगुण रूप का विशेष वर्णन हुआ है। यहाँ तक कि इस ग्रंथ के अन्त में इस बात पर बल दिया गया है कि जीवन के क्लेशों से बचने के लिए मनुष्य को भगवान् की शरण में जाना चाहिए। दुर्भाग्यवश अपवित्र पृष्ठभूमि वाले व्यक्ति ईश्वर में विश्वास नहीं करते और हर व्यक्ति बिना किसी योग्यता के ईश्वर बनना चाहता है। बद्धजीवों का यह ईर्ष्यालु स्वभाव ईश्वर के साथ तदाकार होने की अवस्था तक बना रहता है, अत: बड़े से बड़ा दार्शनिक भी जो ईश्वर के साथ तादात्म्य चाहता है अपने ईर्ष्यालु मन के कारण कभी भी परमहंस नहीं बन सकता। अत: जो लोग भक्तियोग में रत हैं केवल वे ही जीवन की परमहंस अवस्था को प्राप्त होते हैं। यदि मनुष्य का यह दृढ़ विश्वास हो जाय कि दिव्य प्रेम में भगवान् की भक्ति करने मात्र से वह परम सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो सकता है, तो बस वहीं से भक्तियोग की शुरुआत हो जाती है। ब्रह्माजी को इस भक्तियोग की कला पर विश्वास था उन्होंने भगवान् द्वारा तप करने के आदेश पर विश्वास किया और कठिन तप के द्वारा वैकुण्ठ लोक तथा भगवान् के दर्शन प्राप्त करने में सफलता पाई। कोई भी मनुष्य मन या मशीन के साधनों द्वारा परमेश्वर के धाम तक नहीं पहुँच सकता। केवल भक्तियोग के बल पर वह वैकुण्ठ लोक को जा सकता है, क्योंकि भगवान् का साक्षात्कार भक्तियोग के द्वारा ही किया जा सकता है। ब्रह्माजी अपने कमल-आसन पर विराजमान थे और वे वहीं से अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक भक्तियोग की साधना द्वारा चित्र-विचित्र वैकुण्ठ लोक को भगवान् तथा उनके पार्षदों सहित देख सके।

ब्रह्माजी के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए आज भी कोई व्यक्ति यहाँ पर बताये परमहंस के पथ पर चलकर वैसी ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी इस युग में मनुष्यों के लिए आत्म-साक्षात्कार की इस विधि की संस्तुति की है। सर्वप्रथम मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् श्रीकृष्ण में पूर्ण विश्वास करे। चिन्तन द्वारा समझने करने का कोई प्रयत्न न करे, पहले *श्रीमद्भगवद्गीता* से उनके विषय में सुने और फिर *श्रीमद्भागवत* से सुने। ऐसे उपदेशों को वह

भागवत व्यक्ति से सुने, पेशेवर कथावाचक या किसी कर्मी, ज्ञानी या योगी से नहीं। ज्ञान प्राप्त करने का यही रहस्य है। मनुष्य को संन्यासी बनना आवश्यक नहीं है; वह अपनी वर्तमान अवस्था में बना रह सकता है, किन्तु उसे भगवद्भक्त की संगति ढूँढ़नी चाहिए और श्रद्धा तथा विश्वास के साथ उससे भगवान् की दिव्य कथा सुननी चाहिए। यहाँ पर संस्तुत परमहंस का पथ यही है। भगवान् के अनेक पवित्र नामों में से 'अजित' भी एक नाम है, जिसका अर्थ है किसी दूसरे के द्वारा कभी न जीता जाने वाला। फिर भी उन्हें परमहंस पथ से जीता जा सकता है जैसाकि परम गुरु ब्रह्मा ने करके दिखाया है। ब्रह्मा ने स्वयं इस *परमहंस पन्था:* को *श्रीमद्भागवत* (१०.१४.३) में अपने शब्दों में इस प्रकार बताया है—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीय वार्ताम्।
स्थाने स्थिता: श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये
प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥

ब्रह्माजी ने कहा, "हे भगवान् श्रीकृष्ण! जो भक्त परमात्मा के अस्तित्व में मिल जाने के उद्देश्य से चिन्तन मार्ग को त्याग कर प्रामाणिक साधु या संत से आपकी महिमा तथा लीलाओं का श्रवण करता है और अपने सामाजिक जीवन में वृत्तिपरक कर्तव्य का पालन करता हुआ निष्कपट जीवन व्यतीत करता है, वह आपकी कृपा तथा दया को जीत सकता है, यद्यपि आप अजित हैं।" यही परमहंसों का पथ है, जिसका अनुसरण स्वयं ब्रह्माजी ने किया और बाद में सफलता प्राप्त करने के लिए औरों के लिए इसीकी संस्तुति की।

तं प्रीयमाणं समुपस्थितं कविं
प्रजा-विसर्गे निज-शासनार्हणम् ।
बभाष ईषत्स्मित-शोचिषा गिरा
प्रिय: प्रियं प्रीत-मना: करे स्पृशन् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तम्—ब्रह्माजी को; **प्रीयमाणम्**—प्रिय पात्र; **समुपस्थितम्**—सामने उपस्थित; **कविम्**—महान् विद्वान; **प्रजा**—जीवात्माओं की; **विसर्गे**—सृष्टि के कार्य में; **निज**—अपना; **शासन**—नियन्त्रण; **अर्हणम्**—उपयुक्त; **बभाषे**—सम्बोधित किया; **ईषत्**—मन्द;

स्मित—हँसते हुए; **शोचिषा**—उत्साहवर्धक; **गिरा**—वाणी; **प्रियः**—प्रिय; **प्रियम्**—प्रेमी को; **प्रीत-मनाः**—अत्यन्त प्रसन्न होकर; **करे**—हाथ से; **स्पृशन्**—छूते हुए।

भगवान् ने ब्रह्माजी को अपने समक्ष देखकर उन्हें जीवों की सृष्टि करने तथा जीवों को अपनी इच्छानुसार नियन्त्रित करने के लिए उपुयक्त (पात्र) समझा। इस प्रकार प्रसन्न होकर भगवान् ने ब्रह्मा से मंद-मंद हँसते हुए हाथ मिलाया और उन्हें इस प्रकार से सम्बोधित किया।

तात्पर्य : जगत की सृष्टि न तो निरुद्देश्य हुई है न आकस्मिक। इस तरह नित्यबद्ध जीवात्माओं को भगवान् द्वारा ब्रह्माजी जैसे अपने ही प्रतिनिधि के मार्ग-दर्शन में मुक्ति के लिए अवसर प्रदान किया जाता है। ब्रह्माजी को वैदिक ज्ञान का उपदेश देते हैं जिससे इस ज्ञान का प्रसार बद्धजीवों तक हो सके। बद्धजीव भगवान् से अपने सम्बन्ध को भूलते रहते हैं, अतः भगवान् के लिए आवश्यक है कि वे सृष्टि करें और वैदिक ज्ञान का प्रसार करें। बद्धजीवों के उद्धार का महान् उत्तरदायित्व ब्रह्माजी पर है, इसीलिए वे भगवान् को अत्यन्त प्रिय हैं।

ब्रह्माजी भी अपने कर्तव्य को भलीभाँति निबाहते हैं—वे न केवल जीवात्माओं को उत्पन्न करते हैं वरन् पतित जीवों के उद्धार के लिए अपने दल को चारों ओर फैला देते हैं। यह दल *ब्रह्म सम्प्रदाय* कहलाता है और इस दल का हर सदस्य आज भी पतित जीवों का उद्धार करके भगवान् के धाम भेजने में संलग्न है। भगवान् अपने अंशों को वापस पाने के लिए अत्यन्त उत्सुक रहते हैं—जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है। जो पतितों को भगवान् के धाम ले जाने का कार्य करता है, उन्हें उससे अधिक प्रिय अन्य कोई नहीं है।

ब्रह्म सम्प्रदाय में कुछ ऐसे स्वधर्म त्यागी भी हैं जिनका एकमात्र कार्य ईश्वर की विस्मृति कराकर मनुष्यों को इस भौतिक संसार में अधिकाधिक फँसाना है। ऐसे मनुष्य कभी भी भगवान् के प्रिय नहीं बन सकते। भगवान् इन ईर्ष्यालु असुरों को ऐसे अंधकार में भेज देते हैं जहाँ वे परमेश्वर को जान भी नहीं सकें।

किन्तु ब्रह्म सम्प्रदाय का कोई भी व्यक्ति जो भगवान् के सन्देश का उपदेश देता है, भगवान् को प्रिय है और ऐसे ही प्रामाणिक भक्ति सम्प्रदाय के प्रचारक से प्रसन्न होकर वे उससे हाथ मिलाते हैं।

श्री-भगवानुवाच

त्वयाहं तोषितः सम्यग् वेद-गर्भ सिसृक्षया ।
चिरं भृतेन तपसा दुस्तोषः कूट-योगिनाम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—परम सुन्दर भगवान् ने कहा; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अहम्—मैं; तोषितः—प्रसन्न हूँ; सम्यक्—पूर्ण; वेद-गर्भ—वेद से संपृक्त; सिसृक्षया—उत्पत्ति के हेतु; चिरम्—दीर्घकाल से; भृतेन—संचित; तपसा—तपस्या से; दुस्तोषः—कठिनाई से प्रसन्न होने वाला; कूट-योगिनाम्—छद्मयोगियों के लिए।

परम सुन्दर भगवान् ने ब्रह्मा को सम्बोधित किया—हे वेदों से संपृक्त ब्रह्मा, सृष्टि की इच्छा से की गई तुम्हारी दीर्घकालीन तपस्या से मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ। मैं छद्मयोगियों से बहुत ही मुश्किल से प्रसन्न हो पाता हूँ।

तात्पर्य : तपस्या दो प्रकार की होती है—एक तो इन्द्रियतृप्ति हेतु और दूसरी आत्म-साक्षात्कार हेतु। ऐसे अनेक छद्मयोगी हैं, जो अपनी तृप्ति के लिए कठिन तपस्या करते हैं, किन्तु ऐसे भी योगी हैं, जो भगवान् की इन्द्रिय-तृप्ति के लिए तप करते हैं। उदाहरणार्थ यदि परमाणु हथियार की खोज के लिए तप किया जाय तो इससे भगवान् प्रसन्न नहीं होंगे, क्योंकि ऐसा तप कभी भी सन्तोषप्रद नहीं होगा। प्रत्येक मनुष्य को मरना है, किन्तु यदि किसी के तप द्वारा मृत्यु की प्रक्रिया त्वरित हो जाये, तो इससे भगवान् को प्रसन्नता नहीं होगी। भगवान् चाहते हैं कि उनके सारे अंश भगवान् के धाम पहुँच कर शाश्वत जीवन पाएँ और आनन्द भोगें और सारी भौतिक सृष्टि की रचना इसी उद्देश्य से की गई है। ब्रह्मा ने इसी उद्देश्य के लिए—अर्थात् सृष्टि क्रम को नियमित करने के लिए तपस्या की, जिससे भगवान् प्रसन्न हो सकें। इसीलिए भगवान् उनसे इतने प्रसन्न हुए और ब्रह्माजी को वैदिक ज्ञान से पूरित कर दिया। वैदिक ज्ञान का चरम लक्ष्य भगवान् को जानना है, अन्य कार्यों में इसका दुरुपयोग करना नहीं। जो वैदिक ज्ञान का उपयोग इस कार्य के लिए नहीं करते, वे *कूट योगी* कहलाते हैं, जो निरुद्देश्य अपना जीवन विनष्ट कर देते हैं।

वरं वरय भद्रं ते वरेशं माभिवाञ्छितम् ।
ब्रह्मञ्छ्रेयः-परिश्रामः पुंसां मद्दर्शनावधिः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

वरम्—वरदान; वरय—मुझसे माँगो; भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारा; वर-ईशम्—समस्त वरों के दाता; मा (माम्)—मुझसे; अभिवाञ्छितम्—जो चाहो, मुँह माँगा; ब्रह्मन्—हे ब्रह्मा; श्रेयः—परम सफलता; परिश्रामः—समस्त तपस्या के लिए; पुंसाम्—सबों के लिए; मत्—मेरा; दर्शन—साक्षात्कार; अवधिः—पर्यवसान, अन्तिम सीमा।

तुम्हारा कल्याण हो। हे ब्रह्मा, तुम मुझसे जो चाहो माँग सकते हो, क्योंकि मैं समस्त वरों का वरदाता हूँ; तुम्हें ज्ञात हो कि सारी तपस्या के फलस्वरूप जो अन्तिम वर प्राप्त होता है, वह मेरा दर्शन है।

तात्पर्य : परमेश्वर का परम साक्षात्कार उनको जानना और अपने समक्ष उनका दर्शन करना है। निर्विशेष ब्रह्म तथा अन्तर्यामी परमात्मा का साक्षात्कार परम साक्षात्कार नहीं है। जब मनुष्य को परमेश्वर का साक्षात्कार हो जाता है, तो उसे ऐसी तपस्या के लिए संघर्ष करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। जीवन की दूसरी अवस्था है ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए उनकी भक्ति करना। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि जिसने भगवान् के दर्शन कर लिए हैं उसे पूर्णसिद्धि प्राप्त हो चुकी है, क्योंकि उस उच्चतम सिद्धि में सभी कुछ सम्मिलित है। किन्तु निर्विशेषवादी तथा छद्मयोगी इस अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकते।

मनीषितानुभावोऽयं मम लोकावलोकनम् ।
यदुपश्रुत्य रहसि चकर्थ परमं तपः ॥ २२॥

शब्दार्थ

मनीषित—पटुता; अनुभावः—दर्शन; अयम्—यह; मम—मेरा; लोक—धाम; अवलोकनम्—वास्तविक अनुभव से देखते हुए; यत्—क्योंकि; उपश्रुत्य—सुनकर; रहसि—परम तप में; चकर्थ—सम्पन्न करके; परमम्—सर्वोच्च; तपः—तपस्या।

सर्वोच्च सिद्धिमयी पटुता है मेरे धाम का साक्षात् दर्शन और यह दर्शन तुम्हें मेरे आदेश के अनुसार कठिन तपस्या के प्रति तुम्हारी विनम्र प्रवृत्ति के कारण सम्भव हो सका है।

तात्पर्य : जीवन की सर्वोच्च सिद्धि की अवस्था भगवान् की कृपा के फलस्वरूप वास्तविक दर्शन द्वारा भगवान् को जानना है। इसकी प्राप्ति उस प्रत्येक व्यक्ति को हो सकती है, जो शास्त्रोक्त तथा प्रामाणिक आचार्यों द्वारा स्वीकृत मानदण्ड के अनुसार भक्तिमय सेवा का इच्छुक है। उदाहरणार्थ, *भगवद्गीता* समस्त महान् आचार्यों, यथा शंकर, रामानुज, मध्व, चैतन्य, विश्वनाथ, बलदेव, सिद्धान्त सरस्वती तथा अनेक अन्यों द्वारा स्वीकृत प्रामाणिक वैदिक ग्रन्थ है। उसी *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरा ही ध्यान धरो, मेरे भक्त बनो, मेरी ही पूजा करो और सदैव मेरे ही समक्ष झुको। ऐसा करने से निस्सन्देह मनुष्य का भगवान् के धाम को जाना निश्चित है। अन्य स्थानों में भी

इसी तरह कहा गया है कि अन्य सारे कार्यों को त्यागकर नि:संकोच भाव से भगवान् की शरण में जाओ। भगवान् ऐसे भक्त को समस्त सुरक्षा प्रदान करते हैं। सर्वोच्च सिद्ध-अवस्था प्राप्त करने के ये गुप्त गुर हैं। ब्रह्माजी ने इन्हीं नियमों का किसी श्रेष्ठता का विचार किए बिना पालन किया जिससे उन्हें भगवान् के धाम को सारी साज-सामग्री के साथ देखने तथा भगवान् के साक्षात्कार का सुयोग प्राप्त हो सका। न तो भगवान् के शरीर के तेज का निर्गुण दर्शन सर्वोच्च सिद्धावस्था है, न ही परमात्मा की अनुभूति की अवस्था। *मनीषिता* शब्द सार्थक है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने तथाकथित ज्ञान का झूठा या सही गर्व होता है, किन्तु भगवान् का कथन है कि ज्ञान की सर्वोच्च सिद्धावस्था उनको तथा उनके धाम को मायारहित होकर जान लेना है।

प्रत्यादिष्टं मया तत्र त्वयि कर्म-विमोहिते ।
तपो मे हृदयं साक्षादात्माहं तपसोऽनघ ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

प्रत्यादिष्टम्—आदेश प्राप्त; मया—मेरे द्वारा; तत्र—के कारण; त्वयि—तुमको; कर्म—कर्तव्य; विमोहिते—मोहग्रस्त होकर; तपः—तपस्या; मे—मेरा; हृदयम्—हृदय; साक्षात्—प्रत्यक्ष रूप से; आत्मा—जीवन तथा आत्मा; अहम्—मैं स्वयं; तपसः—तपस्या करने वाले का; अनघ—हे निष्पाप।

हे निष्पाप ब्रह्मा, तुम्हें ज्ञात हो कि जब तुम अपने कर्तव्य के प्रति असमंजस में थे तो सबसे पहले मैंने ही तुम्हें तपस्या करने का आदेश दिया था। ऐसी तपस्या ही मेरा हृदय और मेरी आत्मा है, अतः तपस्या मुझसे अभिन्न है।

तात्पर्य : जिस तपस्या से भगवान् का साक्षात् दर्शन किया जा सकता है, उसे भगवान की भक्तिमय सेवा को समझना चाहिए और कुछ नहीं, क्योंकि केवल दिव्य प्रेमपूर्ण भक्ति भाव के द्वारा ही भगवान् तक पहुँचा जा सकता है। ऐसी तपस्या भगवान् की अन्तरंगा शक्ति होती है और उनसे अभिन्न होती है। ऐसी अन्तरंगा शक्ति के कार्य भौतिक सुख से विरक्ति होने पर प्रगट होते हैं। अत्यधिक प्रभुत्व जताने की प्रवृत्ति के कारण ही जीवात्मा भौतिक बन्धन में बन्दी हो जाती हैं। किन्तु भगवान् की भक्ति करने से मनुष्य सुख-भोग की प्रवृत्ति से विरक्त होता है। भक्तजन स्वत: भौतिक सुख से विरक्त हो जाते हैं और यह विरक्ति पूर्णज्ञान का प्रतिफल है। अत: भक्ति की तपस्या में ज्ञान तथा विरक्ति निहित होते हैं और यही दिव्य शक्ति का प्राकट्य है।

यदि कोई भगवान् के धाम वापस जाने का इच्छुक है, तो वह भौतिक मायावी सम्पत्ति का भोग नहीं कर सकता। जिसे भगवान् की संगति के दिव्य आनन्द का पता नहीं है, वही मूर्खतावश क्षणिक भौतिक सुख की कामना करता है। *चैतन्य-चरितामृत* में कहा गया है कि यदि कोई सचमुच भगवान् के दर्शन करना चाहता है और उसके साथ-साथ भौतिक सुख का भोग करना चाहता है, तो उसे मूर्ख ही समझना चाहिए। जो सुखोपभोग के लिए इस संसार में रहना चाहता है उसे भगवान् के शाश्वत धाम जाने से कोई मतलब नहीं है। भगवान् ऐसे मूर्ख भक्त की सारी भौतिक सम्पत्ति छीन कर उसे कृतार्थ करते हैं। यदि ऐसा मूर्ख भक्त पुन: सम्पत्ति बटोरना चाहता है, तो दयालु भगवान् उसे दुबारा छीन लेते हैं। बारम्बार भौतिक संपन्नता में ऐसी असफलता के कारण वह अपने कुटुम्बियों तथा मित्रों में बहुत अलोकप्रिय हो जाता है। भौतिक जगत में कुटुम्बी तथा मित्र तो उसी का आदर करते हैं, जो येन-केन प्रकारेण धन संचित करता है। फलस्वरूप, ऐसे मूर्ख भक्त को भगवत्कृपा से बाध्य होकर तपस्या करनी पड़ती है और अन्त में वह भगवद्भक्ति में संपन्न होने के कारण पूर्ण सुखी हो जाता है। अत: भगवद्भक्ति में सिद्धि प्राप्त करने के लिए तपस्या आवश्यक है, चाहे वह स्वैच्छिक भाव से हो या ईश्वर द्वारा बलपूर्वक लादी गई हो और ऐसी तपस्या ही भगवान् की अन्तरंगा शक्ति है।

किन्तु समस्त पापों से पूर्ण रूप से मुक्त हुए बिना भक्त तपस्या में संलग्न नहीं हो सकता। जैसाकि *भगवद्गीता* का कथन है, वही व्यक्ति भगवान् की पूजा में रत हो सकता है, जो समस्त पापों से मुक्त हो। ब्रह्माजी निष्पाप थे, अत: उन्होंने भगवान् के ''तप तप'' आदेश का श्रद्धापूर्वक पालन किया और भगवान् ने प्रसन्न होकर उन्हें वांछित फल प्रदान किया। अत: प्रेम तथा तपस्या दोनों के मेल से ही भगवान् प्रसन्न होते हैं और उनकी पूर्ण कृपा प्राप्त की जा सकती है। वे निष्पाप का निर्देशन करते हैं और निष्पाप भक्त जीवन की परम सिद्धि प्राप्त करता है।

सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः ।
बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुश्चरं तपः ॥ २४॥

शब्दार्थ

सृजामि—उत्पन्न करता हूँ; **तपसा**—तपस्या की उसी शक्ति से; **एव**—निश्चय ही; **इदम्**—यह; **ग्रसामि तपसा**—उसी शक्ति से अपने में लीन करता हूँ; **पुनः**—फिर; **बिभर्मि**—पालन करता हूँ; **तपसा**—तप से; **विश्वम्**—विश्व; **वीर्यम्**—शक्ति; **मे**—मेरा; **दुश्चरम्**—कठिन; **तपः**—तपस्या।

मैं ऐसे ही तप से इस विश्व की रचना करता हूँ, इसी शक्ति से इसका पालन करता हूँ और इसीसे इसको अपने में लीन करता हूँ। अत: तप ही वास्तविक शक्ति है।

तात्पर्य : तपस्या करते समय मनुष्य को भगवान् के धाम लौट जाने का संकल्प करना चाहिए और इसके लिए सभी प्रकार के कष्ट सहने के लिए तैयार रहना चाहिए। भौतिक सम्पत्ति, नाम तथा यश के लिए भी तो कठिन तपस्या करनी पड़ती है, क्योंकि उसके बिना कोई भी भौतिक संसार में प्रसिद्ध नहीं हो सकता। तो फिर, भक्ति की सिद्धि के लिए ही कठिन तपस्या क्यों करनी होती है? सुविधासम्पन्न जीवन तथा दिव्य साक्षात्कार के लिए सिद्धि की प्राप्ति दोनों साथ-साथ सम्भव नहीं हैं। भगवान् जीवात्मा से अधिक चतुर हैं, अत: वे देखना चाहते हैं कि भक्ति-मय सेवा के लिए भक्त कितना कष्ट उठाता है। तपस्या का आदेश भगवान् से सीधे या प्रामाणिक गुरु के माध्यम से प्राप्त होता है और यह आदेश आपको चाहे कितना ही कष्ट-प्रद क्यों न हो इसका पालन करना ही कठिन तपस्या है। जो इस नियम का दृढ़ता से पालन करता है उसे निश्चित रूप से भगवान् की कृपा प्राप्त करने में सफलता प्राप्त होती है।

ब्रह्मोवाच

भगवन् सर्व-भूतानामध्यक्षोऽवस्थितो गुहाम् ।
वेद ह्यप्रतिरुद्धेन प्रज्ञानेन चिकीर्षितम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; भगवन्—हे भगवान्; सर्व भूतानाम्—समस्त जीवात्माओं का; अध्यक्ष:—नियन्ता; अवस्थित:—स्थित; गुहाम्—हृदय के भीतर; वेद—जानो; हि—निश्चय ही; अप्रतिरुद्धेन—बिना बाधा के; प्रज्ञानेन—अन्त:ज्ञान द्वारा; चिकीर्षितम्—प्रयास करता है।

ब्रह्माजी ने कहा, हे भगवान्, आप प्रत्येक जीवात्मा के हृदय में परम नियन्ता के रूप में स्थित हैं, अत: आप किसी भी प्रकार की बाधा के बिना अपने अन्त:-ज्ञान (प्रज्ञा) द्वारा समस्त प्रयासों से अवगत हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* पुष्टि करती है कि भगवान् साक्षी रूप से प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित हैं, फलस्वरूप वे परम नियन्ता हैं। नियन्ता कर्मफलों का भोक्ता नहीं है, क्योंकि उनकी स्वीकृति के बिना कोई सुख नहीं भोग सकता। उदाहरणार्थ, निषिद्ध क्षेत्र का अभ्यस्त शराबी शराब के निदेशक को

आवेदन पत्र भेजता है और निदेशक आवेदन पत्र पर विचार करके शराब की कुछ मात्रा की स्वीकृति देता है। इसी प्रकार यह संसार मानो ऐसे ही शराबियों से भरा पड़ा है प्रत्येक जीवात्मा कुछ-न-कुछ चाहता है और प्रत्येक जीवात्मा उसकी पूर्ति के लिए व्यग्र रहता है। जिस प्रकार पिता पुत्र पर दयालु होता है उसी प्रकार परमेश्वर प्रत्येक जीवात्मा पर सदय होने के कारण उसकी बचकानी इच्छाओं की पूर्ति करता रहता है। मन में ऐसी इच्छाओं को लेकर जीवात्मा वास्तव में कभी भी उन्हें भोग नहीं पाता, बल्कि बिना किसी लाभ के व्यर्थ की शारीरिक सनकों को पूरा करता है। शराबी को शराब पीने से कोई लाभ नहीं मिलता, किन्तु लत पड़ने के कारण वह उसका दास बनकर उससे छुटकारा नहीं चाहता, अत: दयालु भगवान् उसकी इच्छाओं की पूर्ति के लिए उसे सारी सुविधाएँ प्रदान कर देते हैं।

निर्विशेषवादी चाहते हैं कि मनुष्य इच्छारहित हो और अन्य लोग इच्छाओं का पूर्ण दमन चाहते हैं। यह असम्भव है इच्छाओं का लोप नहीं हो सकता, क्योंकि इच्छा करना जीवन का लक्षण है। इच्छाओं के बिना जीवात्मा मृत हो जाएगा, जो वह नहीं है। अत: जीवन तथा इच्छाएँ साथ-साथ हैं। यदि मनुष्य ईश्वर की सेवा करने की इच्छा करता है, तो इच्छाओं की पूर्ति हो जाती है और ईश्वर भी चाहते हैं कि जीवात्मा अपनी निजी इच्छाएँ त्यागकर उनकी इच्छाओं के साथ सहयोग करे। यही *भगवद्गीता* का अन्तिम उपदेश है। ब्रह्माजी ने इस प्रस्ताव को माना और इसलिए शून्य ब्रह्माण्ड में सृष्टि करने का उन्हें उत्तरदायित्व सौंपा गया। अत: ईश्वर के साथ तादात्म्य का अर्थ है भगवान् की इच्छाओं के साथ अपनी इच्छाओं को जोड़ना। इसीसे समस्त कामनाओं की सिद्धि होती है।

प्रत्येक जीवात्मा के हृदय में स्थित होने के कारण भगवान् को हर एक के मन की बात ज्ञात रहती है और कोई भी व्यक्ति अन्त:स्थित भगवान् की जानकारी के बिना कुछ भी नहीं कर सकता। अपनी श्रेष्ठ प्रज्ञा द्वारा भगवान् सबको अपनी इच्छा-पूर्ति का पूर्णरूपेण अवसर प्रदान करते हैं और तदनुरुप फल भी भगवान द्वारा ही दिया जाता है।

तथापि नाथमानस्य नाथ नाथय नाथितम् ।
परावरे यथा रूपे जानीयां ते त्वरूपिण: ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तथा अपि—फिर भी; नाथमानस्य—याचक का; नाथ—हे भगवान्; नाथय—प्रदान करो; नाथितम्—इच्छित; पर-अवरे—संसारी तथा दिव्य विषयों में; यथा—जिस प्रकार; रूपे—रूप में; जानीयाम्—जान सकूँ; ते—तुम्हारा; तु—लेकिन; अरूपिण:—निराकार।

तथापि हे भगवान्, मेरी आपसे प्रार्थना है कि मेरी इच्छा पूरी करें। कृपया मुझे बताएँ कि दिव्य रूप के होते हुए भी आप संसारी रूप किस प्रकार धारण करते हैं, यद्यपि आपका ऐसा कोई रूप नहीं होता।

यथात्म-माया-योगेन नाना-शक्त्युपबृंहितम् ।
विलुम्पन् विसृजन् गृह्णन् बिभ्रदात्मानमात्मना ॥ २७॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; आत्म—स्व; माया—शक्ति; योगेन—संयोग से; नाना—विविध; शक्ति—शक्ति; उपबृंहितम्—संचय द्वारा; विलुम्पन्—संहार के लिए; विसृजन्—सृष्टि के लिए; गृह्णन्—स्वीकृति के लिए; बिभ्रत्—पालन के लिए; आत्मानम्—अपने आप को; आत्मना—अपने द्वारा।

तथा कृपा करके मुझे यह भी बताएँ कि आप अपने से किस प्रकार से विभिन्न संयोगों के द्वारा संहार, उत्पत्ति, स्वीकृति तथा पालन की विविध शक्तियों को प्रकट करते हैं।

तात्पर्य : यह सारा संसार भगवान् की विभिन्न शक्तियों—अन्तरंगा, बहिरंगा तथा तटस्था शक्तियों—के प्रसार से साक्षात् भगवान् है, जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सूर्यलोक की शक्ति का प्राकट्य है। ऐसी शक्ति भगवान् से तदाकार है और भिन्न भी है, जिस प्रकार सूर्य-प्रकाश सूर्यलोक से अभिन्न होकर भी भिन्न रहता है। ये शक्तियाँ विविध संयोगों के द्वारा भगवान् के संकेत पर कार्य करती हैं और ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव जैसे प्रतिनिधि कर्ता भी भगवान् के विभिन्न अवतार हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है फिर भी वे ऐसे प्रकट कार्यों से पृथक् है। यह किस प्रकार से होता है, इसकी व्याख्या बाद में की जाएगी।

क्रीडस्यमोघ-सङ्कल्प ऊर्णनाभिर्यथोर्णुते ।
तथा तद्विषयां धेहि मनीषां मयि माधव ॥ २८॥

शब्दार्थ

क्रीडसि—जिस प्रकार खिलवाड़ करते हो; अमोघ—अचूक; सङ्कल्प—निश्चय; ऊर्णनाभि:—मकड़ी; यथा—जिस प्रकार; ऊर्णुते—ढक लेती है; तथा—उसी प्रकार; तत्-विषयाम्—उनके विषय में; धेहि—मुझे बताएँ; मनीषाम्—दार्शनिक विधि से; मयि—मुझको; माधव—समस्त शक्तियों के स्वामी।

हे माधव, मुझे उन सबके विषय में दार्शनिक विधि से बताएँ। आप मकड़ी के समान खेल

करने वाले हैं, जो अपनी ही शक्ति से अपने को ढक लेती है। आपका संकल्प अचूक है।

तात्पर्य : भगवान् की अकल्पनीय शक्ति से प्रत्येक तत्त्व में उसकी निजी शक्तियाँ होती हैं, जिन्हें तत्त्व-शक्ति, ज्ञान-शक्ति तथा कार्य-कारण की शक्ति कहते हैं। भगवान् की ऐसी शक्तियों के संयोग से यथासमय सृष्टि, पालन तथा संहार का प्राकट्य होता है जिनके विभिन्न कर्ता ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर हैं। ब्रह्मा सृष्टिकर्ता हैं, विष्णु पालनकर्ता हैं और शिव संहारकर्ता हैं। किन्तु ये सभी कर्ता तथा शक्तियाँ भगवान् के ही प्रतिकप हैं, अत: भगवान् के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, अथवा विभिन्न विविधताओं का एक ही परम स्रोत है। इसका सही उदाहरण मकड़ी तथा मकड़ी का जाला है। यह जाला मकड़ी द्वारा बुना जाता है, उसी के द्वारा उसकी रक्षा की जाती है और जब मकड़ी की इच्छा होती है, तो वह उसे अपने भीतर समेट लेती है। मकड़ी जाले के भीतर ढकी रहती है। यदि एक तुच्छ मकड़ी अपनी इच्छानुसार कार्य करने की इतनी शक्ति रखती है, तो फिर परमात्मा अपनी परम इच्छा से सांसारिक प्राकट्य के सृजन, पालन तथा संहार का कार्य क्यों नहीं कर सकते? भगवत्कृपा से ही ब्रह्मा जैसा कोई भक्त या उन्हीं के समान शिष्य-परम्परा में से कोई अन्य भक्त सर्वशक्ति-मान भगवान् को समझ सकता है, जो विभिन्न शक्तियों के द्वारा अपनी दिव्य लीलाओं में नित्य लगे रहते हैं।

भगवच्छिक्षितमहं करवाणि ह्यतन्द्रितः ।
नेहमानः प्रजा-सर्गं बध्येयं यदनुग्रहात् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

भगवत्—भगवान् द्वारा; शिक्षितम्—शिक्षा प्राप्त; अहम्—मैं; करवाणि—कार्य के द्वारा; हि—निश्चय ही; अतन्द्रितः—कारणस्वरूप; न—कभी नहीं; इहमानः—यद्यपि कार्य करते हुए; प्रजा-सर्गम्—जीवात्माओं की उत्पत्ति; बध्येयम्—बद्ध होऊँ; यत्—जिससे; अनुग्रहात्—कृपा से।

कृपा करके मुझे बतलाएँ जिससे आपकी आज्ञानुसार मैं इस विषय की शिक्षा प्राप्त कर सकूँ और इस तरह ऐसे कार्यों से आबद्ध हुए बिना जीवात्माओं को यंत्रवत् उत्पन्न करने का कार्य करता रहूँ।

तात्पर्य : ब्रह्माजी नहीं चाहते कि वे अपने निजी ज्ञान पर आश्रित रहने वाले शुष्क चिन्तक बने रहें और भौतिक बन्धन में फँसे रहें। हर एक व्यक्ति को यह समझ लेना चाहिए कि समस्त कार्यों के सम्पादन में वह निमित्त (कारण) मात्र होता है। बद्धजीव बाह्यशक्ति अर्थात् गुणमयी माया के हाथों की

कठपुतली बना रहता है और मुक्त होते समय वह सीधे भगवान् की इच्छा पर आश्रित रहता है। भगवान् की प्रत्यक्ष इच्छा पर आश्रित रहना जीवात्मा की स्वाभाविक स्थिति है, जबकि गुणमयी माया के हाथों की कठपुतली होना भवबन्धन है। उस बद्ध अवस्था में जीवात्मा परम सत्य भगवान् तथा उनके विविध कार्यकलापों का चिन्तन करता है, किन्तु अबद्ध (मुक्त) अवस्था में जीवात्मा को सीधे भगवान् से ज्ञान प्राप्त होता है और ऐसा मुक्त जीव बिना कल्पना किये, बिना त्रुटि के, कार्य करता है। *भगवद्गीता* (१०.१०-११) में इसकी दृढ़तापूर्वक पुष्टि की गई है कि भगवान् स्वयं उपदेश देते हैं जिससे शुद्ध भक्तगण, जो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में रत हैं, बिना डगमगाये भगवान् के धाम की ओर अग्रसर होते रहते हैं। अत: शुद्ध भक्तों को अपनी निश्चित प्रगति पर किसी प्रकार का गर्व नहीं रहता, जबकि अभक्त ज्ञानी सदा ही माया के अन्धकार में रहता है और बिना किसी निश्चित पथ के कल्पना पर आधारित पथभ्रष्ट ज्ञान पर इतराता रहता है। ब्रह्माजी अंहकार के उस गर्त से बचना चाहते थे, यद्यपि वे ब्रह्माण्ड में सबसे उच्च पद पर आरूढ़ थे।

यावत् सखा सख्युरिवेश ते कृतः
प्रजा-विसर्गे विभजामि भो जनम् ।
अविक्लवस्ते परिकर्मणि स्थितो
मा मे समुन्नद्ध-मदोऽजमानिनः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यावत्—चूँकि; सखा—मित्र; सख्युः—मित्र को; इव—समान; ईश—हे भगवान्; ते—तुम; कृतः—स्वीकार किया है; प्रजा—जीवात्माएँ; विसर्गे—सृष्टि के कार्य में; विभजामि—क्योंकि मैं इसे भिन्न रीति से करूँगा; भोः—हे भगवान्; जनम्—जन्म लेने वाले; अविक्लवः—विचलित हुए बिना; ते—तुम्हारा; परिकर्मणि—सेवा कार्य में; स्थितः—स्थित; मा—कभी न हो; मे—मुझको; समुन्नद्ध—उदय होने पर; मदः—उन्माद; अज—हे अजन्मा; मानिनः—ऐसे माने जाने वाले।

हे अजन्मा भगवान्, आपने मुझसे उसी प्रकार हाथ मिलाया है, जिस प्रकार कोई मित्र अपने मित्र से मिलाता है (मानो पद में समान हो)। अब मैं विभिन्न जीवात्माओं की सृष्टि करने में लगूँगा और आपकी सेवा करता रहूँगा। मैं किसी तरह विचलित नहीं होऊँगा। किन्तु मेरी प्रार्थना है कि कहीं इन सबसे मुझे गर्व न हो जाय कि मैं ही परमेश्वर हूँ।

तात्पर्य : ब्रह्माजी भगवान् के साथ निश्चय ही सख्यभाव में स्थित हैं। प्रत्येक जीव भगवान् के साथ पाँच विभिन्न दिव्य भावों में से किसी न किसी एक के द्वारा नित्य रूप से सम्बद्ध है। ये हैं—शान्त,

दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य। हम भगवान् के प्रसंग में इन पाँचों भावों की व्याख्या पहले ही कर चुके हैं। यहाँ पर यह स्पष्ट है कि ब्रह्माजी भगवान् के साथ दिव्य सख्यभाव में स्थित थे। शुद्ध भक्त भगवान् से इन पाँचों में से किसी एक भाव से बँधा हो सकता है। वह वात्सल्य भाव भी हो सकता है, किन्तु भगवद्भक्त सदैव भगवान् का दिव्य दास (सेवक) होता है। कोई न तो उनके समान है, न उनसे बढ़कर। यही *भगवद्गीता* की उक्ति है। यद्यपि भगवान् के साथ ब्रह्माजी का सख्यभाव है और उन पर विभिन्न योनि वाले जीवों को उत्पन्न करने का सर्वोच्च पद भार सौंपा गया है, किन्तु उन्हें अपनी स्थिति का बोध निरन्तर बना रहता है कि वे न तो परमेश्वर हैं न परम शक्तिसम्पन्न। सम्भव है कि इस ब्रह्माण्ड में या इसके बाहर कोई अत्यन्त शक्तिशाली व्यक्ति भगवान् से भी अधिक शक्तिशाली निकल आए। फिर भी शुद्ध भक्त जानता है कि यह शक्ति तो भगवान् द्वारा प्रदत्त विभूति है और ऐसी शक्ति से युक्त जीवात्मा कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकता। श्रीहनुमानजी ने कूद कर समुद्र पार कर लिया था, किन्तु श्रीरामचन्द्र ने सेतु पर चढ़कर ही पार किया जिसका अर्थ यह नहीं है कि हनुमानजी उनसे अधिक बलशाली थे। कभी-कभी भगवान् भक्त को असामान्य शक्ति प्रदान करते हैं, किन्तु भक्त हमेशा जानता रहता है कि यह शक्ति भगवान् की ही है और वह स्वयं एक निमित्त मात्र है। भक्त कभी भी उन अभक्तों के समान फूला फूला नहीं फिरता जो भ्रमवश अपने को भगवान् मान लेते हैं। यह आश्चर्यजनक बात है कि जो व्यक्ति भगवान् की माया के नियमों के द्वारा पग-पग पर पाद-प्रहार पाता है, वह भगवान् से तदाकार होने की झूठी बात सोचे। इस प्रकार सोचना बद्धजीवों के ऊपर फेंका गया माया का आखिरी पाश होता है। पहली भ्रांति यह होती है कि वह सम्पत्ति एवं शक्ति बटोरकर संसार का स्वामी बनना चाहता है, किन्तु जब वह इस प्रयास में हताश हो जाता है, तो भगवान् के साथ तदाकार होना चाहता है। इस प्रकार संसार का सबसे अधिक शक्तिशाली व्यक्ति बनना और भगवान् से तादात्म्य करना माया के ही भिन्न-भिन्न जाल हैं। चूँकि भगवान् के शुद्ध भक्त शरणागत होते हैं, अत: वे माया के मोह पाश से ऊपर हैं। किन्तु ब्रह्माजी शुद्ध भक्त होने के कारण अल्पज्ञानी अभक्तों को भगवान् से तादात्म्य की बात के बारे में सोचना कभी पसन्द नहीं करते यद्यपि वे विश्व के आदि देव हैं और अनेक अद्भुत कार्य करने में सक्षम हैं। अल्पज्ञानियों को, जब वे ईश्वर होने के झूठे विचार से फूल

उठते हैं, ब्रह्माजी से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

वस्तुत: ब्रह्माजी जीवात्माओं को उत्पन्न नहीं करते। उन्हें सृष्टि के प्रारम्भ में यह अधिकार दिया गया कि वे जीवात्माओं को पूर्व कल्प में किये गये कर्मों के अनुसार शरीर प्रदान करें। ब्रह्माजी का कार्य इन जीवात्माओं को निद्रा से जगाकर उन्हें उनके समुचित कार्यों में लगाना है। ब्रह्माजी जीवात्माओं की सृष्टि मनमाने ढंग से नहीं करते, अपितु उन्हें विविध प्रकार के शरीर प्रदान करने का कार्यभार सौंपा जाता है, जिससे वे तदनुसार कर्म कर सकें। इतने पर भी ब्रह्माजी को इसका बोध बना रहता है कि वे निमित्तमात्र हैं जिससे वे अपने को परमेश्वर न मान बैठें।

भक्तजन भगवान् द्वारा प्रदत्त कार्यों में संलग्न रहते हैं और ऐसे कार्य निर्बाध चलते रहते हैं, क्योंकि भगवान् से आदेश जो प्राप्त है। सफलता का श्रेय कर्ता को नहीं बल्कि भगवान् को मिलता है। किन्तु जो अल्पज्ञ हैं, वे सफलता का कारण अपने को मानते हैं और भगवान् को कोई श्रेय नहीं देते। यह अभक्त पुरुषों का लक्षण है।

श्री-भगवानुवाच

ज्ञानं परम-गुह्यं मे यद् विज्ञान-समन्वितम् ।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; ज्ञानम्—प्राप्त ज्ञान; परम—अत्यधिक; गुह्यम्—गोपनीय; मे—मेरा; यत्—जो; विज्ञान—बोध; समन्वितम्—से युक्त; स-रहस्यम्—भक्ति सहित; तत्—उसकी; अङ्गम् च—आवश्यक सामग्री; गृहाण—ग्रहण करने का यत्न करो; गदितम्—व्याख्या की गई; मया—मेरे द्वारा।

श्रीभगवान् ने कहा—शास्त्रों में वर्णित मुझसे सम्बन्धित ज्ञान अत्यन्त गोपनीय है उसे भक्ति के समन्वय द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इस विधि के लिए आवश्यक सामग्री की व्याख्या मेरे द्वारा की जा चुकी है। तुम इसे ध्यानपूर्वक ग्रहण करो।

तात्पर्य : ब्रह्माजी इस ब्रह्माण्ड में भगवान् के सर्वोच्च भक्त हैं, अत: भगवान् ने उनके चार प्रश्नों का उत्तर चार महत्त्वपूर्ण वक्तव्यों के रूप में दिया है, जो चतु:श्लोकी मूल *भागवत* के नाम से ज्ञात हैं। ब्रह्माजी के प्रश्न इस प्रकार थे—(१) पदार्थ में तथा अध्यात्म में भगवान् के कौन-कौन से रूप हैं? (२) भगवान् की विभिन्न शक्तियाँ किस प्रकार कार्य करती हैं? (३) भगवान् अपनी शक्तियों को किस

प्रकार संचालित करते हैं? (४) ब्रह्मा को उन्हें सौंपे गये कार्य के सम्बन्ध में किस प्रकार आदेशित किया जाय? इन प्रश्नों का पूर्वाभास इस श्लोक में मिलता है। भगवान् ब्रह्मा को सूचित करते हैं कि शास्त्रों में वर्णित भगवान् विषयक ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म है और जब तक कोई भगवत्कृपा से स्वरूपसिद्ध न हो, इसे समझ नहीं सकता। भगवान् कहते हैं कि जिस तरह वे व्याख्या करते जाँए उसे वे उत्तर के रूप में ग्रहण करते जाँय। इसका अर्थ यह हुआ कि परमेश्वर सम्बन्धी दिव्य ज्ञान को तभी प्राप्त किया जा सकता है जब भगवान् स्वयं उसे प्रदान करें। बड़े से बड़े संसारी चिन्तक भी चिन्तन द्वारा परम सत्य भगवान् को नहीं समझ पाते। चिन्तन से निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार तो हो सकता है, किन्तु वस्तुतः पूर्ण दिव्य ज्ञान तो निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान के परे है। इसीलिए इसे परम गुह्य ज्ञान कहा गया है। अनेक मुक्त जीवों में से विरला ही भगवान् को जान पाने का अधिकारी होता है। *भगवद्गीता* में भी स्वयं भगवान् ने कहा है कि लाखों में से कोई एक मनुष्य सिद्धि प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है और अनेक मुक्त जीवों में से कोई एक ही उन्हें जान पाता है। अतः केवल भक्ति द्वारा ही भगवान् को जाना जा सकता है*। रहस्यम्* का अर्थ है भगवद्भक्ति। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को *भगवद्गीता* का उपदेश इसीलिए दिया, क्योंकि अर्जुन उनका भक्त तथा मित्र था। ऐसी योग्यता के बिना *भगवद्गीता* के रहस्य को नहीं समझा जा सकता। अतः जब तक कोई भक्त बन कर भक्तिमय सेवा नहीं करने लगता, तब तक वह श्रीभगवान् को समझ नहीं पाता। यह रहस्य ईश्वर प्रेम है। श्रीभगवान् को जानने का रहस्य इस योग्यता में निहित है। ईश्वर के दिव्य प्रेम को प्राप्त करने के लिए भक्ति सम्बन्धी विधि-विधानों का पालन आवश्यक है। इन विधि-विधानों को *विधि-भक्ति* कहा जाता है और नवदीक्षित भक्त अपनी वर्तमान इन्द्रियों से इनका पालन कर सकता है। ऐसे विधि-विधान मुख्यतः भगवान् की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन पर आधारित हैं जिनका पालन भक्तों की संगति द्वारा ही सम्भव है। फलतः भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने भगवान् की भक्ति में पूर्णता पाने के लिए पाँच मुख्य नियमों की संस्तुति की है। पहला है— भक्तों की संगति (श्रवण), दूसरा भगवान् की महिमा का कीर्तन, तीसरा है, शुद्ध भक्त से *श्रीमद्भागवत* सुनना, चौथा भगवान् से सम्बन्धित किसी पवित्र स्थान में वास करना तथा पाँचवा है भक्ति सहित भगवान् के श्रीविग्रहको पूजना। ऐसे विधि-विधान भक्ति-मय सेवा के अंगस्वरूप हैं। अतः ब्रह्माजी की

प्रार्थना के अनुसार भगवान् इन चारों प्रश्नों तथा इनके अंगभूत प्रश्नों के विषय में अपनी व्याख्या प्रस्तुत करेंगे।

यावानहं यथा-भावो यद्रूप-गुण-कर्मकः ।
तथैव तत्त्व-विज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यावान्—मेरे जितने दिव्य रूप हैं; अहम्—मैं; यथा—जिस प्रकार; भावः—दिव्य अस्तित्व; यत्—उन; रूप—विभिन्न रूप तथा रंग; गुण—गुण; कर्मकः—कार्य; तथा—उसी प्रकार से; एव—निश्चय ही; तत्त्व-विज्ञानम्—वास्तविक बोध; अस्तु—हो; ते—तुमको; मत्—मेरी; अनुग्रहात्—अहैतुकी कृपा से।

मेरी अहैतुकी कृपा से तुम्हारे अन्तःकरण में उदय होने वाले वास्तविक बोध से तुम्हें मेरे विषय में सब कुछ—मेरा वास्तविक शाश्वत रूप तथा मेरा दिव्य अस्तित्व, रंग, गुण तथा कार्य—ज्ञात हो सकेगा।

तात्पर्य : परम सत्य, भगवान् विषयक ज्ञान की दुरूहता को समझने में सफलता का रहस्य भगवान् की अहैतुकी कृपा है। भौतिक जगत में भी जिस प्रकार अनेक पुत्रों का पिता अपने किन्हीं लाड़ले पुत्रों को ही अपने पद का रहस्य बताता है। पुत्रों में से जिसे वह योग्य समझता है उससे ही रहस्योद्घाटन करता है। समाज में महत्त्वपूर्ण मनुष्य अपनी दयालुता के द्वारा जाना जाता है। इसी प्रकार भगवान् को जानने के लिए मनुष्य को उनका अत्यन्त लाड़ला होना चाहिए। भगवान् असीम हैं। कोई भी उन्हें पूरी तरह नहीं जान सकता, केवल भगवान् के प्रति प्रेमाभक्ति की उन्नति के सहारे ही भगवान् को जानने के लिए प्रिय पात्र बना जा सकता है। यहाँ हम देखते हैं कि भगवान् ब्रह्माजी पर अत्यन्त प्रसन्न हैं, अतः वे उन्हें अपनी अहैतुकी कृपा प्रदान करते हैं, जिससे वे भगवान् का वास्तविक बोध प्राप्त कर सकें।

वेदों में भी कहा गया है कि कोई मनुष्य केवल सांसारिक शिक्षा या बौद्धिक अभ्यास से परम सत्य, परमेश्वर को नहीं जान सकता। प्रामाणिक गुरु तथा भगवान् में अटल विश्वास होने पर ही परम सत्य परमेश्वर को जाना जा सकता है। ऐसा श्रद्धालु व्यक्ति भले ही सांसारिक दृष्टि से अशिक्षित क्यों न हो, भगवत्कृपा से भगवान् को स्वतः जान सकता है। *भगवद्गीता* में भी कहा गया है कि यह भगवान् पर निर्भर करता है कि वे किसके समक्ष प्रकट हों और किसके समक्ष नहीं। वे अपनी योगमाया शक्ति

से अपने को अश्रद्धालुओं से छिपा कर रखते हैं।

जो श्रद्धालु हैं उनके समक्ष भगवान् अपना रूप, गुण तथा लीलाएँ प्रकट करते हैं। भगवान् निर्विशेष नहीं हैं जैसाकि निर्विशेषवादी सोचते हैं, किन्तु उनका वह रूप नहीं होता जिसका हमें अनुभव प्राप्त है। वे अपने भक्तों के समक्ष अपना रूप, यहाँ तक कि अपनी प्रमाप, भी प्रकट करते हैं और *यावान्* का यही अर्थ है जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के महान् पंडित श्रील जीव गोस्वामी ने बताया है।

भगवान् अपने अस्तित्व की दिव्य प्रकृति को उद्घाटित करते हैं। संसारी विवादक भगवान् के रूप की संसारी अवधारणा बनाते हैं। शास्त्रों में बताया गया है कि भगवान् का कोई संसारी रूप नहीं है, अत: जो अल्पज्ञानी हैं, वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भगवान् निराकार (निर्विशेष) हैं। वे संसारी तथा आध्यात्मिक रूप में अन्तर नहीं कर पाते। उनके अनुसार जिसका भौतिक रूप नहीं है, वह निर्विशेष होगा। यह निष्कर्ष भी संसारी है, क्योंकि रूपहीनता रूप की विपरीत अवधारणा है। संसारी अवधारणा को नकारने से दिव्य स्वरूप स्थापित नहीं होता। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि भगवान् का दिव्य रूप होता है और वे अपनी इन्द्रियों में से किसी भी इन्द्रिय का उपयोग किसी भी कार्य के लिए कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, वे अपने नेत्रों से भोजन कर सकते हैं और अपने पाँव से देख सकते हैं। रूप की संसारी धारणा में कोई न तो आँख से खा सकता है, न ही पाँव से देख सकता है। संसारी शरीर तथा सच्चिदानन्द के दिव्य शरीर में यही अन्तर है। आध्यात्मिक शरीर रूपविहीन नहीं होता; यह भिन्न प्रकार का होता है, जिसके विषय में हम अपनी संसारी इन्द्रियों से धारणा नहीं बना सकते। अत: रूपविहीन का अर्थ है संसारी रूप से रहित अथवा दिव्य शरीर धारण करने वाला जिसके विषय में अभक्तों को काल्पनिक विधि द्वारा बोध नहीं हो पाता।

भगवान् अपने भक्तों के समक्ष अनन्त प्रकार के दिव्य शरीर प्रकट करते रहते हैं, जो एक दूसरे के समान होते हुए भी स्वरूपों में भिन्न होते हैं। भगवान् के कुछ दिव्य शरीर श्यामवर्ण होते हैं, तो कुछ श्वेत वर्ण। कुछ लाल-लाल होते हैं, तो कुछ पीतवर्ण। कुछ चतुर्भुजी होते हैं, तो कुछ दो भुजाओं से युक्त। इनमें से कुछ मछली की तरह होते हैं, तो कुछ सिंह के समान। भगवान् के ये विभिन्न दिव्य रूप भगवत्कृपा से ही भक्त के समक्ष प्रकट होते हैं और इस प्रकार निर्विशेषवादियों के ये झूठे तर्क कि

भगवान् के रूप नहीं होता, भगवद्भक्तों को नहीं भाते, भले ही वे भक्त भक्ति में बहुत बढ़े-चढ़े न हों।

भगवान् में अनगिनत दिव्य गुण पाये जाते हैं। इनमें से एक है शुद्ध भक्त के प्रति उनका प्रेम। इस संसार के इतिहास में हम उनके दिव्य गुणों की सराहना कर सकते हैं। भगवान् अपने भक्तों की रक्षा करने तथा अधर्मियों का विनाश करने के लिए अवतरित होते हैं। उनके सारे कार्य भक्तों से सम्बन्धित होते हैं। *श्रीमद्भागवत* भक्तों से सम्बद्ध भगवान् के ऐसे अनेक कार्यों से भरा पड़ा है, किन्तु अभक्तों को भगवान् की इन लीलाओं का कोई ज्ञान भी नहीं होता। जब भगवान् सात वर्ष के ही थे तो उन्होंने गोवर्धन पर्वत उठाकर वृन्दावन के अपने शुद्ध भक्तों को इन्द्र के कोप से बचाया था, जो वर्षा के द्वारा उस स्थान को आप्लावित कर रहा था। सात वर्ष के बालक द्वारा गोवर्धन पर्वत का उठाया जाना भले ही श्रद्धाविहीनों के लिए अविश्वसनीय लगे, किन्तु भक्तों के लिए यह सर्वथा विश्वसनीय है। भक्त को भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता पर विश्वास है, किन्तु श्रद्धाविहीन लोग भगवान् को सर्वशक्तिमान मानते हुए भी इस पर विश्वास नहीं करते। ऐसे अल्पज्ञानी यह नहीं समझते कि भगवान् तो शाश्वत रूप से भगवान् हैं और वे लोग लाखों करोड़ों वर्षों तक ध्यान या दार्शनिक चिन्तन करके भी भगवान् नहीं बन सकते।

इस श्लोक से संसारी विवादकों की निर्विशेष व्याख्या का खण्डन हो जाता है, क्योंकि यहाँ पर स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि मनुष्य की ही तरह भगवान् के भी गुण, रूप, लीलाएँ तथा कार्य होते हैं। भगवान् की दिव्य प्रकृति के ये सारे विवरण भगवद्भक्तों द्वारा अनुभूत तथ्य हैं। ये भगवत्कृपा से केवल शुद्ध भक्तों को ही ज्ञात हो पाते हैं, अन्य किसी को नहीं।

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं, भगवान्; एव—निश्चय ही; आसम्—था; एव—केवल; अग्रे—सृष्टि के पहिले; न—कभी नहीं; अन्यत्—अन्य कुछ; यत्—जो; सत्—कार्य; असत्—कारण; परम्—परम; पश्चात्—अन्त में; अहम्—मैं भगवान्; यत्—ये सब; एतत्—सृष्टि; च—भी; यः—प्रत्येक वस्तु; अवशिष्येत—बचा रहता है; सः—वह; अस्मि—हूँ; अहम्—मैं, भगवान्।

हे ब्रह्मा, वह मैं ही हूँ जो सृष्टि के पूर्व विद्यमान था, जब मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। तब इस सृष्टि की कारणस्वरूपा भौतिक प्रकृति भी नहीं थी। जिसे तुम अब देख रहे हो, वह भी मैं ही हूँ और प्रलय के बाद जो शेष रहेगा वह भी मैं ही हूँ।

तात्पर्य : हमें ध्यान देना होगा कि ब्रह्माको पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सम्बोधित कर रहे हैं और पुरजोर शब्दों में स्वयं स्पष्ट कर रहे हैं कि मैं ही वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हूँ, जो सृष्टि के पूर्व विद्यमान था, मैं ही सृष्टि का पालनकर्ता हूँ और प्रलय के पश्चात् मैं ही बचा रहता हूँ। ब्रह्मा भी इन्हीं परमेश्वर की सृष्टि हैं। निर्विशेषवादी तादात्म्य का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि ब्रह्मा भगवान् के समरूप हैं, क्योंकि वे भी परम सत्य ''मैं'' से उद्भूत ''मैं'' हैं, अत: जैसाकि इस श्लोक में वर्णित है ''मैं'' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। निर्विशेषवादियों के तर्क को मानते हुए यह स्वीकार करना होगा कि भगवान् स्रष्टा ''मैं'' हैं और ब्रह्मा सृष्ट ''मैं''। अत: इन दोनों ''मैं'' के बीच अन्तर है—अधिष्ठाता मैं तथा अधीनस्त मैं। अत: निर्विशेषवादियों के तर्क को मान लेने पर भी दो ''मैं'' रहते हैं। किन्तु हमें यह ध्यान देना होगा कि वैदिक साहित्य (*कठोपनिषद्*) में ये दो ''मैं'' गुण के अर्थ में स्वीकृत हैं। *कठोपनिषद्* का वचन है—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।

एको बहूनां यो विदधाति कामान्॥

वेदों में स्रष्टा ''मैं'' तथा सृष्ट ''मैं'' दोनों ही गुणात्मक रूप से एक हैं, क्योंकि ये दोनों ही नित्य और चेतन हैं। किन्तु एकवचन ''मैं'' स्रष्टा ''मैं'' है और सृष्ट ''मैं'' बहुवचन में है, क्योंकि ब्रह्मा तथा उनके द्वारा सृजित अनेक ''मैं'' हैं। यही सामान्य सत्य है। पिता से पहले एक पुत्र उत्पन्न होता है, इस पुत्र से कई पुत्र उत्पन्न होते हैं और वे सभी मानव प्राणी के रूप में एक हैं, किन्तु पुत्र तथा पौत्र, पिता से भिन्न भी हैं। पुत्र पिता का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता है और न पौत्र ही। इस प्रकार पिता, पुत्र तथा पौत्र एक होते हुए भी पृथक् हैं। इसीलिए स्रष्टा तथा सृष्ट का आपेक्षिक अन्तर वेदों में यह कह कर किया गया है कि आधिष्ठाता ''मैं'' अधीनस्थ ''मैं'' का पोषक है और इस प्रकार दोनों ''मैं'' के बीच व्यापक अन्तर है।

इस श्लोक की दूसरी विशेषता यह है कि भगवान् तथा ब्रह्मा दोनों के व्यक्तित्वों को नकारा नहीं जा सकता। फलत: अधिष्ठाता और अधीनस्थ अन्ततोगत्वा दोनों ही व्यक्ति हैं। इससे निर्विशेषवादियों के इस मत का खण्डन हो जाता है कि अन्तत: प्रत्येक वस्तु निराकार है। अल्पज्ञ निर्विशेषवादियों द्वारा

बहुसमर्थित निर्विशेष रूप का खण्डन इसलिए हो जाता है कि प्रधान ''मैं'' परम सत्य है और वह व्यक्ति है। ब्रह्मा, जो अधीनस्थ ''मैं'' है, वह भी व्यक्ति है, किन्तु भगवान् नहीं है। आध्यात्मिक मनोविज्ञान 'स्व' का बोध अपने आपको परम सत्य मानने में भले ही सुविधा प्रधान करने वाला हो, किन्तु प्रधान तथा आश्रित में अन्तर सदैव रहता है, जिसकी ओर इस श्लोक में स्पष्टत: इंगित है और जिसका निर्विशेषवादी अत्यधिक दुरुपयोग करते हैं। ब्रह्मा अपने समक्ष अपने अधिष्ठाता स्वामी को देख रहे हैं, जो सृष्टि की प्रलय के बाद भी दिव्य रूप में विद्यमान रहते हैं। ब्रह्मा ने जिस रूप का दर्शन किया वह सृष्टि के पहले भी विद्यमान था। संसार में जो कुछ भी दिख रहा है, वह भी भगवान् की शक्ति का विस्तार है और भगवान् की शक्ति के प्रदर्शन के अन्त में जो कुछ बचता है, वह भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् है। अत: भगवान् का रूप, सृष्टि, पालन तथा संहार इन सभी परिस्थितियों में बना रहता है। वैदिक स्तोत्रों में इस कथन की पुष्टि हुई है—*वासुदेवो वा इदम् अग्र आसीन् न ब्रह्मा न च शंकर एको नारायण आसीन्, न ब्रह्मा नेशान* आदि। सृष्टि के पूर्व वासुदेव के अतिरिक्त कुछ नहीं था, न तो ब्रह्मा थे, न शंकर। केवल नारायण थे, कोई दूसरा नहीं, न ब्रह्मा, न ईशान। श्रीपाद शंकराचार्य ने भी *भगवद्गीता* के भाष्य में इसकी पुष्टि की है कि नारायण समस्त सृष्टि से परे हैं और समग्र सृष्टि अव्यक्त का फल है। अत: स्रष्टा तथा सृष्ट में सदैव अन्तर रहता है भले ही दोनों एकसमान गुण वाले क्यों न हों।

इस कथन की तीसरी विशेषता यह है कि भगवान् परम सत्य हैं। श्रीभगवान् तथा उनके धाम की पहले ही व्याख्या की जा चुकी है। भगवान् का धाम शून्य (रिक्त) नहीं है जैसाकि निर्विशेषवादी बताते हैं। वैकुण्ठ लोक विविधता से पूर्ण हैं—उसमें चार भुजाओं वाले निवासी भी हैं जिनके पास विपुल वैभव है और महापुरुषों के पास विमान तथा अन्य सुविधाजनक साधन तक उपलब्ध है। अत: श्रीभगवान् सृष्टि के पूर्व भी स्थित रहते हैं और वे वैकुण्ठ लोक में समस्त दिव्य विविधता के साथ रहते हैं। भगवद्गीता में भी इन वैकुण्ठ लोकों को सनातन बताया गया है। ये इस विश्व के संहार के पश्चात् भी नष्ट नहीं होते। ये दिव्य लोक पूरी तरह से भिन्न प्रकृति के हैं; उन पर सृष्टि, पालन तथा संहार के

नियम लागू नहीं होते। भगवान् के अस्तित्व से वैकुण्ठ लोकों का अस्तित्व सिद्ध होता है, जिस प्रकार राजा से राज्य का अस्तित्व सिद्ध होता है।

श्रीमद्भागवत तथा अन्य शास्त्रों में विभिन्न स्थलों पर भगवान् के अस्तित्व का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ, *श्रीमद्भागवत* (२.८.१०) में महाराज परीक्षित प्रश्न करते हैं—

स चापि यत्र पुरुषो विश्वस्थित्युद्भवाप्ययः।

मुक्त्वात्ममायां मायेशः शेते सर्वगुहाशयः॥

"जो भगवान् सृष्टि, पालन तथा संहार के कारणस्वरूप हैं, जो माया के प्रभाव से सदैव मुक्त रहते हैं और उसके नियन्ता हैं, वे किस प्रकार प्रत्येक मनुष्य के हृदय में स्थित रहते हैं?" इसी प्रकार विदुर का भी प्रश्न है—

तत्त्वानां भगवंस्तेषां कतिधा प्रतिसंक्रमः।

तत्रेमं क उपासीरन् क उ स्विदनुशेरते॥

(*भागवत* ३.७.३७)

श्रीधर स्वामी ने अपनी टिप्पणियों में इसकी व्याख्या इस प्रकार की है, "सृष्टि के प्रलय के समय शेषशायी भगवान् की सेवा कौन करता है...।" इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् अपने नाम, यश, गुण तथा सामग्री सहित शाश्वत रूप से विद्यमान हैं। इसी की पुष्टि *स्कन्द-पुराण* के *काशी-खण्ड* में ध्रुवचरित के प्रसंग में हुई है।

न च्यवन्तेऽपि यद्भक्ता महत्यां प्रलयापदि।

अतोऽच्युतोऽखिले लोके स एकः सर्वगोऽव्ययः॥

भगवान् की बात तो और, यहाँ तक कि भगवान् के भक्तों का भी संसार के पूर्ण प्रलय के समय विनष्ट नहीं होता। भगवान् परिवर्तन की तीनों अवस्थाओं में सर्वदा-विद्यमान रहते हैं।

निर्विशेषवादी परमेश्वर पर कर्मरहित होने का आरोप लगाते हैं, किन्तु ब्रह्मा तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की इस वार्ता में भगवान् को रूप तथा गुण से युक्त होने के साथ-ही-साथ कर्मों से युक्त बताया गया है। सृष्टि के पालन के समय ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं के कार्यों को भी भगवान् के कार्य

ही समझना होगा। भले ही राजा या राज्य का कार्यकारी अध्यक्ष सरकारी कार्यालयों में दिखाई न दे और वह राजसी विलास में लगा हो तो भी यह समझा जाता है कि जो कुछ भी हो रहा है, वह उसी के निर्देशन तथा आदेश के अनुसार हो रहा है। भगवान् कभी भी रूपविहीन नहीं होते। भौतिक जगत में वह अल्पज्ञों को भले ही साकार रूप में न दिखे जिससे उसे रूपविहीन कह लिया जाय, किन्तु वे अपने धाम वैकुण्ठ लोक में तथा अपने विभिन्न अवतारों में अन्य विभिन्न लोकों में नित्य रूप में सैदव रहते हैं। इस प्रसंग में सूर्य का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त होगा। रात्रि के समय भले ही मनुष्यों को अँधेरे में सूर्य न दिखे, किन्तु जब सूर्योदय हो जाता है, तो वह दिखता है। यदि पृथ्वी के किसी एक भूभाग पर सूर्य दृष्टिगोचर नहीं होता तो इसका अर्थ यह तो नहीं है कि सूर्य का कोई रूप नहीं है।

बृहदारण्यक उपनिषद (१.४.१) में एक मन्त्र है—*आत्मैवेदम् अग्र आसीत् पुरुषविधः*। इससे पुरुष अवतार के भी पूर्व पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् (कृष्ण) की उपस्थिति सूचित होती है। *भगवद्गीता* (१५.१८) में कहा गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम हैं, क्योंकि वे परम पुरुष हैं, *पुरुष-अक्षर* तथा *पुरुष-क्षर* से भी परे हैं। अक्षर पुरुष या महाविष्णु प्रकृति पर दृष्टिपात करते हैं, किन्तु पुरुषोत्तम तो उनसे भी पहले से विद्यमान थे। अतः *बृहदारण्यक-उपनिषद्* से *भगवद्गीता* के इस कथन की पुष्टि होती है कि श्रीकृष्ण ही परम पुरुष (पुरुषोत्तम) हैं।

कुछ वेदों में यह भी कहा गया है कि प्रारम्भ में केवल निर्गुण ब्रह्म था। किन्तु इस श्लोक के अनुसार निर्गुण ब्रह्म को, जो परमेश्वर के रूप की चमचमाती दीप्ति है, कारणस्वरूप कहा जा सकता है, क्योंकि समस्त कारणों के कारण तो पूर्ण पुरुषोत्तम .भगवान् हैं। भगवान् का निर्गुण रूप भौतिक जगत में इसीलिए विद्यमान है, क्योंकि भौतिक नेत्रों या इन्द्रियों से भगवान् को देखा नहीं जा सकता। भगवान् का दर्शन करने की आशा से पूर्व इन्द्रियों को आध्यात्मिक (दिव्य) बनाना होगा। किन्तु वे सदैव साकार रूप में रहते हैं और वैकुण्ठ लोक के वासियों को साक्षात् दिखते हैं। अतः वे राज्य के उस कार्यकारी अध्यक्ष की भाँति भौतिक दृष्टि से निराकार रहते हैं, जो राजभवन में निराकार नहीं रहता। इसी प्रकार भगवान् भी अपने धाम में निराकार नहीं रहते, उनका धाम तो *निरस्त-कुहकम्* है जैसाकि *भागवत* के प्रारम्भ में ही कहा गया है। अतः जैसाकि शास्त्रों से प्रकट है, भगवान् के साकार तथा

निराकार दोनों ही रूप ग्राह्य हैं। *भगवद्गीता* (१४.२७) में भगवान् के इस रूप को जोर देकर इस प्रकार वर्णित किया गया है—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*। इस प्रकार सभी प्रकार से आध्यात्मिक ज्ञान का गुह्य अंश भगवान् का साक्षात्कार है, उनका निराकार ब्रह्म रूप नहीं। अत: मनुष्य का लक्ष्य परम सत्य के इसी साकार रूप का साक्षात्कार है, न कि निराकार रूप का। परम सत्य की विश्वचेतना को समझने हेतु जिज्ञासु के लिए घट के भीतर तथा घट के बाहर आकाश का दृष्टान्त उपयोगी हो सकता है। किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि झूठे दावे से भगवान् का अंश परब्रह्म हो सकता है। इसका अर्थ यही होता है कि बद्धजीव मायाजाल के अन्तिम दाँव का शिकार बन चुका है। भगवान् की विश्वचेतना के साथ तादात्म्य का दावा करना दैवी माया द्वारा तैयार किया गया अन्तिम फन्दा होता है। भगवान् के निराकार होने पर भी मनुष्य को भौतिक सृष्टि की भाँति साकार रूप के साक्षात्कार की आकांक्षा रखनी चाहिए और *पश्चादहं यद् एतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्* का यही भावार्थ है।

नारद को उपदेश देते समय ब्रह्माजी ने भी इस सत्य को स्वीकार किया है। वे *भाग*वत (२.७.५०) में कहते हैं—सोऽयं तेऽभिहितस्तात भगवान् विश्वभावन:। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हरि के अतिरक्ति समस्त कारणों का कारण कोई अन्य नहीं है। अत: अहमेव इत्यादि श्लोक परमेश्वर के अतिरिक्त और कुछ सूचित नहीं करता। अत: मनुष्य को ''ब्रह्म सम्प्रदाय'' अर्थात् ब्रह्मा से नारद, फिर व्यास इत्यादि का अनुसरण करना चाहिए और श्रीभगवान् हरि या श्रीकृष्ण को प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य बनाना चाहिए। शुद्ध भक्तों को दिया गया यह परमगुह्य उपदेश अर्जुन को तथा सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा को भी दिया गया था। निस्सन्देह ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, इन्द्र, चन्द्र, वरुण इत्यादि देवता विभिन्न कार्यों को सम्पन्न करने के लिए भगवान् के ही विभिन्न रूप हैं; सृष्टि के विभिन्न अवयव, अनेक शक्तियाँ भी उसी भगवान् की हैं, किन्तु इन सबों के मूल श्रीभगवान् श्रीकृष्ण हैं। मनुष्य को चाहिए कि शाखाओं तथा पत्तियों से मोहग्रस्त न होकर, मूल को ही ग्रहण करे। यही इस श्लोक की शिक्षा है।

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथा तम: ॥ ३४॥

शब्दार्थ

ऋते—रहित; अर्थम्—सार; यत्—जो; प्रतीयेत—प्रतीत होता है; न—नहीं; प्रतीयेत—प्रतीत होता है; च—तथा; आत्मनि—मेरे प्रसंग में; तत्—वह; विद्यात्—तुम्हें जानना चाहिए; आत्मनः—मेरी; मायाम्—माया; यथा—जिस तरह; आभासः—प्रतिबिम्ब; यथा—जिस प्रकार; तमः—अंधकार।

हे ब्रह्मा, जो भी सारयुक्त प्रतीत होता है, यदि वह मुझसे सम्बन्धित नहीं है, तो उसमें कोई वास्तविकता नहीं है। इसे मेरी माया जानो, इसे ऐसा प्रतिबिम्ब मानो जो अन्धकार में प्रकट होता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में यह निष्कर्ष प्राप्त हो चुका है कि विश्व सम्बन्धी प्राकट्य की कोई भी अवस्था—इसकी उत्पत्ति, पालन, विकास, विभिन्न शक्तियों की अन्योन्य क्रियाएँ इसका क्षय तथा विलोप—सभी भगवान् के अस्तित्व से सम्बद्ध हैं। अत: जब भी भगवान् के साथ इस मूल सम्बन्ध को विस्मृत कर दिया जाता है और वस्तुओं को भगवान् से सम्बद्ध किये बिना सत्य मान लिया जाता है, तो इस धारणा को भगवान् की माया का फल समझना चाहिए। चूँकि भगवान् के बिना किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता, इसलिए माया भी भगवान् की एक शक्ति है। प्रत्येक वस्तु को भगवान् से सम्बन्धित करने का समुचित निष्कर्ष ''योगमाया'' कहलाता है और भगवान् से विलग करने की भ्रान्त धारणा (विच्छेद) भगवान् की दैवी माया या ''महामाया'' कहलाती है। दोनों प्रकार की माया का भगवान् से सम्बन्ध रहता है, क्योंकि उनके सम्बन्ध के बिना किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं रह सकता। इस प्रकार, भगवान् से सम्बन्ध-विच्छेद की भ्रान्त धारणा असत्य नहीं वरन् भ्रमपूर्ण है।

किसी एक वस्तु को दूसरी वस्तु समझना भ्रम कहलाता है। उदाहरणार्थ, रस्सी को साँप मान लेना भ्रम है, किन्तु रस्सी असत्य (मृषा) नहीं है। रस्सी भ्रमग्रस्त व्यक्ति के समक्ष होने से असत्य नहीं है। हाँ, इसको सर्प मान लेना भ्रमपूर्ण है। अत: भौतिक अस्तित्व के विषय में भ्रान्त धारणा भगवान् की शक्ति से त्यक्त हो चुकने पर भ्रम है, किन्तु असत्य नहीं है। यह भ्रान्त धारणा ही अविद्या के अन्धकार में सत्य का प्रतिबिम्ब (छाया) कहलाती है। कोई भी वस्तु जो ''मेरी शक्ति से उत्पन्न'' नहीं लगती है, वह माया है। जीवात्मा को रूपविहीन मानना या परमेश्वर के निराकार होने की धारणा भी भ्रम है। *भगवद्गीता* (२.१२) में भगवान् ने युद्धभूमि में स्थित होकर कहा है कि अर्जुन, अर्जुन के समक्ष खड़े योद्धा तथा भगवान् स्वयं इसके पूर्व भी विद्यमान थे, वे कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में भी विद्यमान हैं और भविष्य में भी वर्तमान देह के विनष्ट हो जाने पर और भवबन्धन से छुटकारा पा लेने पर भी इसी रूप में

विद्यमान रहेंगे। समस्त अवस्थाओं में भगवान् तथा जीवात्माएँ अपना अस्तित्व बनाये रखती हैं और इन दोनों के साकार रूप कभी नष्ट नहीं होते। केवल माया का प्रभाव, जो अंधकार में प्रकाश के प्रतिबिम्बस्वरूप है, भगवत्कृपा से दूर हो सकता है। भौतिक जगत में सूर्य का प्रकाश भी स्वतन्त्र नहीं है, न ही चन्द्रमा का प्रकाश। प्रकाश का असली स्रोत तो ब्रह्मज्योति है, जो भगवान् के दिव्य शरीर से प्रकाश को उद्‌भूत करती है और यही प्रकाश अनेक प्रकार के प्रकाशों में प्रतिबिम्बित होता है—यथा सूर्य-प्रकाश, चन्द्रमा का प्रकाश, अग्नि का प्रकाश, बिजली का प्रकाश। अत: परमात्मा से असम्बद्ध होकर आत्मा की सत्ता भी भ्रम है और ''मैं परम हूँ'' यह झूठा दावा उसी माया का अर्थात् भगवान् की बहिरंगा शक्ति का अन्तिम पाश होता है।

वेदान्त-सूत्र प्रारम्भ में ही पुष्टि करता है कि प्रत्येक वस्तु परमेश्वर से उत्पन्न है, अत: समस्त जीवात्माएँ परम पुरुष भगवान् की शक्ति से उत्पन्न हैं जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है। ब्रह्मा स्वयं भगवान् की शक्ति से उत्पन्न हैं और अन्य समस्त जीवात्माएँ भी ब्रह्मा के माध्यम से भगवान् की ही शक्ति से उत्पन्न हैं। भगवान् से सम्बन्धित हुए बिना किसी का कोई अस्तित्व नहीं होता।

प्रत्येक जीवात्मा की स्वतन्त्रता वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं है, अपितु यह परम पुरुष भगवान् में निहित वास्तविक स्वतन्त्रता का प्रतिबिम्ब मात्र होती है। बद्धजीवों द्वारा परम स्वतन्त्रता का झूठा दावा भ्रम ही है, इस निष्कर्ष को इस श्लोक में स्वीकारा गया है।

अल्पज्ञानी पुरुष भ्रमग्रस्त हो जाते हैं, इसीलिए तथाकथित विज्ञानी, शरीर-विज्ञानी, चिन्तक इत्यादि सूर्य, चन्द्र, बिजली इत्यादि के आभायुक्त प्रतिबिम्ब से चकाचौंध होते रहते हैं और प्रत्येक भौतिक वस्तु की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के विषय में नाना प्रकार के सिद्धान्त तथा कल्पनाएँ प्रस्तुत करके भगवान् के अस्तित्व को नकारते रहते हैं। कोई चिकित्सक मानव के शरीर के भीतर आत्मा के अस्तित्व को नकार सकता है, किन्तु मृत शरीर में वह प्राण नहीं फूँक सकता, यद्यपि मृत्यु के बाद भी शरीर का सारा तन्त्र जैसे का तैसा बना रहता है। मनोवैज्ञानिक मस्तिष्क की बनावट के विषय में गम्भीर अध्ययन करता है, उसके लिए मानो मस्तिष्क के लोथड़े की बनावट ही मानसिक-क्रिया की मशीन हो, किन्तु मृत शरीर के मस्तिष्क को वह क्रियाशील नहीं बना सकता। परमेश्वर से स्वतन्त्र

मानकर ब्रह्माण्ड विषयक अथवा शारीरिक रचना विषयक ये वैज्ञानिक अध्ययन केवल बौद्धिक व्यायाम हैं और अन्ततः भ्रम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होते। आधुनिक भौतिक सभ्यता के प्रसंग में विज्ञान तथा ज्ञान सम्बन्धी ऐसी सारी प्रगति माया के आच्छादक प्रभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं होती। माया की दो अवस्थाएँ होती हैं—आच्छादक प्रभाव तथा क्षेपक प्रभाव। क्षेपक प्रभाव के कारण माया जीवों को अविद्या के अन्धकार में गिरा देती है और आच्छादक प्रभाव से वह अल्प ज्ञानियों की आँखें ढक देती है, जिससे वह परम पुरुष के अस्तित्व के विषय में, जिसने सर्वोपरि जीवात्मा ब्रह्मा को प्रकाश दिया, अज्ञानी बना रहता है। यहाँ पर परमेश्वर के साथ ब्रह्मा के तादात्म्य का दावा नहीं किया गया है, अतः अल्पज्ञानियों द्वारा ऐसा मूर्खतापूर्ण दावा भगवान् की माया का दूसरा प्रदर्शन है। भगवान् ने *भगवद्गीता* (१६.१८-२०) में कहा है—ईश्वर के अस्तित्व को न मानने वाले आसुरी लोगों को अविद्या के अन्धकार में बारबार डाला जाता है, जिससे वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को जाने बिना जन्म-जन्मान्तर देहान्तर करते रहते हैं।

किन्तु विचारवान पुरुष स्वयं भगवान् से उपदिष्ट ब्रह्माजी की शिष्य-परम्परा से, जिन्हें भगवान् ने स्वयं उपदेश दिया या अर्जुन की शिष्य-परम्परा से जिन्हें स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* का उपदेश दिया, प्रबुद्ध होते हैं। उसे भगवान् का यह कथन मान्य होता है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

(*भगवद्गीता* १०.८)

भगवान् समस्त तेजों तथा जो कुछ भगवान् की शक्ति से उत्पन्न हुआ है, पालित है और विनाश को प्राप्त होता है, उन सबके मूल स्रोत हैं। जो विचारवान मनुष्य इसे जान लेता है, वही वास्तव में विद्वान है और वही भगवान् का शुद्ध भक्त बनकर भगवान् की प्रेमाभक्ति में रत होता है।

यद्यपि अल्पज्ञानी के समक्ष भगवान् की प्रतिबिम्बक शक्ति अनेक भ्रम उत्पन्न करती है, किन्तु विचारवान व्यक्ति जानता है कि भगवान् अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा हमारी दृष्टि से दूर से दूरतर स्थान में रहकर उसी प्रकार कार्य कर सकते हैं जिस प्रकार दूर स्थान में रखी अग्नि गर्मी तथा प्रकाश

फैलाती है। प्राचीन ऋषियों के औषधि विज्ञान आयुर्वेद में भगवान् की श्रेष्ठता को निम्नलिखित शब्दों में स्वीकार किया गया है—

जगद्योनेरनिच्छस्य चिदानन्दैकरूपिण:।

पुंसोऽस्ति प्रकृतिर्नित्या प्रतिच्छायेव भास्वत:॥

अचेतनापि चैतन्ययोगेन परमात्मन:।

अकरोद्विश्वमखिलम् अनित्यम् नाटकाकृतिम्॥

इस विश्व का एक जनक है, जिसे परम पुरुष कहते हैं और जिसकी शक्ति प्रतिबिम्ब रूप में चकाचौंध करती हुई भौतिक प्रकृति के रूप में कार्य करती है। प्रकृति के ऐसे भ्रमपूर्ण कार्य से मृत पदार्थ भी भगवान् की जीवित शक्ति के सहयोग से गति करने लगता है और अज्ञानी नेत्रों को यह भौतिक जगत नाटक के खेल की तरह प्रतीत होता है। अत: प्रकृति के नाटक में अज्ञानी पुरुष विज्ञानी अथवा शरीरक्रिया विज्ञानी भी हो सकता है, किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति जानता है कि प्रकृति भगवान् की माया है। ऐसे निष्कर्ष से, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* द्वारा होती है, यह स्पष्ट है कि जीवात्माएँ भी भगवान् की ज्येष्ठा शक्ति (पराप्रकृति) के प्रदर्शनस्वरूप हैं जिस प्रकार भौतिक जगत भगवान् की कनिष्ठा शक्ति (अपरा शक्ति) का प्रदर्शन है। भगवान् की ज्येष्ठा शक्ति कभी भी भगवान् के समान नहीं हो सकती, यद्यपि शक्ति तथा शक्तिमान में थोड़ा ही अन्तर है जितना कि अग्नि तथा ताप में। अग्नि में ताप होता है, किन्तु ताप अग्नि नहीं है। अल्पज्ञानी की समझ में इतनी सामान्य बात नहीं चढ़ती और वह झूठे ही अग्नि तथा ताप को एक ही बताता है। अग्नि की इस शक्ति (ताप) को सीधे अग्नि न कहकर उसका प्रतिबिम्ब कहा गया है। अत: जीवात्मा के रूप में जीवित शक्ति का प्रदर्शन भगवान् न होकर भगवान् का प्रतिबिम्ब होता है। भगवान् का प्रतिबिम्ब होने के कारण जीवात्मा का अस्तित्व भगवान् पर आश्रित है, जो मूल प्रकाश है। इस भौतिक शक्ति की तुलना अन्धकार से की जा सकती है, क्योंकि वह वस्तुत: अन्धकारस्वरूप होती है और अन्धकार में जीवात्माओं के कार्यकलाप मूल प्रकाश के प्रतिबिम्ब होते हैं। इस श्लोक के आधार पर भगवान् को समझना होगा। भगवान् की दोनों शक्तियों की अ-पराश्रिता को माया या भ्रम कहा गया है। केवल प्रकाश के प्रतिबिम्ब से अविद्याजन्य अन्धकार

को दूर करना मुश्किल है। इसी प्रकार सामान्य पुरुष के प्रतिबिम्बित प्रकाश से इस भौतिक संसार से बाहर निकल पाना कठिन है, जब तक मूल प्रकाश से प्रकाश प्राप्त न हो ले। अंधकार में सूर्य का प्रतिबिम्ब अंधकार को दूर करने में असमर्थ रहता है, किन्तु प्रतिबिम्ब से बाहर सूर्य का प्रकाश अन्धकार को दूर कर देता है। यदि कमरे में अंधकार हो तो कोई भी वस्तु नहीं दिखती। इसीलिए अंधकार में मनुष्य को साँपों तथा बिच्छुओं से भय लगता है, भले ही वे वहाँ पर न हों। किन्तु प्रकाश में कमरे की सारी वस्तुएँ स्पष्ट दिखती हैं और साँप-बिच्छुओं का भय भी तुरन्त जाता रहता है। अत: मनुष्य को भगवान् के प्रकाश की—जैसे *भगवद्‌गीता* या *श्रीमद्‌भागवत* की शरण ग्रहण करनी चाहिए, किन्तु ऐसे प्रतिबिम्ब रूपी पुरुषों की नहीं जो भगवान् के सम्पर्क में नहीं रहते। किसी भी मनुष्य को *भगवद्‌गीता* या *श्रीमद्‌भागवत* का श्रवण ऐसे पुरुष से नहीं करना चाहिए जो भगवान् के अस्तित्व पर विश्वास नहीं रखता (आस्तिक नहीं है)। ऐसे व्यक्ति का विनाश होना ही है और जो ऐसे पुरुष की संगति करता है उसका भी विनाश होता है।

पद्म पुराण के अनुसार भौतिक ब्रह्माण्ड अनन्त है और वे सारे के सारे अंधकार से पूर्ण हैं। सभी जीव, ब्रह्मा (अनन्त ब्रह्माण्डों में असंख्य ब्रह्मा हैं) से लेकर नगण्य चीटियों तक, अन्धकार में ही उत्पन्न होते हैं और इसके लिए कि वे भगवान् को प्रत्यक्ष देख सकें, भगवान् से प्रकाश प्राप्त करने की आवश्यकता होती है, जिस प्रकार सूर्य को सूर्य के सीधे प्रकाश द्वारा ही देख पाना सम्भव है। किसी भी दीपक या मनुष्यनिर्मित टार्च के प्रकाश से सूर्य को नहीं देखा जा सकता भले ही वह कितना भी शक्तिशाली हो। सूर्य अपने को स्वयं प्रकाशित करता है, अत: भगवान् की विभिन्न शक्तियों के कर्म को अथवा भगवान् को अहैतुकी कृपा द्वारा प्रकट किये गये प्रकाश से ही अनुभव किया जा सकता है। निर्विशेषवादियों का कहना है कि ईश्वर देखा नहीं जा सकता। ईश्वर को तो ईश्वर के प्रकाश से ही देखा जा सकता है, मानवीय चिन्तन द्वारा नहीं। यहाँ इस प्रकाश को विशेष रूप से *विद्यात्* कहा गया है, जो ब्रह्मा के लिए भगवान् का आदेश है। भगवान् का यह प्रत्यक्ष आदेश उनकी अन्तरंगा शक्ति का प्राकट्य है और इसी शक्ति विशेष द्वारा भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन किया जा सकता है। ऐसा नहीं है कि केवल ब्रह्मा को ही ऐसा अवसर प्राप्त हो, अपितु जिस किसी पर भगवान् की कृपा होती है, वह अन्तरंगा

शक्ति के द्वारा कल्पना के बिना ही श्रीभगवान् का साक्षात्कार कर सकता है।

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु ।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; महान्ति—सर्वव्यापी; भूतानि—तत्त्व; भूतेषु उच्च-अवचेषु—लघु तथा विराट में; अनु—पीछे; प्रविष्टानि—प्रवेश कर लिया; अप्रविष्टानि—प्रविष्ट नहीं; तथा—उसी तरह; तेषु—उनमें; न—नहीं; तेषु—उनमें; अहम्—मैं।

हे ब्रह्मा, तुम यह जान लो कि ब्रह्माण्ड के सारे तत्त्व विश्व में प्रवेश करते हुए भी प्रवेश नहीं करते हैं। उसी प्रकार मैं उत्पन्न की गई प्रत्येक वस्तु में स्थित रहते हुए भी साथ ही साथ प्रत्येक वस्तु से पृथक् रहता हूँ।

तात्पर्य : भौतिक सृष्टि के महान् तत्त्व अर्थात् क्षिति, जल, पावक, समीर तथा गगन समस्त प्रकट वस्तुओं, चाहे समुद्र हो या पर्वत, अथवा जलचर, पौधे, सरीसृप, पक्षी, पशु, मनुष्य, देवता अथवा जिनका भी अस्तित्व है, उनके शरीर में प्रवेश करते हैं, किन्तु साथ ही साथ वे उनसे पृथक् भी स्थित रहते हैं। चेतना के विकसित होने पर मनुष्य शरीरक्रिया तथा भौतिक विज्ञान का अध्ययन कर सकता है, किन्तु ऐसे विज्ञानों के मूल सिद्धान्त भौतिक तत्त्वों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं। चाहे मनुष्य का शरीर हो या पर्वत हो, चाहे ब्रह्मा समेत देवताओं का शरीर हो, वे सभी एक से तत्त्वों क्षिति, जल इत्यादि से बने और उसी के साथ ही ये तत्त्व शरीर से बाहर भी हैं। पहले तत्त्वों की उत्पत्ति हुई, अत: वे शरीर में बाद में प्रविष्ट हुए, किन्तु दोनों ही दशाओं में वे विश्व में प्रविष्ट हुए और नहीं भी प्रविष्ट हुए। इसी प्रकार परमेश्वर अपनी विभिन्न शक्तियों—अन्तरंगा तथा बहिरंगा—सहित इस ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु के भीतर स्थित हैं और उसी के साथ-साथ वे प्रत्येक वस्तु के बाहर वैकुण्ठ लोक में स्थित रहते हैं, जैसाकि पहले कहा जा चुका है। *ब्रह्म-संहिता* (५.३७) में इसका वर्णन अति सुन्दर ढंग से इस प्रकार मिलता है—

आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभिस्

ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभि: ।

गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि श्रीभगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अपनी सच्चिदानन्द रूप अन्तरंगा शक्ति के विस्तार से, स्व तथा अंशों का सुख उठाते हैं और साथ ही वे सृष्टि के कण-कण में भी व्याप्त रहते हैं।"

उसी *ब्रह्म-संहिता* (५.३५) में उनके अंशों के इस विस्तार का और भी ठीक तरह से वर्णन हुआ है। यथा

एकोऽप्यसौ रचयितुं जगदण्डकोटिं

यच्छक्तिरस्ति जगदण्डचया यदन्त:।

अण्डान्तरस्थ परमाणुचयान्तरस्थं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि श्रीभगवान् गोनिन्द की पूजा करता हूँ जो अपने एक अंश के द्वारा प्रत्येक ब्रह्माण्ड तथा प्रत्येक परमाणु में प्रविष्ट होते हैं और इस प्रकार समग्र सृष्टि भर में अपनी अनन्त शक्ति का असीम प्राकट्य करते हैं।"

निर्विशेषवादी कल्पना कर सकते हैं और चाहें तो देख सकते हैं कि परब्रह्म सर्वव्यापी हैं। इस प्रकार वे इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि उनके साकार होने की कोई संभावना नहीं है। यही भगवान् के दिव्य ज्ञान का रहस्य है। यह रहस्य भगवान् का दिव्य प्रेम है और जो भी भगवान् के ऐसे दिव्य प्रेम से पूरित होता है, वही प्रत्येक परमाणु तथा जड़ एवं चेतन पदार्थ में भगवान् के दर्शन कर सकता है। साथ ही वह भगवान् को उनके धाम गोलोक में अपने नित्य पार्षदों के साथ, जो उनके ही विस्तार हैं, नित्य लीला करते देख सकता है। यही दृष्टि आध्यात्मिक ज्ञान का वास्तविक रहस्य है, जैसाकि भगवान् ने प्रारम्भ में कहा है (*स रहस्यं तदंगं च*)। यह रहस्य परमेश्वर के ज्ञान का परम गुह्य भाग है और इसे चिन्तक बौद्धिक व्यायाम द्वारा कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते। यह रहस्य *ब्रह्म-संहिता* (५.३८) में ब्रह्माजी द्वारा बताई निम्नलिखित विधि से प्रकाश में आता है—

प्रेमांजनच्छुरितभक्तिविलोचनेन

सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि श्रीभगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जिनका दर्शन शुद्ध भक्त अपनी आँखों में भगवद्प्रेम रूपी अञ्जन लगाकर सदैव अपने हृदयों के भीतर करते हैं। यह गोविन्द समस्त दिव्य गुणों से पूर्ण श्यामसुन्दर स्वरूप हैं।"

अत: पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् प्रत्येक परमाणु में स्थित होकर भी शुष्क चिन्तकों के लिए अदृश्य बने रहते हैं; तो भी शुद्ध भक्तों के नेत्रों के समक्ष सारा रहस्य खुल जाता है, क्योंकि उनमें प्रेमांजन जो लगा रहता है। यह भगवद्प्रेम भगवान् की प्रेमाभक्ति की साधना से ही प्राप्त हो सकता है और किसी तरह नहीं। भक्त की दृष्टि सामान्य नहीं होती वह भक्ति-मय सेवा के द्वारा परिष्कृत हो जाती है। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार ब्रह्माण्ड के सारे तत्त्व बाहर तथा भीतर हैं उसी तरह भगवान् के नाम, रूप, गुण लीलाएँ, पार्षद आदि जिस तरह उनका शास्त्रों में वर्णन हैं या भौतिक संसार से परे वे वैकुण्ठ लोक में दिखते हैं ये सभी भक्त के हृदय में उसी प्रकार दिखते हैं जैसे टेलीविजन में वस्तुएँ दिखती हैं। अल्पज्ञानी पुरुष इसे नहीं समझ पाता यद्यपि वह भौतिक विज्ञान के अन्तर्गत टेलीविजन के द्वारा दूर-दूर की वस्तुएँ देख सकता है। वस्तुत: आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत हुआ व्यक्ति अपने हृदय में भगवान् के धाम का टेलीविजन प्रतिबिम्ब सदैव प्राप्त कर सकता है। भगवान् के ज्ञान का यही रहस्य है।

भगवान् प्रत्येक प्राणी को इस संसार के बन्धन से मुक्ति दिला सकते हैं, किन्तु विरले ही वे भगवत्प्रेम का अधिकार प्रदान करते हैं जिसकी पुष्टि नारद ने भी की है (*मुक्तिं दधाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्*)। भगवान् की यह दिव्य भक्ति इतनी अद्भुत है कि सुपात्र भक्त परम सत्य से ध्यान हटाए बिना मनोनुकूल शारीरिक कार्य में तल्लीन रहता है। इस प्रकार भक्त के हृदय में भगवत्प्रेम का उदय एक महान् रहस्य है। ब्रह्माजी पहले ही नारद से कह चुके हैं कि भगवान् की दिव्यभक्ति में लीन रहने के कारण उनकी इच्छाएँ कभी भी अतृप्त नहीं रहतीं, न ही उनके मन में भक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई इच्छा रहती है। भक्तियोग की यही सुन्दरता है तथा यही रहस्य है। जिस प्रकार अच्युत होने के कारण

उनकी इच्छा अचूक है उसी प्रकार दिव्यभक्ति में लगे भक्तों की इच्छाएँ भी अच्युत हैं। किन्तु जिसे भक्ति के रहस्य का ज्ञान नहीं, ऐसे अज्ञानी के लिए यह समझ पाना कठिन है, जिस प्रकार कि पारस पत्थर की शक्ति को समझ पाना। पारस पत्थर अत्यन्त विरल है उसी प्रकार भगवान् का शुद्ध भक्त भी लाखों मुक्त पुरुषों में विरले ही पाया जाता है। (*कोटिष्वपि महामुने*)। ज्ञान के द्वारा जितनी भी सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं, उनमें से भक्ति में योग सिद्धि सर्वोच्च और सर्वाधिक गुह्य सिद्धि है, यहाँ तक कि योगाभ्यास से प्राप्त होने वाली अष्ट सिद्धियों में से भी अधिक गुप्त। अत: भगवान् ने *भगवद्गीता* (१८.६४) में अर्जुन को इस भक्तियोग का उपदेश दिया है।

सर्वगुह्यतमम् भूय: शृणु मे परमं वच:—भगवद्गीता में सब गोपनीयों में भी गोपनीय मेरे परम सार वचन को फिर से सुन। इसी वचन की पुष्टि ब्रह्माजी द्वारा नारद को कहे गये शब्दों से होती है—

इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतोदितम्।

संग्रहोऽयं विभूतीनां त्वमेतद्विपुलीकुरु॥

ब्रह्माजी ने नारद से कहा, "मैंने *भागवत* के विषय में तुमसे जो कुछ कहा है, वही मुझसे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने कहा था और मैं तुम्हें परमार्श दे रहा हूँ जिससे तुम इन कथाओं का उत्तम ढंग से विस्तार कर दो जिससे लोग भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति से गुह्य भक्तियोग को सरलता से समझ सकें।" यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि ब्रह्मा को भक्तियोग का रहस्य भगवान् ने स्वयं बतलाया था। ब्रह्मा ने उस रहस्य को नारद को, नारद ने उसे व्यास को और व्यास ने शुकदेव गोस्वामी को समझाया और यही ज्ञान शुद्ध शिष्य-परम्परा से अब तक चला आ रहा है। यदि कोई इतना भाग्यशाली हो कि उसे शिष्य-परम्परा का यह ज्ञान प्राप्त हो सके तो वह भगवान् के रहस्य तथा उनके शब्द अवतार *श्रीमद्भागवत* के रहस्य को समझ सकता है।

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्व-जिज्ञासुनात्मन: ।
अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

एतावत्—यहाँ तक; **एव**—निश्चय ही; **जिज्ञास्यम्**—पूछा जाना चाहिए; **तत्त्व**—परम सत्य; **जिज्ञासुना**—विद्यार्थी द्वारा; **आत्मन:**—स्व का; **अन्वय**—प्रत्यक्ष; **व्यतिरेकाभ्याम्**—अप्रत्यक्ष रूप से; **यत्**—जो भी; **स्यात्**—सम्भव है; **सर्वत्र**—सभी जगह तथा सर्वकाल में; **सर्वदा**—समस्त परिस्थितियों में।

जो व्यक्ति परम सत्य रूप श्रीभगवान् की खोज में लगा हो उसे चाहिए कि वह समस्त परिस्थितियों में सर्वत्र और सर्वदा प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों ही प्रकार से इसकी खोज करे।

तात्पर्य : जैसा पिछले श्लोक में कहा गया है भक्तियोग के रहस्य को जान लेना ही जिज्ञासु के लिए समस्त जिज्ञासाओं की परम अवस्था या उनका परम लक्ष्य है। प्रत्येक व्यक्ति भिन्न-भिन्न ढंग से आत्म-साक्षात्कार की खोज में लगा हुआ है—चाहे वह कर्म-योग से हो, ज्ञानयोग से हो, या कि ध्यानयोग या राजयोग से हो, अथवा भक्तियोग से हो। प्रत्येक चेतनायुक्त जीवात्मा का कर्तव्य है कि आत्म-साक्षात्कार में प्रवृत्त हो। जो चेतना में उन्नत है, वह निश्चय ही आत्मा के विषय में, विश्व के विषय में तथा जीवन के समस्त क्षेत्रों के विषय में—यथा सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आचार सम्बन्धी विषयों तथा उनकी विविध शाखाओं के विषय में जिज्ञासा करता है। किन्तु यहाँ पर तो ऐसी समस्त जिज्ञासाओं के लक्ष्य को बताया गया है।

वेदान्त सूत्र दर्शन जीवन विषयक इसी जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है और *भागवत* ऐसी समस्त जिज्ञासाओं का इस बिन्दु तक अथवा समस्त जिज्ञासाओं के रहस्य का उत्तर देता है। ब्रह्माजी चाहते थे कि भगवान् उन्हें पूरी तरह शिक्षित कर दें और यहाँ पर भगवान् द्वारा दिया गया उत्तर चार संक्षिप्त श्लोकों में *अहमेव* श्लोक से लेकर *एतावदेव* तक है। यही आत्म-साक्षात्कार विधियों का समापन है। अन्धकार में चकाचौंध से मोहग्रस्त होने के कारण मनुष्य यह नहीं जान पाते कि जीवन का चरम लक्ष्य श्रीभगवान् विष्णु हैं; फलस्वरूप प्रत्येक प्राणी अनियन्त्रित इन्द्रियों द्वारा घुमाया-फिराया जाकर इस संसार के गहनतम अंधकार में धँसता जाता है। समग्र भौतिक संसार इन्द्रिय-तृप्ति, मुख्यतया कामवासना पर आधारित कामनाओं के कारण उत्पन्न हुआ है फलस्वरूप ज्ञान की समस्त प्रगति के बावजूद समस्त जीवों का अन्तिम लक्ष्य इन्द्रिय-तृप्ति ही रहता है। किन्तु यहाँ पर वास्तविक जीवन-लक्ष्य बताया गया है, जिसे भक्तियोग के ज्ञान में दक्ष प्रामाणिक गुरु या जीवित *भागवत* जीवन के जीवन्त पुरुष समक्ष जिज्ञासा करके जानना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति अनेक प्रकार की धर्म सम्बन्धी जिज्ञासाओं में लगा हुआ है, किन्तु *श्रीमद्भागवत* आत्म-साक्षात्कार के समस्त जिज्ञासुओं को उत्तर प्रदान करने वाला है। जीवन का यह परम-लक्ष्य कठोर परिश्रम अथवा लगन के बिना नहीं खोजा जा

सकता। जो व्यक्ति ऐसी सच्ची जिज्ञासाओं से प्रेरित होता हो उसे चाहिए कि ब्रह्माजी की शिष्य–परम्परा के प्रामाणिक गुरु से पूछे। यही इस श्लोक में निर्देशित है। चूँकि भगवान् ने इस रहस्य को ब्रह्माजी के समक्ष प्रकट किया था, अत: आत्म–साक्षात्कार सम्बन्धी सारी जिज्ञासाएँ ऐसे गुरु के समक्ष प्रकट की जानी चाहिए, जो शिष्य–परम्परा से मान्य भगवान् का सीधा प्रतिनिधि हो। ऐसा प्रामाणिक गुरु शास्त्रों के प्रमाण के आधार पर प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से सारी बात को स्पष्ट करने में समर्थ होता है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति को छूट है कि वह इस सम्बन्ध में शास्त्रों का अवलोकन करे, किन्तु फिर भी उसे प्रामाणिक गुरु के पथ–प्रदर्शन की आवश्यकता पड़ती है। इस श्लोक में यही आदेश है। प्रामाणिक गुरु भगवान् का सबसे अधिक विश्वासपात्र प्रतिनिधि होता है, अत: मनुष्य को चाहिए कि गुरु से उसी भाव से आदेश प्राप्त करे जिस प्रकार ब्रह्माजी ने भगवान् श्रीकृष्ण से प्राप्त किया था। उस शिष्य–परम्परा में प्रामाणिक गुरु कभी भी अपने को भगवान् नहीं कहता, यद्यपि ऐसा गुरु भगवान् से भी बड़ा होता है, क्योंकि वह अपने व्यक्तिगत अनुभव से भगवान् को दूसरों को सौंप सकता है। भगवान् को केवल शिक्षा या उर्वर मस्तिष्क के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता, किन्तु प्रामाणिक गुरु के पारदर्शी माध्यम से जिज्ञासु को उसकी प्राप्ति हो सकती है।

शास्त्रों में इसके सीधे निर्देश प्राप्त हैं, किन्तु जीवात्माएँ अन्धकार में चकाचौंध के द्वारा मोहग्रस्त होने के कारण अंधी होने से शास्त्रों के सत्य को खोज पाने में अक्षम रहती हैं। उदाहरणार्थ, *भगवद्गीता* में सारा आदेश भगवान् श्रीकृष्ण की ओर लक्षित है, किन्तु ब्रह्माजी की परम्परा में प्रामाणिक गुरु के अभाव में, अथवा अर्जुन जैसे प्रत्यक्ष श्रोता के अभाव में, अनेक अवैध पुरुष अपनी सनकों की तुष्टि के लिए इस दिव्य ज्ञान को तोड़–मोड़ कर प्रस्तुत करते हैं। निस्सन्देह, परव्योम के क्षितिज में *भगवद्गीता* सर्वाधिक प्रकाशमान नक्षत्र है, किन्तु इस महान् ज्ञान–ग्रंथ की व्याख्याएँ इतनी बुरी तरह से तोड़ी–मरोड़ी गई हैं कि *भगवद्गीता* का प्रत्येक जिज्ञासु भौतिक चमक–दमक के अंधकार में अभी भी पड़ा हुआ है। ऐसे जिज्ञासुओं को शायद ही *भगवद्गीता* से प्रकाश मिल पाता हो। गीता में मुख्य रूप से वही आदेश दिया गया है, जो *भागवत* के इन चार मूल श्लोकों में प्राप्त है, किन्तु अनधिकृत व्यक्तियों द्वारा इसकी गलत तथा फैशनपरस्त व्याख्या से कोई सही निष्कर्ष तक नहीं पहुँच पाता। *भगवद्गीता*

(१८.६१) में स्पष्ट उल्लेख है—

ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

भगवान् परमात्मा रूप में सभी जीवों के हृदयों में स्थित हैं और अपनी बहिरंगा शक्ति के द्वारा संसार के समस्त प्राणियों को नियन्त्रण में रखते हैं। अत: यह स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् परम नियन्ता हैं और जीवात्माएँ भगवान् द्वारा नियन्त्रित हैं। उसी *भगवद्गीता* (१८.६५) में भगवान् आदेश देते हैं कि—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

इससे स्पष्ट है कि भगवान् का आदेश है कि मनुष्य को भगवतो-मुखी, भगवान् का भक्त, उन्हीं का उपासक होना चाहिए और भगवान् श्रीकृष्ण को ही नमस्कार करना चाहिए। ऐसा करने से भक्त निस्संदेह भगवान् के धाम को प्राप्त होगा।

अप्रत्यक्ष रूप से यह कहा जाता है कि मानव समाज की सम्पूर्ण वैदिक संरचना इस प्रकार बनी हुई है कि प्रत्येक व्यक्ति भगवान् के पूरे शरीर के अंग-प्रत्यंग के रुप में कार्यकरता है। ज्ञानी पुरुष अर्थात् ब्राह्मण भगवान् के मुख पर स्थित हैं शासक वर्ग अर्थात् क्षत्रिय उनकी बाहुओं पर व्यापारी वर्ग अर्थात् वैश्य भगवान् के कटि भाग पर तथा श्रमिक वर्ग या शूद्र भगवान् के पाँवों पर स्थित हैं। अत: सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचा भगवान् का शरीर है और शरीर के विविध भाग—यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सभी मिलकर भगवान् के पूरे शरीर की सेवा करने के निमित्त हैं, अन्यथा ये भाग एकता की परम चेतना में समन्वित किए जाने के योग्य नहीं रह जाते। श्रीभगवान् से सम्बद्ध सभी की समन्वित सेवा से विश्वचेतना प्राप्त की जा सकती है, अत: बड़े से बड़े वैज्ञानिक, महान् दार्शनिक, चिन्तक, राजनीतिज्ञ, उद्योगपति, समाज सुधारक इत्यादि तक भी इस संसार के अशान्त समाज को कोई राहत नहीं दिला सकते, क्योंकि वे *भागवत* के इस श्लोक में वर्णित सफलता के रहस्य अर्थात् *भक्तियोग* के रहस्य को नहीं जानते। *भगवद्गीता* (७.१५) में भी कहा गया है :

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमः ।

माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

चूँकि मानव समाज के तथाकथित बड़े-बड़े नेता भक्तियोग के इस महान् ज्ञान से अनजान रहते हैं और भगवान् की बहिरंगा शक्ति से मोहित होकर सदैव इन्द्रिय-तृप्ति के निकृष्ट कार्यों में संलग्न रहते हैं, अतः वे परमेश्वर की श्रेष्ठता के कट्टर विरोधी होते हैं और वे भगवान् की शरण में जाना कभी स्वीकार नहीं करते, क्योंकि वे मूर्ख, बदमाश तथा नराधम हैं। ऐसे श्रद्धारहित नास्तिक चाहे उन्हें कितनी ही उच्च शिक्षा प्राप्त क्यों न हो, वास्तव में संसार के सबसे बड़े मूर्ख हैं, क्योंकि बहिरंगा प्रकृति के प्रभाव से उनका सारा ज्ञान व्यर्थ हो जाता है। अतः सारा आधुनिक समुन्नत ज्ञान कुत्ते-बिल्लियों के समान इन्द्रिय-तुष्टि के लिए आपस में लड़ने में लग जाता है और विज्ञान, दर्शन, कला, राष्ट्रीयता, आर्थिक विकास, धर्म के सम्बन्ध में अर्जित सारा ज्ञान तथा सारे महान् कार्य उसी प्रकार व्यर्थ कर दिये जाते हैं जिस प्रकार शव के लिए प्रयुक्त वस्त्र। शव-शय्या को विविध प्रकार के वस्त्रों से ढक कर मूर्ख जनता से झूठी वाहवाही लूटने से कोई लाभ नहीं। अतः *श्रीमद्भागवत* बारम्बार कहता है कि भक्तियोग का पद प्राप्त किये बिना मानव समाज के सारे कार्यकलाप निष्फल होते हैं। कहा गया है—

पराभवस्तावदबोधजातो

यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम् ।

यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै

कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः ॥

(*भागवत* ५.५.५)

जब तक मनुष्य आत्म-साक्षात्कार की जिज्ञासा की उपेक्षा करता है तब तक बड़े से बड़े भौतिक कार्यकलाप पराजय-स्वरूप होते हैं, क्योंकि मानव जीवन का उद्देश्य ऐसे अवांछित तथा व्यर्थ के कार्यों से पूर्ण नहीं होता। मनुष्य शरीर का कार्य भव-बन्धन से मुक्त होना है, किन्तु जब तक कोई भौतिक कार्यों में लीन रहेगा तब तक उसका मन पदार्थ की भँवर में घूमता रहेगा और वह जन्म-जन्मान्तर देह के बन्धन में फँसता रहेगा।

एवं मनः कर्मवशं प्रयुङ्क्ते

अविद्ययात्मन्युपधीयमाने।

प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे

न मुच्यते देहयोगेन तावत्॥

(*भागवत* ५.५.६)

मन के ही कारण विविध देह धारण करके, सभी प्रकार की भौतिक यातनाएँ भोगनी होती हैं। अतः जब तक मन सकाम कर्म में लीन रहता है, उसे अज्ञान में लगा हुआ समझना चाहिए, अतः जब तक कि मनुष्य परम पुरुष भगवान् वासुदेव के प्रति दिव्य प्रेम उत्पन्न नहीं कर लेता तब तक वह पुनःपुनः विभिन्न देहों में भवबन्धन में पड़ता रहेगा। परम पुरुष वासुदेव के दिव्य नाम, गुण, रूप तथा लीलाओं में मग्न रहने का अर्थ है मन की वृत्ति को पदार्थ से परम ज्ञान में बदल देना जिससे परम बोध के पथ पर अग्रसर हुआ जा सकता है और इस प्रकार भवबन्धन तथा विभिन्न देहों के जाल से छुटकारा पाया जा सकता है।

अतः श्रील जीव गोस्वामी प्रभुपाद सर्वत्र सर्वदा शब्दों की टीका इस अर्थ में करते हैं कि भक्तियोग के नियम सभी परिस्थितियों के लिए उपयुक्त हैं, अर्थात् भक्तियोग समस्त शास्त्रों में संस्तुत है यह समस्त अधिकारियों द्वारा प्रयुक्त है यह सभी स्थानों पर महत्त्व रखता है यह समस्त कार्य-कारणों में उपयोगी है इत्यादि। जहाँ तक सभी शास्त्रों का सम्बन्ध है, वे स्कन्द पुराण से ब्रह्मा तथा नारद की कथा का निम्न उद्धरण देते हैं—

संसारेऽस्मिन् महाघोरे जन्ममृत्युसमाकुले।

पूजनं वासुदेवस्य तारकं वादिभिः स्मृतम्॥

यह संसार अंधकार तथा भय के साथ-साथ जन्म-मरण तथा विभिन्न चिन्ताओं से पूर्ण है और इस विशाल जाल से निकलने का एकमात्र उपाय भगवान् वासुदेव की दिव्य प्रेमाभक्ति को स्वीकार करना है। सभी वर्ग के दार्शनिकों ने इसे स्वीकार किया है।

श्रील जीव गोस्वामी एक अन्य व्यापक उद्धरण देते हैं, जो *पद्म पुराण, स्कन्द पुराण* तथा *लिंग*

पुराण—इन तीनों में पाया जाता है। यह इस प्रकार है—

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।

इदम् एकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥

"शास्त्रों के आलोडन तथा उनके बारम्बार पुनरीक्षण से यह निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् नारायण ही परम सत्य हैं, अतः केवल उन्हीं की पूजा करनी चाहिए।"

यही सत्य अप्रत्यक्ष रूप में *गरुड़ पुराण* में इस प्रकार बताया गया है—

पारंगतोऽपि वेदानां सर्वशास्त्रार्थवेद्यपि।

यो न सर्वेश्वरे भक्तस्तं विद्यात् पुरुषाधमम्॥

"भले ही कोई समस्त वेदों का अवगाहन कर चुका हो और समस्त शास्त्रों में निपुण हो, किन्तु यदि वह परमेश्वर का भक्त नहीं है, तो उसे नराधम समझना चाहिए।" इसी प्रकार *श्रीमद्भागवत* (५.१८.१२) में भी अपरोक्ष रीति से कहा गया है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना

सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।

हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा

मनोरथेनासति धावतो बहिः॥

जिसमें भगवान् के प्रति अटल भक्ति है उसमें देवताओं के समस्त सद्गुण रहते हैं, किन्तु इसके विपरीत जो भगवान् का भक्त नहीं है, वह कल्पना (चिन्तन) के अन्धकार में भटकता रहता है और नाशवान भौतिकता में लगा रहता है। *श्रीमद्भागवत* (११.११.१८) का कथन है—

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि।

श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः॥

"भले ही कोई वेदों के समस्त दिव्य साहित्य में निष्णात् हो, किन्तु यदि वह परमेश्वर को नहीं जानता तो यह समझना चाहिए कि उसकी सारी शिक्षा पशु का भार उठाने तुल्य अथवा दूध न देने वाली गाय के पालने के समान है।"

इसी प्रकार भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करने की छूट प्रत्येक व्यक्ति यहाँ तक कि स्त्री, शूद्र, वन्य जातियों या अन्य किसी भी पापमय स्थितियों में जी रहे जीवों के लिए भी है।

ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां

स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपि पापजीवाः।

यद्यद्भुतक्रमपरायणशीलशिक्षा-

स्तिर्यग्जना अपि किमु श्रुतधारणा ये॥

(*भागवत* २.७.४६)

यदि भगवद्भक्ति में निष्णात् प्रामाणिक गुरु द्वारा नराधमों को भी शिक्षा मिले तो वे भक्ति के उच्चस्थ पद तक उठ सकते हैं। जब नराधम तक भी इतने ऊँचे उठ सकते हैं, तो जो वैदिक ज्ञान में निष्णात् सर्वोच्च हैं उनके विषय में कुछ कहना ही क्या है! निष्कर्ष यह निकला कि भगवद्भक्ति के द्वार सबों के लिए खुले हैं, चाहे वे जो भी हों। यह सब प्रकार के लोगों द्वारा भक्ति से लाभ उठाये जाने की पुष्टि है।

अतः हर एक के लिए, यहाँ तक कि यदि वह मनुष्य न हो तो भी, प्रामाणिक गुरु की शिक्षा द्वारा प्राप्त पूर्णज्ञान सहित भगवान् की भक्ति की सलाह दी गई है। *गरुड़ पुराण* में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—

कीटपक्षिमृगाणां च हरौ संन्यस्तचेतसाम्।

ऊर्ध्वामेव गतिं मन्ये किं पुनर्ज्ञानिनां नृणाम्॥

"जहाँ कीटों, पक्षियों तथा पशुओं तक को भगवान् की दिव्य भक्ति के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित होने पर उच्चतम सिद्धि-पद तक ऊपर उठने का आश्वासन प्राप्त हो, वहाँ मनुष्यों में *ज्ञानियों* के विषय में क्या कहा जाय?"

अतः भगवान् की भक्तिमय सेवा करने के लिए समुचित योग्य पात्रों के ढूँढ़े जाने की आवश्यकता नहीं होती है चाहे वे शिष्ट हों या अशिक्षित, विद्वान हों अथवा मूर्ख आसक्त हों या विरक्त मुक्त हों या मुक्ति के कामी भक्ति करने में सक्षम हों या अक्षम। सभी लोग उचित पथ-प्रदर्शन से भक्ति करते हुए

परम पद को प्राप्त हो सकते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.३०, ३२) में इस प्रकार हुई है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

यदि समस्त प्रकार के पापकर्मों में रत कोई व्यक्ति उचित पथ-निर्देशन में भगवान् की भक्ति करता है, तो उसे निस्सन्देह परम पवित्र पूर्ण पुरुष समझना चाहिए। अतः कोई भी पुरुष या स्त्री, चाहे वह जो भी हो और जैसा भी हो—यहाँ तक कि पतित स्त्री, शूद्र, वैश्य या इनसे भी निम्नपुरुष, यदि भगवान् के चरणकमलों की निष्ठापूर्वक शरण ग्रहण करता है, तो वह भगवान् के धाम को लौटकर जीवन की परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। यही निष्ठा एकमात्र पात्रता (योग्यता) है, जिससे वह जीवन के उच्च पूर्ण पद को प्राप्त कर सकता है और जब तक ऐसी निष्ठा जागृत नहीं होती तब तक भौतिक दृष्टि से शुद्धि, अथवा अशुद्धि, ज्ञान अथवा अज्ञान में अन्तर दिखता है। अग्नि तो सदैव अग्नि रहती है, अतः जब कोई जाने या अनजाने अग्नि को छूता है, तो अग्नि बिना भेदभाव के अपना कार्य करती है। नियम है—*हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।* सर्वशक्तिमान भगवान् भक्त के सभी प्रकार के समस्त पापफलों को शुद्ध कर सकता है, जिस प्रकार सूर्य अपनी शक्तिशाली किरणों से सभी प्रकार के संदूषणों को संदमित करता है। "भगवान् के शुद्ध भक्त पर भौतिक सुख के आकर्षण का रंग नहीं चढ़ता"। शास्त्रों में सैकड़ों-हजारों ऐसी सूक्तियाँ हैं—*आत्मारामाश्च मुनयः*—स्वरूपसिद्ध पुरुष भी भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति के प्रति अकृष्ट होते हैं। *केचित् केवलया भक्त्या वासुदेव परायणाः*—केवल श्रवण तथा कीर्तन से मनुष्य भगवान् वासुदेव का परम भक्त बन जाता है। न चलति *भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धम् अपि स वैष्णवाग्र्यः*—जो व्यक्ति भगवान् के चरणकमलों से एक क्षण के लिए भी नहीं हटता उसे समस्त वैष्णवों में सबसे बड़ा समझा जाता हैं। *भगवत्पार्षदतां प्राप्ते मत्सेवया प्रतीतं ते*—शुद्ध भक्तों को भगवान् की संगति प्राप्त करने का पूरा-पूरा विश्वास रहता है और इस तरह वे भगवान् की दिव्य सेवा में निरन्तर लगे रहते हैं। अतः समस्त भूखण्डों, लोकों तथा

ब्रह्माण्डों में भक्तियोग प्रचलित है। यही *श्रीमद्भागवत* तथा अन्य शास्त्रों का कथन है। *सर्वत्र* का अर्थ है भगवान् की सृष्टि के प्रत्येक भाग में। भगवान् की सेवा समस्त इन्द्रियों से या मन से की जा सकती है। दक्षिण भारत में जिस ब्राह्मण ने केवल अपने मन के बल पर भगवान् की सेवा की थी उसे यथार्थ में भगवान् के दर्शन हुए। जो भक्त अपनी किसी भी इन्द्रिय को पूर्णतः भक्ति गुण में लगाता है उसकी सफलता निश्चित है। भगवान् की सेवा किसी भी वस्तु से—यहाँ तक कि सर्व साधारण वस्तु जैसे फल, फूल, पत्ती या कि थोड़े से जल द्वारा जो संसार भर में सर्वत्र बिना मूल्य के ही उपलब्ध हैं, की जा सकती है। भगवान् ब्रह्माण्ड भर के जीवों द्वारा इसी प्रकार सेवित हैं। केवल श्रवण, कीर्तन या उनकी लीलाओं के पठन से, पूजन से या उन्हें मानने से ही उनकी सेवा हो जाती है।

भगवद्गीता में कहा गया है कि मनुष्य स्वकीय कर्मों के फल अर्पण करने से भी भगवान् की सेवा कर सकता है, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि वह करता क्या है। सामान्य रूप से लोग कह सकते हैं कि वे जो भी करते हैं वह ईश्वर की प्रेरणा से करते हैं, किन्तु यही सब कुछ नहीं है। मनुष्य को वास्तव में भगवान् के सेवक के रूप में कार्य करना चाहिए। *भगवद्गीता* (९.२७) में भगवान् कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

जो तुम्हें अच्छा लगे या आसान लगे, वही करो जो चाहो सो खाओ; जो भी यज्ञ करना हो करो जो भी दान देना हो दो और जो भी तपस्या करनी हो करो किन्तु प्रत्येक कार्य केवल भगवान् के लिए होना चाहिए। यदि तुम कोई कार्य करते हो या कोई नौकरी स्वीकार करते हो तो भगवान् के हेतु करो। जो भी खाओ, वही भगवान् को भी अर्पित करो और आश्वस्त रहो कि वे उस भोजन को पाने के बाद तुम्हें लौटा देंगे। वे परम पूर्ण हैं, अतः जो भी भक्त द्वारा अर्पित किया जाता है उसे वे भक्त के प्रेमवश ग्रहण करते हैं, किन्तु पुनः प्रसाद के रूप में भक्त को लौटा देते हैं जिसे खाकर वह प्रसन्न रहे। दूसरे शब्दों में, ईश्वर के सेवक बनो और उसी भाव में शान्तिपूर्वक रहकर अन्त में भगवान् के धाम को प्राप्त करो।

स्कन्द पुराण में कहा गया है—

यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु।

नूनं सम्पूर्णतामेति सद्यो वन्दे तमच्युतम्॥

"मैं अच्युत भगवान् को नमस्कार करता हूँ, क्योंकि केवल उनके पवित्र नाम के स्मरण या उच्चारण से समस्त तपों, सकाम कर्मों, यज्ञों का फल प्राप्त होता है और इस विधि का सर्वत्र पालन किया जा सकता है।" *भागवत* (२.३.१०) में भी कहा गया है—

अकाम: सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी:।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

"मनुष्य को चाहिए कि वह पूर्ण सिद्धि के लिए अच्युत भक्तियोग पथ का अनुसरण करे, भले ही वह सकाम हो अथवा निष्काम"। मनुष्य को प्रत्येक देव तथा देवी की पूजा करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भगवान् उन सबों के मूलरूप हैं। जिस प्रकार वृक्ष की जड़ों को सींचने से उसकी समस्त टहनियाँ तथा पत्तियाँ हरी-भरी हो जाती हैं उसी प्रकार भगवान् की सेवा करने से अन्य सभी देवों तथा देवियों की सेवा बिना किसी प्रयास के, हो जाती है। भगवान् सर्वव्यापी हैं, अत: उनकी सेवा भी सर्वव्यापी है। इस तथ्य का समर्थन *स्कन्द पुराण* में इस प्रकार हुआ है—

अर्चिते देवदेवेशे शंखचक्रगदाधरे।

अर्चिता: सर्वदेवा: स्युर्यत: सर्वगतो हरि:॥

जब शंख, चक्र, गदा तथा पद्मधारी श्रीभगवान् की पूजा की जाती है, तो अन्य सभी देवों की पूजा स्वत: हो जाती है, क्योंकि श्रीभगवान् हरि सर्वव्यापी हैं। अत: सभी प्रकार से प्रत्येक प्राणी ऐसी भगवद्-भक्ति से लाभान्वित होता है। ऐसे कार्य से भगवान् की पूजा करने वाला, पूजित होने वाले भगवान्, जिस हेतु पूजा की जाती है, पूर्ति का स्रोत, जहाँ पूजा की जाती है—ये सभी लाभान्वित होते हैं।

यहाँ तक कि भौतिक संसार के प्रलय के समय भी भक्तियोग की विधि व्यवहृत हो सकती है। *कालेन नष्टा प्रलये वाणीयम्*—प्रलय के समय भगवान् की पूजा की जाती है, क्योंकि वे वेदों की नष्ट होने से रक्षा करते हैं। वे प्रत्येक युग में पूजे जाते हैं। *श्रीमद्भागवत* (१२.३.५२) में कहा गया है—

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।

द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

विष्णु पुराण में लिखा गया है—

स हानिस्तन्महच्छिद्रं स मोहः स च विभ्रमः।

यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवं न चिन्तयेत्॥

''यदि एक क्षण के लिए भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान, वासुदेव का स्मरण नहीं किया जाता तो यह सबसे बड़ी हानि है, सबसे बड़ा भ्रम है और सबसे बड़ी विडम्बना है।'' जीवन की समस्त अवस्थाओं में भगवान् पूजे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, महाराज प्रह्लाद तथा महाराज परीक्षित ने अपनी माताओं के गर्भ में भी भगवान् की पूजा की; ध्रुव महाराज ने केवल पाँच वर्ष की आयु में भगवान् की पूजा की; महाराज अम्बरीष ने अपनी पूर्ण युवावस्था में भगवान् की पूजा की और महाराज धृतराष्ट्र ने अपनी वृद्धायु में अत्यन्त विक्षिप्तावस्था में भी भगवान् की पूजा की। अजामिल ने मृत्यु के सन्निकट रहते हुए भी भगवान् की पूजा की और चित्रकेतु ने स्वर्ग तथा नरक में रहकर भी भगवान् की पूजा की। नरसिंह पुराण में कहा गया है कि जब नरक में रहने वालों ने भगवान् के पवित्र नाम का जप प्रारम्भ किया, तो वे नरक से स्वर्ग जाने लगे। दुर्वासा मुनि ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है—मुच्येत यन्नाम्न्युदिते नारकोऽपि—केवल भगवन्नाम-जप से नरक के वासी अपनी-अपनी नारकीय यातना से मुक्त हो गये। अतः शुकदेव गोस्वामी द्वारा महाराज परीक्षित को जो उपदेश दिया गया उसका निष्कर्ष श्रीमद्भागवत (२.१.११) में इस प्रकार है—

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम्।

योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्॥

''हे राजन्! अन्ततः यह तय हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह संन्यासी हो, योगी हो अथवा सकाम कर्मी हो, वांछित फल की प्राप्ति के लिए निर्भय होकर भगवान् के पवित्र नाम का जप करना चाहिए।''

इसी प्रकार विभिन्न शास्त्रों में अप्रत्यक्ष रूप से इंगित किया गया है—

१. भले ही कोई समस्त वेदों तथा शास्त्रों में निष्णात् हो, किन्तु यदि वह परमेश्वर का भक्त नहीं है, तो वह नराधम माना जाता है।

२. *गरुड़ पुराण, बृहन्नारदीय पुराण* तथा *पद्म पुराण* में भी इसी की पुनरावृत्ति की गई है—जो भगवद्‌भक्ति से रहित है उसके वैदिक ज्ञान तथा तपस्या से क्या लाभ?

३. हजारों प्रजापतियों की एक भगवद्‌भक्त से तुलना कैसी?

४. शुकदेव गोस्वामी ने *श्रीमद्‌भागवत* (२.४.१७) में कहा है कि भगवद्‌भक्ति के बिना न संन्यासी, न ही दयालु, प्रसिद्ध व्यक्ति, महान् दार्शनिक, महान् तान्त्रिक या अन्य कोई भी व्यक्ति वांछित फल नहीं पा सकते।

५. भले ही कोई स्थान स्वर्ग से भी अधिक महिमामय हो, किन्तु यदि वहाँ वैकुण्ठ के स्वामी या उनके भक्त की महिमा का गान नहीं होता तो उसको तुरन्त छोड़ देना चाहिए।

६. शुद्ध भक्त भगवान् की सेवा में लगे रहने के लिए पाँच प्रकार की मुक्तियों को अस्वीकार कर देता है।

अत: अन्तिम निष्कर्ष यही है कि सर्वत्र तथा सर्वदा भगवान् की महिमा का गान होना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि उनकी महिमा का श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण करे, क्योंकि जीवन की परम सिद्ध अवस्था यही है। सकाम कर्म तो भोग्य शरीर तक सीमित है योग-शक्तियों की प्राप्ति तक, योग शुष्क दर्शन दिव्य ज्ञान की उपलब्धि तक और जहाँ तक दिव्य ज्ञान का सम्बन्ध है, वह मोक्ष-लाभ तक सीमित है। यदि इन सबको सम्पन्न किया भी जाता है, तो इनके मार्ग में त्रुटियों के होने की सम्भावना रहती है। किन्तु भगवान् की दिव्य भक्ति को ग्रहण करने की न तो कोई सीमा है न ही नीचे गिरने का कोई भय है। भगवत्कृपा से यह विधि स्वत: अन्तिम अवस्था को प्राप्त होती है। भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था में ज्ञान आवश्यक है, किन्तु उच्चतर अवस्था में ऐसे ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं होती। अत: उन्नति का सर्वोत्तम तथा निश्चित पथ भक्तियोग ही है।

कभी-कभी *श्रीमद्‌भागवत* के उपर्युक्त चार श्लोकों के निचोड़ का उपयोग निर्विशेषवादी अपने पक्ष के समर्थन हेतु करता है, किन्तु ध्यान देना होगा कि इन चारों श्लोकों का वर्णन सर्वप्रथम श्रीभगवान् ने

स्वयं किया था। अत: भगवान् के विषय में कोई धारणा न होने से निर्विशेषवादी को उनमें प्रवेश करने की कोई गुंजाईश नहीं है। अत: इन श्लोकों के निचोड़ की निर्विशेषवादी चाहे जो भी व्याख्या करे, वह ब्रह्मा से प्राप्त शिष्य-परम्परा में दीक्षित व्यक्तियों द्वारा मान्य नहीं होगी जैसाकि निम्नलिखित श्लोकों से स्पष्ट हो जाएगा। इसके अतिरिक्त श्रुति पुष्टि करती है कि जिसे अपने शैक्षणिक ज्ञान का गर्व होता है उसके समक्ष श्रीभगवान् कभी प्रकट नहीं होते। *कठोपनिषद्* के (१.२.२३) श्रुति मन्त्र का स्पष्ट कथन है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो

न मेधया न बहुधा श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-

स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

यह सारी बात श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं, अत: जिसकी पहुँच भगवान् के सगुण रूप तक नहीं है, वह *श्रीमद्भागवत* के सार को शिष्य-परम्परा में किसी *भागवत* से शिक्षा ग्रहण किये बिना शायद ही समझ सके।

एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना ।
भवान् कल्प-विकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; **मतम्**—निष्कर्ष, निर्णय; **समातिष्ठ**—स्थित रहते हैं; **परमेण**—परम; **समाधिना**—समाधि द्वारा, ध्यान के एकाग्रीकरण से; **भवान्**—आप; **कल्प**—बीच की प्रलय; **विकल्पेषु**—अन्तिम प्रलय में; **न विमुह्यति**—मोहित नहीं करेगा; **कर्हिचित्**—कुछ भी।

हे ब्रह्मा, तुम मन को एकाग्र करके इस निर्णय का पालन करो। तुम्हें, न तो आंशिक और न ही पूर्ण प्रलय के समय किसी प्रकार का गर्व विचलित कर सकेगा।

तात्पर्य : जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* के दसवें अध्याय में सम्पूर्ण गीता का सारांश चार श्लोकों में—*अहं सर्वस्य प्रभव:* इत्यादि में दिया है, उसी प्रकार सम्पूर्ण *श्रीमद्भागवत* के सार को चार श्लोकों में—*अहं एवासम् एवाग्रे* इत्यादि में रख दिया गया है। इस प्रकार *भागवत* के महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष का गुह्य सार *श्रीमद्भागवत* के मूल वक्ता द्वारा रख दिया गया है और वे ही अर्थात् भगवान्

श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* के भी मूल वक्ता थे। अनेक वैयाकरणों तथा झगड़ालू अभक्तों ने *श्रीमद्भागवत* के इन चार श्लोकों की झूठी व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, किन्तु स्वयं भगवान् ने ब्रह्माजी को उपदेश दिया कि वे उनके द्वारा बताए गये सुस्थिर निर्णय (निष्कर्ष) से विचलित न हों। *श्रीमद्भागवत* के साररूपी इन चार श्लोकों के शिक्षक भगवान् थे और ब्रह्मा ज्ञान प्राप्तकर्ता थे। शब्दाडम्बर द्वारा *अहं* शब्द की भ्रान्त व्याख्या से *श्रीमद्भागवत* के कट्टर अनुयायियों को विचलित नहीं होना चाहिए। *श्रीमद्भागवत* श्रीभगवान् तथा उनके भक्तों का, जो *भागवत* कहलाते हैं, मूल पाठ है और किसी भी बाहरी व्यक्ति को भक्ति के इस गुह्य साहित्य तक पैठ नहीं होने देना चाहिए। किन्तु दुर्भाग्यवश निर्विशेषवादी, जिसका भगवान् से कोई सम्बन्ध नहीं है, कभी-कभी अपने व्याकरण सम्बन्धी अल्पज्ञान तथा शुष्कचिन्तन से *श्रीमद्भागवत* की व्याख्या करता है। अत: भगवान् ब्रह्माजी को आगाह करते हैं (और ब्रह्मा के माध्यम से शिष्य-परम्परा के समस्त भावी भक्तों को भी) कि मनुष्य को तथाकथित वैयाकरणों के निर्णय से या अन्य अल्पज्ञानियों के निर्णय से पथ-विचलित न होकर अपने मन को परम्परा पद्धति में सदैव स्थिर रखना चाहिए। संसारी ज्ञान के बल पर किसी को नवीन व्याख्या करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। अत: ब्रह्मा द्वारा प्राप्त ज्ञान पद्धति के आधार पर पहला सोपान है परम्परा पद्धति का पालन करने वाले प्रामाणिक गुरु के पास पहुँचना जो भगवान् का प्रतिनिधि होता है। किसी को अपने अधूरे संसारी ज्ञान के आधार पर अपना निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। गुरु समस्त प्रामाणिक वैदिक साहित्य के आधार पर शिष्य को सही मार्ग की शिक्षा देने में समर्थ होता है। वह अपने शिष्य को शब्दजाल में नहीं फँसाता। वह अपने शिष्य को अपने स्वयं के कार्यकलापों द्वारा भक्ति-सिद्धान्तों की शिक्षा देता है। मनुष्य सगुण भक्ति के बिना निर्विशेषवादियों तथा शुष्कचिन्तकों की तरह चिंतन करता रहता है और जन्म-जन्मातर तक भी अन्तिम निष्कर्ष तक नहीं पहुँच पाता। प्रामाणिक गुरु के आदेशों के साथ-साथ शास्त्रों के नियमों का पालन करके शिष्य पूर्णज्ञान के पद को प्राप्त करता है, जिसका प्राकट्य सांसारिक इन्द्रिय-तृप्ति की विरक्ति के रूप में होता है। संसारी विवादकों को मनुष्य द्वारा इन्द्रिय-तृप्ति से विरक्त देखकर आश्चर्य होता है और भगवान् के साक्षात्कार करने का कोई भी प्रयास उन्हें रहस्यमय लगता है। ऐन्द्रिय जगत से विरक्त होना आत्म-

साक्षात्कार ब्रह्मभूत अवस्था कहलाती है, जो पराभक्ति की प्रारम्भिक अवस्था है। ब्रह्मभूत अवस्था आत्माराम अवस्था भी कहलाती है, जिसमें मनुष्य आत्मतुष्ट रहता है और सांसारिक इन्द्रिय-सुख की कामना नहीं करता। श्रीभगवान् के दिव्य ज्ञान को समझने के लिए यह पूर्ण तुष्टि की अवस्था उपयुक्त स्थिति है। *श्रीमद्भागवत* (१.२.२०) इसका समर्थन करता है।

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।

भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते॥

इस आत्माराम स्थिति में, जो भक्ति करने के फलस्वरूप सांसारिक इन्द्रिय सुखोपभोग से पूर्ण विरक्ति के द्वारा प्रकट होती है, मनुष्य भगवत-तत्त्व को समझ सकता है।

ऐन्द्रिय जगत की इस पूर्ण तुष्टि तथा विरक्ति अवस्था में ही भगवत-तत्त्व के रहस्य को सभी गुह्य उलझनों सहित समझा जा सकता है, किसी व्याकरण या शुष्क चिन्तन से नहीं। चूँकि ब्रह्मा ऐसे ज्ञान को प्राप्त करने के योग्य थे, अतः भगवान् ने प्रसन्न होकर *श्रीमद्भागवत* के उद्देश्य को प्रकट किया। भगवान् का यह प्रत्यक्ष आदेश किसी भी भक्त के लिए, जो सांसारिक इन्द्रिय-तृप्ति से विरक्त है, सुलभ है, जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.१०) में कहा गया है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

जो भक्त प्रीतिपूर्वक भगवान् की दिव्य भक्ति में लगे रहते हैं उन्हें भगवान् अपनी अहैतुकी कृपा से प्रत्यक्ष आदेश देते हैं जिससे वे भगवान् के धाम को लौटने के मार्ग में अग्रसर हो सकें। अतः केवल चिन्तन के आधार पर *श्रीमद्भागवत* के इन चार श्लोकों को समझने का प्रयास नहीं करना चाहिए, अपितु भगवान् के साक्षात् अनुभूति से उनके धाम वैकुण्ठ लोक के विषय में जानने का प्रयास करना चाहिए जैसाकि ब्रह्माजी ने किया। भक्तिजन्य दिव्य स्थिति को प्राप्त भक्त ही ऐसा वैकुण्ठ-साक्षात्कार करने में समर्थ हैं।

गोपालतापनी उपनिषद (श्रुति) में कहा गया है—*गोपवेशो मे पुरुषः पुरस्ताद् आविर्बभुव*— ब्रह्माजी के समक्ष भगवान् ग्वाले के रूप में अर्थात् श्रीकृष्ण के रूप में प्रकट हुए जिसका वर्णन बाद में

ब्रह्माजी ने *ब्रह्म-संहिता* (५.२९) में किया है।

चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्ष-

लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्।

लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रम सेव्यमानं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

ब्रह्माजी भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा करना चाहते हैं, जो सर्वोच्च वैकुण्ठ लोक, गोलोक वृन्दावन में वास करते हैं जहाँ वे ग्वाले के वेश में सुरभि गौवें पालते हैं और जहाँ हजारों लक्ष्मियाँ (गोपियाँ) प्रेम तथा आदरपूर्वक उनकी सेवा करती हैं।

अत: श्रीकृष्ण ही परमेश्वर के मूल रूप हैं (कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्)। इस आदेश से भी यही स्पष्ट है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही तो श्रीकृष्ण हैं, वे सीधे नारायण या पुरुष-अवतार नहीं हैं। ये तो बाद के रूप हैं, अत: *श्रीमद्भागवत* का अर्थ है पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण का बोध और *श्रीमद्भागवत भगवद्गीता* की तरह भगवान् की वाणी का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि *श्रीमद्भागवत* भगवद्विज्ञान है, जिसमें भगवान् तथा उनके धाम का पूरी तरह बोध होता है।

श्री-शुक उवाच

सम्प्रदिश्यैवमजनो जनानां परमेष्ठिनम् ।
पश्यतस्तस्य तद् रूपमात्मनो न्यरुणद्धरिः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; **सम्प्रदिश्य**—ब्रह्माजी को पूरी तरह उपदेश देकर; **एवम्**—इस प्रकार; **अजनः**—परमेश्वर; **जनानाम्**—जीवात्माओं के; **परमेष्ठिनम्**—परम नेता, ब्रह्मा को; **पश्यतः**—देखते हुए; **तस्य**—उसका; **तत् रूपम्**—उस दिव्य रूप को; **आत्मनः**—परमेश्वर का; **न्यरुणत्**—अन्तर्धान हो गये; **हरिः**—भगवान्।

शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित से कहा—जीवात्माओं के नायक ब्रह्मा को अपने दिव्य रूप में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हरि इस प्रकार उपदेश देते दिखे और फिर अन्तर्धान हो गये।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् *अजनः* अर्थात् परम पुरुष हैं और वे ब्रह्मा को

अपना दिव्य रूप (*आत्मनो रूपम्*) दिखाते हुए चार श्लोकों में *श्रीमद्भागवत* के सार का उपदेश दे रहे थे। वे *जनानाम्* अर्थात् समस्त पुरुषों में *अजन:* अर्थात् परम पुरुष हैं। समस्त जीवात्माएँ पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं और ऐसे व्यक्तियों में भगवान् हरि सर्वश्रेष्ठ हैं जैसी कि इस श्रुति मन्त्र से पुष्टि होती है—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्*। अत: दिव्य जगत में निराकार रूप के लिए कोई स्थान नहीं है जैसाकि भौतिक संसार में कोई निराकार रूप नहीं है। जब भी चेतना (ज्ञान) होती है, तो साकार रूप सामने आता है। आध्यात्मिक जगत में प्रत्येक वस्तु ज्ञान से पूर्ण है, अत: दिव्य जगत की प्रत्येक वस्तु स्थल, जल, वृक्ष, पर्वत, नदी, मनुष्य पशु, पक्षी इसी गुण अर्थात् चेतना से पूर्ण है, अत: वहाँ की प्रत्येक वस्तु व्यष्टि तथा साकार है। सर्वश्रेष्ठ वैदिक साहित्य *श्रीमद्भागवत* से हमें यह जानकारी प्राप्त होती है और श्रीभगवान् ने यह सूचना ब्रह्माजी को इसीलिए दी थी कि जीवात्माओं के नायक होने के कारण वे इस सन्देश को सारे विश्व में प्रसारित करके भक्तियोग की परम ज्ञानमयी शिक्षा प्रदान कर सकें। ब्रह्माजी ने अपने प्रिय पुत्र नारद को *श्रीमद्भागवत* के इसी सन्देश का उपदेश दिया। नारद ने इसे व्यासदेव को दिया और उन्होंने शुकदेव गोस्वामी को। शुकदेव स्वामी के सौजन्य तथा महाराज परीक्षित की कृपा से हमें यह *श्रीमद्भागवत* प्राप्त है, जिससे हम पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के विज्ञान को स्थायी रूप से सीख सकते हैं।

अन्तर्हितेन्द्रियार्थाय हरये विहिताञ्जलिः ।
सर्व-भूतमयो विश्वं ससर्जेदं स पूर्ववत् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

अन्तर्हित—अन्तर्धान होने पर; इन्द्रिय-अर्थाय—समस्त इन्द्रियों के लक्ष्य, श्रीभगवान् के लिए; हरये—भगवान् के लिए; विहित-अञ्जलिः—हाथ जोड़कर; सर्व-भूत—समस्त जीवात्माओं; मयः—से पूर्ण; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; ससर्ज—उत्पन्न किया; इदम्—यह; सः—उसने (ब्रह्माजी); पूर्व-वत्—पहले की भाँति।

भक्तों की इन्द्रियों को दिव्य आनन्द प्रदान करने वाले पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हरि के अन्तर्धान हो जाने पर ब्रह्माजी हाथ जोड़े हुए ब्रह्माण्ड की जीवात्माओं से पूर्ण वैसी ही सृष्टि पुनः करने लगे जिस प्रकार वह इसके पूर्व थी।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हरि समस्त जीवात्माओं की इन्द्रियों को परिपूर्ण करने के उपादान हैं। बहिरंगा शक्ति की चकाचौंध में मोहित होकर जीवात्माएँ परमात्मा के इच्छाओं की पूर्ति करने की

बजाय अपनी इन्द्रियों की पूजा प्रारम्भ कर देती हैं।

हरि-भक्ति-सुधोदय (१३.२) में निम्नलिखित श्लोक आया है—

अक्ष्णोः फलं त्वादृशदर्शनं हि

तनोः फलं त्वादृशगात्रसङ्गः।

जिह्वाफलं त्वादृशकीर्तनं हि

सुदुर्लभा भागवता हि लोके॥

"हे भगवद्भक्त! आँखें तुम्हें देखकर सफल हो जाती हैं और तुम्हारे देह के स्पर्श से स्पर्श की पूर्ति हो जाती है। जिह्वा तुम्हारे गुणों के गान के लिए है, क्योंकि इस संसार में भगवान् का शुद्ध भक्त पाना अत्यन्तदुर्लभ है।"

प्रारम्भ में जीवात्माओं को इन्द्रियाँ इस प्रयोजन के लिए प्रदान की गई थीं कि वे उनसे भगवान् अथवा उनके भक्तों की प्रीतिपूर्वक सेवा करें, किन्तु बद्धजीव बहिरंगा शक्ति के मोह में आकर इन्द्रियसुख से सम्मोहित हो गये। अतएव ईश्वर चेतना की सारी प्रक्रिया इन्द्रियों के बद्ध कार्यों को सही मार्ग पर लाना और फिर से उन्हें भगवान् की सेवा में लगाना है। इसलिए ब्रह्माजी ने पुनः सृष्ट ब्रह्माण्ड में कार्य करने के लिए बद्धजीवों की फिर से सृष्टि करके अपनी इन्द्रियों को भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा में लगाया। इस प्रकार यह ब्रह्माण्ड भगवान् की इच्छा से उत्पन्न और विनष्ट होता है। इसकी सृष्टि बद्धजीवों को अवसर प्रदान करने के लिए की जाती है, जिससे वे भगवान् के धाम वापस जाने की दिशा में कार्य कर सकें और ब्रह्माजी, नारदजी, व्यासजी तथा उनकी मंडली इसी उद्देश्य से भगवान् के कार्य में लग जाते हैं। यह कार्य है इन्द्रियतुष्टि के दायरे से बद्धजीवों का उद्धार करना तथा इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में प्रवृत्त करने की सामान्य स्थिति में वापस ले जाना। किन्तु निर्विशेषवादी ऐसा करने के बजाय बद्धजीवों को और भगवान् को भी चेतनाहीन बनाने लगे रहते हैं। बद्धजीवों के साथ यह दुर्व्यवहार है। इन्द्रियों की रुग्ण अवस्था दोष के उपचार द्वारा ठीक की जा सकती है न कि इन्द्रियों के उच्छेदन से। यदि आँखों में कोई रोग हो जाय तो ठीक से देखने के लिए उनका उपचार करना चाहिए। आँखों को निकाल लेना तो कोई उपचार नहीं हुआ। इसी प्रकार सारा भवरोग इन्द्रिय-तृप्ति पर

आधारित है और रुग्णावस्था से मुक्ति का अर्थ है कि इन्द्रियों को भगवान् का सौंदर्य निहारने, उनकी महिमा सुनने तथा उनके लिए कर्म करने की ओर लगाया जाय। इस प्रकार ब्रह्माजी ने फिर से ब्रह्माण्ड के कार्यों की सृष्टि की।

प्रजापतिर्धर्म-पतिरेकदा नियमान् यमान् ।
भद्रं प्रजानामन्विच्छन्नातिष्ठत् स्वार्थ-काम्यया ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

प्रजा-पतिः—समस्त जीवात्माओं के पूर्वज; धर्म-पतिः—धर्म के पिता; एकदा—एक बार; नियमान्—विधि-विधानों; यमान्—संयम के नियम; भद्रम्—कल्याण; प्रजानाम्—जीवों का; अन्विच्छन्—इच्छा से; आतिष्ठत्—स्थित; स्व-अर्थ—अपना हित; काम्यया—कामना करते हुए।

एक बार जीवों के पूर्वज तथा धर्म के पिता ब्रह्माजी ने समस्त जीवात्माओं के कल्याण में ही अपना हित समझते हुए विधिपूर्वक यम-नियमों को धारण किया।

तात्पर्य : यम-नियमों को धारण किये बिना कोई उच्च पद पर आसीन नहीं हो सकता। इन्द्रियतृप्ति का असंयमित जीवन पशु जीवन है और ब्रह्माजी ने अपनी संततियों को उच्चतर कर्तव्यों के निर्वाह हेतु इन्द्रियों पर संयम रखने की शिक्षा दी। वे भगवान् के दास के रूप में सभी का कल्याण चाह रहे थे और जो भी अपने कुल तथा पीढ़ियों के कल्याण की कामना करता है उसे नैतिक धार्मिक जीवन बिताना होता है। उच्चतम नैतिक जीवन है भगवद्भक्त बनना, क्योंकि शुद्ध भक्त में भगवान् के सभी गुण आ जाते हैं। इसके विपरीत, जो ईश्वर भक्त नहीं है, वह सांसारिकता में कितना ही पटु क्यों न हो, किसी उत्तम गुण से सम्पन्न नहीं कहा जा सकता। ब्रह्मा तथा उनकी शिष्य-परम्परा के अनेक व्यक्ति जो भगवान् के शुद्ध भक्त हैं जब तक स्वयं वैसा आचरण नहीं करते तब तक अपने आश्रितों को किसी भी प्रकार का उपदेश नहीं देते।

तं नारदः प्रियतमो रिक्थादानामनुव्रतः ।
शुश्रूषमाणः शीलेन प्रश्रयेण दमेन च ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; नारदः—नारद मुनि; प्रियतमः—अत्यन्त प्रिय; रिक्थ-आदानाम्—उत्तराधिकारी पुत्रों का; अनुव्रतः—अत्यन्त आज्ञाकारी; शुश्रूषमाणः—सदैव सेवा के लिए उद्यत; शीलेन—सदाचरण से; प्रश्रयेण—विनयशीलता से; दमेन—इन्द्रिय-संयम से; च—भी।

ब्रह्मा के उत्तराधिकारी पुत्रों में सर्वाधिक प्रिय नारद अपने पिता की सेवा के लिए सदैव तत्पर रहते हैं और अपने पिता के उपदेशों का अत्यन्त संयम, विनय तथा सौम्यता से पालन करते हैं।

मायां विविदिषन् विष्णोर्मायेशस्य महा-मुनिः ।
महा-भागवतो राजन् पितरं पर्यतोषयत् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

मायाम्—शक्तियाँ; विविदिषन्—जानने की इच्छा से; विष्णोः—भगवान् की; माया-ईशस्य—समस्त शक्तियों के स्वामी का; महा-मुनिः—ऋषि; महा-भागवतः—भगवान् का उत्कृष्ट भक्त; राजन्—हे राजा; पितरम्—अपने पिता को; पर्यतोषयत्—अत्यन्त प्रसन्न किया।

हे राजन्, नारद ने अपने पिता को अत्यधिक प्रसन्न कर लिया और समस्त शक्तियों के स्वामी विष्णु की शक्तियों के विषय में जानने की इच्छा प्रकट की, क्योंकि नारद समस्त ऋषियों तथा समस्त भक्तों में सर्वोपरि हैं।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के समस्त जीवों के स्रष्टा होने के कारण ब्रह्मा अनेक विख्यात पुत्रों के जनक हैं, यथा दक्ष नारद तथा सनकादि के जनक हैं। वेदों द्वारा प्रचारित मानव ज्ञान के तीन विभागों—कर्म काण्ड, ज्ञान काण्ड तथा उपासना काण्ड—में से देवर्षि नारद ने अपने पिता ब्रह्मा से उपासना काण्ड, दक्ष ने कर्म काण्ड तथा सनक, सनातनादि ने ज्ञान काण्ड को उत्तराधिकार में प्राप्त किया। किन्तु इन सबमें से नारद को उनके सदाचार, आज्ञापालन, विनयशीलता तथा पिता के प्रति सेवा सन्नद्धता के कारण ब्रह्मा का अत्यन्त प्रिय पुत्र कहा गया है। नारद मुनियों में सर्वश्रेष्ठ हैं, क्योंकि समस्त भक्तों में वे श्रेष्ठ हैं। नारद भगवान् के अनेक प्रसिद्ध भक्तों के गुरु हैं। वे प्रह्लाद, ध्रुव, व्यास से लेकर वन पशुओं के हन्ता किरात तक के गुरु हैं। उनका एकमात्र कार्य हर एक को भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति की ओर उन्मुख करना है। इसीलिए इन सारे गुणों के कारण वे अपने पिता के सर्वाधिक प्रिय पुत्र हैं और नारद का प्रथम कोटि का भगवद्भक्त होना इसका एकमात्र कारण है। भक्तगण समस्त शक्तियों के स्वामी परमेश्वर के विषय में अधिकाधिक जानने के इच्छुक रहते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.९) में कहा गया है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

परमेश्वर अनन्त हैं और उनकी शक्तियाँ भी असीम हैं। उन्हें कोई पूर्णत: नहीं जान सकता। ब्रह्माजी इस ब्रह्माण्ड के सबसे महान जीव होने तथा भगवान् से प्रत्यक्ष उपदेश प्राप्त करने के कारण अन्यों की अपेक्षा अधिक जानते हैं, यद्यपि ऐसा ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकता। अत: प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह ब्रह्मा की शिष्य-परम्परा में, जो नारद से व्यास और व्यास से शुकदेव आदि से आगे चली आ रही है, गुरु से अनन्त भगवान् के विषय में जिज्ञासा करें।

तुष्टं निशाम्य पितरं लोकानां प्रपितामहम् ।
देवर्षिः परिपप्रच्छ भवान्यन् मानुपृच्छति ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तुष्टम्—प्रसन्न; निशाम्य—देखकर; पितरम्—पिता को; लोकानाम्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का; प्रपितामहम्—परदादा; देवर्षिः—नारद ऋषि ने; परिपप्रच्छ—पूछा; भवान्—तुम; यत्—जो; मा—मुझसे; अनुपृच्छति—पूछ रहे हो।.

जब नारद ने देखा कि समस्त ब्रह्माण्ड के प्रपितामह ब्रह्माजी मुझ पर प्रसन्न हैं, तो महर्षि नारद ने अपने पिता से विस्तार में भी पूछा।

तात्पर्य : किसी सिद्ध महात्मा से आध्यात्मिक या दिव्य ज्ञान को समझने की विधि पाठशाला के शिक्षक से कोई सामान्य प्रश्न पूछने जैसी नहीं है। आजकल शिक्षकों को ज्ञान प्रदान करने के एवज में धन दिया जाता है, किन्तु गुरु वेतनभोगी नहीं होता, न ही वह बिना अधिकार के शिक्षा दे सकता है। *भगवद्गीता* (४.३४) में दिव्य ज्ञान को समझने की विधि का निर्देश इस प्रकार है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन: ॥

अर्जुन को सलाह दी गई थी कि वह किसी सिद्ध पुरुष से समर्पण, प्रश्न तथा सेवा द्वारा दिव्य ज्ञान प्राप्त करे। दिव्य ज्ञान प्राप्त करना डालरों के विनिमय जैसा व्यापार नहीं हैं। ऐसा ज्ञान गुरु की सेवा करके प्राप्त किया जाता है। जिस प्रकार से ब्रह्माजी ने भगवान् को पूरी तरह तुष्ट करके उनसे प्रत्यक्ष दिव्य ज्ञान प्राप्त किया, उसी प्रकार गुरु को प्रसन्न करके दिव्य ज्ञान प्राप्त करना होता है। गुरु की तुष्टि से ही दिव्य ज्ञान आत्मसात् होता है। केवल वैयाकरण बन जाने से दिव्य ज्ञान नहीं समझा जा सकता।

वेदों की घोषणा है (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.२३)—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

''जिसकी अडिग भक्ति भगवान् तथा गुरु में होती है, उसके ही लिए दिव्य ज्ञान स्वतः प्रकट होता है।'' शिष्य तथा गुरु का ऐसा सम्बन्ध शाश्वत है। आज जो शिष्य है, वही आगे चलकर गुरु बनेगा। और जब तक शिष्य अपने गुरु की आज्ञा का कड़ाई से पालन नहीं करता तब तक वह प्रामाणिक तथा वैध गुरु नहीं बन सकता। ब्रह्माजी ने भगवान् से शिष्य रूप में वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया और इसे अपने प्रिय शिष्य नारद को प्रदान किया। इसी प्रकार नारद ने गुरु के रूप में यह ज्ञान व्यास को हस्तान्तरित किया और आगे भी ऐसा ही हुआ। अतः तथाकथित औपचारिक गुरु तथा शिष्य ब्रह्मा तथा नारद अथवा नारद तथा व्यास के प्रतिरूप नहीं हो सकते। ब्रह्मा तथा नारद का सम्बन्ध एक वास्तविकता (सत्य) थी, किन्तु ठग तथा ठगे जाने वाले का सम्बन्ध तथाकथित औपचारिकता है। यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि नारद न केवल शिष्ट, विनीत तथा आज्ञाकारी थे, वरन् वे आत्मसंयमी भी थे। जो आत्मसंयमी नहीं है, विशेष रूप से कामी जीवन में, वह न तो शिष्य बन सकता है, न गुरु। मनुष्य को वाणी, क्रोध, जीभ, मन, उदर तथा कामेन्द्रियों पर संयम रखने की अनुशासनिक शिक्षा मिलनी चाहिए। जो उपर्युक्त विशिष्ट इन्द्रियों पर संयम प्राप्त कर लेता है, वह गोस्वामी कहलाता है। गोस्वामी हुए बिना न तो कोई शिष्य बन सकता है और न गुरु। इन्द्रिय-संयम के बिना तथाकथित गुरु निश्चय ही वंचक (ठग) है और उसका शिष्य वंचित है।

हमें इस लोक के अनुभव की तरह ब्रह्माजी को मृत प्रपितामह नहीं समझना चाहिए। वे सबसे बड़े प्रपितामह हैं और अब भी जीवित हैं। नारद भी जीवित हैं। *भगवद्गीता* में ब्रह्मलोक के निवासियों की आयु का उल्लेख है। ये क्षुद्र पृथ्वीलोकवासी मुश्किल से ब्रह्मा के एक दिन की अवधि की गणना कर सकते हैं।

तस्मा इदं भागवतं पुराणं दश-लक्षणम् ।
प्रोक्तं भगवता प्राह प्रीतः पुत्राय भूत-कृत् ॥४४॥

शब्दार्थ

तस्मै—तत्पश्चात्; इदम्—यह; भागवतम्—भगवान् की महिमा, अथवा भगवद्-ज्ञान; पुराणम्—उपवेद; दश-लक्षणम्—दस विशिष्टताएँ; प्रोक्तम्—वर्णित; भगवता—भगवान् द्वारा; प्राह—कहा; प्रीतः—संतुष्ट होकर; पुत्राय—पुत्र से; भूत-कृत्—ब्रह्माण्ड के स्रष्टा।

तब जाकर पिता (ब्रह्मा) ने अपने पुत्र नारद को श्रीमद्भागवत नामक उपवेद पुराण कह सुनाया जिसका वर्णन श्रीभगवान् ने उनसे किया था और जो दस लक्षणों से युक्त है।

तात्पर्य : यद्यपि चतु:श्लोकी *श्रीमद्भागवत* का उपदेश दिया गया था, किन्तु वह दस लक्षणों से सम्पन्न था, जिनकी व्याख्या अगले अध्याय में की जाएगी। चार श्लोकों में पहले यह बताया गया है कि सृष्टि के पूर्व भगवान् का अस्तित्व था, अत: *श्रीमद्भागवत* का शुभारम्भ वेदान्त सूक्ति *जन्माद्यस्य* से होता है। यद्यपि *जन्माद्यस्य* शुभारम्भ है, तो भी जिन चार श्लोकों में यह वर्णित है और जिनमें कहा गया है कि भगवान् सृष्टि से लेकर भगवद्धाम तक प्रत्येक वस्तु के मूल हैं, उसमें दस लक्षणों की व्याख्या हुई है। मनुष्य को गलत व्याख्या करके यह भूल नहीं करनी चाहिए कि भगवान् ने केवल चार श्लोक कहे थे, अत: शेष १७,९९४ श्लोक व्यर्थ हैं। इन दस लक्षणों की समुचित व्याख्या के लिए जैसाकि अगले अध्याय में बताया जाएगा, न जाने कितने श्लोकों की आवश्यकता होगी। ब्रह्मा ने नारद को पहले यह भी सलाह दी थी कि उन्होंने जो उपदेश दिया है उसका वे विस्तार करें। श्री चैतन्य महाप्रभु ने श्रील रूप गोस्वामी को संक्षेप में इसका उपदेश दिया, किन्तु शिष्य रूप गोस्वामी ने इसको अत्यधिक विस्तार दिया। इसके बाद इसी विषय को जीव गोस्वामी ने और फिर श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने विस्तार दिया। हम इन्हीं अधिकारियों के पदचिह्नों पर चलने का प्रयास कर रहे हैं। अत: *श्रीमद्भागवत* न तो कोई साधारण उपन्यास है, न ही संसारी साहित्य। इसकी शक्ति अपार है, इसे अपनी बुद्धि के अनुसार चाहे जितना बढ़ाया जा सकता है। इससे *भागवत* का अन्त नहीं होगा। *श्रीमद्भागवत* भगवान् की वाणी का प्रतिनिधित्व करता है, अत: इसे चाहे चार श्लोकों में कहा जाय या चार अरब श्लोकों में, यह एक जैसा है ठीक वैसे ही जैसे भगवान् अणु से भी सूक्ष्म और अनन्त आकाश से भी विस्तृत हैं। *श्रीमद्भागवत* की शक्ति ऐसी ही है।

नारदः प्राह मुनये सरस्वत्यास्तटे नृप ।
ध्यायते ब्रह्म परमं व्यासायामित-तेजसे ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

नारदः—नारद मुनि ने; प्राह—उपदेश दिया; मुनये—मुनि को; सरस्वत्याः—सरस्वती नदी के; तटे—तट पर; नृप—हे राजन; ध्यायते—ध्यानमग्न; ब्रह्म—परम सत्य; परमम्—परमेश्वर; व्यासाय—श्रील व्यासदेव के लिए; अमित—अपार; तेजसे—शक्तिमान को।

हे राजन्, उसी परम्परा में नारद मुनि ने श्रीमद्भागवत का उपदेश अनन्त शक्तिमान उन व्यासदेव को दिया जो सरस्वती नदी के तट पर भक्ति में स्थित होकर परम सत्य, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का ध्यान कर रहे थे।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध के पाँचवें अध्याय में नारद ने व्यासदेव को निम्नलिखित उपदेश दिया है—

अथो महाभाग भवान् अमोघदृक्

शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः।

उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये

समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम्॥

"हे महाभाग्यशाली पवित्र विद्वान! तुम्हारा नाम तथा यश विश्वव्यापी है और तुम अपने निष्कलंक चरित्र तथा अच्युत दृष्टि से परम सत्य में स्थित हो। मैं तुम्हें भगवान् की अतुलनीय लीलाओं का ध्यान करने को कहता हूँ।"

इस प्रकार ब्रह्मसम्प्रदाय की शिष्य-परम्परा में योग ध्यान के अभ्यास की उपेक्षा नहीं की जाती। लेकिन भक्तियोगी होने के कारण भक्त निर्गुण ब्रह्म का ध्यान नहीं धरते। वे तो जैसा यहाँ इंगित किया गया है, परम ब्रह्म (*ब्रह्म परमम्*) का ध्यान करते हैं। ब्रह्म साक्षात्कार ब्रह्मज्योति से प्रारम्भ होता है और अधिक ध्यान करने से परमात्मा का प्राकट्य होता है। अधिक आगे बढ़ने पर भगवान् का साक्षात्कार स्थिर हो जाता है। श्रीनारद मुनि, व्यासदेव के गुरु होने के नाते, व्यासदेव की स्थिति से अवगत थे, अतः उन्होंने प्रमाणित किया कि श्रील व्यासदेव भगवान् की लीलाओं के ध्यान में पूर्ण निष्ठा से स्थित हैं। नारद ने भगवान् की दिव्य लीलाओं का ध्यान करने का उपदेश दिया। निर्विशेष ब्रह्म की कोई लीला नहीं होती, किन्तु सगुण ब्रह्म की लीलाएँ अनेक हैं और ये सारी लीलाएँ दिव्य होती हैं और इनमें भौतिक गुणों का स्पर्श तक नहीं होता। यदि परब्रह्म की लीलाएँ भौतिक होतीं तो नारद ने

कभी भी व्यासदेव को उनका ध्यान करने का उपदेश न दिया होता। परमब्रह्म तो भगवान् श्रीकृष्ण हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है। *भगवद्गीता* के दशम अध्याय में अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण की वास्तविक स्थिति का बोध हुआ तो उन्होंने श्रीकृष्ण को सम्बोधित करते हुए निम्नलिखित शब्द कहे (*भगवद्गीता* १०.१२-१३)।

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।

पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥

आहुस्त्वामृषय: सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।

असितो देवलो व्यास: स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥

अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण का दर्शन करके *भगवद्गीता* के उद्देश्य का सार संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए कहा, ''हे प्रभो! आप परम ब्रह्म, परम धाम, पावन परम सत्य और सनातन दिव्य पुरुष हैं। आप चिन्मय आदि देव हैं। नारद, असित, देवल, व्यास आदि सारे ऋषि इसकी पुष्टि करते हैं और आप स्वयं मुझसे इसकी पुष्टि कर रहे हैं।''

जब व्यासदेव ने अपना मन ध्यान में स्थित किया, तो उन्होंने भक्तियोग समाधि में किया और परम पुरुष का माया सहित साक्षात् दर्शन किया। जैसाकि पहले कहा जा चुका है भगवान् की माया भी एक प्रतिरूप है, क्योंकि माया का भगवान् के बिना कोई अस्तित्व नहीं होता। अन्धकार प्रकाश से स्वतंत्र नहीं होता। बिना प्रकाश के अन्धकार का अनुभव नहीं हो पाता। किन्तु यह माया भगवान् से पार नहीं पा सकती, यह उनसे दूर (*अपाश्रयम्*) खड़ी रहती है।

अत: ध्यान की सिद्धि भगवान् की दिव्य लीलाओं समेत भगवान् का साक्षात्कार (बोध) है। निर्विशेष ब्रह्म का ध्यान ध्यानकर्ता के लिए कष्टकारक होता है जैसाकि *भगवद्गीता* (१२.५) में कहा गया है— *क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।*

यदुताहं त्वया पृष्टो वैराजात् पुरुषादिदम् ।
यथासीत्तदुपाख्यास्ते प्रश्नानन्यांश्च कृत्स्नशः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; उत—हैं; अहम्—मैं; त्वया—तुम्हारे द्वारा; पृष्टः—पूछा जाकर; वैराजात्—विराट रूप; पुरुषात्—भगवान् से; इदम्—यह जगत; यथा—जिस प्रकार; आसीत्—था; तत्—वह; उपाख्यास्ते—मैं कहूँगा; प्रश्नान्—समस्त प्रश्न; अन्यान्—अन्य; च—भी; कृत्स्नशः—विस्तार से।

हे राजन्, तुम्हारे इस प्रश्न का कि यह ब्रह्माण्ड भगवान् के विराट रूप से किस प्रकार प्रकट हुआ तथा अन्य प्रश्नों का उत्तर मैं पूर्वोक्त चारों श्लोकों की व्याख्या के रूप में विस्तारपूर्वक दूँगा।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है यह महान् दिव्य साहित्य वैदिक ज्ञान रूपी वृक्ष का पक्व फल है, अत: सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर विश्व से सम्बन्धित जितने भी प्रश्न हो सकते हैं उन सबका उत्तर *श्रीमद्भागवत* में दिया गया है। ये उत्तर व्याख्या करने वाले व्यक्ति की योग्यता पर निर्भर करते हैं। जैसाकि परम वक्ता श्रील शुकदेव गोस्वामी ने कहा है *श्रीमद्भागवत* के दस विभागों में सारे प्रश्न समाहित हो जाते हैं और बुद्धिमान पुरुष उनका उचित उपयोग करके समुचित लाभ उठा सकेंगे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''श्रीभगवान् के वचन का उद्धरण देते हुए प्रश्नों के उत्तर'' नामक नवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दस

भागवत सभी प्रश्नों का उत्तर है

श्री-शुक उवाच

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः ।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; अत्र—इस श्रीमद्भागवत में; सर्गः—ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का वर्णन; विसर्गः—उप-सृष्टि का वर्णन; च—भी; स्थानम्—लोक; पोषणम्—संरक्षण; ऊतयः—सृष्टि की प्रेरणा; मन्वन्तर—मनुओं का परिवर्तन; ईश-अनुकथाः—ईश्वर का ज्ञान; निरोधः—भगवान् के धाम को वापस जाना; मुक्तिः—मुक्ति; आश्रयः—आधार।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—इस श्रीमद्भागवत में दस विभाग हैं, जो ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, उप-सृष्टि, लोकान्तर, भगवान् द्वारा पोषण, सृष्टि प्रेरणा, मनुओं के परिवर्तन, ईश्वर ज्ञान, अपने घर-भगवद्धाम गमन, मुक्ति तथा आश्रय से सम्बन्धित हैं।

दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम् ।
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

दशमस्य—दसवें (आश्रय) का; विशुद्धि—एकमात्र; अर्थम्—कारण; नवानाम्—अन्य नौ के; इह—इसी श्रीमद्भागवत में; लक्षणम्—लक्षण; वर्णयन्ति—वर्णन करते हैं; महा-आत्मानः—ऋषिगण; श्रुतेन—वैदिक साक्ष्यों से; अर्थेन—प्रत्यक्ष व्याख्या द्वारा; च—तथा; अञ्जसा—संक्षिप्त रूप में।

इनमें से जो दसवाँ 'आश्रय' तत्त्व है उसकी दिव्यता को अन्यों से पृथक् करने के लिए, उन सबका वर्णन कभी वैदिक साक्ष्य से, कभी प्रत्यक्ष व्याख्या से और कभी महापुरुषों द्वारा दी गई संक्षिप्त व्याख्याओं से किया जाता है।

भूत-मात्रेन्द्रिय-धियां जन्म सर्ग उदाहृतः ।
ब्रह्मणो गुण-वैषम्याद् विसर्गः पौरुषः स्मृतः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

भूत—पाँच स्थूल तत्त्व (क्षिति, जल आदि); मात्रा—इन्द्रियों द्वारा दृश्य वस्तुएँ; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; धियाम्—मन; जन्म—उत्पत्ति; सर्गः—प्राकट्य; उदाहृतः—सृष्टि कहलाती है; ब्रह्मणः—आदि पुरुष ब्रह्मा का; गुण-वैषम्यात्—तीनों गुणों की अन्तः क्रिया से; विसर्गः—दुबारा सृष्टि; पौरुषः—चेष्टाएँ; स्मृतः—कहलाती हैं।

पदार्थ के सोलह प्रकार—अर्थात् पाँच तत्त्व (क्षिति, जल, पावक, गगन तथा वायु), ध्वनि, रूप, स्वाद, गंध, स्पर्श तथा नेत्र, कान, नाक, जीभ, त्वचा एवं मन—की तात्विक सृष्टि

सर्ग कहलाती है और प्रकृति के गुणों की बाद की अन्तःक्रिया विसर्ग कहलाती है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के दस विभागों के लक्षणों की व्याख्या के लिए लगातार सात श्लोक आये हैं। इनमें से प्रथम प्रस्तुत श्लोक जो सोलह तत्त्वों—यथा पृथ्वी, जल इत्यादि के साथ बुद्धि तथा मन के प्राकट्य को बताता है। परवर्ती सृष्टि आदि पुरुष एवं गोविन्द के अवतार महाविष्णु की उपर्युक्त सोलह शक्तियों की प्रतिक्रियाओं का फल है जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.४७) में ब्रह्माजी ने कहा है—

यः कारणार्णवजले भजति स्म योग-

निद्रामनन्तजगदण्डसरोमकूपः।

आधारशक्तिमवलम्ब्य परां स्वमूर्तिं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

गोविन्द, श्रीकृष्ण का प्रथम पुरुष अवतार महाविष्णु कहलाता है। ये योगनिद्रा में रहते हैं और इनके दिव्य शरीर के प्रत्येक रोमछिद्र में असंख्य ब्रह्माण्ड स्थित रहते हैं।

जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की विशिष्ट शक्तियों के प्राकट्य से ही *श्रुतेन* अर्थात् वैदिक निर्देश से यह सृष्टि सम्भव है। बिना वैदिक निर्देश के यह सृष्टि प्रकृति की उपज प्रतीत होती है। ऐसा निष्कर्ष अल्पज्ञान के कारण ही निकलता है। वैदिक निर्देश से स्पष्ट है कि समस्त शक्तियों (अन्तरंगा, बहिरंगा तथा तटस्था) के मूल तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही हैं और जैसा पहले बताया गया है, यह तो भ्रमपूर्ण निष्कर्ष है कि यह सृष्टि जड़ प्रकृति द्वारा बनी है। वैदिक निष्कर्ष दिव्य प्रकाश है, जबकि अवैदिक निष्कर्ष भौतिक अन्धकार है। परमेश्वर की अन्तरंगा शक्ति तथा परमेश्वर एक हैं और बहिरंगा शक्ति अन्तरंगा शक्ति के सम्पर्क में ही प्रकाशित होती है। अन्तरंगा शक्ति के अंश-प्रत्यंश जो बहिरंगा शक्ति से सर्म्पक जो क्रिया होती है, वह तटस्था शक्ति अथवा जीवात्मा कहलाती है।

इस प्रकार आदि सृष्टि तो प्रत्यक्ष पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् या परब्रह्म से होती है और गौण सृष्टि, जो मूल अवयवों की प्रतिक्रियाओं का फल है, ब्रह्मा द्वारा रची जाती है। इस तरह समस्त ब्रह्माण्ड के कार्य प्रारम्भ होते हैं।

स्थितिर्वैकुण्ठ-विजयः पोषणं तदनुग्रहः ।
मन्वन्तराणि सद्धर्म ऊतयः कर्म-वासनाः ॥ ४॥

शब्दार्थ

स्थितिः—उचित दशा; वैकुण्ठ-विजयः—वैकुण्ठ के स्वामी की विजय; पोषणम्—पालन; तत्-अनुग्रहः—अहैतुकी कृपा; मन्वन्तराणि—मनुओं के शासन; सत्-धर्मः—पूर्ण धर्म; ऊतयः—कार्य करने की प्रेरणा; कर्म-वासनाः—सकाम कर्म की आकांक्षा।.

जीवात्मा के लिए उचित तो यही है कि वह भगवान् के नियमों का पालन करे और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के संरक्षण में पूरी तरह से मानसिक शान्ति प्राप्त करे। सभी मनु तथा उनके नियम जीवन को सही दिशा प्रदान करने के लिए हैं। कार्य करने की प्रेरणा ही सकाम कर्म की आकांक्षा है।

तात्पर्य : यह भौतिक संसार सृजित होता है, कुछ काल तक बना रहता है और भगवान् की इच्छा से पुनः विनष्ट हो जाता है। सृष्टि के अवयवों तथा उपस्रष्टा ब्रह्मा की उत्पत्ति भगवान् विष्णु द्वारा अपने प्रथम तथा द्वितीय अवतारों में की जाती है। प्रथम पुरुष अवतार महाविष्णु हैं और दूसरे पुरुष अवतार गर्भोदकशायी विष्णु हैं, जिनसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए। तृतीय पुरुष अवतार क्षीरोदकशायी विष्णु हैं, जो ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु में परमात्मास्वरूप स्थित रहते हैं और ब्रह्मा द्वारा रची गई सृष्टि का पालन करते हैं। ब्रह्मा के अनेक पुत्रों में से शिव भी एक हैं जिनका कार्य इस सृष्टि का संहार है। अतः ब्रह्माण्ड के मूल स्रष्टा तो विष्णु हैं और वे अपनी अहैतुकी कृपा से उत्पन्न जीवों के पालक भी हैं। इस प्रकार समस्त बद्धजीवों को भगवान् की श्रेष्ठता स्वीकार करनी चाहिए और उनके शुद्ध भक्त बनकर इस कष्टमय तथा संकटमय संसार में शान्तिपूर्वक रहना चाहिए। इस संसार को अपनी इन्द्रिय-तुष्टि के लिए उपयुक्त समझने और इस प्रकार विष्णु की बहिरंगा शक्ति द्वारा मोहग्रस्त होने के कारण बद्धजीव को सृष्टि तथा विनाश के प्राकृतिक नियमों को फिर से भोगने के लिए रहना पड़ता है।

भगवद्गीता में कहा गया है कि ब्रह्माण्ड के सर्वोच्चलोक से लेकर सबसे निचले लोक पाताललोक तक के सारे लोक नाशवान हैं और बद्धजीव अपने अच्छे या बुरे कर्मों से या आधुनिक अन्तरिक्ष यान से अन्तरिक्ष में विचरण कर सकते हैं, किन्तु कही पर भी उनकी मृत्यु निश्चित है। हाँ, भिन्न-भिन्न लोकों में उनकी आयु पृथक्-पृथक् होती है। किन्तु शाश्वत जीवन प्राप्त करने का एकमात्र

उपाय है भगवान् के धाम को वापस जाना जहाँ पर भौतिक लोकों की भाँति पुनर्जन्म नहीं होता। वैकुण्ठ के स्वामी के साथ अपने सम्बन्धों को विसरा देने के कारण बद्धजीव इस सीधी-सी बात से अनजान रहकर इस भौतिक जगत में स्थायी जीवन बिताने की योजना बनाने का प्रयास करते हैं। बहिरंगा शक्ति से मोहित होने के कारण वे विभिन्न प्रकार के आर्थिक तथा धार्मिक विकास कार्यों में व्यस्त हो जाते हैं और यह भूल जाते हैं कि उनका उद्देश्य भगवान् के धाम वापस जाना है। माया के प्रभाव से यह विस्मृति इतनी प्रबल होती है कि बद्धजीव भगवान् के धाम वापस जाना ही नहीं चाहते। इन्द्रिय-सुख के कारण वे बार-बार जन्म-मरण के चक्र में फँसते रहते हैं और मनुष्य जीवन को बिगाड़ लेते हैं जिसमें ही भगवान् के धाम को वापस जाने के अवसर प्राप्त होते हैं। विभिन्न युगों तथा कल्पों में मनु ने जो आदेशात्मक शास्त्र बनाये वे *सद्धर्म* कहलाते हैं। वे मनुष्यों के लिए सन्मार्ग दिखाने वाले हैं, अत: मनुष्यों को चाहिए कि वे अपने हित में तथा अन्त-काल को सफल बनाने के लिए इन शास्त्रों का उपयोग करें। सृष्टि मिथ्या नहीं है, किन्तु यह अस्थायी प्राकट्य है और बद्धजीवों को भगवान् के धाम वापस जाने के लिए अवसर प्रदान करने के लिए है। भगवान् के पास जाने की इच्छा तथा उस दिशा में किये गये कार्यों से ही कर्म का सन्मार्ग बनता है। जो ऐसे नियमित पथ का अनुसरण करते हैं, भगवान् अपने उन भक्तों को अहैतुकी कृपावश संरक्षण प्रदान करते हैं, किन्तु जो अभक्त हैं, वे सकाम कर्मों के बन्धन में फँसकर अपने को कार्यकलापों के जोखिम में डाल देते हैं। इस प्रसंग में *सद्धर्म* शब्द महत्त्वपूर्ण है। सद्धर्म अर्थात् *भगवान्* के धाम वापस जाने के लिए अपना कर्तव्य करना और इस तरह शुद्ध भक्त बनना पवित्र कार्य है। अन्य सभी लोग पवित्र होने का ढोंग रचते हैं, किन्तु वास्तव में वे ऐसे होते नहीं। इसीलिए भगवान् ने *भगवद्गीता* में उपदेश दिया है कि मनुष्य को समस्त तथाकथित धार्मिक कार्यों को त्यागकर भगवान् की भक्ति-मय सेवा में लग जाना चाहिए जिससे वह इस भौतिक संसार के भयावह जीवन के समस्त कष्टों से मुक्त हो सके। सद्धर्म में स्थित रहने के लिए कार्य करना ही जीवन की सही दिशा है। मनुष्य का उद्देश्य भगवान् के धाम जाना होना चाहिए न कि अस्थायी जीवन के लिए उत्तम या निष्कृष्ट शरीर ग्रहण करके इस संसार के जन्म-मरण के आवागमन में फँसना। इसी में मानव जीवन की बुद्धिमत्ता है और मनुष्य को ऐसे ही जीवन के कार्यकलापों की आकांक्षा

करनी चाहिए।

अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्तिनाम् ।
पुंसामीश-कथाः प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिताः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अवतार—भगवान् का अवतार; अनुचरितम्—कार्यकलाप; हरेः—भगवान् के; च—भी; अस्य—उसके; अनुवर्तिनाम्—अनुयायी; पुंसाम्—मनुष्यों का; ईश-कथाः—ईश्वर का विज्ञान, भगवत्तत्व; प्रोक्ताः—कहा गया; नाना—विविध; आख्यान—कथाएँ; उपबृंहिताः—वर्णित।

ईश्वर-विज्ञान (ईश-कथा) श्रीभगवान् के विविध अवतारों, उनकी लीलाओं तथा साथ ही उनके भक्तों के कार्यकलापों का वर्णन करता है।

तात्पर्य : इस ब्रह्माण्ड के अस्तित्व काल में इतिहास का अनुक्रम बनता है, जिसमें जीवात्माओं के कार्यों का लेखा-जोखा अंकित होता है। सामान्य रूप से लोगों में विभिन्न व्यक्तियों तथा कालों के इतिहास तथा आख्यानों को जानने की प्रवृत्ति होती है, किन्तु ईश्वर-विज्ञान (ईश कथा) के विषय सम्बन्धी ज्ञान के अभाव के कारण वे भगवान् के अवतारों के इतिहास का अध्ययन करने में सक्षम नहीं होते। यह सदैव स्मरण रखा जाना चाहिए है कि यह सृष्टि बद्धजीवों के मोक्ष के लिए बनी है। भगवान् अपनी अहैतुकी कृपा के कारण इस भौतिक संसार के विविध लोकों में अवतरित होकर बद्धजीवों के मोक्ष के लिए कार्य करते हैं। इससे इतिहास तथा आख्यान पठनीय बन जाता है। *श्रीमद्भागवत* में भगवान् तथा उनके भक्तों के सम्बन्ध में अनेक दिव्य कथाएँ हैं। फलतः भक्तों तथा भगवान् की कथाओं को आदरपूर्वक सुनना चाहिए।

निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः ।
मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्व-रूपेण व्यवस्थितिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

निरोधः—जगत का लय; अस्य—उसका; अनुशयनम्—पुरुष अवतारी महाविष्णु का योगनिद्रा में लेटना; आत्मनः—जीवात्माओं का; सह—साथ; शक्तिभिः—शक्तियों के साथ; मुक्तिः—मुक्ति; हित्वा—त्याग कर; अन्यथा—नहीं तो; रूपम्—रूप; स्व-रूपेण—स्वरूप में; व्यवस्थितिः—स्थायी पद।

अपनी बद्धावस्था के जीवन-सम्बन्धी प्रवृत्ति के साथ जीवात्मा का शयन करते हुए महाविष्णु में लीन होना प्रकट ब्रह्माण्ड का परिसमापन कहलाता है। परिवर्तनशील स्थूल तथा

सूक्ष्म शरीरों को त्याग कर जीवात्मा के रूप की स्थायी स्थिति 'मुक्ति' है।

तात्पर्य : जैसाकि हम कई बार कह चुके हैं जीवात्मा दो प्रकार के होते हैं। उनमें से अधिकांश नित्य-मुक्त होता हैं और कुछ नित्य-बद्ध होते हैं। नित्य-बद्ध जीवों में प्रकृति के ऊपर स्वामित्व प्राप्त करने की मानसिकता के विकास की संभावना होती है, अत: उन्हें दो प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करने के लिए भौतिक विश्व का प्राकट्य होता है। पहली सुविधा के अनुसार बद्धजीव स्वेच्छा से विश्व पर अधिकार जमा सकता है और दूसरी सुविधा के अनुसार वह भगवान् के धाम को वापस जा सकता है। अत: विश्व के लय होने पर अधिकांश बद्धजीव योगनिद्रा में लेटे हुए भगवान् महाविष्णु में लीन हो जाते हैं जिससे वे अगली सृष्टि में पुन: जन्म लें। किन्तु कुछ बद्धजीव वैदिक साहित्य की दिव्य ध्वनि का अनुसरण करते हुए भगवान् के धाम को वापस जाने में समर्थ होते हैं और अपने बद्ध स्थूल तथा सूक्ष्म भौतिक शरीरों को त्याग कर आध्यात्मिक एवं आदि शरीर प्राप्त करते हैं। ईश्वर से अपने सम्बन्धों को भूल जाने से जीवात्माओं को भौतिक बद्ध शरीर प्राप्त होते हैं और विश्व के प्राकट्य होने पर बद्धजीवों को शास्त्रों की सहायता से, जिन्हें भगवान् ने अपने विभिन्न अवतारों के समय कृपावश संकलित किया है, अपनी मूल स्थिति को पुनरुज्जीवित करने का अवसर प्रदान किया जाता है। ऐसे दिव्य साहित्य के श्रवण या पठन से बद्ध अवस्था में होते हुए भी जीव को मुक्त होने में सहायता मिलती है। समस्त वैदिक साहित्य का उद्देश्य श्रीभगवान् की भक्ति-मय सेवा करना है और जैसे ही इस पद पर कोई स्थित हो जाता है उसे तुरन्त ही बद्धजीवन से छुटकारा मिल जाता है। भौतिक स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों का कारण मात्र बद्धजीव की अज्ञानता है और ज्योंही वह भगवान् की भक्ति में स्थित हो जाता है, वह बद्ध अवस्था से मुक्ति पाने का अधिकारी बन जाता है। यह भक्ति परमेश्वर के लिए दिव्य आकर्षण होती है, क्योंकि परमेश्वर समस्त भावों (रसों) के स्रोत हैं। प्रत्येक प्राणी किसी न किसी भाव के आनन्द का इच्छुक होता है, किन्तु वह समस्त आकर्षण के परम स्रोत को नहीं जानता (*रसो वै स: रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति*)। वैदिक स्तोत्र समस्त आनन्द के परम स्रोत की जानकारी देते हैं, समस्त आनन्द का अजस्र स्रोत भगवान् हैं और जो भाग्यशाली मनुष्य *श्रीमद्भागवत* जैसे दिव्य ग्रन्थों के द्वारा इस सन्देश को प्राप्त करने में समर्थ है, वह सदा के लिए मुक्त होकर वैकुण्ठ में अपना उचित

स्थान ग्रहण करता है।

आभासश्च निरोधश्च यतोऽस्त्यध्यवसीयते ।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते ॥ ७॥

शब्दार्थ

आभासः—जगत की उत्पत्ति; च—तथा; निरोधः—तथा लय; च—भी; यतः—स्त्रोत से; अस्ति—है; अध्यवसीयते—प्रकट होता है; सः—वह; आश्रयः—आगार; परम्—परम; ब्रह्म—जीव; परमात्मा—परम-आत्मा; इति—इस प्रकार; शब्द्यते—कहा गया है।

परम पुरुष अथवा परमात्मा कहलाने वाले परमेश ही दृश्य जगत के परम स्त्रोत, इसके आगार (आश्रय) तथा लय हैं। इस प्रकार वे परम स्त्रोत, परम सत्य हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है समस्त शक्तियों के परम स्त्रोत के पर्याय *जन्माद्यस्य यतः, वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानम् अद्वयम् ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते,* परब्रह्म, परमात्मा या भगवान् कहलाते हैं। इस श्लोक में इति शब्द के प्रयोग से पर्यायों का अन्त हो जाता है और इस प्रकार भगवान् का द्योतक है। इसकी और व्याख्या बाद के श्लोकों में की जाएगी, किन्तु, अन्ततः इस भगवान् का अर्थ है भगवान् कृष्ण, क्योंकि *श्रीमद्भागवत* ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को कृष्ण रूप में पहले ही मान लिया है। कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् समस्त शक्तियों का मूलाधार परम सत्य है, जो परब्रह्म इत्यादि कहलाता है और भगवान् परम सत्य के लिए अन्तिम शब्द है। किन्तु भगवान् के पर्यायों में से—यथा नारायण, विष्णु तथा पुरुष में से अन्तिम शब्द कृष्ण है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है—*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।* इसके अतिरिक्त *श्रीमद्भागवत* भगवान् के शब्द अवतार रूप में भगवान् कृष्ण का प्रतिरूप है—

कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह।
कलौ नष्टदृशामेषः पुराणार्कोऽधुनोदितः॥

(*भागवत* १.३.४३)

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकला कि भगवान् श्रीकृष्ण समस्त शक्तियों के परम स्त्रोत हैं और कृष्ण शब्द का अर्थ भी यही है। कृष्ण अथवा कृष्ण-तत्त्व की व्याख्या के लिए ही *श्रीमद्भागवत* की रचना की गई है। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध में सूत गोस्वामी तथा शौनक जैसे महान् ऋषियों के प्रश्नोत्तर

से इस सत्य की जानकारी मिलती है और इसी स्कंध के प्रथम तथा द्वितीय अध्यायों में इसकी व्याख्या है। तृतीय अध्याय में विषय को स्पष्ट किया गया है तथा चतुर्थ अध्याय में यह और भी स्पष्ट होती जाती है। द्वितीय स्कंध में श्रीभगवान् के रूप में परम सत्य पर बल दिया गया है और परम-ईश्वर श्रीकृष्ण हैं, ऐसा दर्शाया गया है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है चार श्लोकों में *श्रीमद्भागवत* का सार संक्षेप में दिया गया है। इन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विषय की अन्ततः ब्रह्मा ने *ब्रह्म-संहिता* में इस प्रकार पुष्टि की है—*ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द-विग्रहः।* ऐसा ही श्रीमद्भागवत् के तृतीय स्कंध से निष्कर्ष निकलता है। पूर्ण विषय की विस्तृत व्याख्या श्रीमद्भागवत् के दशम तथा एकादश स्कंधों में मिलती है। स्वायंभुव मन्वन्तर तथा चाक्षुष मन्वन्तर जैसे मन्वन्तरों के प्रसंग में, जिनकी व्याख्या तृतीय, चर्तुथ, पंचम, पष्ठ तथा सप्तम स्कंध में की गई है, श्रीकृष्ण का ही संकेत है। अष्टम स्कंध में वैवस्वत मन्वन्तर से भी अप्रत्यक्ष रूप में उसी विषय की व्याख्या होती है। नवम स्कंध का भी वही सार है। बारहवें स्कंध में विशेष रूप से भगवान् के विविध अवतारों के विषय में आगे व्याख्या की गई है। इस प्रकार सम्पूर्ण *श्रीमद्भागवत* के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ही समस्त शक्ति के परम स्रोत हैं। उपासकों की कोटियों के अनुसार नारायण, ब्रह्म, परमात्मा इत्यादि नामों की व्याख्या अलग-अलग हो जाती है।

योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः ।
यस्तत्रोभय-विच्छेदः पुरुषो ह्याधिभौतिकः ॥ ८॥

शब्दार्थ

यः—जो; अध्यात्मिकः—इन्द्रियों से युक्त; अयम्—यह; पुरुषः—व्यक्ति; सः—वह; असौ—वह; एव—भी; अधिदैविकः—नियामक देव; यः—जो; तत्र—वहाँ; उभय—दोनों का; विच्छेदः—वियोग; पुरुषः—व्यक्ति; हि—क्योंकि; आधिभौतिकः—दृश्य शरीर अथवा देहवान जीवात्मा।

विभिन्न इन्द्रियों से युक्त व्यक्ति आध्यात्मिक पुरुष कहलाता है और इन इन्द्रियों को वश में रखने वाला देव (श्रीविग्रह) अधिदैविक कहलाता है। नेत्रगोलकों में दिखने वाला स्वरूप अधिभौतिक पुरुष कहलाता है।

तात्पर्य : परम नियन्ता आश्रय तत्त्व परमात्मा के अपने रुप (स्वांश रुप) भगवान् हैं। *भगवद्गीता* (१०.४२) में कहा गया है—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव जैसे सभी नियामक देव पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के परमात्मा रूप के विविध प्राकट्य हैं, जो उनके ही द्वारा उत्पन्न प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट होकर अपने को इसी प्रकार प्रकट करते हैं। फिर भी नियन्त्रक तथा नियन्त्रित के भी विभाग हैं। उदहारणार्थ, खाद्य विभाग का नियन्त्रक व्यक्ति उन्हीं अवयवों से निर्मित होता है जिनसे नियन्त्रित व्यक्ति। इसी प्रकार भौतिक जगत का प्रत्येक प्राणी उच्च देवताओं द्वारा नियन्त्रित होता है। उदाहरणार्थ, हमारी इन्द्रियों के नियन्त्रक वरिष्ठ नियामक देवता हैं। हम प्रकाश के बिना देख नहीं सकते, किन्तु प्रकाश का परम नियामक सूर्य है। सूर्यदेव सूर्यलोक में रहते हैं और जहाँ तक हमारी आँखों की बात है मनुष्य अथवा अन्य जीव इस पृथ्वी पर होने के कारण सूर्यदेव द्वारा नियन्त्रित होते हैं। इसी प्रकार हमारी समस्त इन्द्रियाँ वरिष्ठ देवताओं द्वारा नियन्त्रित हैं, जो हमारी ही तरह की नियन्त्रित जीवात्माएँ हैं, किन्तु ये शक्तिसम्पन्न हैं और हम उनके द्वारा नियन्त्रित हैं। नियन्त्रित (शासित) जीवात्मा अध्यात्मिक पुरुष कहलाता है और नियन्त्रक अधिदैविक पुरुष कहलाता है। संसार के ये सारे पद विभिन्न कर्मों के फलस्वरूप हैं। कोई भी जीव अपने पुण्यकर्म के द्वारा सूर्यदेव, यहाँ तक कि ब्रह्मा अथवा उच्च लोकों का कोई अन्य देवता, बन सकता है। इसी प्रकार निम्न श्रेणी के सकाम कार्यों के कारण वह उच्चतर देवताओं द्वारा नियन्त्रित होता है। इस प्रकार प्रत्येक जीवात्मा परमात्मा के परम नियन्त्रण में रहता है, जो प्रत्येक व्यक्ति को नियन्त्रक तथा नियन्त्रित के विभिन्न पदों पर आसीन करते हैं।

जो नियन्त्रक तथा नियन्त्रित में भेद का कारण है अर्थात् भौतिक देह, वह अधिभौतिक पुरुष कहलाता है। शरीर को कभी-कभी पुरुष कहा जाता है, जिसकी पुष्टि वेदों के इस सूत्र में हुई है—*स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय:।* यह शरीर *अन्न-रस* रूप है। यह शरीर अन्न पर निर्भर है, किन्तु शरीर में रहने वाला जीवात्मा कुछ खाता नहीं, क्योंकि मूलत: स्वामी आत्मा है। भौतिक शरीर के क्षय होने के पश्चात् उसके बदलने की आवश्यकता होती है। अत: एक जीवात्मा तथा नियन्त्रक देव का अन्तर अन्न-रस-मय देह में है। सूर्य का शरीर विराट हो सकता है और मनुष्य का लघु, किन्तु सभी दृश्य देह पदार्थ से

निर्मित हैं, तो भी सूर्य तथा पुरुष, जो नियन्त्रक तथा नियन्त्रित सम्बन्ध से बँधे हैं, परमेश्वर के एक-से अध्यात्मिक अंश हैं और इन अंशों को विभिन्न पदों में बैठाने वाला परमेश्वर ही है। इस तरह यह निष्कर्ष निकला कि परम पुरुष सभी का आश्रय है।

एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे ।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एकम्—एक; एकतर—अन्य; अभावे—के न होने पर; यदा—क्योंकि; न—नहीं; उपलभामहे—दृश्य; त्रितयम्—तीन अवस्थाएँ; तत्र—वहाँ; यः—जो; वेद—जानता है; सः—वह; आत्मा—परमात्मा; स्व—निज; आश्रय—शरण; आश्रयः—शरण का।

विभिन्न जीवात्माओं की उपर्युक्त तीनों अवस्थाएँ अन्योन्याश्रित हैं। किसी एक के अभाव में दूसरे को नहीं समझा जा सकता। किन्तु परमेश्वर इन सबको एक दूसरे के आश्रय रूप में देखता हुआ इन सबसे स्वतन्त्र है, अतः वह परम आश्रय है।

तात्पर्य : जीवात्माएँ असंख्य हैं और नियन्त्रक तथा नियन्त्रित सम्बन्ध द्वारा एक दूसरे पर आश्रित हैं। किन्तु बिना देखे कोई यह नहीं जान सकता है कि कौन नियन्त्रक है और कौन नियन्त्रित है। उदाहरणार्थ, सूर्य हमारी दृष्टि का नियन्त्रक है हम सूर्य को देखते हैं, क्योंकि सूर्य के शरीर है और सूर्य का प्रकाश केवल इसीलिए उपयोगी है, क्योंकि हमारे नेत्र हैं (हम देखते हैं)। बिना नेत्र के सूर्य-प्रकाश अर्थहीन है और सूर्य-प्रकाश के बिना नेत्र व्यर्थ हैं। इस प्रकार वे अन्योन्याश्रित हैं। इनमें से कोई भी स्वतन्त्र नहीं है। अतः स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि किसने इन्हें अन्योन्याश्रित बनाया? जिसने ऐसा किया होगा वह अवश्य ही पूर्णतः स्वतन्त्र होगा। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है समस्त अन्योन्याश्रित वस्तुओं का परम स्रोत पूर्ण स्वतन्त्र तत्त्व होता है। इन सभी अन्योन्याश्रित तत्त्वों का ऐसा स्रोत परम सत्य या परमात्मा है, जो अन्य किसी वस्तु पर आश्रित नहीं है। वह *स्वाश्रयाश्रयः* है। वह केवल अपने आप पर आश्रित है, अतः प्रत्येक वस्तु का परम आश्रय वह है। यद्यपि परमात्मा तथा ब्रह्म भगवान् के आश्रित हैं, क्योंकि भगवान् ही पुरुषोत्तम या परम पुरुष हैं, किन्तु वह परमात्मा का भी स्रोत है। *भगवद्गीता* (१५.१८) में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि वे पुरुषोत्तम हैं और हर वस्तु के स्रोत हैं, अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रीकृष्ण समस्त जीवों के, यहाँ तक कि

परमात्मा तथा परब्रह्म के भी, परमस्रोत तथा आश्रय हैं। यदि हम यह मान भी लें कि परमात्मा तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं है, तो भी आत्मा माया के मोह से मुक्त होने के लिए परमात्मा पर आश्रित है। प्रत्येक व्यक्ति माया के चंगुल में फँसा है, अतः गुणात्मक रूप से परमात्मा से अभिन्न होते हुए भी वह अपने को पदार्थ मानने के मोह से ग्रस्त है और इस यथार्थ जीवन के मोहमय विचार से उबर पाने के लिए आत्मा को परमात्मा के आश्रित रहना होता है, जिससे वह उसी रूप में मान्य हो। इस दृष्टि से भी परमात्मा परम आश्रय है और इसके विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

जीवात्मा या जीव सदा परमात्मा पर आश्रित है, क्योंकि आत्मा अपनी पहचान (सत्ता) भूल जाता है, किन्तु परमात्मा अपनी दिव्य स्थिति को नहीं भूलता। *भगवद्गीता* में जीवात्मा तथा परमात्मा की पृथक्-पृथक् स्थितियों का उल्लेख हुआ है। चतुर्थ अध्याय में जीवात्मा रूप अर्जुन को इस प्रकार चित्रित किया गया है, जिसे अपने अनेक पूर्वजन्मों की स्मृति नहीं हैं, किन्तु परमात्मास्वरूप भगवान् को सब कुछ स्मरण रहता है। भगवान् को इतना तक स्मरण है कि करोड़ों वर्ष पूर्व उन्होंने सूर्यदेव को *भगवद्गीता* की शिक्षा दी थी। भगवान् लाखों-करोड़ों वर्ष पुरानी घटनाएँ स्मरण रख सकते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (७.२६) में कहा गया है—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।

भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

सच्चिदानन्द रूप भगवान् को इसका पूरा ज्ञान है कि भूतकाल में क्या हुआ, वर्तमान काल में क्या हो रहा है और भविष्य में क्या होगा। ऐसे परमात्मा तथा ब्रह्म के आश्रय भगवान् को अल्पज्ञ नहीं समझ पाते।

विश्वचेतना तथा जीवात्मा की चेतना को एकरूप मानने का प्रचार भ्रामक है, क्योंकि अर्जुन जैसा व्यक्ति, जो सदैव भगवान् के साथ रहा, अपने अतीत के कर्मों को स्मरण नहीं रख सका तो भला तुच्छ मनुष्य अपने को झूठमूठ विश्वचेतना से एकरूप बताकर किस प्रकार अपने भूत, वर्तमान तथा भविष्य को जान सकता है?

पुरुषोऽण्डं विनिर्भिद्य यदासौ स विनिर्गतः ।
आत्मनोऽयनमन्विच्छन्नपोऽस्राक्षीच्छुचिः शुचीः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

पुरुषः—परम पुरुष, परमात्मा; अण्डम्—ब्रह्माण्ड को; विनिर्भिद्य—प्रत्येक को अलग-अलग स्थापित करके; यदा—जब; असौ—वही; सः—वह (भगवान्); विनिर्गतः—बाहर निकल आया; आत्मनः—अपना; अयनम्—स्थान पर पड़े हुए; अन्विच्छन्—चाहते हुए; अपः—जल; अस्राक्षीत्—उत्पन्न किया; शुचिः—परम पवित्र; शुचीः—दिव्य।

विभिन्न ब्रह्माण्डों को पृथक् करके विराट स्वरूप भगवान् (महाविष्णु), जो प्रथम पुरुष अवतार के प्रकट होने के स्थान कारणार्णव से बाहर आये थे, सृजित दिव्य जल (गर्भोदक) में शयन करने की इच्छा से उन विभिन्न ब्रह्माण्डों में प्रविष्ट हुए।

तात्पर्य : जीवात्माओं तथा सभी प्राणियों के स्वतंत्र स्रोत, परमात्मास्वरूप परमेश्वर का विश्लेषण करने के पश्चात् श्रील शुकदेव गोस्वामी अब भगवद्भक्ति की अनिवार्यता बता रहे हैं, जो समस्त जीवात्माओं का एकमात्र धर्म है। भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनके अंश और अंशांश एक दूसरे से अभिन्न हैं और इस प्रकार इनमें से प्रत्येक स्वतन्त्र हैं। इसे सिद्ध करने की दृष्टि से शुकदेव गोस्वामी (परीक्षित को दिये गये वचन के अनुसार) भौतिक सृष्टि के क्षेत्र में भी पुरुष अवतार की स्वतन्त्र सत्ता का वर्णन कर रहे हैं। भगवान् के ऐसे कार्य भी दिव्य होते हैं, अत: वे भी परमेश्वर की लीला कहलाते हैं। भक्ति के क्षेत्र में आत्म-साक्षात्कार चाहने वालों के लिए ऐसी लीलाओं का श्रवण करना अत्यन्त अनुकूल होता है। कुछ लोग यह तर्क कर सकते हैं, तो फिर क्यों न मथुरा तथा वृन्दावन में की गई भगवान् की लीलाओं का रसास्वादन किया जाय जो संसार की सभी वस्तुओं से अधिक मधुर है? श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर उत्तर देते हैं कि भगवान् की वृन्दावन की लीलाएँ सिद्ध भक्तों के आस्वादनार्थ हैं। नवदीक्षित भक्त भगवान् की ऐसी परम दिव्य लीलाओं का गलत अर्थ लगा सकते हैं, अत: इस संसार में सृष्टि, पालन तथा संहार विषयक भगवान् की लीलाएँ प्राकृत अर्थात् संसारी भक्तों के द्वारा आस्वाद्य हैं। जिस प्रकार योग-पद्धति प्रणाली उन पुरुषों के निमित्त होती है, जो देह के प्रति अत्यधिक आसक्त होते हैं इसी प्रकार भगवान् की सृष्टि तथा संहार विषयक लीलाएँ अत्यधिक आसक्त संसारी पुरुषों के लिए होती हैं। अत: ऐसे संसारी पुरुषों को विधि-निर्माता भगवान् के विषय में ज्ञान कराने के लिए शरीर तथा ब्रह्माण्ड के कार्यों को सम्मिलित कर लिया जाता है। विज्ञानी लोग भौतिक विधि के अनेक पारिभाषिक शब्दों द्वारा भौतिक कार्यों की व्याख्या करते हैं, किन्तु ये अंधे विज्ञानी विधि-निर्माता

(भगवान्) को भूल जाते हैं। *श्रीमद्भागवत* विधि-निर्माता का संकेत करता है। मनुष्य को चाहिए कि वह मोटर या डायनैमो की यांत्रिक रचना से विस्मित न हो वरन् उस इंजीनियर को सराहे जिसने ऐसी अद्भुत काम करने वाली मशीन बनाई। एक भक्त तथा अभक्त का यही अन्तर है। भक्तगण सदैव भौतिक नियमों के निर्देशक भगवान् की प्रशंसा करते हैं। *भगवद्गीता* (९.१०) में भौतिक प्रकृति के विषय में भगवान् का निर्देश इस प्रकार है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

''भौतिक नियमों से पूर्ण भौतिक प्रकृति मेरी विभिन्न शक्तियों में से एक है, अतः यह न तो स्वतन्त्र हैं, न निरुद्देश्य है। चूँकि मैं दिव्य रूप से सर्वशक्तिमान हूँ, अतः प्रकृति पर मेरे दृष्टि डालने से ही प्रकृति के नियम इतने अद्भुत ढंग से चल रहे हैं। इसीलिए भौतिक नियमों की क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है और इस जगत का बारम्बार सृजन, पालन तथा संहार होता रहता है।''

किन्तु जो अल्पज्ञानी हैं, वे मनुष्य शरीर की रचना तथा इस ब्रह्माण्ड के भीतर भौतिक नियमों का अध्ययन करके अचम्भित होते हैं और मूर्खतावश ईश्वर के अस्तित्व को यह मानकर नकारते हैं कि भौतिक नियम स्वतन्त्र हैं और उन पर कोई पराभौतिक नियंत्रण नहीं हैं। ऐसी मूर्खता का उत्तर *भगवद्गीता* (९.११) में निम्न शब्दों में मिलता है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

''मेरे मनुष्य रुप में अवतरित होने पर मूर्ख (मूढ़) मेरा उपहास करते हैं। वे मुझ परमेश्वर के दिव्य स्वभाव को नहीं जानते।'' मूढ़ लोग भगवान् के दिव्य शरीर को अपने शरीर जैसा समझते हैं, अतः वे उन भगवान् की अपार नियामक शक्ति के विषय में सोच नहीं पाते, जो भौतिक नियमों के संचालन में दृश्य नहीं होते। किन्तु जब भगवान् अपनी सगुण शक्ति से अवतरित होते हैं, तो सामान्य लोगों की आँखों से दिखते हैं। भगवान् कृष्ण अपने यावत् रूप में प्रकट हुए और उन्होंने अनेक अद्भुत कार्य किये और *भगवद्गीता* का सम्बन्ध ऐसे ही कार्यों तथा ज्ञान से है। फिर भी मूर्ख लोग भगवान् श्रीकृष्ण

को परमेश्वर नहीं मानते। सामान्य रूप से वे भगवान् के अणु व अनन्त रूपों को मानते हैं, क्योंकि वे स्वयं अणु अथवा अनन्त नहीं हो सकते, किन्तु उन्हें यह समझना चाहिए कि यह अणु और अनन्त रूप ही भगवान् की सर्वोच्च महिमा नहीं है। उनकी शक्ति का सबसे अद्भुत प्रदर्शन तब होता है जब अनन्त भगवान् हमारे बीच हमारी ही तरह प्रकट होते हैं। तो भी उनकी लीलाएँ साधारण मनुष्यों से पृथक् होती हैं। सात वर्ष की आयु में गोवर्धन पर्वत को उठाना तथा अपनी तरुणावस्था में सोलह हजार पत्नियों से विवाह करना—ये उनकी अपार शक्ति के कुछ उदाहरण हैं, किन्तु मूढ़ लोग इन्हें देखकर या सुनकर भी इन्हें कपोलकल्पित कह कर नकारते हैं और भगवान् को अपने समान मानते हैं। वे यह नहीं समझ पाते कि यद्यपि वे अपनी ही शक्ति से मानव-रूप में हैं फिर भी वे परमेश्वर हैं और परम नियामक की शक्ति से ओत-प्रोत हैं।

किन्तु जब ऐसे मूढ़जन *श्रीमद्भगवद्गीता* अथवा *श्रीमद्भागवत* में दिये गये भगवान् के संदेशों को शिष्य-परम्परा द्वारा आत्मसमर्पण तथा श्रवण द्वारा प्राप्त करते हैं, तो वे भी शुद्ध भक्तों की कृपा से भक्त बन जाते हैं। इसीलिए ऐसे ही अल्पज्ञानियों के हित के लिए भगवान् की संसारी लीलाओं को *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* में चित्रित किया गया है।

तास्ववात्सीत् स्व-सृष्टासु सहस्त्रंपरिवत्सरान् ।
तेन नारायणो नाम यदापः पुरुषोद्भवाः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तासु—उसमें; अवात्सीत्—रह रहे; स्व—अपनी; सृष्टासु—सृष्टि करने में; सहस्रम्—एक हजार; परिवत्सरान्—वर्ष; तेन—उस कारण से; नारायणः—नारायण; नाम—नाम; यत्—क्योंकि; आपः—जल; पुरुष-उद्भवाः—परम पुरुष से उद्भूत।

परम पुरुष निराकार नहीं हैं, अतः वे स्पष्टतः नर अथवा पुरुष हैं। इसीलिए इन परम नर द्वारा उत्पन्न दिव्य जल नार कहलाता है। चूँकि वे इसी जल में शयन करते हैं इसीलिए नारायण कहलाते हैं।

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च ।
यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

द्रव्यम्—भौतिक तत्त्व; कर्म—कर्म; च—तथा; कालः—समय; च—भी; स्व-भावः जीवः—जीवात्माएँ; एव—निश्चय ही; च—भी; यत्—जिसके; अनुग्रहतः—अनुग्रह से; सन्ति—हैं, स्थित हैं; न—नहीं; सन्ति—स्थित हैं; यत्-उपेक्षया—उपेक्षा से।

मनुष्य को यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि समस्त भौतिक तत्त्व, कर्म, काल तथा गुण और इन सब को भोगने वाली जीवात्माएँ भगवत्कृपा से ही विद्यमान हैं। उनके द्वारा उपेक्षित होते ही ये सारी वस्तुओं अस्तित्वहीन हो जाती हैं।

तात्पर्य : जीवात्माएँ प्रकृति पर अपना प्रभुत्व जताना चाहती हैं, अतः वे ही भौतिक तत्त्वों, काल, गुण आदि की भोक्ता हैं। भगवान् परम भोक्ता हैं और जीवात्माएँ उन्हें उनके भोग में सहायक बनने और इस प्रकार हर एक के दिव्य भोग में सम्मिलित होने के लिए हैं। भोग में भोक्ता तथा भोग्य दोनों भाग लेते हैं, किन्तु माया के वशीभूत होकर जीवात्माएँ भगवान् के समान स्वयं भोक्ता बनना चाहती हैं, यद्यपि वे इसके निमित्त हैं नहीं। *भगवद्गीता* में जीवों अर्थात् जीवात्माओं को भगवान् की पराप्रकृति कहा गया है। *विष्णु पुराण* में भी ऐसा ही उल्लेख है। अतः जीवात्माएँ कभी पुरुष या वास्तविक भोक्ता नहीं होतीं, अतः इस संसार में जीवात्मा द्वारा सुखभोग की इच्छा झूठी है। आध्यात्मिक जगत में जीवात्माएँ शुद्ध होती हैं, अतः वे परमेश्वर के सुख में हाथ बँटाने वाली होती हैं। भौतिक जगत में अपने कर्म के द्वारा जीवात्मा के सुखोपभोग की भावना प्राकृतिक नियमों के कारण क्रमशः क्षीण होती जाती है और माया बद्धजीवों का कान भरती रहती है कि वे भगवान् से तदाकार हों। यह माया का आखिरी जाल है। जब भगवत्कृपा से यह अन्तिम जाल भी दूर हो जाता है, तो जीवात्मा अपनी पूर्वस्थिति को प्राप्त होता है और इस प्रकार वास्तव में मुक्त हो जाता है। भगवान् भव-बन्धन से मुक्ति देने के लिए ही इस जगत की सृष्टि करते हैं, कुछ काल तक पालते हैं (अपनी गणना के अनुसार एक हजार वर्षों तक, जैसाकि पिछले श्लोक में आया है) और तब अपनी ही इच्छानुसार उसका संहार कर देते हैं। अतः जीवात्माएँ भगवत्कृपा पर पूर्णतः आश्रित रहती हैं और इसीलिए जब भगवान् चाहते हैं तो वैज्ञानिक विकास द्वारा उत्पन्न तथाकथित सुखोपभोगों को मिट्टी में मिला देते हैं।

एको नानात्वमन्विच्छन् योग-तल्पात् समुत्थितः ।
वीर्यं हिरण्मयं देवो मायया व्यसृजत् त्रिधा ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

एकः—अकेला, वह; नानात्वम्—अनेक; अन्विच्छन्—ऐसी इच्छा से; योग-तल्पात्—योगनिद्रा की शय्या से; समुत्थितः—उत्पन्न; वीर्यम्—वीर्य; हिरण्मयम्—सुनहले रंग का; देवः—देवता; मायया—माया से; व्यसृजत्—रचना की; त्रिधा—तीन भागों में।

योगनिद्रा की शय्या में लेटे हुए भगवान् ने एकाकी रूप में से नाना प्रकार के जीवों को प्रकट करने की इच्छा करते हुए अपनी बहिरंगा शक्ति से सुनहरे रंग का वीर्य-प्रतीक उत्पन्न किया।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.७-८) में भौतिक जगत की सृष्टि तथा संहार का वर्णन इस प्रकार से हुआ है—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥

"हे कुन्तीपुत्र! कल्प के अन्त होने पर सृजनात्मक शक्तियां अर्थात् भौतिक प्रकृति एवं भौतिक प्रकृति में संघर्ष रत सारे जीव मेरी दिव्य प्रकृति में लीन हो जाते हैं और फिर से उन्हें प्रकट करने की मेरी इच्छा करने पर मैं उन्हें अपनी शक्ति से पुनः उत्पन्न करता हूँ।"

सम्पूर्ण दृश्य जगत मेरे अधीन कार्य करता है। यह मेरी इच्छा से बारम्बार स्वतः प्रकट होता रहता है और मेरी ही इच्छा से अन्त में विनष्ट होता है।"

इस प्रकार ब्रह्माण्ड की सृष्टि के पूर्व भगवान् अपनी पूर्ण शक्ति (*महा-समष्टि*) के रूप में विद्यमान रहते हैं और अपने को अनेक करने की इच्छा से वे अपने को बहुमुखी पूर्ण शक्ति (समष्टि) में विस्तारित करते हैं। फिर वे इससे व्यष्टि रूप में अध्यात्मिक, अधिदैविक तथा अधिभौतिक आयामों में विस्तार करते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि तथा सृजन-शक्तियाँ अभिन्न होते हुए भी भिन्न-भिन्न होती हैं। चूँकि प्रत्येक प्राणी उन्हीं (*महाविष्णु* या महासमष्टि) से उद्भूत है, अतः विश्व की कोई शक्ति उनसे पृथक् नहीं हैं, किन्तु इन सभी विस्तारित शक्तियों के अपने-अपने विशिष्ट कार्य तथा ईश्वरनिर्मित खेल हैं, अतः वे भगवान् से भिन्न भी हैं। जीवात्माएँ भी भगवान् की ऐसी ही शक्ति (तटस्था शक्ति) हैं, अतः वे एक ही समय भगवान् से अभिन्न होते हुए भिन्न भी हैं।

अप्रकट अवस्था में जीवित शक्तियाँ भगवान् के भीतर ही सामर्थ्यमुक्त रहती हैं और जब जगत में निर्बन्ध छोड़ दिया जाता है, तो वे प्रकृति के गुणों के अधीन विभिन्न इच्छाओं के अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रदर्शित होती हैं। जीवित शक्तियों के ऐसे असमान प्राकट्य जीवों की बद्ध अवस्था के सूचक हैं। लेकिन अपने *सनातन* प्राकट्य में मुक्त जीवात्मा अबद्ध रुप में शरणागत हो चुके होते हैं, अत: वे सृष्टि तथा संहार के अधीन नहीं आते। इस तरह योगनिद्रा में अपनी शैय्या में लेटे हुए भगवान् की चितवन से इस सृष्टि का सृजन होता है। और इस तरह सारे ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्माण्ड के स्वामी, ब्रह्मा बारम्बार प्रकट होते और विनष्ट होते रहते हैं।

अधिदैवमथाध्यात्ममधिभूतमिति प्रभुः ।
अथैकं पौरुषं वीर्यं त्रिधाभिद्यत तच्छृणु ॥ १४॥

शब्दार्थ

अधिदैवम्—नियंत्रक जीव; अथ—अब; अध्यात्मम्—नियन्त्रित जीव; अधिभूतम्—भौतिक शरीर; इति—इस प्रकार; प्रभुः—भगवान्; अथ—इस प्रकार; एकम्—केवल एक; पौरुषम्—पुरुष की, भगवान् की; वीर्यम्—शक्ति; त्रिधा—तीन भागों में; अभिद्यत—विभक्त हुई; तत्—वह; शृणु—सुनो।

मुझसे सुनो कि भगवान् अपनी एक शक्ति को किस प्रकार अधिदैव, अध्यात्म तथा अधिभूत नामक तीन भागों में विभक्त करते हैं, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

अन्तःशरीर आकाशात् पुरुषस्य विचेष्टतः ।
ओजः सहो बलं जज्ञे ततः प्राणो महानसुः ॥ १५॥

शब्दार्थ

अन्तः शरीरे—शरीर के भीतर; आकाशात्—आकाश से; पुरुषस्य—महाविष्णु के; विचेष्टतः—चेष्टा करते हुए; ओजः—इन्द्रिय बल; सहः—मानसिक बल; बलम्—शारीरिक बल; जज्ञे—उत्पन्न किया; ततः—तत्पश्चात्; प्राणः—प्राण, जीवनी शक्ति; महान् असुः—प्रत्येक जीवन का उत्स।

महाविष्णु के दिव्य शरीर के भीतर स्थित आकाश से इन्द्रिय बल, मानसिक बल तथा शारीरिक बल उत्पन्न होते हैं। इनके साथ ही सम्पूर्ण जीवनी शक्ति (प्राण) का समग्र उत्स (स्रोत) उत्पन्न होता है।

अनुप्राणन्ति यं प्राणाः प्राणन्तं सर्व-जन्तुषु ।
अपानन्तमपानन्ति नर-देवमिवानुगाः ॥ १६॥

शब्दार्थ

अनुप्राणन्ति—जीवित लक्षणों का अनुसरण करते हैं; यम्—जिसको; प्राणाः—इन्द्रियाँ; प्राणन्तम्—चेष्टावान्; सर्व-जन्तुषु—समस्त जीवों में; अपानन्तम्—चेष्टा रोकने पर; अपानन्ति—अन्य सभी रुक जाते हैं; नर-देवम्—राजा; इव—सदृश; अनुगाः—अनुयायी।

जिस प्रकार राजा के अनुयायी अपने स्वामी का अनुसरण करते हैं उसी तरह सम्पूर्ण शक्ति के गतिशील होने पर अन्य समस्त जीव हिलते-डुलते (गति करते) हैं और जब सम्पूर्ण शक्ति निश्चेष्ट हो जाती है, तो अन्य समस्त जीवों की इन्द्रिय-क्रियाशीलता रुक जाती है।

तात्पर्य : व्यष्टि जीवात्माएँ परम पुरुष की पूर्णतया शक्ति पर निर्भर रहती हैं। किसी का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता, जिस प्रकार विद्युत बल्ब में स्वतन्त्र तेज नहीं होता। बिजली का प्रत्येक यंत्र बिजलीघर पर पूर्ण रूप से निर्भर रहता है, यह बिजलीघर बिजली उत्पादन के लिए जलाशय पर निर्भर रहता है, जलाशय बादलों पर, बादल सूर्य पर और सूर्य सृष्टि पर निर्भर रहती है और यह सृष्टि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की चेष्टा अथवा गति पर निर्भर करती है। इस प्रकार भगवान् समस्त कारणों के कारण स्वरूप हैं।

प्राणेनाक्षिपता क्षुत् तृडन्तरा जायते विभोः ।
पिपासतो जक्षतश्च प्राड्मुखं निरभिद्यत ॥ १७॥

शब्दार्थ

प्राणेन—जीवनी शक्ति से; आक्षिपता—विचलित होकर; क्षुत्—भूख; तृट्—प्यास; अन्तरा—भीतर से; जायते—उत्पन्न करती हैं; विभोः—परमेश्वर की; पिपासतः—प्यास बुझाने के लिए इच्छुक; जक्षतः—खाने के लिए इच्छुक; च—तथा; प्राक्—पहले; मुखम्—मुँह; निरभिद्यत—प्रकट हुआ।

विराट पुरुष द्वारा विचलित किए जाने पर जीवनी शक्ति (प्राण) ने भूख तथा प्यास को उत्पन्न किया और जब विराट पुरुष ने पीने तथा खाने की इच्छा की तो मुँह खुल गया।

तात्पर्य : जिस प्रकार से माता के गर्भ में जीवों के अंगों तथा ऐन्द्रिक अनुभूतियों का विकास होता है उसी प्रकार से समस्त जीवों से समष्टि रूप विराट पुरुष का भी विकास होता प्रतीत होता है, अतः समस्त सृजन कार्य का परम कारण निर्गुण या निश्चेष्ट नहीं है। भगवान् में भी समस्त प्रकार की कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों की अनुभूतियाँ रहती हैं और इस तरह वे प्रत्येक व्यक्ति में घटित होती हैं। यह इच्छा या चेष्टा परम पुरुष का स्वभाव है। चूँकि वे समस्त मुखों की समष्टि हैं, अतः अलग-अलग जीवात्माओं में मुख होता है। इसी प्रकार से अन्य सारी इन्द्रियाँ तथा उनके अंग भी होते हैं। यहाँ पर

मुख समस्त इन्द्रियों का प्रतीक स्वरुप है, क्योंकि अन्यों पर भी यही नियम लागू होते हैं।

मुखतस्तालु निर्भिन्नं जिह्वा तत्रोपजायते ।
ततो नाना-रसो जज्ञे जिह्वया योऽधिगम्यते ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

मुखतः—मुख से; तालु—तालू; निर्भिन्नम्—उत्पन्न; जिह्वा—जीभ; तत्र—तत्पश्चात्; उपजायते—प्रगट होती है; ततः—तत्पश्चात्; नाना-रसः—अनेक स्वाद; जज्ञे—प्रकट हुए; जिह्वया—जीभ से; यः—जो; अधिगम्यते—आस्वादित होते हैं।

मुख से तालू प्रकट हुआ और फिर जीभ भी उत्पन्न हुई। इन सबके बाद विविध स्वादों की उत्पत्ति हुई जिससे जीभ उनका स्वाद ले सके।

तात्पर्य : विकास की यह क्रमिक प्रक्रिया नियामक देवों (अधिदैव) की व्याख्या प्रस्तुत करती है, क्योंकि आस्वाद्य रसों का नियामक देव वरुण है। अतः मुख जीभ का आश्रय-स्थल बनता है, जो विभिन्न रसों का आस्वाद करती है, जिनका नियामक देव वरुण है। इससे ऐसा लगता है कि जीभ के साथ ही वरुण भी उत्पन्न हुआ। जीभ तथा तालू निमित्तमात्र होने के कारण अधिभूत या पदार्थ के रूप हैं जब कि कार्य करने वाला देव अधिदैव है, जो कि जीव है तथा जिस पुरुष पर कार्य किया जाता है, वह अध्यात्म है। इस प्रकार विराट पुरुष के मुख खुलने के पश्चात् तीनों श्रेणियों के जन्म की व्याख्या हो जाती है। प्रस्तुत श्लोक में चार सिद्धान्त दिए गये हैं जिनसे पहले बताए गये तीन प्रमुख तत्त्वों—अध्यात्म, अधिदैव तथा अधिभूतम्—की व्याख्या हो जाती है।

विवक्षोर्मुखतो भूम्नो वह्निर्वाग् व्याहृतं तयोः ।
जले चैतस्य सुचिरं निरोधः समजायत ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

विवक्षोः—जब बोलने की आवश्यकता हुई; मुखतः—मुख से; भूम्नः—परमेश्वर की; वह्निः—अग्नि या अग्निदेव; वाक्—शब्द; व्याहृतम्—वाणी; तयोः—दोनों के द्वारा; जले—जल में; च—फिर भी; एतस्य—इन सबका; सुचिरम्—दीर्घ काल तक; निरोधः—अवरोध; समजायत—बना रहा।

जब परम पुरुष की बोलने की इच्छा हुई तो उनके मुख से वाणी गूँजी। फिर मुख से अधिष्ठाता देव अग्नि की उत्पत्ति हुई। किन्तु जब वे जल में शयन कर रहे थे तो ये सारे कार्य बन्द पड़े थे।

तात्पर्य : विभिन्न इन्द्रियों के क्रमिक विकास की विचित्रता की पुष्टि उनके अधिष्ठाता देवों से हो

जाती है। अत: यह समझ लेना चाहिए कि इन्द्रियों के कार्य परमेश्वर की इच्छा द्वारा नियन्त्रित होते हैं। ये इन्द्रियाँ एक प्रकार से बद्धजीवों को छूट प्रदान करती हैं, जिन्हें इनका उपयोग परमेश्वर द्वारा नियुक्त अधिष्ठाता देवों के नियन्त्रण में करना होता है। जो इन विधानों का उल्लंघन करता है उसे निम्नस्तर के जीवन में गिरा कर दण्डित किया जाता है। उदाहरणार्थ, जीभ तथा इसके अधिष्ठाता देव वरुण पर विचार करें। जीभ खाने के लिए है और मनुष्य, पशु तथा पक्षी अपनी-अपनी स्वतन्त्रता के कारण अलग-अलग स्वाद रखते हैं। एक मनुष्य तथा एक शूकर के स्वाद एक-से नहीं होते। किन्तु जब विशिष्ट जीवात्मा विभिन्न गुणों के अनुसार कोई स्वाद विकसित कर लेता है, तो अधिष्ठाता देव उसे विशिष्ट प्रकार का शरीर प्रदान करता है। किन्तु यदि विवेकहीन होकर मनुष्य शूकर की भाँति स्वाद विकसित करता है, तो उसे अगले जन्म में शूकर का शरीर मिलता है। शूकर सभी प्रकार का भोजन स्वीकार करता है, यहाँ तक कि विष्ठा भी खाता है, अत: जो मनुष्य बिना बिचारे ऐसा स्वाद विकसित करता है उसे अगले जीवन में निम्न जीवन बिताने के लिए तैयार रहना चाहिए। ऐसा जीवन भी भगवत्कृपा ही है, क्योंकि बद्धजीव ने जिस विशिष्ट प्रकार के भोजन का स्वाद चाहा उसे वैसा ही शरीर मिला। यदि मनुष्य को शूकर का शरीर मिले तो इसे भगवत्कृपा ही समझनी चाहिए, क्योंकि भगवान् वैसी ही सुविधा प्रदान करते हैं। मृत्यु के पश्चात् जो शरीर प्राप्त होता है, वह अन्धाधुन्ध नहीं वरन् परम नियन्ता द्वारा प्रदान किया जाता है। अत: मनुष्य को सचेत रहना चाहिए कि अगले जीवन में उसे किस प्रकार का शरीर मिलने वाला है। अविवेकपूर्ण गैरजिम्मेदार जीवन घातक होता है और सभी शास्त्रों की यही घोषणा है।

नासिके निरभिद्येतां दोधूयति नभस्वति ।
तत्र वायुर्गन्ध-वहो घ्राणो नसि जिघृक्षतः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

नासिके—नथुनों में; निरभिद्येताम्—विकसित होकर; दोधूयति—तेजी से निकलती हुई; नभस्वति—श्वास; तत्र—तत्पश्चात्; वायुः—वायु; गन्ध-वहः—सुगन्धि; घ्राणः—घ्राण शक्ति; नसि—नाक में; जिघृक्षतः—सुगन्ध सूँघने की इच्छा करते हुए।

तत्पश्चात् जब परम पुरुष को सुगन्धि सूँघने की इच्छा हुई तो नथुने तथा श्वास, घ्राणेन्द्रिय तथा सुगन्धियों की उत्पत्ति हुई और सुंगधि को वहन करने वाली वायु के अधिष्ठाता देव भी

प्रकट हुए।

तात्पर्य : जब भगवान् को सूँघने की इच्छा हुई तो नासिका, सुगन्ध, अधिष्ठाता वायुदेव, घ्राणशक्ति इत्यादि एकसाथ प्रकट हो गये। उपनिषदों में आये इस कथन की वैदिक मन्त्रों द्वारा पुष्टि होती है कि जीवात्मा द्वारा कोई कार्य करने के पूर्व ईश्वर प्रत्येक वस्तु के लिए इच्छा प्रकट करते हैं। जीवात्मा तभी देख सकता है जब ईश्वर देख रहा हो, जीवात्मा तभी सूँघ सकता है जब ईश्वर सूँघे, इत्यादि। कहने का तात्पर्य यह है कि जीवात्मा कोई भी कार्य स्वतन्त्र रूप से नहीं कर सकता। भले ही वह किसी कार्य को स्वतन्त्र रूप से करने के विषय में सोचे, किन्तु वह स्वतन्त्र रूप से कोई कार्य कर नहीं सकता। भगवत्कृपा से सोचने की स्वतन्त्रता तो है, किन्तु कार्य रूप में उसकी परिणति भगवत्कृपा से ही होती है इसीलिए यह आम कहावत है—आपन सोची होत नहिं प्रभु सोची तत्काल, सारी व्याख्या का विषय है कि जीवात्मा परतन्त्र है और परमेश्वर पूर्ण स्वतन्त्र है। जो अल्पज्ञानी पुरुष अपने को ईश्वर के समकक्ष बताते हैं उन्हें पहले अपने आपको स्वतन्त्र तथा परम सिद्ध प्रमाणित करना चाहिए। तब उन्हें ईश्वर से अपनी एकात्मकता का दावा प्रमाणित करना चाहिए।

यदात्मनि निरालोकमात्मानं च दिदृक्षतः ।
निर्भिन्ने ह्यक्षिणी तस्य ज्योतिश्चक्षुर्गुण-ग्रहः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; **आत्मनि**—अपने को; **निरालोकम्**—बिना प्रकाश के; **आत्मानम्**—अपना दिव्य शरीर; **च**—अन्य शारीरिक रूप भी; **दिदृक्षतः**—देखने की इच्छा की; **निर्भिन्ने**—प्रगट होने से; **हि**—क्योंकि; **अक्षिणी**—आँखों के; **तस्य**—उसका; **ज्योतिः**—सूर्य; **चक्षुः**—आँखें; **गुण-ग्रहः**—देखने की शक्ति।

इस प्रकार जब सारी वस्तुएँ अन्धकार में विद्यमान थीं तो भगवान् की अपने आपको तथा जो कुछ उन्होंने रचा था, उन सबको देखने की इच्छा हुई। तब आँखें, प्रकाशमान सूर्यदेव, देखने की शक्ति तथा दिखने वाली वस्तु—ये सभी प्रकट हुईं।

तात्पर्य : यह ब्रह्माण्ड यथार्थ में घना अंधकार है और इसलिए समग्र सृष्टि *तमस्* या अंधकार कहलाती है। रात्रि ही ब्रह्माण्ड का वास्तविक स्वरूप है, क्योंकि तब मनुष्य को कुछ भी नहीं दिखता, यहाँ तक कि वह स्वयं को भी नहीं देख सकता। भगवान् ने अपनी अहैतुकी कृपा से सर्वप्रथम अपने आपको तथा अपनी सारी सृष्टि को देखना चाहा। इस तरह सूर्य प्रकट हुआ; समस्त जीवों में देखने की

शक्ति उत्पन्न हुई और दिखनेवाली वस्तुएँ भी प्रकट हुईं। इसका अर्थ यह हुआ कि सूर्य की सृष्टि के बाद ही सारा व्यवहार-जगत दिखाई पड़ने लगा।

बोध्यमानस्य ऋषिभिरात्मनस्तज्जिघृक्षतः ।
कर्णौ च निरभिद्येतां दिशः श्रोत्रं गुण-ग्रहः ॥ २२॥

शब्दार्थ

बोध्यमानस्य—जानने की इच्छा से; ऋषिभिः—ऋषियों द्वारा; आत्मनः—परमेश्वर का; तत्—वह; जिघृक्षतः—ग्रहण करने की इच्छा होने पर; कर्णौ—दो कान; च—भी; निरभिद्येताम्—प्रकट हुए; दिशः—दिशा अथवा वायु देवता; श्रोत्रम्—सुनने की शक्ति; गुण-ग्रहः—तथा सुनने की वस्तुएँ।

महान् ऋषियों द्वारा जानने की इच्छा विकसित होने से कान, सुनने की शक्ति, सुनने के अधिष्ठाता देव तथा सुनने की वस्तुएँ प्रकट हुईं। ऋषिगण आत्मा के विषय में सुनना चाह रहे थे।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है ज्ञान के द्वारा प्रत्येक वस्तु के आश्रय रूप परमेश्वर के विषय में जानने का प्रयत्न करना चाहिए। ज्ञान का अर्थ केवल उन प्राकृतिक नियमों का ज्ञान नहीं है, जो भगवान् के निर्देश से कार्य कर रही हैं। विज्ञानी प्रकृति में कार्यशील भौतिक नियमों के विषय में जानने के लिए उत्सुक रहते हैं। वे अपने से दूर अन्य ग्रहों में घटित होने वाली घटनाओं के विषय में रेडियो तथा टेलीविजन द्वारा सुनने के लिए उत्सुक रहते हैं, किन्तु उन्हें यह समझना चाहिए कि भगवान् ने सुनने की शक्ति अथवा सुनने के उपकरण उन्हें अपने विषय में या भगवान् के विषय में सुनने के लिए ही प्रदान किये थे। दुर्भाग्यवश सुनने की शक्ति का गलत प्रयोग सांसारिक विषयों सम्बन्धी शब्दों के सुनने में किया जाता है। महान् ऋषिगण वैदिक ज्ञान के द्वारा केवल ईश्वर के विषय में सुनने की इच्छा रखते थे। श्रवण द्वारा ज्ञान ग्रहण करने की शुरुआत यही है।

वस्तुनो मृदु-काठिन्य-लघु-गुर्वोष्ण-शीतताम् ।
जिघृक्षतस्त्वङ् निर्भिन्ना तस्यां रोम-मही-रुहाः ।
तत्र चान्तर्बहिर्वातस्त्वचा लब्ध-गुणो वृतः ॥ २३॥

शब्दार्थ

वस्तुनः—समस्त पदार्थ की; मृदु—कोमलता; काठिन्य—कठोरता; लघु—हल्कापन; गुरु—भारीपन; ओष्ण—उष्णता; शीतताम्—शीतलता; जिघृक्षतः—देखने की इच्छा से; त्वक्—स्पर्श; निर्भिन्ना—वितरित; तस्याम्—त्वचा में; रोम—रोएँ; मही-रुहाः—तथा वृक्ष, अधिष्ठाता देव; तत्र—वहाँ; च—भी; अन्तः—भीतर; बहिः—बाहर; वातः त्वचा—स्पर्श इन्द्रिय या चमड़ी; लब्ध—देखकर; गुणः—स्पर्शेन्द्रिय का विषय; वृतः—उत्पन्न।

जब पदार्थ के भौतिक गुणों—यथा कोमलता, कठोरता, उष्णता, शीतलता, हल्कापन तथा भारीपन—को देखने की इच्छा हुई तो अनुभूति की पृष्ठभूमि त्वचा, त्वचा के छिद्र, रोम तथा उनके अधिष्ठाता देवों (वृक्षों) की उत्पत्ति हुई। त्वचा के भीतर तथा बाहर वायु की खोल है, जिसके माध्यम से स्पर्श का अनुभव होने लगा।

तात्पर्य : पदार्थ की कोमलता जैसे भौतिक गुण ऐन्द्रिय अनुभूति के विषय हैं, अत: भौतिक ज्ञान स्पर्श का विषय है। पदार्थ का ताप हाथ से स्पर्श करके जाना जा सकता है किसी वस्तु का भार उसको हाथ में उठाकर ज्ञात किया जा सकता है, जिससे उसके भारीपन या हल्केपन का अनुमान लग सकता है। शरीर की त्वचा, छिद्र (रोमकूप) तथा रोम—ये सब स्पर्श के अन्योन्याश्रित हैं। त्वचा के बाहर तथा भीतर बहने वाली वायु भी स्पर्शेन्द्रिय का एक माध्यम है। यह स्पर्शेन्द्रिय ज्ञान का स्रोत भी है, इसीलिए यह सुझाया जाता है कि जैसा ऊपर वर्णित है, भौतिक या शारीरिक ज्ञान आत्मज्ञान के अधीन है। आत्मज्ञान बढ़कर व्यावहारिक ज्ञान हो सकता है, किन्तु भौतिक ज्ञान कभी आत्मज्ञान नहीं बन सकता।

किन्तु शरीर के रोमों तथा पृथ्वी के शरीर पर उगी वनस्पति में निकट का सम्बन्ध है। जैसाकि तृतीय स्कंध में कहा गया है वनस्पतियाँ त्वचा के लिए पोषक हैं, भोजन के रूप में तथा औषधि के रूप में भी—*त्वचमस्य विनिर्भिन्नां विविशुर्धिष्ण्यम् ओषधी:।*

हस्तौ रुरुहतुस्तस्य नाना-कर्म-चिकीर्षया ।
तयोस्तु बलवानिन्द्र आदानमुभयाश्रयम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

हस्तौ—दो हाथ; रुरुहतुः—प्रकट हुए; तस्य—उसके; नाना—विविध; कर्म—कर्म; चिकीर्षया—इच्छा से; तयोः—उनका; तु—किन्तु; बलवान्—शक्ति देने के लिये; इन्द्रः—स्वर्ग का देवता; आदानम्—हाथ के कार्य; उभय-आश्रयम्—देवता तथा हाथ दोनों पर आश्रित।

तत्पश्चात् जब परम पुरुष को नाना प्रकार के कार्य करने की इच्छा हुई तो दो हाथ तथा उनकी नियामक शक्ति एवं स्वर्ग के देवता इन्द्र के साथ ही दोनों हाथों तथा देवता पर आश्रित कार्य भी प्रकट हुए।

तात्पर्य : हम यह देख सकते हैं कि जीवात्मा की इन्द्रियाँ किसी भी अवस्था में स्वतन्त्र नहीं

रहतीं। भगवान् को इन्द्रियों का स्वामी (हृषीकेश) कहा गया है। इस प्रकार जीवात्माओं की इन्द्रियाँ भगवान् की इच्छा से प्रकट होती हैं और प्रत्येक अंग किसी न किसी विशेष देवता द्वारा नियन्त्रित होता है। अत: कोई भी अपने को इन्द्रियों का स्वामी नहीं कह सकता। जीवात्मा इन्द्रियों द्वारा नियन्त्रित है, इन्द्रियाँ देवताओं द्वारा नियन्त्रित हैं और देवता परमेश्वर के दास होते हैं। सृष्टि की यही व्यवस्था है। अन्तत: सब कुछ परमेश्वर द्वारा नियन्त्रित होता है और प्रकृति अथवा जीवात्मा को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। जो मोहग्रस्त जीवात्मा अपने को अपनी इन्द्रियों का स्वामी होने का दावा करता है, वह भगवान् की बहिरंगा शक्ति के चंगुल में रहता है। जब तक जीवात्मा को अपने क्षुद्र अस्तित्व के घमंड में रहता है तब तक उसे भगवान् की बहिरंगा शक्ति के कठोर नियन्त्रण में समझना चाहिए और माया के चंगुल से मुक्ति पाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, चाहे वह अपने को कितना ही मुक्त जीव क्यों न घोषित करता रहे।

गतिं जिगीषत: पादौ रुरुहातेऽभिकामिकाम् ।
पद्भ्यां यज्ञ: स्वयं हव्यं कर्मभि: क्रियते नृभि: ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

गतिम्—चाल; जिगीषत:—इच्छा करने पर; पादौ—दो पाँव; रुरुहाते—प्रकट होकर; अभिकामिकाम्—सार्थक; पद्भ्याम्—पाँवों से; यज्ञ:—भगवान् विष्णु; स्वयम्—स्वयं; हव्यम्—कर्तव्य; कर्मभि:—अपने कर्म से; क्रियते—कराता है; नृभि:—विभिन्न मनुष्यों द्वारा।

तत्पश्चात् गति (इधर उधर चलना) को नियन्त्रित करने की इच्छा से उनकी टाँगें प्रकट हुईं और टाँगों से उनके अधिष्ठाता देव विष्णु की उत्पत्ति हुई। इस कार्य की स्वयं विष्णु द्वारा निगरानी करने से सभी प्रकार के मनुष्य अपने-अपने निर्धारित यज्ञों (कार्यों) में संलग्न हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य विशेष में संलग्न रहता है और जब वह इधर-उधर जाता है, तो ये कार्य प्रकट होते हैं। संसार के बड़े-बड़े शहरों में यह सुस्पष्ट दिखता है, लोग इन शहरों में एक स्थान से दूसरे स्थान को बड़े-बड़े कार्य लेकर घूमते हैं। यह गतिशीलता बड़े-बड़े शहरों तक ही सीमित नहीं होती, यह शहरों से बाहर भी विभिन्न वाहनों द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान तक या एक शहर से दूसरे शहर तक देखी जाती है। लोग व्यापार की सफलता हेतु सड़कों पर कारों तथा रेलों द्वारा चलते हैं और पृथ्वी के भीतर भूमिगत रेलों द्वारा तथा आकाश में वायुयानों द्वारा यात्रा करते हैं। किन्तु

इन समस्त गतियों का मूल उद्देश्य सुखी जीवन के लिए धन अर्जित करना होता है। इस सुखी जीवन के लिए सारे विज्ञानी, कलाकार, इंजीनियर, टेक्नीशियन मानव-क्रियाशीलता की विभिन्न शाखाओं में लगे रहते हैं। किन्तु वे यह नहीं जानते कि मानव जीवन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए कार्यों को किस प्रकार सार्थक बनाया जाए। इस रहस्य से अनजान होने से उनके सारे कार्य अनियन्त्रित इन्द्रियतृप्ति के उद्देश्य से किये जाते हैं, अत: वे ऐसा करके अनजाने ही अन्धकार के गहन क्षेत्रों में प्रवेश करते हैं।

भगवान् की बहिरंगा शक्ति द्वारा मोहित होने से वे परम भगवान् विष्णु को पूरी तरह भूल चुके हैं और यह मान बैठते हैं कि यह जीवन जैसाकि आजकल भौतिक प्रकृति के अन्तर्गत प्रदर्शित होता है, अधिकाधिक इन्द्रिय-भोग के लिए है। किन्तु ऐसी गलत देहात्मबुद्धि से वांछित मन:शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती, अत: प्रकृति के समस्त साधनों का उपयोग करते हुए ज्ञान में वृद्धि करके भी इस भौतिक सभ्यता में कोई सुखी नहीं रहता। रहस्य यह है कि उन्हें विश्वशान्ति के लिए कदम-कदम पर यज्ञ करने का प्रयास करना चाहिए। *भगवद्गीता* (१८.४५-४६) में भी इसी रहस्य का उपदेश दिया गया है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर:।

स्वकर्मनिरत: सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥

यत: प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव:॥

भगवान् ने अर्जुन से कहा, "अब इसके तत्त्व को मुझसे सुनो कि अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य किस प्रकार संसिद्धि को प्राप्त हो जाता है। परमेश्वर की पूजा द्वारा तथा जिस परम भगवान् विष्णु में यह सम्पूर्ण जगत व्याप्त है और जिसके नियंत्रण में प्रत्येक जीवात्मा अपनी प्रवृत्ति के अनुसार अपनी वांछित सुविधाएँ प्राप्त करता है, उसके लिए यज्ञ करके मनुष्य जीवन की परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है।"

जीवन में विभिन्न प्रकार के लगावों का होना हानिकर नहीं है, क्योंकि विभिन्न कार्यों द्वारा अपने जीवन की योजना बनाने के लिए मनुष्य कुछ अनुपात में स्वतन्त्र है, किन्तु उसे यह भलीभाँति समझ

लेना चाहिए कि इस जीवन में वह पूर्णत: स्वतन्त्र नहीं है। मनुष्य निश्चित रूप से परमेश्वर तथा उनके अधीन माध्यमों के वश में होता है। यह जानते हुए उसे नियमपूर्वक अपने कार्य तथा श्रम के फलस्वरूप भगवान् विष्णु की प्रेमाभक्ति में दक्ष अधिकारी विद्वानों द्वारा बताई गई विधि से भगवान् की सेवा करनी चाहिए। ऐसे कार्य करने के लिए शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग टाँगें होती है, क्योंकि इनके बिना एक स्थान से दूसरे स्थान को जाया नहीं जा सकता, अत: भगवान् मनुष्यों की टाँगों पर विशेष नियन्त्रण रखते हैं, क्योंकि ये यज्ञ करने के निमित्त बने हैं।

निरभिद्यत शिश्नो वै प्रजानन्दामृतार्थिन: ।
उपस्थ आसीत् कामानां प्रियं तदुभयाश्रयम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

निरभिद्यत—बाहर आया; शिश्न:—पुरुष का लिंग; वै—निश्चय ही; प्रजा-आनन्द—काम-रस; अमृत-अर्थिन:—अमृत को चखने की इच्छा रखने वाला; उपस्थ:—जननेन्द्रियाँ; आसीत्—संसार में आई; कामानाम्—विषय सुख का; प्रियम्—अत्यन्त प्रिय; तत्—वह; उभय-आश्रयम्—दोनों का आश्रय।

तत्पश्चात् काम-सुख, सन्तानोत्पत्ति तथा स्वर्गिक अमृत सुख के आस्वादन के लिए भगवान् ने जननेन्द्रियाँ उत्पन्न कीं। इस प्रकार जननेन्द्रिय तथा उसके अधिष्ठाता देव प्रजापति उत्पन्न हुए। काम-सुख की वस्तु तथा अधिष्ठाता देव भगवान् की जननेन्द्रियों के अधीन रहते हैं।

तात्पर्य : बद्धजीवों के लिए काम-सुख स्वर्गिक आनन्द प्रदान करने वाला है और यह सुख जननेन्द्रियों द्वारा आस्वाद्य है। स्त्री काम-सुख का माध्यम है तथा काम-सुख की ऐन्द्रिक अनुभूति एवं स्त्री ये दोनों ही प्रजापति द्वारा नियन्त्रित हैं, जो स्वयं भगवान् के जननेन्द्रिय के अधीन है। निर्विशेषवादियों को चाहिए कि वे इस श्लोक से सीखें कि भगवान् निराकार नहीं हैं, क्योंकि उनके जननेन्द्रियाँ होती हैं जिन पर काम-सुख की सारी वस्तुएँ आश्रित हैं। यदि संभोग से स्वर्गिक अमृत की अनुभूति न होती तो संतान के पालन-पोषण की बला कोई अपने सिर न लेता। यह संसार बद्धजीवों को पुनर्यौवन प्राप्ति का अवसर प्रदान करता है, जिससे वे भगवान् के धाम वापस जा सकें, फलत: सृष्टि के उद्देश्य को बनाए रखने के लिए जीवों की उत्पत्ति अनिवार्य है। इस कार्य में काम-सुख प्रेरक बनता है, अत: मनुष्य चाहे तो इस सुख के बीच भगवान् की भी सेवा करता रह सकता है। यह सेवा तभी सार्थक होती है जब काम-सुख से उत्पन्न सन्तान भगवत्-चेतना में समुचित शिक्षा प्राप्त करे। भौतिक सृष्टि का

एकमात्र उद्देश्य जीवों की सुप्त भगवत्-चेतना को जागृत करना है। मनुष्य शरीर को छोड़कर अन्य किसी भी जीव में काम-सुख भगवान् के सेवा भाव से प्रेरित नहीं होता। किन्तु मनुष्य रूप में बद्धजीव मोक्ष प्राप्ति के लिए उपयुक्त सन्तानों को भगवत्-चेतना की ओर अभिमुख कर सके तो चाहे तो सैकड़ों सन्तानें उत्पन्न करके वह अपार इन्द्रियसुख द्वारा दिव्य सुख लूट सकता है। अन्यथा सन्तानें उत्पन्न करना शूकरों जैसा कार्य है; अपितु शूकर मनुष्य से बढ़कर निपुण है, क्योंकि वह एक ही बार में दर्जनों बच्चे पैदा करता है, जबकि मनुष्य एक बार में केवल एक सन्तान उत्पन्न कर सकता है। अतः मनुष्य को स्मरण रखना चाहिए कि जननेन्द्रियाँ, काम-सुख, स्त्री तथा सन्तान—ये सब भगवान् की सेवा से सम्बन्धित हों और जो भगवान् के साथ अपने सेवा सम्बन्ध को भूल जाता है, वह प्रकृति-नियमों के द्वारा तीन प्रकार के तापों से पीड़ित होता रहता है। कुत्ते को भी विषय-भोग का अनुभव होता है, किन्तु उसमें ईश्वर-चेतना का भाव नहीं उठता। मानव जीवन ईश्वर-चेतना का अनुभव होने से कुत्ते से भिन्न है।

उत्सिसृक्षोर्धातु-मलं निरभिद्यत वै गुदम् ।
ततः पायुस्ततो मित्र उत्सर्ग उभयाश्रयः ॥ २७॥

शब्दार्थ

उत्सिसृक्षोः—मल त्याग की इच्छा से; धातु-मलम्—खाद्य पदार्थों का मल; निरभिद्यत—प्रकट हुआ; वै—निश्चय ही; गुदम्—गुदा द्वार; ततः—तत्पश्चात्; पायुः—विसर्जन इन्द्रिय; ततः—तत्पश्चात्; मित्रः—अधिष्ठाता देवता; उत्सर्गः—बाहर निकलने वाली वस्तु; उभय—दोनों; आश्रयः—शरण।

तत्पश्चात् जब उन्हें खाये हुए भोजन के मल त्याग की इच्छा हुई तो गुदा द्वार और फिर पायु-इन्द्रिय और उनके अधिष्ठातादेव मित्र विकसित हुए। पायु इन्द्रिय तथा उत्सर्जित पदार्थ ये दोनों अधिष्ठाता देव के आश्रय में रहते हैं।

तात्पर्य : जहाँ मलत्याग करते हुए मल पर भी नियन्त्रण होता हो वहाँ जीवात्मा अपने को स्वतन्त्र होने का दावा कैसे कर सकता है?

आसिसृप्सोः पुरः पुर्या नाभि-द्वारमपानतः ।
तत्रापानस्ततो मृत्युः पृथक्त्वमुभयाश्रयम् ॥ २८॥

शब्दार्थ

आसिसृप्सोः—सर्वत्र जाने की इच्छा से; पुरः—विभिन्न शरीरों में; पुर्याः—एक शरीर से; नाभि-द्वारम्—उदर के छिद्र या नाभि; अपानतः—प्रकट हुआ; तत्र—तत्पश्चात्; अपानः—प्राण का रुकना; ततः—तत्पश्चात्; मृत्युः—मृत्यु; पृथक्त्वम्—पृथक् रूप से; उभय—दोनों; आश्रयम्—शरण।

तत्पश्चात् जब उन्हें एक शरीर से दूसरे में जाने की इच्छा हुई तो नाभि तथा अपानवायु एवं मृत्यु की एकसाथ सृष्टि हुई। मृत्यु तथा अपानवायु दोनों का ही आश्रय नाभि है।

तात्पर्य : प्राणवायु जीवनदाता है और अपानवायु प्राण को रुद्ध करता है। इन दोनों के कम्पन नाभि से उत्पन्न होते हैं। यह नाभि एक शरीर से दूसरे शरीर को जोड़ने वाली गाँठ है। ब्रह्माजी गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से पृथक् शरीर के रूप में प्रकट हुए और यही नियम सामान्य शरीर के जन्म में भी लागू होता है। शिशु का शरीर माता के शरीर से विकसित होता है और जब शिशु माता के शरीर से विलग होता है, तो नाभि-ग्रन्थि (नारा) काटकर उसे अलग (पृथक्) किया जाता है। इसी विधि से परमेश्वर ने अपने आपको नाना रूपों में पृथक् किया। अत: जीवात्माएँ भिन्न अंश हैं और उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं होती।

आदित्सोरन्न-पानानामासन् कुक्ष्यन्त्र-नाडयः ।
नद्यः समुद्राश्च तयोस्तुष्टिः पुष्टिस्तदाश्रये ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

आदित्सोः—प्राप्त करने की इच्छा; अन्न-पानानाम्—भोजन तथा जल का; आसन्—हुई; कुक्षि—उदर; अन्त्र—आँतें; नाडयः—तथा धमनियाँ; नद्यः—नदियाँ; समुद्राः—समुद्र; च—भी; तयोः—उन दोनों का; तुष्टिः—पोषण पालन; पुष्टिः—उपापचय (रस प्रक्रिया); तत्—उनका; आश्रये—स्रोत।

जब भोजन तथा जल लेने की इच्छा हुई तो उदर, आँतें तथा धमनियाँ प्रकट हुईं। नदियाँ तथा समुद्र इनके पोषण तथा उपापचय के स्रोत हैं।

तात्पर्य : आँतों के अधिष्ठाता देव नदियाँ हैं और धमनियों के समुद्र हैं। उदर को भोजन तथा जल प्रदान करने से पोषण होता है और भोजन तथा जल के उपापचय से क्षय हुई शारीरिक शक्तियों की प्रतिपूर्ति होती है। अत: शारीरिक स्वास्थ्य आँतों तथा धमनियों की स्वस्थ क्रिया पर निर्भर रहता है। नदियाँ तथा समुद्र इन दोनों के अधिष्ठाता देव हैं और ये आँतों तथा धमनियों को स्वस्थ रखते हैं।

निदिध्यासोरात्म-मायां हृदयं निरभिद्यत ।
ततो मनश्चन्द्र इति सङ्कल्पः काम एव च ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

निदिध्यासोः—जानने का इच्छुक; आत्म-मायाम्—अपनी शक्ति को; हृदयम्—मन का स्थान; निरभिद्यत—प्रकट हुआ; ततः—तत्पश्चात्; मनः—मन; चन्द्रः—मन का अधिष्ठाता देव, चन्द्रमा; इति—इस प्रकार; सङ्कल्पः—दृढ़ निश्चय; कामः—इच्छा; एव—भी; च—भी।

जब उन्हें अपनी शक्ति के कार्यकलापों के विषय में सोचने की इच्छा हुई तो हृदय (मन का स्थान), मन, चन्द्रमा, संकल्प तथा सारी इच्छा का उदय हुआ।

तात्पर्य : प्रत्येक जीव का हृदय पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान के अंश-रूप, परमात्मा का निवास स्थान है। उसकी उपस्थिति के बिना जीवात्मा अपने पूर्वकर्मों के अनुसार कार्य करने की शक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जीवात्मा इस संसार में बद्ध हैं और अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार इस सृष्टि में प्रकट होते हैं और इनमें से प्रत्येक को परमात्मा के निर्देशन के अन्तर्गत भौतिक शक्ति द्वारा आवश्यक भौतिक शरीर प्राप्त होता है। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* (९.१०) में की गई है। अत: जब परमात्मा बद्धजीव के हृदय में स्थित हो जाता है, तो बद्धजीव में मन उत्पन्न होता है और वह अपने कार्य के प्रति उसी प्रकार सचेष्ट हो उठता है, जिस प्रकार नींद से जगने पर मनुष्य को अपने कार्य का भान होता है। अत: जीवात्मा में भौतिक मन तभी उत्पन्न होता है जब परमात्मा हृदय में बसता है। इसके बाद मन, इसका अधिष्ठाता देव (चन्द्रमा) और फिर मन के कार्य (सोचना, अनुभव करना तथा इच्छा करना) उत्पन्न होते हैं। मन के कार्य हृदय के प्रकट हुए बिना प्रारम्भ नहीं हो सकते और हृदय तभी प्रकट होता है जब भगवान् भौतिक सृष्टि के कार्यकलाप देखने की इच्छा करते हैं।

त्वक्चर्म-मांस-रुधिर-मेदो-मज्जास्थि-धातवः ।
भूम्यप्तेजोमयाः सप्त प्राणो व्योमाम्बु-वायुभिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

त्वक्—चमड़ी के ऊपर पतली परत; चर्म—चमड़ी; मांस—मांस; रुधिर—रक्त; मेदः—चर्बी; मज्जा—मज्जा; अस्थि—हड्डी; धातवः—तत्त्व; भूमि—पृथ्वी; अप्—जल; तेजः—अग्नि; मयाः—प्रधानतः; सप्त—सात; प्राणः—श्वास; व्योम—आकाश; अम्बु—जल; वायुभिः—वायु से।

त्वचा, चर्म, मांस, रक्त, मेदा, मज्जा तथा अस्थि—शरीर के ये सात तत्त्व पृथ्वी, जल तथा अग्नि से बने हैं जबकि प्राण की उत्पत्ति आकाश, जल तथा वायु से हुई है।

तात्पर्य : सम्पूर्ण भौतिक जगत की रचना प्रमुखत: पृथ्वी, जल तथा अग्नि इन तीन तत्त्वों से हुई है, किन्तु प्राण की रचना आकाश, वायु तथा जल से हुई। इस प्रकार स्थूल तथा सूक्ष्म भौतिक सृष्टि

दोनों में ही जल उभयनिष्ठ तत्त्व है और भौतिक सृष्टि में अत्यधिक विशिष्ट तथा आवश्यक होने के कारण जल इन पंचतत्त्वों में प्रमुख है। इस तरह भौतिक शरीर पाँच तत्त्वों से बना है, जबकि स्थूल सृष्टि केवल तीन तत्त्वों—पृथ्वी, जल तथा अग्नि—से बनी है। स्पर्श का अनुभव चमड़ी पर पतली परत (त्वचा) के कारण होता है और अस्थि पत्थर के समान कठोर होती है। श्वास (प्राण-वायु) आकाश, वायु तथा जल से उत्पन्न है, अतः शुद्ध वायु, नियमित स्नान तथा रहने के लिए प्रचुर स्थान स्वस्थ जीवन के लिए अनुकूल होते हैं। स्थूल शरीर को ठीक से बनाए रखने के लिए पृथ्वी से उत्पन्न अन्न तथा शाक के साथ ही शुद्ध जल तथा उष्मा लाभप्रद हैं।

गुणात्मकानीन्द्रियाणि भूतादि-प्रभवा गुणाः ।
मनः सर्व-विकारात्मा बुद्धिर्विज्ञान-रूपिणी ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

गुण-आत्मकानि—गुणों से लिप्त; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; भूत-आदि—अहंकार; प्रभवाः—से प्रभावित; गुणाः—प्राकृतिक गुण; मनः—मन; सर्व—समस्त; विकार—तनाव (सुख तथा दुख); आत्मा—रूप; बुद्धिः—बुद्धि; विज्ञान—तर्क-वितर्क; रूपिणी—के रूप वाली।

इन्द्रियाँ प्रकृत्ति के गुणों से जुड़ी होती हैं और भौतिक प्रकृति के ये गुण मिथ्या अहंकार से जनित हैं। मन पर समस्त प्रकार के भौतिक अनुभवों (सुख-दुख) का प्रभाव पड़ता है और बुद्धि मन के तर्क-वितर्क स्वरूप है।

तात्पर्य : भौतिक प्रकृति से भ्रमित होकर जीवात्मा मिथ्या अंहकार करता है। अधिक स्पष्ट रूप में कहना चाहें तो जीवात्मा भौतिक शरीर के भीतर बँध जाने पर तुरन्त देहात्मक सम्बन्ध बना लेता है और आत्मा के रूप में अपनी स्थिति को भुला देता है। यह अहंकार भौतिक प्रकृति के विभिन्न गुणों से मिल-जुल जाता है और इस प्रकार इन्द्रियों का गुणों की ओर लगाव हो जाता हैं। मन वह यंत्र है, जिससे विभिन्न भौतिक अनुभवों का आभास होता है, किन्तु बुद्धि तर्कशील होती है और हर वस्तु को अच्छे के लिए बदल सकती है। अतः बुद्धिमान मनुष्य बुद्धि के सदुपयोग से इस संसार के मोह से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। बुद्धिमान मनुष्य इस संसार की विषम परिस्थिति का पता लगा सकता है और इस खोज में लग जाता है कि वह कौन है, उसे तरह-तरह के कष्ट क्यों मिलते हैं, इनसे कैसे छुटकारा पाया जा सकता है और इस प्रकार अच्छी संगति से बुद्धिमान मनुष्य आत्म-साक्षात्कार के

जीवन की ओर उन्मुख हो सकता है। अत: यह सलाह दी जाती है कि बुद्धिमान मनुष्य उन ऋषियों-मुनियों की संगति करे जो मुक्ति के पथ पर अग्रसर हैं। ऐसी संगति से वह ऐसे उपदेश प्राप्त कर सकता है जिनसे बद्धजीव की पदार्थ के प्रति आसक्ति कम हो सकती है। इस प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति धीरे-धीरे पदार्थ के मोह तथा अहंकार से छूटकर सच्चिदानन्दमय जीवन को प्राप्त होता है।

एतद्भगवतो रूपं स्थूलं ते व्याहृतं मया ।
मह्यादिभिश्चावरणैरष्टभिर्बहिरावृतम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

एतत्—ये सब; भगवत:—भगवान् के; रूपम्—रूप; स्थूलम्—स्थूल; ते—तुमको; व्याहृतम्—बतलाया गया; मया—मेरे द्वारा; मही—लोक; आदिभि:—इत्यादि; च—निरन्तर; अवरणै:—आवरणों से; अष्टभि:—आठ; बहि:—बाह्य; आवृतम्—ढका हुआ।

इस तरह भगवान् का बाह्य रूप अन्य लोकों की ही तरह स्थूल रूपों से घिरा हुआ है, जिनका वर्णन मैं तुमसे पहले ही कर चुका हूँ।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (७.४) में कहा गया है, भगवान् की वियुक्त भौतिक शक्ति आठ प्रकार के भौतिक आवरणों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—से घिरी है। ये सारे आवरण श्रीभगवान् की बाह्यशक्ति के रूप में उद्भूत हैं। ये सूर्य के चारों ओर बादलों के आवरण तुल्य हैं। यद्यपि बादल सूर्य के ही द्वारा सृजित है, किन्तु वास्तव में आँखों के सामने इसके आने से सूर्य नहीं दिखता। सूर्य बादलों से नहीं ढका जा सकता, क्योंकि बादल आकाश में कुछ सौ मीलों तक ही फैले रह सकते हैं, किन्तु सूर्य लाखों मील से भी अधिक विशाल है। अत: सौ मील का आवरण लाखों मील को नहीं ढक सकता। अतएव भगवान् की ही कोई एक शक्ति पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को आच्छादित नहीं कर सकती। किन्तु ये शक्तियाँ भगवान् द्वारा उन बद्धजीवों की आँखें बन्द करने के लिए हैं, जो प्रकृति पर अपना अधिकार जताना चाहते हैं। वास्तव में बद्धजीव पदार्थ के मोहजन्य बादल से आच्छादित रहते हैं और यह भगवान् के ऊपर है कि वे उन्हें दिखें या नहीं। चूँकि बद्धजीवों के दिव्य दृष्टि नहीं होती और वे भगवान् को देख नहीं सकते, अत: वे भगवान् के अस्तित्व तथा उनके दिव्य रूप को नकारते हैं। अल्पज्ञानी पुरुष विराट भौतिक रूप का आवरण स्वीकार कर लेते हैं। यह कैसे होता है इसकी व्याख्या अगले श्लोक में की गई है।

अतः परं सूक्ष्मतममव्यक्तं निर्विशेषणम् ।
अनादि-मध्य-निधनं नित्यं वाङ्मनसः परम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

अतः—अतः; परम्—दिव्य; सूक्ष्मतमम्—सूक्ष्म से भी सूक्ष्म; अव्यक्तम्—अप्रकट; निर्विशेषणम्—बिना भौतिक रूप के; अनादि—आदिरहित; मध्य—माध्यमिक अवस्था के बिना; निधनम्—अन्तरहित; नित्यम्—शाश्वत; वाक्—शब्द; मनसः—मन का; परम्—दिव्य।

अतः इस (स्थूल संसार) से परे दिव्य संसार है, जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है। न तो इसका आदि है, न मध्य और न अन्त, अतः यह व्याख्या अथवा चिन्तन की सीमाओं के परे है और भौतिक बोध से भिन्न है।

तात्पर्य : परमेश्वर का स्थूल बाह्य रूप बीच-बीच में प्रकट होता रहता है, अतः यह रूप शाश्वत रूप नहीं हैं जिसका न तो आदि है, न मध्य और न कोई अन्त। जिस वस्तु का आदि, मध्य और अन्त होता है, वह भौतिक कहलाती है। इस भौतिक जगत का प्रारम्भ भगवान् से हुआ, अतः जगत के प्रारम्भ के पूर्व भगवान् निश्चय ही सूक्ष्म से सूक्ष्म दिव्यरूप में रहते हैं। भौतिक जगत का आकाश सूक्ष्मतम माना जाता है। इससे सूक्ष्म मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार होते हैं। किन्तु आठों बाह्य आवरणों को परम सत्य के बाह्य आवरणों के रूप में बताया जाता है, अतः परम सत्य भौतिक अवधारणाओं की व्याख्या एवं कल्पना से परे हैं। वे निश्चित ही सभी भौतिक चिंतन से परे हैं। यह *निर्विशेषणम्* कहलाता है, किन्तु निर्विशेषणम् को दिव्य गुणों से विहीन समझने की गलती नहीं करनी चाहिए। विशेषणम् का अर्थ है गुण, अतः निर् के जुड़ने से *निर्विशेषणम्* का अर्थ भौतिक गुणों या विविधताओं से रहित हो जाता है। इस निषेधात्मक पद में चार दिव्य गुण हैं—अप्रकट, दिव्य, शाश्वत तथा मन एवं वाणी से परे। शब्दों की सीमाओं से परे का अर्थ है भौतिक बोध का निषेध। जब तक मनुष्य दिव्य पद को प्राप्त नहीं होता वह भगवान् के दिव्य रूप को नहीं जान सकता।

अमुनी भगवद्रूपे मया ते ह्यनुवर्णिते ।
उभे अपि न गृह्णन्ति माया-सृष्टे विपश्चितः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

अमुनी—ये सब; भगवत्—श्रीभगवान् को; रूपे—रूपों में; मया—मेरे द्वारा; ते—तुमको; हि—निश्चय ही; अनुवर्णिते—क्रमशः वर्णित; उभे—दोनों; अपि—भी; न—कभी नहीं; गृह्णन्ति—स्वीकार करता है; माया—बाह्य; सृष्टे—इस प्रकार से प्रकट होकर; विपः-चितः—जानने वाला विद्वान।

मैंने तुमसे भौतिक दृष्टिकोण से भगवान् के जिन दो रूपों का ऊपर वर्णन किया है, उनमें से कोई भी भगवान् को जानने वाले शुद्ध भक्तों द्वारा स्वीकार नहीं किया जाता।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, निर्विशेषवादी भगवान् को दो भिन्न विधियों से मानते हैं। एक ओर वे विश्वरूप भगवान् की पूजा करते हैं और दूसरी ओर वे भगवान् के अव्यक्त, अप्रकट सूक्ष्म रूप का चिन्तन करते हैं। ''सर्वेश्वरवाद'' तथा ''एकेश्वरवाद'' के सिद्धान्त क्रमशः भगवान् के स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों के लिए व्यवहृत हैं, किन्तु भगवद्भक्त इन दोनों सिद्धान्तों का अस्वीकार करते हैं, क्योंकि उन्हें वास्तविक स्थिती का बोध होता है। इसका स्पष्ट उल्लेख *भगवद्गीता* के ग्यारहवें अध्याय (११.४५) में हुआ है जहाँ अर्जुन द्वारा परम भगवान् श्रीकृष्ण के विश्वरूप का अनुभव अंकित है—

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।

तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥

भगवान् के शुद्ध भक्त के रूप में अर्जुन ने इसके पूर्व कभी भी भगवान् के विश्वरूप को नहीं देखा था, किन्तु जब उसने उसे देखा तो उसकी उत्सुकता शान्त हो गई। लेकिन वह एक शुद्ध भक्त के रूप में अपने लगाव के कारण भगवान् के इस प्रकार के रूप को देखकर प्रसन्न नहीं हुआ। वह भगवान् के विराट रूप को देखकर भयभीत हुआ, अतः उसने भगवान् से अपना चतुर्भुज नारायण रुप या कृष्ण रूप धारण करने के लिए प्रार्थना की, क्योंकि वह उसी से प्रसन्न हो सकता था। निस्सन्देह भगवान् अपने को अनेक रूपों में प्रकट करने की परम शक्ति से पूर्ण हैं, किन्तु भक्तजन तो भगवान् के धाम त्रिपाद-विभूति में शाश्वत दिखाई पड़ने वाले रूप में रुचि रखते हैं। त्रिपाद विभूति धाम में भगवान दो रूपों में प्रकट होते हैं—चतुर्भुज रूप अथवा दो भुजाओं वाला रूप। किन्तु भौतिक विश्व में उनका जो विश्वरूप प्रकट है उसमें अनेक भुजाएँ होती हैं और अनेक आयाम होते हैं और सभी कुछ असीम आकार के होते हैं। भगवान् के शुद्ध भक्त वैकुण्ठ रूप में नारायण या श्रीकृष्ण की पूजा करते हैं। कभी-कभी वे ही वैकुण्ठ रूप इस भौतिक जगत में उन्हीं की कृपा से श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीनृसिंहदेव के रूप में प्रकट

होते हैं और इसलिए भक्तजन इनकी भी पूजा करते हैं। सामान्यतया भौतिक जगत में जो भौतिक रूप प्रकट होते हैं, वे वैकुण्ठ लोक में नहीं पाये जाते, अत: शुद्ध भक्त इन रूपों को नहीं मानते। भक्तजन प्रारम्भ से ही वैकुण्ठ लोक में स्थित भगवान् के शाश्वत रूपों को पूजते आ रहे हैं। अभक्त निर्विशेषवादी भगवान् के भौतिक रूपों की कल्पना करते हैं और अन्तत: भगवान् की निर्विशेष ब्रह्मज्योति में लीन होते हैं, किन्तु भगवान् के भक्त तो प्रारम्भिक तथा मुक्ति की अवस्था इन दोनों ही स्थितियों में सदैव पूजा करने वाले हैं। शुद्ध भक्त की पूजा कभी रुकती नहीं, किन्तु निर्विशेषवादी की पूजा ब्रह्मज्योति में उसके लीन होने पर और मुक्ति मिलने पर रुक जाती है। इसीलिए शुद्ध भक्तों को *विपश्चित* अर्थात् विद्वान कहा गया है, जिन्हें भगवान् का पूरा-पूरा ज्ञान रहता है।

स वाच्य-वाचकतया भगवान् ब्रह्म-रूप-धृक् ।
नाम-रूप-क्रिया धत्ते सकर्माकर्मक: पर: ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

स:—वह; **वाच्य**—अपने रूपों तथा कार्यों से; **वाचकतया**—अपने दिव्य गुणों एवं परिवेश से; **भगवान्**—भगवान्; **ब्रह्म**—परम; **रूप-धृक्**—दृश्य रूपों को ग्रहण करके; **नाम**—नाम; **रूप**—रूप, आकार; **क्रिया**—लीलाएँ; **धत्ते**—स्वीकार करता है; **स-कर्म**—कार्य में संलग्न; **अकर्मक:**—प्रभावित हुए बिना; **पर:**—दिव्यातीत।

अपने दिव्य नाम, गुण, लीलाओं, परिवेश तथा विभिन्नताओं के कारण भगवान् अपने आपको दिव्य रूप में प्रकट करते हैं। यद्यपि इन समस्त कार्यकलापों का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु वे व्यस्त से प्रतीत होते हैं।

तात्पर्य : जब भी भौतिक सृष्टि करने की आवश्यकता होती है, तो श्रीभगवान् सृष्टि, पालन तथा संहार के लिए इस संसार में विविध रूप धारण करते हैं। मनुष्य को इतना बुद्धिमान तो होना ही चाहिए कि वह उनकी लीलाओं को सही-सही जान सके और यह न सोच बैठे कि वे भौतिक प्रकृति द्वारा निर्मित सांसारिक रूप धारण करके इस जगत में अवतरित होते हैं। भौतिक प्रकृति से गृहीत कोई भी रूप इस संसार में किए गए प्रत्येक कार्य से अनुराग रखता है। जो बद्धजीव किसी कार्य के प्रयोजन से भौतिक रूप ग्रहण करता है उस पर भौतिक नियम लागू होते हैं। किन्तु इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि यद्यपि भगवान् के रूप तथा कार्य बद्धजीव जैसे होते हैं, किन्तु वे अलौकिक होते हैं और बद्धजीव के लिए असम्भव होते हैं। वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ऐसे कार्यों से सदैव अप्रभावित रहते हैं।

भगवद्गीता (४.१४) में भगवान् कहते हैं—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

भगवान् कभी न तो उन कर्मों द्वारा बँधते हैं, जिन्हें वे अपने विभिन्न अवतारों के द्वारा सम्पन्न करते हैं, न ही उन्हें सकाम कर्म द्वारा सफलता प्राप्त करने की आकांक्षा रहती है। भगवान् धन, बल, यश, सौंदर्य, ज्ञान तथा त्याग की विविध शक्तियों से पूरित हैं, अत: बद्धजीव के समान उन्हें परिश्रम करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। अत: ऐसा बुद्धिमान पुरुष जो भगवान् के दिव्य कार्यों तथा बद्धजीवों के कार्यों में भेद कर सकता है, वह भी कर्मफल में नहीं बँधता। ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के रूप में भगवान् प्रकृति के त्रिगुणों का सञ्चालन करने वाले हैं। विष्णु से ब्रह्मा और ब्रह्मा से शिव उत्पन्न हैं। कभी-कभी ब्रह्मा विष्णु के पृथक् अंश होते हैं, तो कभी ब्रह्मा स्वयं विष्णु होते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा ब्रह्माण्ड भर की समस्त योनियों को उत्पन्न करते हैं, जिसका अर्थ होता है कि भगवान् सम्पूर्ण सृष्टि को या तो स्वयं उत्पन्न करते हैं या फिर अपने अधिकृत सहायक के माध्यम से करते हैं।

प्रजा-पतीन्मनून् देवानृषीन् पितृ-गणान् पृथक् ।
सिद्ध-चारण-गन्धर्वान् विद्याध्रासुर-गुह्यकान् ॥ ३७॥
किन्नराप्सरसो नागान् सर्पान् किम्पुरुषान्नरान् ।
मातृ रक्ष:-पिशाचांश्च प्रेत-भूत-विनायकान् ॥ ३८॥
कूष्माण्डोन्माद-वेतालान् यातुधानान् ग्रहानपि ।
खगान्मृगान् पशून् वृक्षान् गिरीन्नृप सरीसृपान् ॥ ३९॥
द्वि-विधाश्चतुर्विधा येऽन्ये जल-स्थल-नभौकस: ।
कुशलाकुशला मिश्रा: कर्मणां गतयस्त्विमा: ॥ ४०॥

शब्दार्थ

प्रजा-पतीन्—ब्रह्मा तथा उनके पुत्र, यथा दक्ष इत्यादि; मनून्—वैवस्वत मनु जैसे समय-समय पर होने वाले प्रधान; देवान्—यथा इन्द्र, चन्द्र तथा वरुण; ऋषीन्—यथा भृगु तथा वसिष्ठ; पितृ-गणान्—पितर लोक के निवासी; पृथक्—अलग से; सिद्ध—सिद्ध लोक के वासी; चारण—चारण लोक के वासी; गन्धर्वान्—गन्धर्व लोक के प्राणी; विद्याध्र—विद्याधर लोक के वासी; असुर—नास्तिक लोग; गुह्यकान्—यक्ष लोक के वासी; किन्नर—किन्नर लोक के वासी; अप्सरस:—अप्सरा लोक की सुन्दरियाँ; नागान्—नागलोक के नागतुल्य वासी; सर्पान्—सर्प-लोक के वासी; किम्पुरुषान्—किम्पुरुष लोक के बन्दर जैसे वासी; नरान्—पृथ्वी के वासी; मातृ—मातृ लोक के वासी; रक्ष:—राक्षसी लोक के वासी; पिशाचान्—पिशाच लोक के वासी; च—भी; प्रेत—प्रेत लोक के वासी; भूत—भूत आत्माएँ; विनायकान्—पिशाच, विनायक; कूष्माण्ड—मायाजाल; उन्माद—पागल; वेतालान्—वेताल, जिन्न; यातुधानान्—भूत विशेष; ग्रहान्—शुभ तथा अशुभ नक्षत्र; अपि—भी; खगान्—पक्षी; मृगान्—जंगली पशु; पशून्—घरेलू पशु; वृक्षान्—भूत; गिरीन्—पर्वत; नृप—हे राजन्; सरीसृपान्—रेंगने वाले जीव;

द्वि-विधाः—जड़ तथा चेतन प्राणी; चतुः-विधाः—भ्रूण, अंड, स्वेदज तथा बीज से उत्पन्न चार प्रकार के प्राणी; ये—अन्य; अन्ये—समस्त; जल—पानी; स्थल—भूमि; नभ-ओकसः—पक्षी; कुशल—सुखी; अकुशलाः—दुखी; मिश्राः—सुखी-दुखी दोनों; कर्मणाम्—अपने पूर्व कर्मों के अनुसार; गतयः—गति, फल; तु—लेकिन; इमाः—वे सब।

हे राजन्, मुझसे यह जान लो कि सभी जीवात्माएँ अपने विपत कर्मों के अनुसार परमेश्वर द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं। इसमें ब्रह्मा तथा उनके दक्ष जैसे पुत्र, वैवस्वत मनु जैसे सामयिक प्रधान, इन्द्र, चन्द्र तथा वरुण जैसे देवता, भृगु, व्यास, वसिष्ठ जैसे महर्षि, पितृलोक तथा सिद्धलोक के वासी, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, असुर, यक्ष, किन्नर तथा देवदूत, नाग, बन्दर जैसे किम्पुरुष, मनुष्य, मातृलोक के वासी, असुर, पिशाच, भूत-प्रेत, उन्मादी, शुभ-अशुभ नक्षत्र, विनायक, जंगली पशु, पक्षी, घरेलू पशु, सरीसृप, पर्वत, जड़ तथा चेतन जीव, जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज जीव तथा अन्य समस्त जल, स्थल या आकाश के सुखी, दुखी अथवा मिश्रित सुखी-दुखी जीव सम्मिलित हैं। ये सभी अपने पूर्व कर्मों के अनुसार परमेश्वर द्वारा सृजित होते हैं।

तात्पर्य : इस सूची में जीवात्माओं की विविध किस्में बताई गई हैं। सर्वोच्च लोक से लेकर ब्रह्माण्ड के निम्नतम लोक के सारे जीवों की विभिन्न योनियाँ सर्वशक्तिमान पिता विष्णु द्वारा उत्पन्न की गई हैं। अत: कोई भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से स्वतन्त्र नहीं है। इसीलिए भगवान् ने *भगवद्गीता* (१४.४) में निम्नलिखित श्लोक में सभी जीवात्माओं को अपनी संतति कहा है—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तय: सम्भवन्ति या: ।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रद: पिता ॥

प्रकृति की तुलना माता से की गई है। यद्यपि प्रत्येक जीव अपनी माँ से उत्पन्न होता देखा जाता है, किन्तु सत्य तो यह है कि ऐसे जन्म का वास्तविक कारण माता नहीं है। जन्म का वास्तविक कारण पिता होता है। पिता के वीर्य के बिना शिशु को माता जन्म नहीं दे सकती। अत: असंख्य ब्रह्माण्डों में विभिन्न योनियों तथा स्थितियों में सभी जीव शक्तिमान पिता, परमेश्वर के बीज से उत्पन्न होते हैं। केवल अल्पज्ञानी ही इन्हें भौतिक प्रकृति से जन्मा हुआ मानते है। परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति के वशीभूत होकर ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक सारे जीव अपने पूर्वकर्मों के अनुसार विभिन्न शरीर धारण करते हैं।

भौतिक प्रकृति भगवान् की शक्तियों में से एक है (*भगवद्गीता* ७.४)। भौतिक प्रकृति परा प्रकृति अर्थात् जीवात्मा की तुलना में निम्नतर होती है। भगवान् की परा प्रकृति तथा अपरा प्रकृति संयोग करके सारे सांसारिक व्यापारों को प्रकट करती हैं।

कुछ जीवात्माएँ अपेक्षतया सुखी हैं, तो कुछ दुखमय स्थितियों में जीवन बिताती हैं। किन्तु वास्तव में इनमें से कोई भी भौतिक बद्ध जीवन में सुखी नहीं है। बन्दी जीवन में कोई सुखी नहीं रहता, भले ही कोई प्रथम श्रेणी का कैदी हो या तृतीय श्रेणी का कैदी। बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह तृतीय श्रेणी के बन्दी जीवन से प्रथम श्रेणी के बन्द जीवन में उन्नत किए जाने की अपेक्षा बन्दीगृह से ही मुक्त होने का प्रयत्न करे। किसी की प्रथम श्रेणी के कैदी में प्रोन्नति हो सकती है, किन्तु अगली अवधि में उसे तृतीय श्रेणी में फिर जाना पड़ सकता है। मनुष्य को चाहिए कि वह बन्दी जीवन से मुक्त होने और भगवान् के धाम जाने का प्रयास करे। समस्त प्रकार के जीवों के लिए यही असली गन्तव्य है।

सत्त्वं रजस्तम इति तिस्रः सुर-नृ-नारकाः ।
तत्राप्येकैकशो राजन् भिद्यन्ते गतयस्त्रिधा ।
यदैकैकतरोऽन्याभ्यां स्व-भाव उपहन्यते ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सतोगुण; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; इति—इस प्रकार; तिस्रः—तीन; सुर—देवता; नृ—मनुष्य; नारकाः—नारकीय अवस्था में पड़ा हुआ; तत्र अपि—वहाँ भी; एकैकशः—दूसरा; राजन्—हे राजा; भिद्यन्ते—में बाँट देते हैं; गतयः—गतियाँ; त्रिधा—तीन; यदा—उस समय, जब; एकैकतरः—एक दूसरे के प्रति; अन्याभ्याम्—दूसरे से; स्व-भावः—स्वभाव, आदत; उपहन्यते—प्राप्त करता है।

प्रकृति के विभिन्न गुण—सतो गुण, रजो गुण तथा तमो गुणों—के अनुसार विभिन्न प्रकार के प्राणी होते हैं, जो देवता, मनुष्य तथा नारकीय जीव कहलाते हैं। हे राजन्, यही नहीं, जब कोई एक गुण अन्य दो गुणों से मिलता है, तो वह तीन में विभक्त होता है और इस प्रकार प्रत्येक प्राणी अन्य गुणों से प्रभावित होता है और उसकी आदतों को अर्जित कर लेता है।

तात्पर्य : अलग-अलग प्राणी किसी एक विशेष गुण के द्वारा संचालित होते हैं, किन्तु इस के साथ अन्य दो गुणों का भी उन पर प्रभाव पड़ सकता है। सामान्य रूप से सभी बद्धजीव भौतिक बन्धन के कारण रजोगुण से प्रभावित होते हैं, क्योंकि प्रत्येक जीव अपनी इच्छापूर्ति के लिए प्रकृति पर प्रभुत्व जताना चाहता है। किन्तु पृथक् से रजोगुण होने पर भी अन्य गुणों के संसर्ग में होने से उनके द्वारा

प्रभावित हो जाने की संभावना सदैव बनी रहती है। यदि कोई अच्छी संगति करता है, तो वह सतोगुणी हो सकता है और यदि कुसंगति करता है, तो तमोगुणी बन सकता है। लेकिन कुछ भी एक ही तरह से नहीं घटता है। मनुष्य अच्छी या बुरी संगति से अपना स्वभाव बदल सकता है, अत: अच्छे तथा बुरे में भेद कर सकने के लिए बुद्धिमान होना आवश्यक है। सर्वोत्तम संगति तो भगवान् के भक्तों की सेवा होती है और उस संगति से मनुष्य भगवान् के शुद्ध भक्तों की कृपा से सर्वाधिक योग्य व्यक्ति बन सकता है। जैसाकि हम श्रील नारद मुनि के जीवन में देख चुके हैं, वे केवल शुद्ध भगवद्भक्तों की संगति से सर्वाधिक योग्य बन सके। वे जन्म से एक दासी के पुत्र थे, वे अपने पिता तक को नहीं जानते थे और न उनमें न्यूनतम शैक्षिक योग्यता ही थी। किन्तु केवल भक्तों की संगति करने तथा उनका ही बचा-खुचा खाना खाने से उनमें उत्तरोत्तर भक्तों के दिव्य गुण आते गये। ऐसी संगति करने के कारण उनमें भगवान् की दिव्य महिमा को सुनने और कीर्तन करने की प्रवृत्ति उभरती गई और चूँकि भगवान् की महिमा भगवान् से अभिन्न है, अत: *शब्दोच्चारण* (कीर्तन) के कारण उन्हें भगवान् की प्रत्यक्ष संगति प्राप्त हो सकी। इसी तरह अजामिल का भी जीवन (छठे स्कंध में) है, जो एक ब्राह्मण का पुत्र था और जिसे ब्राह्मण के कर्तव्यों के पालन की समुचित शिक्षा दी गई थी, किन्तु इतने पर भी वेश्या के कुसंग ने उसे चंडाल अर्थात् (मानव जाति की) सबसे अधम स्थिति पर पहुँचा दिया। अत: मुक्तिद्वार खोलने के लिए *भागवत* सदैव महत् संगति की शिक्षा देता है। ऐसे पुरुषों की संगति करना जो इस भौतिक संसार पर अधिकार जताना चाहते हैं नरक के घोर अंधकारपूर्ण भाग में प्रवेश करना होता है। मनुष्य को चाहिए कि महापुरुष की संगति द्वारा अपने को ऊपर उठाए। जीवन-सिद्धि का यही मार्ग है।

स एवेदं जगद्धाता भगवान् धर्म-रूप-धृक् ।
पुष्णाति स्थापयन् विश्वं तिर्यङ्नर-सुरादिभिः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एव—निश्चय ही; इदम्—यह; जगत्-धाता—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के पालक; भगवान्—भगवान्; धर्म-रूप-धृक्—धर्म का रूप धारण करते हुए; पुष्णाति—पालन करता है; स्थापयन्—स्थापित करने के पश्चात्; विश्वम्—ब्रह्माण्ड को; तिर्यक्—मनुष्य से निम्न श्रेणी के जीव; नर—मनुष्य; सुर-आदिभिः—देवता रुप से।

वे भगवान् ब्रह्माण्ड में सबके पालक रूप में सृष्टि की स्थापना करके विभिन्न अवतारों में प्रकट होते हैं और मनुष्यों, अमानवों तथा देवताओं में से समस्त बद्धजीवों का उद्धार करते हैं।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु जीवों के विभिन्न समाजों में उनको माया के चंगुल से उबारने हेतु अवतरित होते हैं और भगवान् के ऐसे कार्यकलाप केवल मानव समाज तक ही सीमित नहीं रहते। वे एक मछली, शूकर, वृक्ष तथा अन्य अनेक रूपों में अवतरित होते हैं, किन्तु अल्पज्ञानी पुरुष भगवान् को न जानने के कारण उनका उपहास करते हैं चाहे वे मानव समाज में मनुष्य रूप में ही क्यों न हों। अत: भगवान् *भगवद्गीता* (९.११) में कहते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

जैसाकि हम पिछले श्लोकों में बता चुके हैं, निष्कर्ष यह निकलता है कि भगवान् कभी भी भौतिक सृष्टि की उत्पत्ति नहीं होते। उनकी दिव्य स्थिति सदैव अपरिवर्तित रहती है। वे ज्ञान तथा आनन्द के शाश्वत रूप हैं और अपनी विभिन्न शक्तियों द्वारा अपनी सर्वशक्तिमय इच्छा की पूर्ति करते हैं। इस प्रकार वे अपने किसी कार्य के फल को नहीं भोगते। वे कार्य-कारण के ऐसी सभी अवधारणों से परे हैं। यदि वे जगत में दिखते भी हैं, तो यह प्रदर्शन केवल अन्तरंगा शक्तियों का होता है, क्योंकि वे इस भौतिक जगत की अच्छी-बुरी अवधारणाओं से ऊपर हैं। इस जगत में मछली या शूकर को मनुष्य से निम्न माना जा सकता है, किन्तु जब भगवान् मछली या शूकर रूप में प्रकट होते हैं, तो वे भौतिक दृष्टि से इनमें से एक भी नहीं होते। यह उनकी अहैतुकी कृपा है कि वे प्रत्येक समाज तथा योनि में प्रकट होते हैं, किन्तु उन्हें उनमें से एक कभी नहीं माना जा सकता। भौतिक संसार की अवधारणाएँ जैसे अच्छे तथा बुरे, निम्न तथा उच्च, महत्त्वपूर्ण तथा नगण्य जैसी धारणाएँ भौतिक शक्ति के अनुमान होते हैं और परमेश्वर ऐसी सभी अवधारणाओं से परे होते हैं। *परम भावम्* शब्द अर्थात् दिव्य स्वभाव की तुलना कभी भी भौतिक धारणा से नहीं हो सकती। मनुष्य को यह नहीं भूलना चाहिए कि भगवान् की शक्तियाँ सदैव एकसी रहती हैं, कभी घटती नहीं, क्योंकि भगवान् निम्न पशुओं का रूप धारण करते रहते हैं। श्रीराम, श्रीकृष्ण तथा मछली, शूकर रूप में उनके अवतारों में कोई अन्तर नहीं होता। वे सर्वव्यापी होने के साथ ही साथ किसी एक तथा प्रत्येक स्थान में अन्तर्यामी हैं। किन्तु अल्पज्ञानी मनुष्य भगवान् के *परं भावम्* के अभाव में यह नहीं समझ पाते कि भगवान् ने किस प्रकार मछली या मनुष्य

का रूप धारण किया होगा। हर व्यक्ति अपने ज्ञान के मानदण्ड के अनुसार प्रत्येक वस्तु की तुलना करता है जैसे कोई कूपमण्डूक समुद्र को कुएँ के समान समझता है। कूपमण्डूक कभी समुद्र के विषय में सोच भी नहीं पाता और जब ऐसे मण्डूक को समुद्र की विशालता का पता चलता है, तो उसकी बुद्धि में यही सूझता है कि समुद्र कूप से थोड़ा ही बड़ा है। इस तरह जो ईश्वर के दिव्य विज्ञान को नहीं जानता वह मुश्किल से समझ पाता है कि भगवान् विष्णु किस प्रकार जीवों के प्रत्येक समाज में समान रूप से प्रकट हो सकते हैं।

ततः कालाग्नि-रुद्रात्मा यत्सृष्टमिदमात्मनः ।
सन्नियच्छति तत् काले घनानीकमिवानिलः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्, अन्त में; काल—विनाश, मृत्यु; अग्नि—आग; रुद्र-आत्मा—रुद्र रूप में; यत्—जो भी; सृष्टम्—उत्पन्न; इदम्—ये सब; आत्मनः—अपने आप; सम्—पूर्णतया; नियच्छति—संहार करता है; तत् काले—युग (कल्प) के अन्त में; घन-अनीकम्—बादलों का समूह; इव—सदृश; अनिलः—वायु।

तत्पश्चात् युग के अन्त में भगवान् स्वयं संहारकर्ता रुद्र-रूप में सम्पूर्ण सृष्टि का उसी तरह संहार करेंगे जिस प्रकार वायु बादलों को हटा देती है।

तात्पर्य : इस सृष्टि की उपमा उचित रूप से बादलों से दी गई है। बादल आकाश में उत्पन्न किये जाते हैं या स्थित रहते हैं और जब उन्हें अस्त-व्यस्त किया जाता है, तो वे उसी आकाश में अनदिखे रहते हैं। इसी प्रकार यह सारी सृष्टि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा अपने ब्रह्मा रूप में रची जाती है। उन्हीं के द्वारा विष्णु रूप में पालित होती है और यथासमय रुद्र रूप में विनष्ट कर दी जाती है। *भगवद्गीता* (८.१९-२०) में यह सृष्टि, इसका पालन तथा संहार अच्छे ढंग से व्याख्यायित हुए हैं—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।

रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।

यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

इस जगत का स्वभाव है कि पहले अच्छे ढंग से इसकी उत्पत्ति होती है, फिर यह अच्छी तरह विकसित होता है और अनेक वर्षों तक (बड़े से बड़े गणितज्ञ की गणना से परे) स्थित रहता है और

फिर ब्रह्मा की रात्रि के समय बिना किसी अवरोध के इसका पुनः विनष्ट हो जाता है। ब्रह्मा की रात्रि के बीतने पर सृष्टि रूप में यह पुनः प्रकट होकर पुनः पालन तथा संहार के चक्र से होकर गुजरता है। जो मूर्ख बद्धजीव इस क्षणिक संसार को स्थायी मानता है उसे यह बुद्धिपूर्वक सीखना चाहिए कि ऐसी सृष्टि तथा विनाश क्यों घटित होते हैं। भौतिक जगत के सकाम कर्मी परमेश्वर के भौतिक कारकों द्वारा प्रदत्त भौतिक पदार्थों तथा शक्ति से बड़े-बड़े उद्योग, बड़े-बड़े घराने, बड़े-बड़े साम्राज्य तथा अन्य बड़ी-बड़ी चीजें उत्पन्न करने के लिए अत्यन्त उत्सुक रहते हैं। बद्धजीव इन साधनों से तथा मूल्यवान शक्ति से उत्पत्ति करके अपनी सनक तो पूरी कर लेता है, किन्तु इच्छा न होते हुए उसे इन सारी वस्तुओं को छोड़ करके बारम्बार इसी तरह उत्पत्ति करने के लिए जीवन के दूसरे पहलू में प्रविष्ट होना पड़ता है। ऐसे मूर्ख बद्धजीवों को जो इस क्षणिक संसार में अपनी शक्ति का अपव्यय करते हैं भगवान् आशान्वित करने के लिए सूचित करते हैं कि एक अन्य प्रकृति भी है, जो बार-बार सृष्टि या विनष्ट हुए बिना शाश्वत है और बद्धजीव यह समझ सकता है कि वह क्या करे और शक्ति का किस प्रकार सदुपयोग करे। परम इच्छा से यथासमय निश्चित रूप से नष्ट होने वाले पदार्थ में अपनी शक्ति को नष्ट करने के बजाय बद्धजीव को चाहिए कि इस शक्ति को भगवान् की भक्ति में लगाए जिससे वह अन्य शाश्वत प्रकृति में जा सके जहाँ न जन्म है, न मृत्यु, न सृष्टि है और न प्रलय—वरन् वहाँ ज्ञान से परिपूर्ण और असीमित आनन्द भरा शाश्वत जीवन हैं। इस प्रकार इस नश्वर जगत की सृष्टि और विनाश बद्धजीव को, जो क्षणिक वस्तुओं के प्रति आसक्त रहता है, सचेत करने के लिए ही होता है। इसका उद्देश्य बद्धजीव को आत्म-साक्षात्कार का अवसर प्रदान करना है, न कि इन्द्रियतृप्ति का जो सभी सकाम कर्मियों का मूल लक्ष्य होता है।

इत्थम्भावेन कथितो भगवान् भगवत्तमः ।
नेत्थम्भावेन हि परं द्रष्टुमर्हन्ति सूरयः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इन रूपों में; भावेन—सृष्टि तथा संहार का विचार; कथितः—कहा गया; भगवान्—भगवान्; भगवत्-तमः—महान् तत्त्वज्ञानियों द्वारा; न—नहीं; इत्थम्—इसमें; भावेन—स्वरूप; हि—केवल; परम्—अत्यन्त महिमावान; द्रष्टुम्—देखने के लिए; अर्हन्ति—योग्य होते हैं; सूरयः—परम भक्त।

बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के कार्यकलापों का ऐसा ही वर्णन करते हैं,

किन्तु शुद्ध भक्त भावातीत दशा में ऐसे रूपों से भी बढ़कर महिमामय वस्तुएँ देखने के अधिकारी होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् केवल अपनी विविध शक्तियों से उत्पन्न भौतिक संसार के ही स्रष्टा तथा संहारक नहीं है। वे मात्र स्रष्टा तथा संहारक से बढ़कर हैं, क्योंकि उनका एक आनन्द-रूप भी है। भगवान् का यह आनन्द रूप केवल शुद्ध भक्तों के लिए गम्य है, अन्यों के द्वारा नहीं। निर्विशेषवादी भगवान् के सर्वव्यापी प्रभाव को समझ कर ही तुष्ट हो जाता है। यह ब्रह्म-साक्षात्कार कहलाता है। निर्विशेषवादी से भी बड़ा वह योगी है, जो भगवान् को उनके अंश रूप परमात्मा के रूप में अपने हृदय में स्थित देखता है। किन्तु ऐसे शुद्ध भक्त भी हैं, जो प्रेमाभक्ति के आदान-प्रदान से भगवान् की आनन्द शक्ति में हिस्सा बँटाते हैं। भगवान् अपने शाश्वत धाम वैकुण्ठ लोक में सदैव अपने पार्षदों के साथ रहते हैं और अपने भक्तों की विभिन्न दिव्य रसों में की गई दिव्य प्रेममयी सेवा का आनन्द उठाते हैं। इस प्रकार सृष्टि के प्राकट्य की अवधि में शुद्ध भक्त भगवान की भक्तिमय सेवा का अभ्यास करते हैं और वे अपने को भगवान् के धाम जाने के लिए योग्य बनाकर पूरा लाभ उठाते हैं। *भगवद्गीता* (१८.५५) में इसकी पुष्टि यों हुई है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

शुद्ध भक्ति-मय सेवा के विकास से ही भगवान् के वास्तविक रूप को जाना जा सकता है और इस प्रकार उनकी प्रामाणिक सेवा में प्रशिक्षित हुआ जा सकता है और अन्याय रूपों में भगवान् की प्रत्यक्ष संगति में पहुँचा जा सकता। भगवान् की सर्वोच्च संगति गोलोक वृन्दावन लोक में सम्भव है जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण गोपियों तथा अपनी चहेती सुरभि गायों के साथ रमण करते हैं। *ब्रह्म-संहिता* में श्रीकृष्ण की इस दिव्यभूमि का वर्णन आया है, जिसे भगवान् श्री चैतन्य इस विषय का अत्यन्त प्रामाणिक साहित्य मानते हैं।

नास्य कर्मणि जन्मादौ परस्यानुविधीयते ।
कर्तृत्व-प्रतिषेधार्थं माययारोपितं हि तत् ॥ ४५॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; अस्य—इस सृष्टि के; कर्मणि—कार्य में; जन्म-आदौ—सृष्टि तथा संहार; परस्य—परमेश्वर का; अनुविधीयते—इस प्रकार वर्णित है; कर्तृत्व—कौशल; प्रतिषेध-अर्थम्—निषेध करने के लिए; मायया—बहिरंगा शक्ति द्वारा; आरोपितम्—प्रकट होता है; हि—क्योंकि; तत्—स्रष्टा।

भौतिक जगत की सृष्टि तथा संहार के लिए भगवान् के द्वारा किसी प्रकार का प्रत्यक्ष कौशल नहीं किया जाता। उनके प्रत्यक्ष हस्तक्षेप के विषय में वेदों में जो कुछ वर्णित है, वह केवल इस विचार का निराकरण करने के लिए है कि भौतिक प्रकृति ही स्रष्टा है।

तात्पर्य : भौतिक जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार के विषय में वैदिक आदेश इस प्रकार है—*यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति* अर्थात् प्रत्येक वस्तु ब्रह्म द्वारा उत्पन्न है, सृजन के पश्चात् प्रत्येक वस्तु ब्रह्म द्वारा पालित है और संहार के पश्चात् ब्रह्म में संरक्षित रहती है। निपट भौतिकतावादी ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् के विषय में कुछ भी न जानने के कारण प्रकृति को भौतिक संसार का परम कारण मानते हैं और आधुनिक विज्ञानी भी यही मत व्यक्त कर देता है कि भौतिक संसार की सभी वस्तुओं का चरम कारण प्रकृति है। सारा का सारा वैदिक साहित्य इस दृष्टिकोण का खण्डन करता है। वेदान्त दर्शन का कथन है कि समस्त सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय का मूल स्रोत-मुख ब्रह्म है और वेदान्त दर्शन के सहज भाष्य *श्रीमद्भागवत* का कथन है कि *जन्माद्यस्य यतोऽन्वयाद् इतरताश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्...।*

जड़ पदार्थ में निस्सन्देह क्रिया करने की शक्ति निहित होती है, किन्तु इसमें कोई स्वतः प्रेरणा नहीं होती। अतः *श्रीमद्भागवत जन्माद्यस्य* सूक्ति की टीका यह कहते हुए करता है कि *अभिज्ञः* तथा *स्वराट्* अर्थात् परब्रह्म जड़ पदार्थ नहीं है, अपितु परम चेतन और स्वतन्त्र है। अतः भौतिक जगत की सृष्टि, स्थिति तथा संहार का परम कारण जड़ पदार्थ नहीं हो सकता। ऊपर से प्रकृति ही सृष्टि, स्थिति तथा संहार का कारणस्वरूप जान पड़ती है, किन्तु यह प्रकृति परम चेतन भगवान् द्वारा सृष्टि के लिए प्रेरित होती है। वे ही समस्त सृष्टि, पालन तथा संहार का मूलाधार हैं और इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.१०) में हुई है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

प्रकृति भी भगवान् की शक्तियों में से एक है और वह भगवान् के आदेश (*अध्यक्षेण*) से ही कार्य कर सकती है। भगवान् जब प्रकृति पर अपनी दिव्य दृष्टि फेरते हैं तभी वह कार्य कर सकती है, जिस प्रकार पिता के संसर्ग से ही माता गर्भ धारण करती है। यद्यपि अबूझ व्यक्ति को लगता है कि माता पुत्र को जन्म देती है, किन्तु अनुभवी व्यक्ति जानता है कि पिता ही पुत्र का जन्मदाता है। अत: भौतिक प्रकृति परम पिता के सम्पर्क में आने पर ही जड़ तथा चेतन पदार्थों को जन्म देती है, स्वतन्त्र रूप से नहीं। प्रकृति को ही सृष्टि, पालन तथा संहार का कारण मानना ''बकरी के गले में लटकते मांसल-तोथड़ों को स्तन मानने का तर्क जैसा है।'' श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी ने *श्रीचैतन्य-चरितामृत* में अजागलस्तन तर्क की व्याख्या इस प्रकार की है (इसका उल्लेख कृष्णकृपामूर्ति श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज ने किया है) ''प्रकृति भौतिक कारण के रूप में प्रधान कहलाती है और सक्षम कारण के रूप में माया कहलाती है। किन्तु, चूँकि यह जड़ पदार्थ है, अत: यह सृष्टि का परोक्ष कारण नहीं है।'' कविराज गोस्वामी इसे इस प्रकार कहते हैं—

अतएव कृष्ण मूल-जगत्-कारण।

प्रकृति—कारण यैछे अजागलस्तन॥

(*चैतन्यचरि.* आदि ५.६१)

चूँकि कारणार्णवशायी विष्णु, श्रीकृष्ण के अंश हैं, अत: वे ही पदार्थ को गतिशील होने के लिए विद्युत शक्ति प्रदान करते हैं। विद्युत प्रदान करने (विद्युतीकरण) का उदाहरण उपयुक्त है। लोहे का टुकड़ा अवश्य ही अग्नि नहीं है, किन्तु जब इसे तपाकर लाल कर दिया जाता है, तो इसमें जलाने की क्षमता के कारण अग्नि का गुण आ जाता है। पदार्थ की तुलना लोहे के खंड से की जाती है और यह विष्णु की परम चेतना की चितवन से या युक्ति से विद्युतमय या लाल अंगारा हो जाता है। ऐसे विद्युतीकरण से ही विभिन्न कार्य-कारणों में पदार्थ की शक्ति परिलक्षित होती है। अत: जड़ पदार्थ न तो सक्षम है, न दृश्य जगत का कारणस्वरूप। *भागवत* (३.२८.४०) में श्रीकपिल देव का कथन है—

यथोल्मुकाद्विस्फुलिङ्गाद्धूमाद्वापि स्वः सम्भवात्।

अप्यात्मत्वेनाभिमताद्यथाग्नि: पृथगुल्मुकात्॥

मूल अग्नि, इसकी लपट (ज्वाला), इसकी चिनगरियाँ तथा इसका धुँआ—सभी एक हैं, क्योंकि अग्नि अग्नि होकर भी लपट से भिन्न है, लपट चिनगारी से और चिनगारी धुँए से भिन्न है। इन सब में अर्थात् लपटों, चिनगारियों और धुँए में, अग्नि की सत्ता विद्यमान है, तो भी ये सभी पृथक्-पृथक् सत्ता के साथ अलग-अलग होते हैं। दृश्य जगत धुँए के समान है, क्योंकि जब धुँआ आकाश में चला जाता है, तो वह अनेक रूप धारण करता है, जो अनेक ज्ञात एवं अज्ञात रूपों से मिलता जुलता होता है। चिनगारियाँ जीवों के तुल्य हैं और लपटें भौतिक प्रकृति (प्रधान) के समान हैं। मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि इनमें से प्रत्येक अपना प्रभाव केवल इसलिए दिखाती है, क्योंकि उन्हें मूल अग्नि के गुण की शक्ति प्राप्त है। अत: ये सभी—भौतिक प्रकृति, दृश्य जगत तथा जीव ईश्वर (अग्नि) की विभिन्न शक्तियाँ है। अत: जो लोग प्रकृति को दृश्य जगत का मूल कारण (सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि का कारण प्रकृति है) मान बैठते हैं, वे अपने इस निष्कर्ष में सही नहीं हैं। भौतिक प्रकृति का भगवान् के बिना पृथक् अस्तित्व नहीं रहता है। अत: परमेश्वर को समस्त कारणों का कारण न बताना ही अजागलस्तन न्याय का तर्क है—भले ही बकरी के गलस्तन दुग्धमय लगें, किन्तु उनसे दूध निकालने के लिए प्रयास करना मूर्खता है।

अयं तु ब्रह्मण: कल्प: सविकल्प उदाहृत: ।
विधि: साधारणो यत्र सर्गा: प्राकृत-वैकृता: ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

अयम्—सृष्टि तथा संहार की यह क्रिया; तु—लेकिन; ब्रह्मण:—ब्रह्मा का; कल्प:—ब्रह्मा का एक दिन; स-विकल्प:—ब्रह्माण्डों की अवधि समेत; उदाहृत:—उदाहरण के रूप में; विधि:—विधि-विधान; साधारण:—संक्षेप में; यत्र—जिसमें; सर्गा:—सृष्टि; प्राकृत—प्रकृति के विषय में; वैकृता:—विनियोग, व्यय।

यहाँ पर सारांश रुप में वर्णित सृष्टि तथा संहार का यह प्रक्रम ब्रह्मा के एक दिन (कल्प) के लिए विधि-विधान स्वरूप है। यही महत्-सृष्टि का भी नियामक-विधान है, जिसमें प्रकृति विसर्जित हो जाती है।

तात्पर्य : सृष्टि के तीन प्रकार हैं—*महाकल्प, विकल्प* तथा *कल्प*। महाकल्प में भगवान् महत् तत्त्व तथा सोलह प्रकार के सृजक तत्त्वों तथा साधनों की समस्त शक्तियों सहित कारणोदकशायी विष्णु के रूप में प्रथम पुरुष अवतार धारण करते हैं। सृजक कारणों की संख्या ग्यारह है, अवयवों की पाँच है

और ये सभी महत् अर्थात् भौतिक अहंकार के फलस्वरूप हैं। कारणोदकशायी विष्णु के रूप में भगवान् द्वारा की गई सृष्टि *महाकल्प* कहलाती है। ब्रह्मा की सृष्टि तथा भौतिक अवयवों का विसर्जन विकल्प कहलाता है और ब्रह्मा के जीवन के प्रत्येक दिन की सृष्टि कल्प कहलाती है। इसीलिए ब्रह्मा का एक-एक दिन कल्प कहलाता है और ब्रह्मा के दिनों में ऐसे तीस कल्प होते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (८.१७) में भी इस प्रकार हुई है—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।

रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥

उच्चतर लोकों का एक दिन तथा एक रात्रि पृथ्वी के एक पूरे वर्ष के तुल्य होते हैं। इसको आज के विज्ञानी भी मानते हैं और अन्तरिक्ष यात्रियों ने भी इसकी पुष्टि की है। इसी तरह और उच्चतर लोकों में दिन-रात्रि की अवधि स्वर्गलोकों से दीर्घतर होती है। चारों युगों की गणना स्वर्गिक पंचांगों के आधार पर की जाती है। इस प्रकार इनका काल स्वर्गलोकों की परिभाषा में बारह हजार वर्ष है। यह दिव्य युग कहलाता है। ऐसे एक हजार दिव्य युग ब्रह्मा के एक दिन के तुल्य होते हैं। ब्रह्मा के एक दिन की सृष्टि को कल्प कहते हैं। ब्रह्मा की सृष्टि विकल्प कहलाती है। जब महाविष्णु की श्वास से विकल्प सम्भव होते हैं, तो यह महाकल्प कहलाता है। इस प्रकार महाकल्प, विकल्प तथा कल्प का नियमित चक्र चलता रहता है। इसके सम्बन्ध में महाराज परीक्षित द्वारा पूछे गये प्रश्नों के जो उत्तर शुकदेव गोस्वामी ने दिये वे *स्कन्द पुराण* के प्रभास खण्ड में दिये गये हैं और वे इस प्रकार हैं—

प्रथमः श्वेतकल्पश्च द्वितीयो नीललोहितः ।

वामदेवस्तृतीयस्तु ततो गाथान्तरोऽपरः ॥

रौरवः पञ्चमः प्रोक्तः षष्ठः प्राण इति स्मृतः ।

सप्तमोऽथ बृहत्कल्पः कन्दर्पोऽष्टम उच्यते ॥

सद्योथ नवमः कल्प ईशानो दशमःस्मृतः ।

ध्यान एकादशः प्रोक्तास्तथा सारस्वतोऽपरः ॥

त्रयोदश उदानस्तु गरुडोऽथ चतुर्दशः ।

कौर्मः पञ्चदशो ज्ञेयः पौर्णमासी प्रजापतेः ॥

षोडशो नारसिंहस्तु समाधिस्तु ततोऽपरः ।

आग्नेयो विष्णुजः सौरः सोमकल्पस्ततोऽपरः ॥

द्वाविंशो भावनः प्रोक्तः सुपुमानिति चापरः ।

वैकुण्ठश्चार्ष्टिषस्तद्वद्वलीकल्पस्ततोऽपरः ॥

सप्तविंशोऽथ वैराजो गौरीकल्पस्तथापरः ।

माहेश्वरस्तथा प्रोक्तस्त्रिपुरो यत्र घातितः ।

पितृकल्पस्तथाचान्ते यः कुहूर्ब्रह्मणः स्मृता ॥

इस प्रकार ब्रह्मा के तीस कल्प ये हैं: (१) श्वेतकल्प, (२) नीललोहित, (३) वामदेव, (४) गाथान्तर, (५) रौरव, (६) प्राण, (७) बृहत्-कल्प, (८) कन्दर्प, (९) सद्योथ, (१०) ईशान, (११) ध्यान, (१२) सारस्वत, (१३) उदान, (१४) गरुड, (१५) कौर्म, (१६) नारसिंह, (१७) समाधि, (१८) आग्नेय, (१९) विष्णुज, (२०) सौर, (२१) सोम-कल्प, (२२) भावन, (२३) सुपुम, (२४) *वैकुण्ठ,* (२५) अर्चिष, (२६) वलीकल्प, (२७) वैराज, (२८) गौरीकल्प, (२९) माहेश्वर, (३०) पैतृ-कल्प।

ये तीसों ब्रह्मा के दिन हैं और उन्हें महीनों से लेकर लगातार एक सौ वर्षों तक रहना होता है, अत: हम अनुमान लगा सकते हैं कि केवल कल्पों में कितनी सृष्टियाँ होती होंगी। इसके बाद विकल्प होते हैं जिनकी उत्पत्ति महाविष्णु की श्वास से होती है जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है (*यस्यैकनिश्वासितकालम् अथावलम्ब्य जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथा:*)। सारे ब्रह्मा महाविष्णु के निश्वास अवधि के दौरान ही जीवित रहते हैं। अत: विष्णु के श्वास-निश्वास महाकल्प हैं। ये सब पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के ही कारण हैं, क्योंकि उनके अतिरिक्त सारी सृष्टियों का अन्य कोई स्वामी नहीं है।

परिमाणं च कालस्य कल्प-लक्षण-विग्रहम् ।
यथा पुरस्ताद्व्याख्यास्ये पाद्मं कल्पमथो शृणु ॥ ४७॥

शब्दार्थ

परिमाणम्—माप; च—भी; कालस्य—समय की; कल्प—ब्रह्मा का एक दिन; लक्षण—लक्षण; विग्रहम्—रूप; यथा—जिस तरह; पुरस्तात्—इसके बाद; व्याख्यास्ये—बताया जाएगा; पाद्मम्—पाद्म नाम से; कल्पम्—एक दिन की अवधि; अथो—इस तरह; शृणु—सुनो।

हे राजन्, आगे चलकर मैं काल के स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों की माप का उनके विशिष्ट लक्षणों सहित वर्णन करूँगा, किन्तु इस समय मैं तुमसे पाद्म कल्प के विषय में कहना चाहता हूँ।

तात्पर्य : ब्रह्मा के कल्प की वर्तमान अवधि *वराह कल्प* अथवा *श्वेत वराह कल्प* कहलाती है, क्योंकि जब विष्णु के उदर से निकले हुए कमल (पद्म) से ब्रह्मा उत्पन्न हुए तो उस समय भगवान् वराह के रूप में अवतरित हुए थे। इसीलिए वराह कल्प को *पाद्मकल्प* भी कहते हैं और *भागवत* के प्रथम भाष्यकार स्वामी श्रीधर का अनुसरण करते हुए जीव गोस्वामी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर जैसे आचार्यों ने इसकी पुष्टि की है। अतः ब्रह्मा के वराह कल्प तथा पाद्मकल्प में कोई विरोधाभास नहीं है।

शौनक उवाच

यदाह नो भवान् सूत क्षत्ता भागवतोत्तमः ।
चचार तीर्थानि भुवस्त्यक्त्वा बन्धून् सुदुस्त्यजान् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

शौनकः उवाच—श्री शौनक मुनि ने कहा; यत्—जैसा; आह—आपने कहा; नः—हमको; भवान्—आप; सूत—हे सूत; क्षत्ता—विदुर; भागवत-उत्तमः—भगवान् का श्रेष्ठ भक्त; चचार—अभ्यास किया; तीर्थानि—तीर्थ स्थानों; भुवः—पृथ्वी पर; त्यक्त्वा—त्याग कर; बन्धून्—सम्बन्धियों को; सु-दुस्त्यजान्—त्याग कर पाना अत्यन्त कठिन।

सृष्टि के विषय में यह सब सुनने के बाद शौनक ऋषि ने सूत गोस्वामी से विदुर के विषय में पूछा, क्योंकि सूत गोस्वामी ने पहले ही उन्हें बता रखा था कि विदुर ने किस प्रकार अपने उन परिजनों को छोड़कर गृहत्याग किया था जिनको छोड़ पाना बहुत दुष्कर होता है।

तात्पर्य : शौनक आदि ऋषि विदुर के विषय में जानने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे जिनकी भेंट विश्व के तीर्थस्थलों की यात्रा करते समय मैत्रेय ऋषि से हुई।

क्षत्तुः कौशारवेस्तस्य संवादोऽध्यात्म-संश्रितः ।
यद्वा स भगवांस्तस्मै पृष्टस्तत्त्वमुवाच ह ॥ ४९ ॥

ब्रूहि नस्तदिदं सौम्य विदुरस्य विचेष्टितम् ।
बन्धु-त्याग-निमित्तं च यथैवागतवान् पुनः ॥५०॥

शब्दार्थ

क्षत्तुः—विदुर की; कौशारवेः—मैत्रेय की; तस्य—उनका; संवादः—समाचार; अध्यात्म—दिव्य ज्ञान के विषय; संश्रितः—से पूरित; यत्—जो; वा—अन्य कुछ; सः—वह; भगवान्—भगवान्; तस्मै—उससे; पृष्टः—पूछा; तत्त्वम्—सत्य; उवाच—उत्तर दिया; ह—पुराकाल में; ब्रूहि—कृपया कहें; नः—हमसे; तत्—वे विषय; इदम्—यहाँ; सौम्य—हे सौम्य; विदुरस्य—विदुर का; विचेष्टितम्—कार्यकलाप; बन्धु-त्याग—मित्रों के परित्याग का; निमित्तम्—कारण; च—भी; यथा—जिस प्रकार; एव—भी; आगतवान्—(घर) वापस आया; पुनः—फिर से।

शौनक ऋषि ने कहा—आप हमें बताएँ कि विदुर तथा मैत्रेय के बीच अध्यात्म पर चर्चा हुई, विदुर ने क्या पूछा और मैत्रेय ने क्या उत्तर दिया था। कृपा करके हमें यह भी बताएँ कि विदुर ने अपने कुटुम्बियों को क्यों छोड़ा था और वे पुनः घर क्यों लौट आये? तीर्थस्थानों की यात्रा के समय उन्होंने जो कार्य किये उन्हें भी बतलाएँ।

तात्पर्य : श्रीसूत गोस्वामी संसार की सृष्टि तथा संहार की कथाएँ सुना रहे थे, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि शौनक आदि ऋषि अध्यात्म विषयों को, जो भौतिक विषयों से ऊँचे स्तर पर हैं, सुनने के लिए अधिक इच्छुक थे। मनुष्यों की दो श्रेणी होती हैं—एक तो वे जो स्थूल देह तथा भौतिक संसार में अधिक लिप्त रहते हैं और दूसरे वे जो उच्च स्तर पर रहने के कारण दिव्य ज्ञान के प्रति अधिक उत्सुक होते हैं। *श्रीमद्भागवत* प्रत्येक व्यक्ति के लिए, चाहे वह भौतिकतावादी हो अथवा गुणातीतवादी (अध्यात्मवादी) हो, सुविधा प्रदान करने वाला है। लोग *भागवत* से, भौतिक जगत में तथा दिव्य जगत में भगवान् के महिमामंडित कार्यकलापों को सुनकर समान लाभ उठा सकते हैं। भौतिकतावादी भौतिक नियमों एवं उनकी कार्यविधि में अधिक रुचि रखते हैं, वे भौतिक चकाचौंध में आश्चर्य देखते हैं। कभी-कभी इसी चकाचौंध में वे भगवान् की महिमा को भूल जाते हैं। उन्हें यह जान लेना चाहिए कि सारे भौतिक कार्यकलाप तथा आश्चर्य भगवान् द्वारा ही प्रेरित हैं। उद्यान में गुलाब का फूल धीरे-धीरे विकसित होकर रूप-रंग ग्रहण करके सुन्दर तथा सुरभित बनता है, वह किसी अन्धाधुंध भौतिक नियम के अधीन होकर ऐसा नहीं करता, यद्यपि प्रतीत ऐसा ही होता है। इस भौतिक नियम के पीछे परमेश्वर की पूर्ण चेतना का निर्देशन होता है, अन्यथा वस्तुएँ इतना नियमित रूप धारण नहीं कर सकतीं। कलाकार सम्पूर्ण मनोयोग और कलात्मक अनुभूति से गुलाब का चित्र बनाता है, किन्तु तो भी वह असली गुलाब की तरह पूर्ण नहीं होता। यदि यह सत्य है, तो हम यह किस तरह कह सकते हैं

कि असली गुलाब ने बिना बुद्धि के ऐसा सुन्दर रूप प्राप्त किया? अल्पज्ञता के कारण ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है। सृष्टि तथा संहार के उपर्युक्त वर्णन से हमें यह समझना चाहिए कि सर्वव्यापी होने से परम चेतना प्रत्येक वस्तु का पूरा ध्यान रखती है। परमेश्वर की सर्वव्यापकता का तथ्य यही है। निपट भौतिकतावादियों से भी बढ़कर मूर्ख व्यक्ति अपने को गुणातीतवादी (अध्यात्मवादी) कहते हैं और अपने में सर्वव्यापी चेतना पाये जाने का दावा तो करते हैं, किन्तु कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं करते। ऐसे मूर्ख व्यक्तियों को यह भी पता नहीं चल पाता कि दीवाल के उस ओर क्या हो रहा है। फिर भी वे परम पुरुष की सर्वव्यापी चेतना से अपने को समन्वित होने का झूठा गर्व करते हैं। ऐसे लोगों के लिए भी *श्रीमद्भागवत* का सुनना सहायक बनता है। इससे उनकी आँखें खुल जाएँगी और उन्हें पता चलेगा कि परम चेतना का दावा करने से ही कोई परम भावना से भावित नहीं हो जाता। इस भौतिक संसार में उन्हें प्रमाण देना होता है कि उन्हें ऐसी परम चेतना प्राप्त है। किन्तु नैमिषारण्य के ऋषि कोरे भौतिकतावादियों तथा झूठे अध्यात्मवादियों से ऊपर थे, अतः वे अधिकारी व्यक्तियों से दिव्य विषयों की वास्तविक सत्यता जानने के लिए सदैव इच्छुक थे।

सूत उवाच

राज्ञा परीक्षिता पृष्टो यदवोचन्महा-मुनिः ।
तद्वोऽभिधास्ये शृणुत राज्ञः प्रश्नानुसारतः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्रीसूत गोस्वामी ने उत्तर दिया; राज्ञा—राजा; परीक्षिता—परीक्षित द्वारा; पृष्टः—पूछे जाने पर; यत्—जो; अवोचत्—कहा; महा-मुनिः—महा-मुनि ने; तत्—वही बात; वः—तुमको; अभिधास्ये—मैं बताऊँगा; शृणुत—कृपया सुनें; राज्ञः—राजा द्वारा; प्रश्न—सवाल; अनुसारतः—के अनुसार।

श्रीसूत गोस्वामी ने बताया—अब मैं तुम्हें वे सारे विषय बताऊँगा जिन्हें राजा परीक्षित के द्वारा पूछे जाने पर महा-मुनि ने उनसे कहा था। कृपया उन्हें ध्यानपूर्वक सुनो।

तात्पर्य : प्रत्येक पूछे गये प्रश्न का उत्तर यदि किसी अधिकारी विद्वान का उद्धरण देकर दिया जाता है, तो उससे बुद्धिमानों की तुष्टि होती है। यहाँ तक कि न्यायालयों में भी यही विधि अपनाई जाती है। सर्वश्रेष्ठ वकील अपने मुकद्दमे की स्थापना के लिए बिना कोई कष्ट उठाये पूर्ववर्ती फैसले से साक्ष्य प्रस्तुत करता है। यह परम्परा विधि कही जाती है और विद्वान अधिकारी इधर-उधर के व्यर्थ तर्क न देकर इसका पालन करते हैं।

ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्दविग्रह: ।

अनादिरादिर्गोविन्द: सर्वकारणकारणम् ॥

(*ब्रह्म-संहिता* ५.१)

हमें चाहिए कि हम परमेश्वर की आज्ञा मानें, क्योंकि प्रत्येक वस्तु में उनका हाथ है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कंध के अन्तर्गत ''भागवत सभी प्रश्नों का उत्तर है'' नामक दसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

preliminary pages are as follows:

preliminary page 1
एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।

योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम् ॥

(*श्रीमद्भागवत* २.१.११)

preliminary page 5
विषय-सूची

श्रीमद्भागवतम्
विषय-सूची

चारों कुमार
स्त्री–आकर्षण का जादू
राजकुमार ध्रुव
सम्राट ऋषभदेव
हयग्रीव अवतार
भगवान् मस्त्य
भगवान् कच्छप
नृसिंह देव
पवित्र नाम का जप करने योग्य है
वामनदेव द्वारा बलि महाराज का पक्षपात
हंसावतार द्वारा नारद को उपदेश
मनु अवतार
धन्वतरि द्वारा ओषधि विज्ञान का उद्घाटन
परशुराम द्वारा पृथ्वी को निष्कंटक बनाना
श्रीमद्रामायण का सार–संक्षेप
सुन्दर काले बालों वाले भगवान्
श्रीकृष्ण द्वारा पूतना का वध
विषधर कालिय नाग को दण्ड
भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत का उठाया जाना
असुर किस तरह मोक्ष प्राप्त करें
वैदिक ज्ञान का वृक्ष
कल्कि: परम दण्डदाता
विष्णु का पराक्रम
परमार्थवाद का ढकोसला
भगवान् के प्रति समर्पण
परम उपकारकर्ता
संक्षिप्त भागवत
अध्याय आठ
राज परीक्षित द्वारा पूछे गये प्रश्न
शिष्य परम्परा का अवरोही क्रम
पेशेवर भागवत कथावाचक व्यर्थ है
पंकमय तालों पर शारदीय वर्षा
कष्टप्रद यात्रा के बाद घर
भागवत की दार्शनिक आधारशिला स्थापित करने के प्रश्न
कर्म के कारण तथा फल